पञ्चाध्यायी

श्री देवकीनन्दन जैन सिद्धान्त ग्रन्थमाला १,१

कविवर पं० राजमल्ल जी विरचित

पञ्चाध्यायी

टीकाकार—
व्याख्यानवाचस्पति साहित्यसूरि
स्व० पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री

सम्पादक
फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
श्री गणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, बनारस

वी० नि० सं० २४७६
प्रथम संस्करण
मूल्य १)

मुद्रक
बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बन

प्रकाशक के दो शब्द

कारंजा दक्षिण भारत की प्रमुख नगरी है। दक्षिण भारत में यह 'दक्षिणापथ की काशी' मानी जाती है। सम्यग्ज्ञान और अध्यात्मविद्या के प्रचारमें इसकी सेवाएँ अनुपम हैं। यहां सदा से संस्कृत और प्राकृत के ज्ञाता प्रकाण्ड विद्वान और भट्टारक होते आये हैं। यहां के जैन शास्त्र भण्डार आज भी इसके अतीत गौरव का परिचय कराते हैं। इसका अतीत जितना उज्वल और स्पृहणीय था वर्तमान उससे कम नहीं है। आज भी यह नगरी सम्यग्ज्ञान और सदाचारके प्रचार द्वारा विश्वकी महनीय सेवा कर रही है।

जैनधर्म के प्रकाण्ड विद्वान्, परम तपस्वी, शान्तस्वभावी, विद्यारसिक और शिक्षाविशारद श्री १०५ क्षुल्लक समन्तभद्रजी महाराज का चिरकाल से यहां स्थायी निवास है। इससे आज भी दूर दूर के मुमुक्षु जन अपनी भवतृष्णा को शान्त करने के लिये यहां आते रहते हैं। आज से करीब ३० वर्ष पहले आप के ही सत्प्रयत्न और शुभाशीर्वाद से यहां श्री महावीर जैन ब्रह्मचर्याश्रम (जैन गुरुकुल) की स्थापना हुई थी। भारतवर्ष की यह उन गिनी गूंथी संस्थाओं में से एक है जिसने गुरुकुल प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने का यश सम्पादित किया है। इसकी ख्याति उत्तर दक्षिण सर्वत्र फैली है इसलिये इसने अपनी शाखा उपशाखाओं द्वारा विशाल वट वृक्षका रूप धारण कर लिया है।

यह तो सर्व विदित है कि इस संस्था के निर्माण में जैनधर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय गुरुवर्य्य व्याख्यान वाचस्पति पं० देवकीनन्दन जी सिद्धान्तशास्त्री का प्रमुख हाथ है। आज पण्डितजी हमारे बीच में नहीं हैं फिर भी संस्था के रूप में उनकी कीर्ति अमर है।

पण्डितजी के कारंजा में रहते हुए अध्यापन और संस्था संचालन ये कार्य मुख्य थे, फिर भी उन्होंने दूसरी ओर से सर्वथा उपेक्षा धारण नहीं करली थी। समाज सेवा और साहित्य सेवा जैसे लोकोपयोगी कार्यों की ओर भी उनका ध्यान था। उनकी पंचाध्यायी और सागारधर्मामृत की टीकाएँ यहीं पर लिखी गई थीं। धवला के संशोधन कार्य में भी उनका प्रमुख हाथ था। इस निमित्त से मैं अक्सर कारंजा जाता और उनके अनुभव से लाभ उठाता था।

एक बार मैं पण्डितजी के पास बैठा उनसे आधुनिक ढंग से प्राचीन और नये जैन साहित्य के निर्माण की चरचा कर रहा था कि इतने में उस्मानाबाद के प्रसिद्ध साहित्यसेवी वयोवृद्ध श्री नेमिचन्द्रजी वकील जैनधर्म की मर्मज्ञ पण्डिता गजरा बहिन के साथ वहां पधारे और इस चरचा में रस लेने लगे। प्रसंग से पञ्चाध्यायी का नाम निकलने पर वकील सा० पण्डितजी से बोले कि यद्यपि अभी तक पंचाध्यायी की दो टीकाएं हो चुकी हैं—एक न्यायालंकार पं० मक्खनलालजी की और दूसरी आपकी फिर भी इस विषय पर अभी बहुत कुछ लिखे जाने की आवश्यकता है। पण्डितजी ने इसे स्वीकार किया और इस पर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देने का आश्वासन दिया।

प्रश्न यह उठा कि इस टीका का निर्माण किस ढंग से किया जाय। वकील सा० पिछली दो टीकाओं का स्वाध्याय बारीकी से कर चुके थे इसलिये वे उनके गुण दोषों को अच्छी तरह से जानते थे। यह देख पण्डितजी ने उनसे सलाह ली। उन्होंने धवला की अनुवाद सरणि को अधिक पसन्द किया और कहा कि इस पद्धति से ग्रन्थ की टीका लिखने पर न केवल ग्रन्थके हार्द को स्पर्श करने में सहायता मिलेगी अपि तु मूल विषय की रक्षा करते हुए स्वतन्त्र भाव से उसका विशद विवेचन करने में भी कठिनाई नहीं जायगी। वकील सा० की यह सम्मति पण्डितजी को विशेष पसन्द आई और उन्होंने इस ढंग से पंचाध्यायी की एक दूसरी टीका लिख देने का निर्णय किया। लिपिबद्ध करने का कार्य मेरे स्वाधीन किया गया। पण्डितजी प्रत्येक श्लोक का अर्थ कहते जाते थे और मैं उनकी पिछली टीका के आधार से उसमें आवश्यक परिवर्तन करता जाता था। इस तरह मूल ग्रन्थ का कार्य सम्पन्न होने पर उस पर विशद विवेचन लिखने का अवसर आया। इस समय तक पण्डितजी कारंजा छोड़कर इन्दौर चले गये थे, इसलिये यह कार्य इन्दौर में सम्पन्न किया गया।

इस प्रकार ग्रन्थ का कार्य तो सम्पन्न हुआ, मुख्य प्रश्न उसके प्रकाशित करने का था। सर्व प्रथम पण्डितजी का ध्यान कारंजा की ओर गया, क्योंकि पण्डितजी द्वारा लिखित पंचाध्यायी की पिछली टीका का प्रकाशन कारंजा निवासी

श्रीमान् प्रभुदास देवीदासजी चवरे द्वारा कारंजा आश्रम को इस निमित्त से दी गई उदार सहायता से हुआ था।

यह घराना कारंजा और उसके आस पास विशेष रूप से प्रसिद्ध है। श्रीमान् प्रभुदास देवीदासजी चवरे का जन्म इसी घराने में हुआ था। इन्होंने कारंजा आश्रम की बड़ी सहायता की है। आमश्र में श्री जिन मन्दिर का निर्माण इन्हीं की उदार सहायता का फल है। इन्होंने समय समय पर आश्रम को और भी अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाई है। श्री शिशुपाल प्रभुदासजी चवरे इन्हीं के सुपुत्र हैं जो अपने पिताजी की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। आज कल आप श्री जयकुमार चवरे ए० ही० स्कूलके मंत्री हैं।

श्रीमान् प्रभुदास देवीदसजी चवरे पांच भाई थे। इनके दूसरे भाई श्रीमान् जयकुमार देवीदासजी चवरे वकील थे। ये वकालत के निमित्त से अकोला रहने लगे थे। अपने कार्यकाल में ये कारंजा आश्रम के अध्यक्ष थे। कारंजा आश्रम के वर्तमान संचालक श्रीमान् बाल ब्रह्मचारी, विद्वद्वर्य पं० माणिकचन्द्र जयकुमारजी चवरे बी० ए०, न्यायतीर्थ इन्हीं के सुपुत्र हैं। भाई माणिकचन्द्रजी आश्रम में ही रहते हैं। एक प्रकार से ये घरसे उदासीन हैं। इनकी जीवनी अत्यन्त उज्वल और स्पृहणीय है। आश्रम की सेवा इनका जीवन व्रत है। आश्रम में पधारने पर नाटा कद, गौरवर्ण, प्रसन्नवदन जिस भव्य मूर्ति के दर्शन होते हैं वे भाई माणिकचन्द्रजी ही हैं। सभी आश्रमवासी इन्हें 'तात्या' इस नामसे पुकारते हैं। तात्या शब्द का अर्थ काका होता है। ये आश्रमवासियों के काका कैसे बने इसकी सुखद और रोचक कहानी है। आश्रम में सफाई से लेकर अध्यापन तक सभी काम करते हुए आप इन्हें देख सकते हैं। आश्रम में आनेवाले अतिथियों का सेवा सत्कार करना भी इनका मुख्य काम है। अपनी आमदनी का बहुभाग इनका आश्रम के कामों में ही खर्च होता रहता है। श्री भाई माणिकचन्द्रजी के दो भाई और हैं एक श्रीकुमार जयकुमारजी चवरे और दूसरे धर्मचन्द्र जयकुमारजी चवरे। श्री धर्मचन्द्रजी सुयोग्य वकील हैं। इन्होंने कुछ दिन कारंजा आश्रम के मंत्रित्वका भी काम सम्हाला है।

प्रभुदास देवीदासजी चवरे के तीसरे भाई श्रीमान् जम्बूदासजी देवीदासजी चवरे हैं। ये आश्रम के प्राण हैं। आश्रम के मूल संस्थापक जैन सिद्धान्तमर्मज्ञ, वयोवृद्ध श्रीमान् प्रद्युम्नसा गोविन्दसा चवरे डोनगांवकर से इनकी एक प्रकार से होड सी लगी रहती है। इन्होंने अपनी उदार सहायता से आश्रम की सदा काल सहायता की है और कर रहे हैं।

श्री प्रभुदास देवीदासजी चवरे के चौथे भाई श्री वर्धमान देवीदासजी चवरे के सिवा इनके पांचवें भाई बाळासा देवीदासजी चवरे हैं। श्री बाळासा देवीदासजी चवरे अकोला के प्रसिद्ध वकील और आश्रम के अध्यक्ष हैं। इनके उदार सहयोग और सहायता का ही फल है कि आज आश्रम सब प्रकार की बाधाओं को पार कर उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा है। इसीलिये सर्व प्रथम पंडितजी की यही मनीषा थी कि प्रस्तुत पञ्चाध्यायी का प्रकाशन भी कारंजा आश्रम से ही हो। उन्होंने इस काम में सहयोग देने के लिये इन्दौर की एक साहित्यिक संस्था की ओर भी संकेत किया था— परन्तु जब मैंने अपनी दृष्टि पण्डितजी के समक्ष रखी और उन्हें श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला के संकल्प की बात बतलाई तो वे इसके लिये सहर्ष राजी हो गये। आज हमें इस बात की प्रसन्नता है कि हम श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला से इसका प्रकाशन कर रहे हैं। यह पंचाध्यायी का तीसरा अनुवाद है। अन्य अनुवादों से इसकी खास विशेषता यह है कि इसमें सोनगढ़ (श्रमणगढ़) काठियावाड के प्रसिद्ध सन्त श्री कानजी स्वामी की अनुभवपूर्ण वाणीसे पूरा पूरा लाभ उठाया गया है। कानजी स्वामी की प्रवचनशैली और अध्यात्म विद्याके गूढ़ से गूढ़ विषय को विश्व के सामने रखने का ढंग अपूर्व है। आज जैन समाज में ऐसे गिने चुने सन्त हैं जिन्हें इस विषय पर साधिकार बोलने का सौभाग्य प्राप्त है। कानजी स्वामी के विषय में यदि यह कहा जाय कि वे इस युग के अध्यात्म विद्या के सर्व श्रेष्ठ उपदेष्टा हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी।

पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि ग्रन्थमाला समिति ने पूज्य गुरुवर्य्य स्व० पं० देवकीनन्दन जी की स्मृति में वर्णी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उनके नाम से श्री देवकीनन्दन जैन सिद्धान्त ग्रन्थमाला नामक एक विभाग स्थापित किया है। उसका यह प्रथम ग्रन्थ है।

प्रस्तुत पंचाध्यायी के प्रकाशन में बड़ी कठिनाई गई है इसलिये चाहिये उतना सुन्दर प्रकाशन हम नहीं कर सके हैं फिर भी इसमें जिस खूबी से पूज्य पण्डितजी ने विषय का विवेचन किया है वह विद्वत्समाज के द्वारा आदरणीय होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रस्तावना

१. ग्रन्थ

ग्रन्थ का नाम—

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम **पंचाध्यायी है**। इसका ज्ञान ग्रन्थ के प्रारम्भ में आये हुए प्रथम मंगल श्लोक से हो जाता है। सम्भव है ग्रन्थकारने इस नामको सूचित करने के लिये ही उक्त मंगल श्लोक में '**पञ्चाध्यायावयवम्**' पद प्रयुक्त किया हो। जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थकार इसे पांच अध्यायों में समाप्त करना चाहते थे। श्लोकों और प्रकरणों की संख्या के आधार से ग्रन्थ का नाम रखने की परिपाटी पुरानी है। त्रिपिटक, पंचतंत्र और पंचसंग्रह ये इसी तरह के नाम हैं। इन नामों से उनके विभागों या अधिकारों की सूचना मात्र मिलती है। इससे प्रकृत ग्रन्थ में किस विषय का वर्णन किया गया है यह स्पष्ट नहीं होता।

ग्रन्थ के अधूरेपनका कारण—

अभी तक पंचाध्यायी का जो भाग उपलब्ध हुआ है वह बहुत ही थोड़ा है। वास्तव में वह एक अध्याय भी प्रतीत नहीं होता। साधारणत: उपलब्ध भाग डेढ़ अध्याय समझा जाता है। इसका इसके पूर्वतक तीन बार प्रकाशन हो चुका है। उन सब में इसे इसी रूप में अंकित किया गया है। हमने भी इसी आधार से इसे दो भागों में विभक्त कर दिया है। किन्तु ग्रन्थकारने, अब तक मुद्रित प्रतियों में जहाँ प्रथम अध्याय समाप्त किया गया है, वहां ऐसी कोई सूचना नहीं की है। मंगलाचरण के बाद उत्थानिका में विषयका निर्देश करते हुए मात्र वे इतना ही संकेत करते हैं कि 'प्रथम सामान्य वस्तुको सिद्ध करके तदनन्तर धर्म विशिष्ट वस्तु को सिद्ध करेंगे।' बहुत सम्भव है कि यह उल्लेख प्रथम अध्याय के विषय की सूचना मात्र हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि ग्रन्थका उपलब्ध भाग एक अध्याय का भी एक हिस्सा है।

प्रश्न यह है कि ग्रन्थ के शेष भाग का क्या हुआ होगा? क्या उसका निर्माण ही नहीं हो सका है या वह नष्ट हो गया है? अब तक इस ग्रन्थ की एक दो ही हस्त लिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं। एक प्रति कोल्हापुर के भण्डार में है और दूसरी प्रति अजमेर के भण्डार में है। उनमें ग्रन्थ का वह हिस्सा एक सा पाया जाता है जो मुद्रित हो चुका है। उसमें कुछ भी न्यूनाधिकता है इस की सूचना अब तक किसी ने नहीं की है। इससे मालूम पड़ता है कि ग्रन्थ का निर्माण भी यहीं तक हो सका है। *यह भी हो सकता है कि ये प्रतियां किसी अन्य एक प्रति के आधार से तैयार की गई हों।* यदि यह अनुमान ठीक है तो भी इस पर से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस ग्रन्थ की पूरी रचना नहीं हो सकी है। मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थकार की अन्तिम रचना है और वे इसे अपने जीवन काल में पूरा नहीं कर सके थे।

---

(१) प्र० अ०, श्लो० १। (२) प्र० अ०, श्लो० ७।

ग्रन्थराज पद की सार्थकता—

प्रारम्भिक मंगलाचरण में इसे स्वयं ग्रन्थकारने ग्रन्थराज[1] कहा है। अधिकतर लोग यह सोच सकते हैं कि स्वयं इसके रचयिताने इसे ग्रन्थराज कैसे कहा है? यह तो अपने मुख से अपनी ही बड़ाई है। किन्तु ग्रन्थ का जो भाग उपलब्ध है उसे देखने से ज्ञात होता है कि यह इसका सार्थक विशेषण है। ग्रन्थ का उपलब्ध भाग ७६८ + ११४१ = १९०९ श्लोक प्रमाण है जो इसका पूरा एक अध्याय ही नहीं प्रतीत होता। यदि इसकी रचना पूरी हो सकी होती तो उपलब्ध भाग की अपेक्षा इसका परिमाण बहुत विशाल होता और तब इसे ग्रन्थराज कहने में जरा भी संकोच नहीं होता। किन्तु यह ग्रन्थराज पदकी सार्थक व्याख्या नहीं है। इस पदकी सार्थक व्याख्या तो ग्रन्थ की आत्मा है। राज पद श्रेष्ठवाची है और ग्रन्थ की श्रेष्ठता उसके अधिक परिमाण में नहीं है। अधिक परिमाण की दृष्टि से किसी को श्रेष्ठ कहना हीरे की तुलना में मिट्टी के ढेर को श्रेष्ठ कहने के बराबर है। किसी भी ग्रन्थ की महत्ता उसके परिमाण में निहित नहीं है किन्तु उसकी उपयोगिता, विषय की गहराई और वर्णन शैली से ही उसकी महत्ता आंकी जा सकती है। हमने इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थका बारीकी से आलोढन किया है। हम समझते हैं कि इस दृष्टि से यह ग्रन्थराज तो है ही यदि इसे **ग्रन्थराजराज** पद से विभूषित किया जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है।

ग्रन्थ की उपयोगिता—

लोक में अनेक प्रयोजनों से ग्रन्थों का निर्माण होता देखा जाता है। कोई अपनी विद्वत्ता का प्रख्यापन करने के लिये ग्रन्थों की रचना करते हैं तो कोई धन और यश के लोभवश ग्रन्थोंकी रचना करते हैं किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का हेतु इन कारणोंसे सर्वथा भिन्न है। यह तो हम आगे विचार करेंगे कि इस ग्रन्थ के रचयिता पण्डितप्रवर कवि राजमल्लजी हैं। इनके रचे हुए और भी कई ग्रन्थ हैं और उनमें इन्होंने किस हेतु से उनकी रचना की है इसका भी निर्देश किया है। किन्तु जब हम उन ग्रन्थों की रचना के हेतु की तुलना में इस ग्रन्थ की रचना के हेतु पर ध्यान देते हैं तो हमें इसकी उपयोगिता का सहज ही ज्ञान हो जाता है। कवि क्या कहते हैं उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

'अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः॥'

प्र० अ०, श्लो० ५

लोक में आत्मा की निर्मलता और सर्वोपकारिणी बुद्धि ये दो वृत्तियाँ ऐसी हैं जो स्वान्तः सुखाय और सर्वहिताय मानी गई हैं। आखिर कवि के मन में ग्रन्थ रचना का भाव क्यों हुआ? क्या कवि की ऐसी धारणा थी कि अन्य अन्य का हित या अहित कर सकता है? एक स्थल[2] पर कवि स्वयं लिखते हैं कि पर के निमित्त से अपने लिये और अपने निमित्त से अन्य प्राणियों के लिए थोड़े भी सुख दुःखादि या मरण और जीवन की चाह करना मिथ्याज्ञान है। यह कवि का हार्द है। इससे तो यही ज्ञात होता है कि

(१) प्र० अ०, श्लो० १। (२) देखो द्वि० अ०, ४४८ श्लो०।

कवि यह अच्छी तरह से जानते थे कि अन्य अन्य का अच्छा बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। अच्छा बुरा जो कुछ भी होता है वह उस उस वस्तु की योग्यता पर ही अवलम्बित है फिर भी कवि ने सब का उपकार करनेवाली बुद्धि से प्रेरित होकर ग्रन्थराज की रचना की है सो इसका इतना ही अभिप्राय है कि निमित्त-नैमितिक सम्बन्ध की दृष्टि से कवि के मन में सर्वोपकारिणी बुद्धि का होना स्वाभाविक है। लोक में मन्दिर बनवाये जाते हैं, पाठशालाएँ खोली जाती हैं, औषधालयों का निर्माण किया जाता है। यह सब किसलिये ? इन सबके निर्माण में सर्वोपकारिणी बुद्धि ही तो काम करती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण में कवि का यही मुख्य अभिप्राय रहा है। इससे इसकी उपयोगिता सुतरां सिद्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय के तलस्पर्शी वर्णन के दर्शन पद पद पर होते हैं। ग्रंथकार ने इसमें जिस विषय को भी स्पर्श किया है उसकी आत्मा खोल कर रख दी है। केवल एक दो विषय इसके अपवाद कहे जा सकते हैं।

विषय का तलस्पर्शी वर्णन—

एक तो किसी का सम्पत्तिशाली और पुत्रवान् होना तथा दूसरे का दरिद्र और पुत्र पौत्र आदि से रहित होना इसे ग्रन्थकार कर्मका फल मानते हैं। वे लिखते हैं—

'एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः।'

द्वि० अ०, श्लोक ५०।

अर्थात् एक दरिद्र है और एक श्रीमान् है इससे कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

दूसरी जगह वे लिखते हैं—

'यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्।
नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि बिना पुण्योदयात्ततः॥'

द्वि० अ० श्लोक ४४०।

अर्थात् यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुत्र और मित्र आदि की चाह करता है तथापि पुण्योदय के बिना केवल चाह मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती।

अब विचार यह करना है कि क्या धन पैसे का मिलना या नहीं मिलना यह पाप पुण्य का फल है। यदि यह पाप पुण्य का फल नहीं है तो फिर ग्रन्थकार ने इसे कर्म का फल क्यों कहा ? जहाँ तक इसका निर्णय हमें शास्त्राधार से तो करना ही है किन्तु अनुभव से भी काम लेना है, क्योंकि शास्त्रों में सब तरह की बातें देखने को मिलती हैं। जहाँ कर्मसाहित्य[1] पुत्र धनादिक को कर्म का फल मिलने में उसका नोकर्म कहता है वहाँ अन्य साहित्य इसे उसका फल भी कहता है। मूलकर्म मान्यता का रहस्य क्या है इस ओर इतर लेखकों ने बहुत ही कम ध्यान दिया है। इसी कारण वे इस प्रश्न का उत्तर देने में एक मत नहीं हो सके हैं। कोई धनादि की प्राप्ति को लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम का फल[2] मानते हैं तो कोई इसे सातावेदनीय का फल[3] मानते हैं। आचार्यों में इस विषय को लेकर मतभेद क्यों हुआ इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम विश्व की समस्त समस्याओं के कारणों को

(१) देखो गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ६९ से ८५। (२) देखो सर्वार्थसिद्धि अ० २, सू० ४।
(३) देखो पुराण साहित्य।

ठीक तरह से समझ लें। न तो कर्म का विश्व के निर्माण में ही हाथ है और न विश्व की समस्त व्यवस्थाओं के बनाने और बिगाड़ने में ही हाथ है। उसका सीधा सम्बन्ध प्रत्येक संसारी जीव की विविध अवस्थाओं व शरीर, वचन और मनसे है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जितनी भी व्यवस्थाएँ हैं इनका न तो कभी एक ढंग रहा है और न रह सकता है। ये एक व्यक्ति पर अवलम्बित भी नहीं हैं। ये तो विविध व्यक्तियों, जातियों या राष्ट्रों के सहयोग का फल हैं। उनमें सहयोग की भावना के लुप्त होते ही ये व्यवस्थाएं भी लड़खड़ाने लगती हैं। कवि ने धन, सम्पत्ति आदि को पुण्य का फल बतलाने में तात्कालिक चालू लोक व्यवहार से काम लिया है। उन्होंने कर्म के वर्गीकरण और उसकी बारीकियों की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया है।

दूसरे वे स्त्री की अभिलाषा पुरुष वेद का और पुरुष की अभिलाषा स्त्री वेद का फल मानते हैं। वे लिखते हैं—

'रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल।
नारीवेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता॥'

द्वि० अ०, श्लो. १०८१

अर्थात् पुंवेद के उदय से द्रव्य स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा होती है और स्त्रीवेद के उदय से पुरुषों के साथ भोग करने की इच्छा होती है।

किन्तु कर्म व्यवस्था के आधार से जब इस विषय का बारीकी से विचार करते हैं तो मालूम पड़ता है यह कथन भी उनका सुविचारित नहीं है। साधारणतः वेदके कार्यों के विषय में शास्त्रों में तीन प्रकार के विचार मिलते हैं। यथा—

अ—जो गर्भ धारण करे वह स्त्री, जो अपत्य को जन्म दे वह पुमान् और जो न स्त्री है और न पुरुष है वह नपुंसक[1]।

आ—स्त्री की अभिलाषा पुरुष वेद का कार्य है, पुरुष की अभिलाषा स्त्री वेद का कार्य है और पुरुष व स्त्री दोनों के साथ भोग करने की अक्षमता नपुंसक वेद का कार्य है[2]।

इ—जो लोक में उछे अकार्य करता है वह पुरुष है, जो आजू बाजू की परिस्थिति को दोषों से झकता है वह स्त्री है और जो न पुरुष है और न स्त्री है वह नपुंसक है[3]।

यह तो है ही कि वेदनोकषाय जीवविपाकी कर्म है। इसका काम अमुक जाति के जीव के परिणामों का निर्माण करना है। देखना यह है कि वे कौनसे परिणाम हैं जिन्हें वेद नोकषाय का कार्य कहा जा सकता है? यहां हमने वेद के तीन प्रकार के कार्य बतलाये हैं। उनमें अन्त का कार्य तो परिणामों से सम्बन्ध रखता है किन्तु प्रारम्भ में कहे गये दो प्रकार के कार्यों का परिणामों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध द्रव्य लिंग से है। जो द्रव्य स्त्री है वह ही गर्भ धारण कर सकती है और जो द्रव्य

(१) देखो सर्वार्थसिद्धि अ. २ सू. ५२।
(२) द्वि. अ. श्लो० १०८१-१०८२।
(३) देखो गोम्मटसार जीवकाण्ड वेदमार्गणा।

पुरुष है वह ही अपत्य को जन्म दे सकता है। यह कार्य भावस्त्री और भाव पुरुष का नहीं है। इसी प्रकार दूसरे प्रकार के कार्यों की छाननी करने पर उनका सम्बन्ध भी द्रव्यवेद से ही प्रतीत होता है। उदाहरण स्वरूप एक ऐसी स्त्री लीजिये जो भाव से पुरुष है और द्रव्य से स्त्री है तो उसकी इच्छा किसी अन्य पुरुष से रमण करने की नहीं होगी यह तो कहा नहीं जा सकता। इससे सिद्ध है कि वेद का सम्बन्ध न तो रमण करने की इच्छा से ही है और न पुत्र आदि को जन्म देने से ही है। उसका कोई अन्य कार्य होना चाहिये। शास्त्रकारों ने इसी बात का विचार कर उसका अलग से कार्य बतलाया है और वह है तीसरे प्रकार का कार्य। किन्तु कवि ने वेद के इस कार्य का निर्देश न करके यहाँ भी उसी प्रकार की गलती की है जिसका हम पहले निर्देश कर आये हैं। यहाँ भी उन्होंने शास्त्रीय मर्यादा का ख्याल न करके चालू लौकिक व्यवस्था की ओर ही ध्यान रखा है। उन्होंने वेद वैषम्य को स्वीकार तो किया पर यह ध्यान न रखा कि वेद का जो लक्षण हम दे रहे हैं वह क्या सर्वत्र घटित होता है।

उन्होंने वात्सल्य अंग के प्रसंग से एक बात और लिखी है। वे लिखते हैं कि यदि आत्मीक सामर्थ्य नहीं है तो जब तक मंत्र, तलवार और धन है तब तक वह उन सिद्ध प्रतिमा आदि पर आई हुई बाधा को न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है।।' यथा—

'यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम्।
तावत् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥'

द्वि. अ., श्लो० ८०५

कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण में जिस तात्त्विक बुद्धि का परिचय दिया है उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि ये या इसी प्रकार के दूसरे विचार उनकी कलम से कैसे लिखे गये हैं। यह तो स्पष्ट है कि जिस काल में प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा जा रहा था उस समय यह देश साम्प्रदायिक उन्माद का शिकार बना हुआ था। मुसलमान यहां की कला और सौन्दर्य के विनाश में लगे हुए थे। हिन्दु मन्दिरों को भी उन्होंने अपना निशान बनाया था। वे अपनी सभ्यता इस देश के निवासियों पर लाद देना चाहते थे। प्रत्येक का अपनी अपनी परम्परा की जिस किसी प्रकार से रक्षा करना अन्तिम कर्तव्य हो गया था। मालूम पड़ता है कि कवि इसी कारण से थोड़े तात्त्विक भूमिका से नीचे उतर आते हैं और पशुता के दमन के लिये उन्हीं के साधनों के उपयोग करने की सलाह देने में वे नहीं हिचकते। इतना सब होने पर भी यह स्पष्ट है कि तात्त्विक भूमिका के साथ इसका मेल नहीं बिठाया जा सकता है इससे उन्माद का ही पोषण होता है।

यदि हम ऐसे स्थलों को छोड़ दें और ग्रन्थराज को समग्र भाव से देखें तो इसमें सन्देह नहीं कि कवि ने इसमें प्रत्येक विषय का तलस्पर्शी वर्णन किया है। क्या द्रव्य चर्चा, क्या नय प्रमाण निरूपण, क्या कार्यकारण भाव का विचार, क्या जीव और कर्म की मीमांसा, क्या सम्यग्दर्शन आदि का विवेचन सभी विषय गहरे अध्ययन के बाद लिखे गये हैं। साधारणतः कुछ विद्वान् इसमें वर्णित् नयचर्चा की मीमांसा करते हुए पाये जाते हैं। कवि ने द्रव्यार्थिक नय का जिस ढंग से निरूपण किया है उसे वे कवि की अपनी निजी सूझ मानते हैं। वे अन्यत्र वर्णित द्रव्यार्थिक नय के विवेचन में अटक जाते हैं। किन्तु विचार कर देखने पर मालूम पड़ता है कि यह कवि की अपनी सूझ नहीं है। इस विषय में कवि का

मात्र यही तर्क है कि द्रव्य शब्द अन्वय या सामान्यवाची है इसलिये द्रव्यार्थिक नय का विषय मात्र सामान्य तत्त्व हो सकता है। किन्तु इसका विवेचन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता, इसलिये उसका विषय, शब्दों द्वारा जो कुछ कहा जाता है उसका, निषेध करना रह जाता है और इसलिये वह अनेक प्रकार का न हो कर एक प्रकार का ही ठहरता है। इस द्वारा कवि यही तो प्रतिबिम्बित करना चाहते हैं कि एक ओर उसे सामान्य शब्द द्वारा कहा जाय और दूसरी ओर उसमें भेद प्रभेद किये जाँय यह उचित नहीं है।

नैयायिक दर्शन सामान्य के पर सामान्य और अपर सामान्य ऐसे दो भेद करता है। वह इन दोनों को वास्तविक मानता है। ये भेद तो जैन दर्शन में भी देखने को मिलते हैं। किन्तु जैन दर्शन परसामान्य को सत्य न मान कर मात्र कल्पना का विषय मानता है। वह तो ऐसे ही सामान्य को वास्तविक मानता है जो व्यक्तिनिष्ठ होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर द्रव्यार्थिक नय के अनेक भेद कहाँ बनते हैं? इसलिये यदि कवि ने द्रव्यार्थिक नय को एक और अवाच्य कहा तो इसमें कौन सी आपत्ति है?

इनके विषय विवेचन में दूसरी आपत्ति वहां की जाती है जहां इन्होंने निश्चय नय को प्रतिषेधक और व्यवहारनय को प्रतिषेध्य बतला कर व्यवहारनय के विषय पर दृष्टि रखनेवाले को मिथ्यादृष्टि और निश्चयनय के विषय पर दृष्टि रखनेवाले को सम्यग्दृष्टि कहा है। आक्षेपकों का कहना है कि वस्तु में भेद वास्तविक है। जब कि पदार्थ गुण पर्यायवाला है, जीव संसारी-मुक्त है, पुग्दल अणु-स्कन्धरूप है, जीव नर नारकादि विविध पर्यायोंवाला है तब फिर इन सबको स्वीकार करनेवाला व्यवहारनय प्रतिषेध्य कैसे हो सकता है और जिसकी दृष्टि इस पर है वह मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है? उनका कहना है कि यदि कोई मनुष्य अपने को मनुष्य अनुभव करता है और वह मानता है कि मैं कर्मों के आधीन हूं, उनसे छुटकारा पाने के लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये तो उसका ऐसा समझना मिथ्या क्यों माना जाता है? कवि ने इस समस्या का जो समाधान किया है उसे वे उनकी निजी कल्पना मानते हैं।

अब हमें यहां कवि की दृष्टि को सामने रख कर यह बतलाना है कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह बहुत ही ऊँची भूमिका से लिखा है और उसे हृदयंगम करने से वास्तविक सत्य का दर्शन हो सकता है। हम यहां संक्षेप में उसी विषय पर प्रकाश डालते हैं।

आगम में द्रव्य को गुण पर्यायवाला बतलाया है। अब देखना यह है कि ये तीन वस्तुएँ, जिन्हें कि द्रव्य, गुण और पर्याय कहा है, क्या हैं? ऐसा तो माना नहीं जा सकता है कि द्रव्य जुदा है, गुण जुदे हैं और पर्याय जुदे हैं, क्यों कि ऐसा मानने पर वे स्वतन्त्ररूप से तीन पदार्थ प्राप्त होते हैं। किन्तु वे स्वतन्त्ररूप से तीन पदार्थ हैं नहीं, केवल दृष्टि भेद से ही उनका अलग अलग नामोच्चार किया जाता है वस्तुतः वस्तु एक है। अन्वय की प्रमुखता से उसे ही द्रव्य कहते हैं, प्रतिक्षण परिणमन की अपेक्षा से उसे ही पर्याय कहते हैं और उसमें प्रतिभासित होनेवाली शक्तियों की अपेक्षा से उसे ही गुण कहते हैं। जैन परम्परा में इनका कथंचित् तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ है इनका कथंचित् अभेद। अन्यत्र भेदाभेद की चर्चा देखने को मिलती है। उसका भी केवल इतना ही अभिप्राय है कि इनकी आत्मा एक है, केवल संज्ञा और लक्षण आदि की अपेक्षा से ही इनमें भेद है। वैसे तो जिस काल में वस्तु

को जिस रूप में देखते हैं उस काल में वह उतनी ही होती है। यह द्रव्य है, ये गुण हैं और ये उनकी पर्याय हैं ऐसा अलग अलग रूप से उसमें भेद नहीं किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप एक वस्तु लीजिये। उसमें रूप, रस, स्पर्श आदि सब कुछ है। पर यदि कोई कहे कि उन्हें पृथक् पृथक् करके बतलाइये ऐसे जैसे कि खिचड़ी में से दाल, चावल अलग अलग किये जा सकते हैं तो ऐसा करना कभी भी सम्भव नहीं होगा। यह तो जाने दीजिये वहां तो यह बतलाना भी सम्भव नहीं है कि रूप यहां रहता है और रस यहां रहता है। जहां रूप है वहीं रस है और वहीं अन्य सब कुछ है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह वस्तु जिस प्रकार समग्र भाव से रूप है उसी प्रकार समग्रभाव से रस है। केवल कार्य भेद से ही ऐसा भेद किया जाता है वस्तुतः उनमें भेद नहीं है। तत्त्व को अनिर्वचनीय कहने का भी यही भाव है। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर वस्तु का अखण्ड भाव से ग्रहण करनेवाला निश्चय नय ही उपादेय ठहरता है उसमें भेदों की लड़ी लगानेवाला व्यवहार नय नहीं। वस्तु में भेदव्यवहार नैमित्तिक है और अभेद वास्तविक है। उसमें भेद करने के लिये हमें पर की अपेक्षा लेनी पड़ती है। जिस प्रकार वस्तुगत भेद बुद्धि में आता है वैसा उसमें भेद कहां है? यद्यपि यहां यह कहा जा सकता है कि यदि वस्तु में वास्तविक भेद नहीं है तो फिर एक अद्वैत को स्वीकार कर लेने में क्या हानि है? सो इसका यह समाधान है कि अनन्त व्यक्तियों का अद्वैत भले ही न बने पर प्रत्येक व्यक्ति अद्वैतरूप तो है ही। उसमें भेद का निर्णय करने के लिये जिस प्रकार हमें बुद्धि की सहायता लेनी पड़ती है उस प्रकार एकत्व का निर्णय करने के लिये बुद्धि की सहायता नहीं लेनी पड़ती। उसका वह एकत्व स्वयं प्रकाशमान हो रहा है।

व्यवहार और निश्चय की चर्चा समयप्राभृत आदि में भी की है। वहां इनके हमें अनेक प्रकार के प्रयोग दिखाई देते हैं। यथा—

(१) जीव और देह एक है यह व्यवहारनय है। जीव और देह एक नहीं, किन्तु पृथक् पृथक् हैं यह निश्चयनय है।

(२) वर्णादिक जीवके हैं यह व्यवहारनय है। ये जीव के नहीं हैं यह निश्चयनय है।

(३) रागादिक जीवके हैं यह व्यवहार नय है। ये जीव के नहीं हैं यह निश्चय नय है।

(४) शरीर जीवका है ऐसा मानना व्यवहार है और शरीर जीव से भिन्न है ऐसा मानना निश्चय है।

(५) केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं यह व्यवहार नय है किन्तु अपने आपको जानते और देखते हैं यह निश्चय नय है।

(६) क्षायिक आदि भाव जीवके हैं यह व्यवहार नय है किन्तु शुद्ध जीवके न क्षायिक भाव होते हैं और न अन्य कोई यह निश्चय नय है।

(७) ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र है ऐसा उपदेश करना व्यवहार है और वह न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है। किन्तु शुद्ध ज्ञायक है ऐसा मानना निश्चय है।

यदि अलग अलग विश्लेषण न करके इन प्रयोगों को समग्रभाव से देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि निमित्त सापेक्ष जितना भी विकल्प होता है वह सब व्यवहार नय है और निमित्तनिरपेक्ष मूल वस्तु को अभेद भाव से स्वीकार करनेवाला विकल्प ही निश्चय नय है।

समयप्राभृतमें व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चय नय का भूतार्थ लिखा है। आगे उसकी टीका में बतलाया है कि आत्माश्रित निश्चय नय होता है और पराश्रित व्यवहार नय होता है। वहाँ इसका खुलासा करते हुए[1] हिन्दी टीका में लिखा है—

'आत्मा के पर के निमित्त से अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहार नय के विषय हैं इसलिये व्यवहार नय तो पराश्रित है और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वह निश्चय का विषय है इसलिये निश्चय नय आत्माश्रित है। *अध्यवसाय भी व्यवहार नय का ही विषय है इसलिये जो अध्यवसान का त्याग है* सो निश्चय नय को प्रधान कर व्यवहार नय के त्याग का उपदेश है क्योंकि जो निश्चय के आश्रय प्रवर्तते हैं वे तो कर्म से छूटते हैं और जो एकान्त से व्यवहार नय के ही आश्रय प्रवर्त रहे हैं वे कर्म से कभी नहीं छूटते।'

कवि ने व्यवहार नय और पर्यायार्थिक नय को एक माना है। वे लिखते हैं कि 'पर्यायार्थिक नय कहो या व्यवहार नय इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है वह सब उपचार मात्र है।' व्यवहार का निरुक्त्यर्थ है विधिपूर्वक भेद करना। जैसे गुण गुणी में वास्तव में भेद नहीं है किन्तु संज्ञा लक्षण आदि की अपेक्षा भेद करना व्यवहार नय है। इनका अभेद वास्तविक है और भेद उपचरित है।

[3]प्रवचनसार में जो जीव पर्यायमूढ होते हैं उन्हें पर समय लिखा है। इसका यह आशय है कि जीव की कर्म के निमित्त से जो नर, नारक, देव और तिर्यंच आदि रूप विविध पर्यायें हो रहीं हैं उनमें मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं मनुष्य हूँ आदि रूप से कल्पना करना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीव स्वयं न देव है न नारकी है, न मनुष्य है और न तिर्यंच है। वह तो सदा काल एक ज्ञायक स्वभाव है।

यही कारण है कि कवि ने व्यवहार नय को प्रतिषेध्य और निश्चय नय को प्रतिषेधक बतला कर मात्र निश्चय नय को उपादेय माना है। यद्यपि स्वात्मानुभूति के समय जीव नयपक्ष से रहित होता है फिर भी उसकी दृष्टि सदा काल एक अखण्ड चैतन्य ज्ञायक स्वभाव आत्मतत्त्व पर बनी रहे वह अपने मनको विविध पर्यायों में न भटकावे इसलिये यहाँ निश्चय नय की उपादेयता स्वीकार की गई है।

इस तरह हम देखते हैं कि कवि ने जिस किसी विषय को स्पर्श किया है उसकी सर्वांगीण चर्चा की है। जहाँ अधिकतर लेखक किसी विषय के शरीर का विवेचन करते हैं वहां कविने उसके शरीर को स्पर्श न कर उसकी आत्मा को सुन्दर शैली में विश्व के सामने रखने का प्रयत्न किया है। प्रसंग से उन्होंने विविध दर्शनों के मन्तव्यों की भी छानबी की है और अन्त में यह बतलाया है कि जैन दृष्टिकोण क्यों कर उचित है। उदाहरण के लिये हम प्रमाण की चर्चा उपस्थित करते हैं। विश्व व्यवस्था के लिये यद्यपि प्रमाण को सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है किन्तु उसके स्वरूप और संख्या के विषय में बड़ा भारी मतभेद है। कविने अन्य दर्शनकारों के द्वारा माने गये प्रमाणों की चर्चा करते हुए बड़ी खूबी से ज्ञान की प्रमाणता को न केवल स्वीकार कराया है साथ ही यह भी सिद्ध किया है कि अन्य मतवादियों के द्वारा माने गये इन्द्रिय आदि प्रमाण के लक्षण क्यों नहीं हो सकते।

---

(१) समयप्राभृत गा० १६४। (२) प्र० अ०, श्लो० ५२१। (३) ज्ञेयाधिकार गा० १-२।

वर्णनशैली

इतना सब कुछ होते हुए भी उनके लिखान में कहीं भी क्लिष्टता का अनुभव नहीं होता। गम्भीर से गम्भीर विषय को सुबोधगम्य बनाने का कवि ने पूरा प्रयत्न किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा परिमार्जित और भावों का अनुसरण करनेवाली है। पूरे ग्रन्थ में आर्या और अनुष्टुप् दो प्रकार के छन्दों का उपयोग किया गया है। विषय का विवेचन करते समय सर्व प्रथम उसका लक्षण दिया गया है। इसके बाद उसके पर्यायवाची नामों और मतभेदों की चरचा की गई है और अन्त में सिद्धान्त पक्ष को उपस्थित करके उस विषय को समाप्त किया गया है। शंका-समाधान का ढंग ग्रन्थ की अपनी मौलिक विशेषता रखता है। कविता में इतने रोचक ढंग से वर्णन करने की शैली अन्यत्र कचित् ही दिखाई देती है। इसमें ननु, नूनं, न च, अथ, अपि, किञ्च, सत्यं, अर्थात्, अयमर्थः, एवं, नैवं, नोह्यं, चेत्, नो चेत्, न चाशंक्यं, यतः, ततः, अत्र, तत्र, तद्यथा आदि शब्दों का बहुतायत से उपयोग हुआ है। इससे ग्रन्थ की रोचकता में अन्तर न पड़कर वह और अधिक बढ़ जाती है।

ग्रन्थनिर्माण का निमित्त—

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण का हेतु यद्यपि सर्वोपकारिणी बुद्धि रहा है, पर ग्रन्थ के आलोडन करने से ज्ञात होता है कि इनके बनाये हुए अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ का निर्माण भी किसी व्यक्तिविशेष के निमित्त से हुआ है। ग्रन्थ में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं जिनसे इसकी पुष्टि होती है। उदाहरणस्वरूप यहां ऐसे एक दो उल्लेख उपस्थित किये जाते हैं—

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः।
किंनामानः कथं ज्ञेयाः ब्रूहि मे वदतांवर ॥ ६५६ ॥

इस श्लोक में वैभाविक भावों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की गई है। इस द्वारा कोई अन्य व्यक्ति कवि से पूछता है कि 'हे वदतांवर! ब्रूहि मे' मुझसे यह कहिये कि वैभाविक भाव कितने हैं, कैसे हैं और क्या नामवाले हैं।

इसका उत्तर कविने जिस ढंग से दिया है उसे भी पढ़िये—

शृणु साधो महाप्राज्ञ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितम्।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ।६६०॥

इस श्लोक द्वारा कवि कहते हैं कि 'हे साधो! हे महाप्राज्ञ! यत्तवेप्सितं वच्मि अहं शृणु' जो तुम्हारा अभिप्राय है उसे हम कहते हैं, सुनो।

जहां तक हम समझते हैं कि ग्रन्थ रचनाका यह क्रम विना निमित्त के नहीं हो सकता है। कविवर राजमल्ल जी के बनाये हुए कई ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं और वे सब ग्रन्थ किसी न किसी के निमित्त से लिखे गये हैं। मालूम पड़ता है कि इसके निर्माण कराने में भी किसी का हाथ रहा है। विचारणीय यह है कि वह कौन महानुभाव है जिसके निमित्त से इसकी रचना हुई है। आगे इसी विषय पर प्रकाश डालते हैं—

१—लाटीसंहिता साहु फामन के निमित्त से लिखी गई थी यह कवि ने स्वयं स्वीकार किया है। बीच बीच में कवि ने उनकी ओर से जिज्ञासा भी प्रकट कराई है और नाम निर्देश द्वारा उन्हें सम्बोधित कर उस जिज्ञासा का समाधान भी किया है। उदाहरणार्थ—अहिंसाणुव्रत का वर्णन करते हुए साहु फामन

ने प्रश्न किया है कि हिंसा निषिद्ध है यह तो हमें मान्य है, पर उसका एकदेश त्याग कैसे किया जाय यह इस समय हमें बतलाइये—'तद् वद अद्य नः ।' कवि उन्हें सम्बोधित करके उत्तर देते हैं—'उच्यते शृणु भो प्राज्ञ तच्छ्रोतुंकाम फामन' हे प्राज्ञ फामन! तुम अहिंसाणुव्रत का लक्षण सुनना चाहते हो, सुनो, हम कहते हैं।

ऐसी ही एक जिज्ञासा सम्यग्दर्शन का दूसरा लक्षण जानने के लिये प्रकट कराई गई है। श्लोक इस प्रकार है—

ननु सुदर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

यह श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थ में भी पाया जाता है। कवि राजमल्ल जी की इस तरह से विषय विवेचन करने की पद्धति रही है यह मानने की अपेक्षा मालूम तो यही पड़ता है कि इस श्लोक में आये हुए 'नः' पद द्वारा कवि ने साहु फामन को ही सम्बोधित किया है।

२—साहु फामनका वंश लोकमें 'साधु' (साहु) इस नामसे विख्यात था[1]। जनता इन्हें साहु घराना का कह कर पुकारती थी। कवि ने अनेक स्थलों पर अन्य सम्बोधनों के साथ 'साधो' सम्बोधन का खास ध्यान रखा है। यह सम्बोधन पद लाटीसंहिता के समान प्रस्तुत ग्रन्थ में भी देखा जाता है। विभावों के नामादि के विषय में जिज्ञासा का समाधान करते हुए कवि राजमल्ल जी कहते हैं—

शृणु साधो ! महाप्राज्ञ ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितम् ॥ ६६० ॥

ये दो ऐसे प्रमाण हैं जिनके आधार से यह मान लेने के लिये जी चाहता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ (पञ्चाध्यायी) की रचना भी साहु फामन के निमित्त से की गई है।

मूलभूत आधार—

यह तो है ही कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कवि के दीर्घकालीन अभ्यास, मनन और अनुभव का फल है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसे अच्छी तरह पचा कर ही लिखा है। आगम और अनुभव ये इनके दो सहकारी मित्र हैं। जहां भी इन्हों ने विषय की जटिलता का अनुभव किया तत्काल इनको याद किया है। ग्रन्थ के निर्माण में तर्क को भी इन्होंने अपना साथी बनाया है। यदि हम यह कहें कि *ये जितने अधिक आगम के पक्षपाती थे उससे कहीं अधिक इन्हें अपने तर्काश्रित अनुभव का भरोसा था* तो कोई अत्युक्ति न होगी। फिर भी यह तो देखना ही होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का मूलभूत आधार क्या है?

जैन परम्परा में अध्यात्मवाद की बड़ी प्रतिष्ठा है। यह जैनधर्म की आत्मा है। धर्म प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। जैनधर्म प्राणी मात्र को इसी की शिक्षा देता है। वह कहता है कि प्राणीमात्र को इसे अपने भीतर ढूंढ़ना चाहिये। मन्दिर, शास्त्र और गुरु ये वास्तविक धर्मस्थान नहीं हैं। इन्हें धर्म स्थान बनाकर हमने भीतर की ओर देखना छोड़ दिया है। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में मौलिक अन्तर यह है कि अध्यात्मवाद प्रत्येक व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा देता है जब कि भौतिकवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व पर ही कठोर प्रहार कर उसे परमुखापेक्षी बनाता है। इन्द्र, सूर्य, वरुण, और अग्नि ये भौतिकवाद के प्रतीक हैं। इनके गुण गाने की शिक्षा वेदों में पद पद पर दी गई है। यद्यपि अज्ञानवश *विश्व अपनी ओर नहीं देखना चाहता है फिर भी सम्यग्ज्ञान की निर्मल धारा* बहाकर उसे अपने भीतर

१ लाटीसंहिता सर्ग १ श्लोक ७१।

छिपी हुई शक्ति का भान कराना है। इसके लिये उन ग्रन्थरत्नों को टटोलना होगा जिनसे आत्माश्रित भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का मनन करते समय हमारी दृष्टि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर जा रुकती है। कवि ने बड़ी चतुराई से प्रस्तुत ग्रन्थ में उनका उपयोग किया है। यदि हम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थरत्नों का इसे भाष्य कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस ग्रन्थ में अथ से लेकर इति तक जितने भी विषय निबद्ध किये गये हैं उन सब पर न केवल समयप्राभृत, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय की छाप है अपि तु वे सब या तो इन ग्रन्थों का शब्दशः अनुसरण करते हैं या उक्त ग्रन्थों का सारांश लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ का कलेवर पुष्ट किया गया है। यहां कुछ ऐसे उल्लेख उपस्थित किये जाते हैं जिनसे उक्त अभिप्राय की पुष्टि होती है।

मंगलाचरण—

प्रवचनसार में सर्व प्रथम भगवान् महावीर की स्तुति करके अनन्तर शेष तीर्थंकर और सिद्धों की स्तुति की गई है। और इसके बाद शेष श्रमणों को नमस्कार किया गया है। मंगल गाथाएँ इस प्रकार हैं—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ २ ॥

अब इन गाथाओं के प्रकाश में प्रस्तुत ग्रन्थ के मंगलाचरण श्लोक पढ़िये—

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥
शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम्।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान् वन्दे ॥ २ ॥

इन मंगलश्लोकों में भी वही क्रम स्वीकार किया गया है जिसका दर्शन प्रवचनसार की मंगल गाथाओं में होता है। इनमें मंगल के अधिकारी व्यक्ति तो एक हैं ही। विशेष कर पदों की समानता यह कहने के लिये बाध्य करती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के श्लोकों की रचना प्रवचनसार की मंगल गाथाओं के आधार से की गई है। प्रवचनसार में 'सेसे पुण तित्थयरे' और प्रस्तुत ग्रंथ में 'शेषानपि तीर्थकरान्' इसी प्रकार प्रवचनसार में 'ससव्वसिद्धे' और प्रस्तुत ग्रन्थ में 'अनन्तसिद्धानहं नमामि समम्' पद विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी यह समानता आकस्मिक नहीं है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का मंगलाचरण लिखते समय ग्रन्थकार के सामने प्रवचनसार का मंगलाचरण था।

सत्ता का स्वरूपनिर्देश—

पंचास्तिकाय में सत्ता के स्वरूपनिर्देश के प्रसंग से यह गाथा आई है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
उप्पायवयधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवइ एक्का ॥

समयप्राभृत, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय के मुख्य टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र हैं। इन्होंने इस गाथा की टीका करते समय जो कुछ लिखा है उसके प्रकाश में प्रस्तुत ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोकों को पढ़िये—

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नानारूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥
एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम् ।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥
एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

द्रव्यस्वरूप विचार—

प्रवचनसार में द्रव्य की चरचा करते हुए लिखा है—

सब्भावो हि सहावो गुणेहि सगपज्जएहि चित्तेहि ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहि ॥ ४ ॥

इस विषय का प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्रण इस प्रकार किया है—

गुणपर्ययवद् द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ २ ॥
उत्पादस्थितिभङ्गैर्युक्तं सद् द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्सम् न तु व्यस्तैः ॥८६॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—

प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की चरचा करते हुए लिखा है—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ८ ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ में यह विषय इस प्रकार निबद्ध किया है—

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥२५१॥
उत्पादोऽपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥२५२॥
उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद् ध्रौव्यम् ॥
भावस्याभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥२५३॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये न केवल द्रव्य के होते हैं और न केवल पर्याय के किन्तु पर्याय द्वारा द्रव्य के होते हैं। इस विषय का निरूपण करनेवाली एक गाथा प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में आई है—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ ९ ॥

इस विषय का खुलासा प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार से किया है—

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांशिनो हि तत्त्रितयम् ॥२२८॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मे क्षणभेद नहीं है इस विषय का खुलासा करते हुए प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में लिखा है—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समए तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०॥

इस विषय को अनुसरण करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखा है—

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोऽपि सिद्धत्वात् ॥२३४॥

एक पर्याय का उत्पाद होता है और दूसरी पर्याय का व्यय, तो भी द्रव्य का ध्रौव्यांश न उत्पन्न होता है,और न व्यय को ही प्राप्त होता है। इस विषय का खुलासा करते हुए प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में लिखा है—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥

इस विषय को अनुसरण करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखा है—

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥२४३॥

गुण और पर्याय—

गुण और पर्याय ये मिलकर द्रव्य हैं इसका खुलासा करते हुए प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में लिखा है—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥१२॥

प्रस्तुत ग्रन्थ में इस विषय को इन शब्दों में अनुवादित किया है—

अयमत्राभिप्रायो ये देशाः सद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निःशेषम् ॥७४॥

आत्मा का स्वरूप—

शुद्धनय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप निर्देश करते हुए समयप्राभृत में लिखा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥
जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुवादित की गई है—

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात्पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥२३३॥
ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥२३४॥
अथाबद्धमथाऽस्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसंगं व्योमवत्सदा ॥२३५॥

ज्ञानी और अज्ञानी के भावों का निर्देश—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सब्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

समयप्राभृत

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥२३१॥

पञ्चाध्यायी

ज्ञानचेतना—

स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ।

अमृतचन्द्राचार्य समयप्राभृत टीका

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रत: स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥१९६॥

पञ्चाध्यायी

कौन नय किसके लिये प्रयोजनवान् है इसका निर्देश—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहि ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

समयप्राभृत

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥

अमृतचन्द्राचार्य समयप्राभृत टीके

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३७॥

पञ्चाध्यायी

तीर्थस्थिति के लिये व्यवहार नय का आश्रय लेना उपयोगी है—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

समयप्राभृत

तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोऽपि ॥ ६४१ ॥

पञ्चाध्यायी

निःशंकित अंग का स्वरूपनिर्देश—

सम्माइट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८॥

समयप्राभृत

शंका भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥४८१॥

अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम्।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदाश्रित्य गोचराः ॥४८२॥

पञ्चाध्यायी

इन उदाहरणों से यद्यपि हम यह जान लेते हैं कि कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना मुख्यतया आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार से की है, फिर भी उनके सामने इसकी रचना करते समय विपुल साहित्य रहा है और उन्होंने यथावसर उसका उपयोग भी किया है[1]। तत्त्वार्थसूत्र का तो इन्होंने अनेक स्थलों पर नामोल्लेख किया ही है। इसके सिवा ग्रन्थ की अन्त:परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि इनके सामने परीक्षामुख, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, षट्प्राभृत, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि अनेक ग्रन्थ रहे हैं।

२ ग्रन्थकर्ता

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता कवि राजमल्ल जी हैं इस विषय में अब किसी को विवाद नहीं रहा है। वीरसेवा मन्दिर के संस्थापक और अधिष्ठाता प्रसिद्ध साहित्यसेवी पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस विषय की बारीकी से छानबीन की है। सर्वप्रथम उनका इस विषय में एक लेख 'वीर' नामक पत्र के वर्ष ३ अंक ११-१२ में प्रकाशित हुआ था। इसके पहले आचार्य अमृतचन्द्र इसके कर्ता माने जाते थे। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि उनका यह लेख प्रकाशित हो जाने के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ का कर्ता विषयक भ्रम दूर होता गया और अब यह निर्विवाद मान लिया गया है कि पंचाध्यायी के कर्ता कवि राजमल्लजी ही हैं।

कवि राजमल्ल का परिचय—

कवि राजमल्ल जी कौन थे, कहाँ के रहनेवाले थे, इनकी विद्या परम्परा और कुल परम्परा क्या थी इत्यादि बातों का कुछ भी पता नहीं लगता है। उन्होंने लाटीसंहिता के अन्त में एक प्रशस्ति दी है जिसमें उन्होंने अनेक बातों को बतलाने की प्रतिज्ञा करके अपने विषय में भी लिखने का संकेत किया है किन्तु वहाँ उन्होंने अपने विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा है। मात्र कथामुख वर्णन नामक प्रथम सर्ग में व प्रशस्ति के अन्त में एक दो श्लोक आते हैं। उसीसे इनका थोड़ा बहुत परिचय मिलता है। उन्होंने प्रशस्ति के अन्त में लिखा है—

एतेषामस्ति मध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी।
श्रेयोऽर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः
स्वोपज्ञा राजमल्लेन विदितविदुषाम्नायिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इस श्लोक में इन्होंने अपना नाम राजमल्ल दिया है और अपने को हेमचन्द्र के आम्नाय का बतलाया है। इसमें वे अपने को प्रसिद्ध विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। कथामुखवर्णन में इन्होंने अपने को मात्र सत्कवि घोषित किया है। इसके सिवा इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। फिर भी इनकी सब रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि ये न केवल अध्यात्म विद्या के बहुत बड़े विद्वान् थे अपितु पिङ्गलशास्त्र, प्रथमानुयोग और चरणानुयोग आदि विषयों के भी विद्वान् थे। स्याद्वाद विद्या पर इनका एकाधिकार था। इन्होंने अपने जीवन काल में अनेक शास्त्रों का प्रणयन किया है। इनके बनाये हुए

---

१ देखो पृ० १७, २४,।

जम्बूस्वामीचरित, लाटीसंहिता, छंदोविद्या, अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पञ्चाध्यायी ये पाँच ग्रन्थ माने जाते हैं।

जान पड़ता है सर्व प्रथम इन्होंने जम्बूस्वामीचरित की रचना की थी। उस समय इनकी अवस्था विशेष अधिक नहीं थी। इसका उल्लेख करते हुए जम्बूस्वामीचरित के कथामुखवर्णन में उन्होंने स्वयं लिखा है कि मैं पद में तो सबसे छोटा हूँ ही, वय और ज्ञान आदि गुणों में भी सबसे छोटा हूँ—

सर्वेभ्योऽपि लघीयांश्च केवलं न क्रमादिह।
वयसोऽपि लघुवुद्धो गुणैर्ज्ञानादिभिस्तथा ॥१, १३४॥

जम्बूस्वामीचरित को इन्होंने १३ सर्गों में पूर्ण किया है। यह टोडर साहु के निमित्त से लिखा गया है। ये गर्गगोत्री अग्रवाल, भटानियाकोल (अलीगढ़) के रहनेवाले और काष्ठासंघी भट्टारक कुमारसेन के आम्नायी थे। कुमारसेन के गुरु भानुकीर्ति, भानुकीर्ति के गुरु गुणभद्र और गुणभद्र के गुरु मलयकीर्ति थे। इसमें इन्होंने साहु टोडर की बहुत अधिक प्रशंसा की है। प्रसंग से इसमें मथुरा के ५०० से अधिक स्तूपों का भी परिचय दिया है। अकबर बादशाह और उनके कार्यों का गुणगान तो इन्होंने कई स्थलों पर किया है। इस कार्य में इन्होंने आवश्यकता से अधिक शक्ति खर्च की है। यह वि० सं० १६३२ में लिखा गया था। लेखनकार्य आगरा में हुआ था।

इनकी दूसरी रचना पिङ्गलशास्त्र—छन्दो विद्या है। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी इन चार भाषाओं में रचा गया है। इसमें छन्दशास्त्र के नियम, छन्दों के लक्षण और उनके उदाहरण दिये गये हैं। इसकी रचना भूपाल भारमल्ल के निमित्त से हुई थी। ये श्रीमाल जाति के प्रमुख पुरुष, वणिक संघ के अधिपति और नागौरी तपागच्छ आम्नाय के थे। इनके समय में इस पट्ट पर हर्षकीर्ति अधिष्ठित थे। इसकी रचना नागौर में हुई थी। उस समय कवि आगरा से नागौर चले गये थे। भूपाल भारमल्ल भी वहीं के रहने वाले थे।

इनकी तीसरी रचना लाटीसंहिता है। इसे इन्होंने सात सर्गों में पूर्ण किया है। यह विक्रम सम्वत् १६४१ में अश्विन शुक्ला १० रविवार के दिन पूर्ण हुआ था। इसे इन्होंने साहु फामन के निमित्त से लिखा था। ये जाति के अग्रवाल थे। साहु फामन दान, मान और आसन आदि के द्वारा इनका बड़ा सन्मान करते थे। ये मूल में डोकनि के रहनेवाले थे और वहां से वैराट नगर चले आये थे। वह नगर जयपुर से करीब ४० मील के फासले पर स्थित है। पाण्डवों ने गुप्त वेश में यहीं पर दिन बिताये थे। कवि के वास्तव्य काल में यह नगर बड़ा समृद्धशाली था। यहां साहु फामन के बड़े भाई न्योता ने एक विशाल जिनालय बनवाया था जो इस समय भी अपनी शोभा बढ़ा रहा है। इसमें मूलनायक पार्श्वनाथ जिन होने से यह पार्श्वनाथ जिन मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। फामन कुटुम्ब माथुरगच्छ पुष्करगण काष्ठासंघी भट्टारकों की आम्नायको मानता था। उस समय इस पट्ट पर क्षेमकीर्ति अधिष्ठित थे। इनके पूर्व क्रमशः कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनन्दी और यशःकीर्ति इस पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। कवि ने अपने को हेमचन्द्र की आम्नाय का बतलाया है। मुख्तार सा० के ख्याल से ये वे ही हेमचन्द्र हैं जिनका उल्लेख कुमारसेन के बाद किया गया है। इनकी उन्होंने भूरि भूरि प्रशंसा भी की है। लिखा है कि वे भट्टारकों के राजा थे, काष्ठासंघरूपी आकाश में मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य थे और उनके नामका स्मरण करने मात्र से अन्य गण के आचार्य निस्तेज हो जाते थे। अथवा सूर्य के सामने

जुगुनू और तारामण्डल के समान इनकी दशा हो जाती थी। इनके रचे हुए अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा लाटीसंहिता का पंचाध्यायी से निकट का सम्बन्ध है। सम्यक्त्व प्रकरण के सैकड़ों श्लोक दोनों में एक से हैं। कुछ दूसरे श्लोक भी मिलते जुलते हैं। यह सादृश्य पंचाध्यायी के दूसरे अध्याय के ३७२ वें श्लोक से और लाटीसंहिता के तीसरे सर्ग के २७ वें श्लोक से चालू होकर पंचाध्यायी के ३९९ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के ५४ वें श्लोक पर समाप्त होता है। इसके आगे पंचाध्यायी में १० श्लोक ऐसे हैं जो लाटीसंहिता में नहीं पाये जाते हैं। इन १० श्लोकों में सम्यक्त्व का स्वानुभव के साथ क्या सम्बन्ध है इसका मुख्यता से निर्देश किया गया है। इसके बाद पंचाध्यायी के ४१० वें श्लोक से और लाटीसंहिता के ५५ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ४३४ वें श्लोक पर और लाटीसंहिताके ७९ वें श्लोक पर पूरा होता है। इसके आगे पंचाध्यायी में १ श्लोक ऐसा है जो लाटीसंहिता में नहीं है। इसमें अनुराग शब्द का विशेष खुलासा किया गया है। आगे पंचाध्यायी के ४३५ और ४३६ तथा लाटीसंहिता के ८० और ८१ ये दो श्लोक एक से हैं। फिर पंचाध्यायी में १ श्लोक अतिरिक्त है। इसमें अभिलाषा मात्र को मिथ्या बतलाया गया है। आगे पंचाध्यायी के ४३९ वें श्लोक से और लाटीसंहिता के ८२ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ४७६ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के ११९ वें श्लोक पर समाप्त होता है। आगे लाटीसंहिता में १२० वें श्लोक से लेकर तीसरे अध्याय की समाप्ति तक के कुल श्लोक पंचाध्यायी में नहीं हैं। इनमें दर्शन प्रतिमा का और दूसरी आवश्यक विधियों का निर्देश किया गया है। लाटीसंहिता के चौथे अध्याय का प्रथम आशीर्वादात्मक श्लोक भी पञ्चाध्यायी में नहीं है। आगे पंचाध्यायी के ४७७ वें श्लोक से और लाटीसंहिता के चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ७२० वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के २४२ वें श्लोक पर समाप्त होता है। मात्र पंचाध्यायी में ५२८ और ५५७ नम्बर के दो श्लोक और लाटीसंहिता में १७० वें श्लोक के आगे का आधा श्लोक अतिरिक्त पाये जाते हैं। वे क्रमशः लाटीसंहिता और पंचाध्यायी में नहीं है। इसके आगे पंचाध्यायी में ७२१ वें श्लोक से लेकर ७४२ वें श्लोक तक २२ श्लोक अतिरिक्त हैं। ये लाटीसंहिता में नहीं हैं। इनमें गृहस्थ धर्म का निर्देश किया गया है और ७४२ वें श्लोक में गृहस्थ धर्म को उपासकाध्ययन के आधार से कहने की प्रतिज्ञा की गई है। यथा—

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम् ॥ ७४२ ॥

आगे पंचाध्यायी में ७४३ वें श्लोक से और लाटीसंहिता में २४३ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ७७१ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के २७२ वें श्लोक पर समाप्त होता है। मात्र पंचाध्यायी में ७५४ और ७५८ नम्बर के श्लोक अतिरिक्त हैं। आगे पंचाध्यायी में एक और लाटीसंहिता में तीन श्लोक उद्धृत हैं। ये श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के हैं। आगे पंचाध्यायी में २७२ वें श्लोक से और लाटीसंहिता में २७६ वें श्लोक से यह क्रम चालू होकर पंचाध्यायी में ८१७ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता में ३२२ वें श्लोक पर समाप्त होता है। आगे पंचाध्यायी और लाटीसंहिता का क्रम बदल जाता है।

इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों में कुछ फुटकर श्लोक और पाये जाते हैं जो परस्पर में मिलते जुलते हैं। यथा—

तृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ॥ २-८२६ ॥	पंचाध्यायी
सतृणाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादवत् ॥ ५-१४५ ॥	लाटीसंहिता
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ २-६४५ ॥	पंचाध्यायी
न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ॥ ५-१५५ ॥	लाटीसंहिता

इनकी चौथी रचना अध्यात्मकमलमार्तण्ड है। अध्यात्मशास्त्र का अर्थ है परोपाधि के बिना मूल में वस्तु क्या है इसका निर्देश करनेवाला शास्त्र। यह अध्यात्म रूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्य के समान है। इसी से इसका अध्यात्मकमलमार्तण्ड यह नाम सार्थक है। कवि ने अध्यात्म विद्या का रहस्य समझाने के लिये इसमें अपनी बहुमुखी प्रतिभा से काम लिया है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। नातेपुते में रहते हुए मैंने इसे देखा था और वहाँ पर दानवीर सेठ रामचन्द्र धनजी दावड़ा द्वारा स्थापित सरस्वती भवन के लिये इसकी एक प्रतिलिपि भी कराई थी। मेरी इच्छा स्वयं इसपर कुछ लिखने की थी किन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सामने आईं जिससे मैं इस ओर ध्यान न दे सका। जीवन निर्माण के कार्य में इस ग्रन्थ का बहुत कुछ उपयोग हो सकता है। इससे मूल वस्तु के समझने में बड़ी मदद मिलती है। समयप्राभृत आदि ग्रन्थों की इसपर गहरी छाप है। कवि ने इसके प्रथम अध्याय के १० वें श्लोक में जिनेन्द्रदेव और गौतम आदि गणधरों के साथ आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र का स्पष्टतः नामोल्लेख किया है। वे इस उल्लेख द्वारा यही बतलाना चाहते हैं कि हमने इस ग्रन्थ की रचना इन आचार्यों की कृतियों के आधार से ही की है। यह चार अध्याय और १०१ श्लोकों में समाप्त हुआ है। इसके प्रथम अध्याय में निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के रत्नत्रय का, दूसरे अध्याय में जीवादि सात तत्त्वों के प्रसंग से द्रव्य, गुण और पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका, तीसरे अध्याय में जीवादि छः द्रव्यों का और चौथे अध्याय में आस्रव आदि शेष तत्त्वों का निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकर्ता ने अपने नाम का स्वयं उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि तत्वतः यह शब्द और अर्थ का कार्य है इस दृष्टि से मैं राजमल्ल इसका कर्ता नहीं ठहरता।

भो विज्ञाः परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतः।
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि ॥ ४-२० ॥

इनकी पाँचवीं कृति पंचाध्यायी है।

इन पाँचों में अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पंचाध्यायी की लोक में बड़ी प्रतिष्ठा है। प्रस्तुत ग्रन्थ पंचाध्यायी है जिसे इस रूप में उपस्थित करते हुए हम परम आनन्द का अनुभव करते हैं।

---

३. विषय परिचय

दर्शन का महत्त्व—

भारतीय दर्शनों का उद्देश्य एकमात्र निश्रेयस प्राप्ति रहा है। जगत् क्या है, उसमें जीव का क्या स्थान है, जीव भवबन्धन को काटकर मुक्त कैसे हो सकता है इत्यादि विषयों की गवेषणा करने में ही यहाँ के साधकों का अधिकतर समय व्यतीत हुआ है। दर्शन का अर्थ है देखना। विश्व के विचारकों ने जगत् को जिस रूप में देखा है उसका प्रतिबिम्बमात्र दर्शनशास्त्र है। साहित्यिक जगत् में इसकी सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। इस द्वारा हम क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या आर्थिक समस्त समस्याओं को सुलझाते हैं। धर्म जैसे गहन तत्त्व की गवेषणा भी इसी द्वारा की जाती है। इसकी श्रेष्ठता सबने स्वीकार की है। इस द्वारा किसी तत्त्व का निर्णय होने पर जो तृप्ति होती है वह वर्णनातीत है। इन्द्रियों के विषयों के सेवन करने पर तृप्ति होती है अवश्य पर वह क्षणस्थायी और पराधीन है। वह इसकी तुलना में नगण्य है। एक सच्चे साधक के लिये आत्म साधना में जितनी दर्शन से सहायता मिलती है उतनी अन्य किसी से नहीं। दर्शन का सम्बन्ध जीवन से है। इसलिये सभी दर्शनकारों ने इसका बड़ा महत्त्व माना है।

दर्शन के भेद और उनका अन्तर—

यद्यपि विश्व की मीमांसा सभी दर्शनकारों ने की है पर उसे देखने का दृष्टिकोण सबका जुदा जुदा रहा है। इस दृष्टि से हम विश्व के दर्शनों को दो भागों में विभक्त कर सकते है—एक अनेकान्त दर्शन और दूसरा एकान्त दर्शन।

अनेकान्त दर्शन का अर्थ है विश्व को सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और तत्-अतत् आदि रूप से विरोधी धर्मवाला मानकर उस रूप से उसकी मीमांसा करना और एकान्त दर्शन का अर्थ है विश्व को नित्य या अनित्य, सत् या असत्, एक या अनेक और तत् या अतत् आदि रूप मान कर उस रूप से उसकी मीमांसा करना। एकान्त दर्शन विश्व को जब किसी एक दृष्टिकोण से देखता है ऐसी अवस्था में अनेकान्त दर्शन मात्र उतने को समीचीन नहीं मानता। वह बुद्धि विकल्प की अपेक्षा पदार्थ के विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। जैन शास्त्रों में एकान्त और अनेकान्त की साधुता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

अनेकान्त दो प्रकार का है—सम्यगनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। जो एक ही वस्तु में अविरोध रूप से सप्रतिपक्षभूत अनेक धर्मों का प्रतिपादन करना है वह सम्यगनेकान्त है तथा वस्तु स्वभाव का विचार न करके उसे अनेक प्रकार की कल्पित करना मिथ्या अनेकान्त है। एकान्त भी दो प्रकार का है—सम्यक्एकान्त और मिथ्या एकान्त। जो सापेक्ष भाव से एक धर्म द्वारा वस्तु का निरूपण करता है वह सम्यक् एकान्त है तथा जो वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य आदि रूप बतलाकर उसमें सप्रतिपक्षभूत अन्य धर्मों का निषेध करता है वह मिथ्या एकान्त है।

इनके अन्तर को समझने के लिये जैन शास्त्रों में एक दृष्टान्त आता है। उसमें बतलाया है कि एक गांव में छः अन्धे रहते थे। उन्होंने कभी हाथी नहीं देखा था। एक बार उस गांव में हाथी के आने

पर वे उसे देखने के लिये गये। अन्धे होने के कारण वे उसे स्पर्श करके ही जान सकते थे इसलिये जिसने सूंड को स्पर्श किया उसने विचार किया कि हाथी मूसर के समान होता है, जिसने पैर को स्पर्श किया उसने विचार किया कि हाथी स्तम्भ के समान होता है, जिसने पेट को स्पर्श किया उसने सोचा कि हाथी बिटा के समान होता है, जिसने कान को छुआ उसने सोचा कि हाथी सूप के समान होता है, जिसने पूँछ को छूआ उसने सोचा कि हाथी बुहारी के समान होता है और जिसने दांत को स्पर्श किया उसने सोचा कि हाथी यष्टि के समान होता है।

इस दृष्टान्त को हम रूपक मान सकते हैं पर इससे एकान्त दर्शन और अनेकान्त दर्शन के अन्तर के समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

मतभेद का कारण—

यों तो दर्शनशास्त्र की जीवन में बड़ी प्रतिष्ठा है और जीवन के समस्त व्यवहारों को योग्यतापूर्वक संचालित करने के लिये उसकी आवश्यकता भी अनुभव में आती है पर विविध प्रकार के मतभेद और सामाजिक व आर्थिक वैषम्य को प्रतिष्ठित करने के लिये इसका जितना उपयोग हुआ है उतना अन्य किसी का शायद ही उपयोग हुआ हो। तभी तो चार्वाक ने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

तर्क स्वयं अपने में अप्रतिष्ठित है, शास्त्र नाना हैं और तीर्थंकर भी एक नहीं जिससे उनके वचन को प्रमाण माना जाय और विचारा धर्म, वह तो गुफा के भीतर छिपा पड़ा है, इसलिये राजमार्ग तो यही है कि जनता का हिताहित समझनेवाले महापुरुष जिस मार्ग पर चलते हैं उसी का अनुसरण किया जाय।

चार्वाक दर्शन उस समय की देन है जब जगतीतल पर प्रभु सत्ता के उदय के आसार दिखाई देने लगे थे और साधनों की अल्पता के कारण सम्पत्ति के एकाधिकार को मान्यता देने के लिये नये नये दर्शनों का आविष्कार होने लगा था। जहाँ एक ओर विचारक विश्व के अवलोकन में प्रवृत्त थे वहाँ दूसरी ओर विश्व की वास्तविक, आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक समस्त समस्याएँ तांत्रिक आधार पर सुलझाने में माथापच्ची की जा रही थी। अधिकतर दार्शनिक दर्शन को पदार्थ व्यवस्था और कार्यकारणभाव का विचार करने तक ही सीमित मानते हैं पर विविध दर्शनों के सम्यक् अवलोकन से ज्ञात होता है कि विश्व की ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिस पर दर्शन ने अपनी मुहर नहीं लगाई हो। तुलना के लिये जैन दर्शन और नैयायिक दर्शन लिया जा सकता है। इन दर्शनों में पदार्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में तो मतभेद है ही किन्तु कार्यकारणभाव के विषय में भी मतभेद है। जैन दर्शन जब कि प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता को स्वीकार करके पदार्थ व्यवस्था के साथ कार्यकारण भाव का विचार करता है। ऐसी हालत में नैयायिक दर्शन प्रत्येक विचार में परतन्त्रता को प्रधानता देता है। जैन दर्शन पदार्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में मानता है कि विश्व मूलभूत अनेक तत्त्वों का समुदाय है। इसमें जड़ चेतन सभी प्रकार के तत्त्व मौजूद हैं और वे सभी तत्त्व स्वतन्त्र और शक्तिसम्पन्न हैं। कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में वह मानता है कि प्रत्येक पदार्थ स्थायी होकर भी स्वभाव से परिणमनशील है। उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव रहना यह उसका स्वभाव है। प्रत्येक पदार्थ अपनी धारा का त्याग नहीं करता और न उसमें किसी पुराने

स्वभाव का ध्वंस होकर कोई नया स्वभाव दाखिल ही होता है इसलिये तो वह ध्रुव स्वभाव है। किन्तु वह प्रत्येक समय अपनी योग्यतानुसार परिणमन करता रहता है इसलिये वह उत्पन्नशील और विनाशशील भी है।

प्रत्येक पदार्थ का परिणमन निमित्त सापेक्ष होकर भी निमित्ताधीन नहीं होता। जिस समय जो पदार्थ जिस प्रकार के कार्य का आकार धारण करता है उस समय उसमें सहकार करना इतना ही निमित्त का काम है। निमित्त इतना बलवान् नहीं कि वह किसी पदार्थ के परिणमन की दिशा बदल सके या उसे अन्यथा परिणमा सके।

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएं भी कार्यकारण भावका एक अंग हैं। इनके निर्माण में किसी बाहरी शक्ति या कर्म का हाथ न हो कर ये प्राणियों के जीवन क्रम में से फलित होती हैं। जिस समय जैसे विचारों का प्राबल्य होता है उस समय उस तरह की व्यवस्थाएं बन जाती हैं। और कालान्तर में मनुष्यों के विचारों में फरक पड़ जाने पर इन व्यवस्थाओंमें भी उलट फेर हो जाता है। वास्तवमें इन व्यवस्थाओं का मूल आधार विविध व्यक्तियों का समझौता है। व्यक्तियोंके जीवन में अनादि काल से एक प्रकार की कमजोरी घर किये हुए है जिससे उनका परस्पर के सहयोग के बिना काम नहीं चलता, अतः वे परस्पर में मिलकर समझौता करते हैं और उसी समझौते के परिणाम स्वरूप इन व्यवस्थाओं का निर्माण होता है या उनमें परिवर्तन किया जाता है। जीवों के कर्म इन व्यवस्थाओं का कारण नहीं हैं। किन्तु इनका आधार जीवोंके अशुद्ध परिणाम हैं। जीवों के अशुद्ध परिणाम कर्म के निमित्त से होते हैं और वे परिणाम इन व्यवस्थाओं के निर्माण में कारण पड़ते हैं इतना अवश्य है।

किन्तु नैयायिक दर्शन की मान्यता ऐसी नहीं है। वह मानता है कि जगत् में जड़ चेतन विविध तत्त्व होकर भी जिसे स्व कहा जाय ऐसा कुछ भी नहीं है। यह दर्शन भेदवादी अतएव परावलम्बी है इस लिये यह गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् आदि सब में भेद मानता है। कारणकार्यभाव का विचार भी इसने इसी आधार से किया है। इसने सब पदार्थों की उत्पत्ति पर से मानी है। इसका सिद्धान्त है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात् यह प्राणी अज्ञ होनेसे अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। इसका स्वर्ग या नरक जाना ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है।

इसने कार्य की उत्पत्तिमें समवायी और असमवायी कारण मान कर भी निमित्त कारण पर अत्यधिक जोर दिया है। जिस समय ईश्वर की जैसी इच्छा और जैसा प्रयत्न होता है तदनुसार ही कार्य होता है यह इसकी मुख्य मान्यता है।

वेदों की शिक्षा बहु देवतावाद पर आधारित है। उनमें इन देवताओं को सब प्रकार की शक्ति से सम्पन्न माना गया है। 'अग्नि' की कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पौत्र तथा सब प्रकार की समृद्धि को प्राप्त करता है। वरुण सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला, नियमों को धारण करनेवाला, शोभन कर्मों का

१ भारतीयदर्शन के आधार से।

निष्पादन करनेवाला और सम्यक् रूप से प्रकाशित होनेवाला या शासन करनेवाला कहा गया है। यह सर्वज्ञ है, प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा है और तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र वीर योद्धाओं को संग्रामांगण में विजय प्रदान करनेवाले देवता हैं। इनके हाथ में वज्र है, जिसकी सहायता से वे वृत्रादि अनेक दानवों का वध करते हैं तथा शत्रुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंगवाले दस्युओं या दासों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया था तथा वृत्रद्वारा रोकी गई गायों को इन्होंने गुफा तोड़ कर निकाल बाहर किया था। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु आकाश गामी सन्तत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक हैं।'

नैयायिक दर्शन का विकाश मुख्यतया इन शिक्षाओं के आधार से हुआ है। ऐसे अनेक दर्शन हैं जिन्हों ने इन शिक्षाओंको केन्द्र में रखकर पदार्थ व्यवस्था और कार्य-कारणभाव का विचार किया है। कुछ ऐसे भी दर्शन हैं जो वेद की प्रमाणता मान कर या उसका विरोध नहीं करके भी ईश्वर की मान्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। इसके दो कारण हैं। मीमांसा दर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है इस लिये तो इसने ईश्वर की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है और सांख्य दर्शन श्रमण दर्शन से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ता है इसलिये इसने भी ईश्वर को नहीं माना है।

इस प्रकार विश्वके सभी दर्शनों में मतभेद का कारण क्या है इसका सहज ही पता लग जाता है। एक ओर व्यक्ति स्वातंत्र्य को स्वीकार करके स्वावलम्बन पर जोर देनेवाला जैनदर्शन है। बौद्धदर्शन भी कुछ अंशमें इसका साथी है और दूसरी ओर व्यक्ति स्वातन्त्र्य को अस्वीकार करके परावलम्बन पर जोर देने वाले नैयायिक आदि दूसरे दर्शन है। एक सांख्य दर्शन ऐसा अवश्य है जिसे न व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी ही कहा जा सकता है और न परावलम्बी ही।

जैन पुराणों में एक कथा आई है उससे उक्त प्रकार से किये गये विभाग के अनुसार मतभेद के कारणों पर प्रकाश पड़ता है। कथा में बतलाया है कि भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव के साथ सैकड़ों राजा दीक्षित हो गये थे। कुछ काल तक तो वे भगवान् का पदानुसरण करते रहे किन्तु भगवान् की उत्कट स्वावलम्बिनी वृत्ति देखकर वे अन्त तक उनका साथ न दे सके। यद्यपि उन्होंने जिन दीक्षा का त्याग कर दिया पर अनेक कारणों से उनका घर लौट जाना सम्भव न था। उन्हों ने वृक्षों के फल मूल आदि खा कर जीवन बिताना प्रारम्भ किया और अपने अपने विचारानुसार अनेक मतों को जन्म दिया।

इस कथा में स्वावलम्बिनी वृत्ति और परावलम्बिनी वृत्ति के स्पष्टतः दर्शन होते हैं। जहाँ भगवान् ऋषभदेवने शरीराश्रित जीवन यापन के लिये आहार पानी की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी आत्माश्रित जीवन को उससे स्वतन्त्र माना और आहार पानी के अभाव में जीवन क्रम की धाराको बदलना स्वीकार नहीं किया वहाँ अन्य प्रव्रजितों ने जीवन यापन के लिये आहार पानी को ही सब कुछ समझा और उसके अभाव में वे अपने निश्चत मार्ग पर दृढ़ न रह सके।

सब दर्शनों की आत्मा का परीक्षण करने से जान पड़ता है कि इस कथानक में बहुत कुछ सत्यांश है। सदा से विश्वमें दो प्रकार की वृत्तियां काम करती आ रहीं हैं। उन्हीं का इस द्वारा विश्लेषण किया गया है। इस समय विश्वमें संघर्ष चालू है। उसकी ओर दुर्लक्ष्य करना असंभव है। यह इस परावलम्बिनी वृत्ति का ही परिणाम है। स्वावलम्बिनी वृत्ति की शिक्षा का एक प्रकार से लोप होता जा रहा है। आज यह शिक्षा कुछ धर्म ग्रन्थों व दर्शन ग्रन्थों तक ही सीमित है। इस समय तो इसको उद्घाटित करके बत-

लाना भी असम्भव हो रहा है। अधिकतर लोग अध्यात्मवाद की बात तो करते हैं, व्यक्तिकी स्वतन्त्रता को भी स्वीकार करते हैं, पर वे नैयायिक दर्शन से प्रभावित होने के कारण कार्यकारण भाव का विचार करते समय व्यक्तिकी स्वतन्त्रता को भुला बैठते हैं। वे सोचते हैं कि सुन्दर नवयुवती के सामने आने पर उसकी प्रेरणा वश ही हमारे मनमें विकार भाव जागृत होता है। यदि उनसे यह पूछा जाय कि स्यात् आप सोती हुई अवस्था में होते तो क्या वह युवती आप के मन में विकार पैदा कर सकती थी, तो हम समझते हैं कि इसका उत्तर उन्हें न में ही देना पड़ेगा। वे यह नहीं जान पाते कि युवती का ज्ञान होने पर ही भीतर छिपा हुआ विकार जागृत होता है। युवती की इसमें प्रेरणा कुछ भी नहीं है। वह मात्र ज्ञानोत्पत्तिमें निमित्त है।

इस समय वस्तुस्थितिका विवेचन करने में एक अड़चन और आ खड़ी हुई है। यह अड़चन घरैलू है। प्राचीन ऋषियों की कार्यकारण भाव के विचार करने की पद्धति दो प्रकार की रही है—एक पद्धति कार्यकारण भाव के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालती है और दूसरी पद्धति निमित्त की दृष्टि से विचार करती है। जन साधारण मात्र बाहर की ओर देखता है। वह कार्य कारण भावके वास्तविक स्वरूपको समझने में असमर्थ है। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के ज्ञाताओं ने ऐसे शास्त्रों का भी प्रणयन किया है जो इस दृष्टि से कार्यकारणभाव का विचार करते हैं। यह पद्धति मुख्यतया संसार और उसके निमित्त कारण के वर्णन के सम्बन्ध में प्रमुखता से अपनाई गई है। कर्म साहित्य की स्वतन्त्ररूप से रचना इसी वृत्ति का परिणाम है। किन्तु साधारण जनके जीवन पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा है। इससे वे कार्यकारणभाव के आध्यात्मिक रहस्य को ही भुला बैठे हैं। समयसार चिल्ला चिल्ला कर कहता है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

जिसका जो स्वरूप है वह अपनी सीमा को उलंघन कर जब अन्य द्रव्य में संक्रमित नहीं होता है तब वह अन्य द्रव्य का परिणमन करानेवाला कैसे हो सकता है?

पर साधारण जनकी बात तो जाने-दीजिए बड़े बड़े ज्ञानी भी इस तत्त्व को समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उत्तर काल में जो साहित्य लिखा गया है वह कम विडम्बना पूर्ण नहीं है। परतन्त्रतावादियोंने इसकी नीव बहुत पहले डाल दी थी। आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे ही उसका वीभत्स रूप दिखाई देने लगा था। यही कारण है कि उन्हें कार्यकारणभाव का विचार करने के लिये स्वतंत्र रूप से कर्तृकर्म अधिकार नामक प्रकरण लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा होगा।

आचार्य समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में दैव और पुरुषार्थ के अनेकान्त की चरचा की है। वे लिखते हैं—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायां-इष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

आशय यह है कि जिस अच्छे या बुरे कार्य के होने में बुद्धि निमित्त नहीं है अर्थात् जो कार्य अतर्कित उपस्थित होता है उसका कारण पुरुष का दैव है और जो अच्छा या बुरा कार्य बुद्धि पूर्वक होता है उसका कारण पुरुष का प्रयत्न है।

जैसा कि हम देखते हैं कि बहुत से कार्य चेतन के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। बहुत से कार्यों के होने में चेतन अपनी बुद्धि आदि का उपयोग करता है और बहुत से ऐसे भी कार्य होते हैं जिन के होने में चेतन का रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं आता। परमाणु जगत् का जिसने थोड़ा भी अध्ययन किया है उसे इस सत्य के समझने में जरा भी देर न लगे गी। दो परमाणुओं का मिल कर द्व्यणुक बनना यह किसी चेतन का कार्य नहीं है। इसमें उनकी योग्यता ही कार्य करती है। इसलिये यहां यह विचारणीय हो जाता है कि स्वामी समन्तभद्र ने कार्यकारणभाव के जिस अनेकान्त का निर्देश किया है वह मात्र चेतन जगत् के जीवन से सम्बन्ध रखता है या उसका सम्बन्ध यावत् कार्यों से है? जहां तक इस प्रकरण के देखने से ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध सभी कार्यों से नहीं है किन्तु ऐसे जीवों से सम्बन्ध रखनेवाले जीवन सम्बन्धी कार्यों से ही है जो बुद्धि का उपयोग करने में समर्थ हैं।

हुआ क्या है कि अधिकतर साधारण जन निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध की वास्तविक स्थिति से अपरिचित हैं। वे नहीं जानते कि निमित्त का स्थान क्या है और निमित्त कहते किसे हैं। अधिकतर पढ़े लिखे और स्वार्थी लोगों ने दूसरों के इस अज्ञान से बड़ा लाभ उठाया है। कहीं कहीं ऐसा भी होता है कि मनुष्य जैसा सोचता है कार्य वैसा नहीं होता। ऐसे समय वह कार्यकारणभाव से अपरिचित होने के कारण उसे अपनी दुर्बलता मानता है। मनुष्य की इस कमजोरी के कारण भी स्वार्थी लोगों की बन आई है। आज विश्व में जो कार्य कारण भाव के विचार की विडम्बना दिखाई देती है वह इसी वृत्ति का परिणाम है। स्वामी समन्तभद्र ने इसी वृत्ति का लोप करने के लिये कार्यकारणभाव की यह मध्य की रेखा खींची है। यह एक व्यवस्था है जिसे हृदयंगम कर मनुष्य कार्यकारण-भाव की सत्य स्थिति को जान सकता है। वे चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य उपादानउपादेय सम्बन्ध और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी यथार्थता को समझे और कार्यकारणभाव का उस रूप से विश्लेषण करने लगे।

जहां तक उनके इस कथन में दो कारणों का अनुभव होता है—एक पौरुष का और दूसरे दैव का। जो हेयोपादेय का विवेक रखता है उसका जीवन सम्बन्धी प्रत्येक कार्य दैव से होता है या पौरुष से. इस प्रश्न का उत्तर यहां दिया गया है। स्वामी समन्तभद्र इस विषय में अनेकान्त से काम लेते हैं। उनका कहना है कि न केवल पौरुष कार्यकारी है और न केवल दैव ही, किन्तु अपेक्षा भेद से दोनों ही कार्यकारी माने गये हैं।

पौरुष का अर्थ है पुरुष की चेष्टाऐं और दैव का अर्थ है पुराकृत कर्म और योग्यता। भट्ट अकलंक देव ने अपनी अष्टशती में इन शब्दों का यही अर्थ किया है। पौरुष और कर्म ये दोनों निमित्त हैं और योग्यता उपादान। यद्यपि कार्य उपादान और निमित्त दोनों के सद्भाव में होता है फिर भी निमित्त अनेक होने से विचारणीय यह है कि जीवन सम्बन्धी किस कार्यके होने में किसे निमित्त माना जाय? अधिकतर मनुष्यो की बुद्धि ऐसे स्थलों पर काम नहीं करती है जहां वे अपनी उन्नति के लिये प्रयत्न करने पर भी उठ नहीं पाते। ऐसे स्थलों पर वे अधिकतर निमित्तों पर खीजने लगते हैं, कहीं वे अपने प्रयत्न की कमी मानते हैं और कहीं पर पुराकृत कर्म को दोष देते हुए पाये जाते हैं। वे एकान्त के प्रवाह में बहने लगते हैं। एकान्त बुरी बला है। इससे मुक्ति दिलाना इस प्रयत्न का फल है।

समभभाव से विचार करने पर उक्त श्लोक का आशय यह है कि जो प्राणी बुद्धि से विचार कर कार्य कर सकते हैं उनके जीवन सम्बधी कुछ कार्यों में मुख्य रूप से पुराकृत कर्म निमित्त होता है

और पौरुष अर्थात् व्यक्ति की चेष्टाएँ गौणरूप से निमित्त होती हैं। तथा जीवन सम्बन्धी अन्य कार्यों में मुख्य रूप से पौरुष निमित्त होता है और पुराकृत कर्म गौणरूप से निमित्त होता है। कहां पुराकृत कर्म मुख्यरूप से निमित्त होता है और कहां पौरुष मुख्यरूप से निमित्त होता है इसका विवेक करते हुए वे लिखते हैं कि जब कोई काम बुद्धिपूर्वक होता है तब मुख्यरूप से पौरुष निमित्त होता है और जब कोई काम बुद्धिपूर्वक नहीं होता है तब मुख्यरूप से पुराकृत कर्म निमित्त होता है। फिर भी किसी कार्य को पुराकृत कर्म या पौरुष बलात् उपस्थित करता है ऐसा यहां नहीं समझना चाहिये किन्तु कार्य अपनी गति से होता है। उसके होने में कौन किस रूप में निमित्त है इतना ही यहां विचार किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य समन्तभद्र के उक्त कथन की एक सीमा है और उस सीमा को 'दैवतः' और 'पौरुषात्' पद के पहले 'स्व' पद लगा कर उन्होंने प्रकट भी किया है। इष्ट क्या है और अनिष्ट क्या ? इनकी सही व्याख्या यहां सुख और दुख ही हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुख इष्ट माना गया है और दुख अनिष्ट। ये प्रत्येक व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी कार्य हैं। इन्हीं के निमित्त कारण का यहां निर्देश किया गया है।

हमें इन प्रमाणों के प्रकाश में उस अड़चन को दूर करना है जिसका हम आरम्भ में उल्लेख कर आये हैं और कार्यकारणभाव की वास्तविक मर्यादा को जगत् के सामने रखना है।

निमित्त क्या है और उसका कार्य के होने में हाथ कितना है यह प्रश्न वर्तमान में सब को गुटाले में डाले हुए है। जन साधारण का ध्यान है कि घटकी उत्पत्ति कुम्भकार के निमित्तसे होती है, इसलिये वह कुम्भकार को सदाकाल निमित्त कारण मानता है। किन्तु वह यह भूल जाता है कि कुम्भकार उसी समय निमित्त है जिस समय घट की उत्पत्ति होती है। अन्य समयों में वह अन्य कार्यों का निमित्त है। तब उसमें कुम्भकार यह व्यवहार नहीं किया जा सकता। यद्यपि लौकिक व्यवहार से वह सदा कुम्भकार कहा जाता है पर यह औपचारिक है। यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि घट की उत्पत्ति में कुम्भकार प्रेरक नहीं है, क्यों कि कोई भी निमित्त प्रेरक नहीं होता। यह इसी से स्पष्ट है कि जिस समय घट उत्पन्न होता है उसी समय कुम्भकार में तत्त्वतः निमित्त व्यवहार होता है। प्रारम्भ में जिन शास्त्रों का प्रणयन प्रमुखता से निमित्त कारणों का व्यवस्थित ज्ञान कराने के लिये हुआ है उनके सामने यही दृष्टि मुख्य रही है। किन्तु धीरे धीरे इसमें विकार आता गया और यह भाव जोर पकड़ता गया कि निमित्त ही सब कुछ है। इस दृष्टि से कर्म साहित्य की बड़ी विडम्बना हुई है। 'करमगति टरे नहीं टारी' यह वचन या इसी प्रकार के दूसरे वचन उस विडम्बना के उदाहरण हैं। ऐसे वचनों के द्वारा प्राणीमात्र के हृदय पर यह छाप बिठाई गई है कि अच्छा बुरा जो कुछ भी होता है वह सब कर्म के कारण ही होता है। आचार्य समन्तभद्र ने ऐसे विचारों की तीव्र भर्त्सना की है। वे लिखते हैं कि जो ऐसा मानते हैं उन्हें कभी भी मोक्ष नहीं मिल सकता।

एक शिकायत आयु कर्म के सम्बन्ध में की जाती है। शिकायत यह है कि आयु कर्म का बन्ध हो जाने पर नियम से आयु कर्म के अनुसार परभव में जाना पड़ता है। यहाँ देखना यह है कि जीव का अभी संसार शेष है इस लिये आयु कर्म का बन्ध होता है या आयुकर्म का बन्ध होता है इस लिये उसे संसार में रुलना पड़ता है ? जहां तक दूसरा विकल्प वस्तु स्थिति का निदर्शक नहीं है क्योंकि आयु कर्म का बन्ध होकर भी वह जीव के परिणामों के निमित्त से होता है, इस लिये जब हम यह कहते हैं कि

जैसा आयु कर्म का बन्ध होता है उसके अनुसार जीव को परभव मिलता है तब उसका अर्थ यह होता है कि आगामी भव के योग्य जैसे जीव के परिणाम होते हैं उसके अनुसार उसे परभव मिलता है। आयु कर्म का काम उन परिणामों के अनुसार जीव के आगामी भव के होने में निमित्त बनना है। वह जीव की वैसी अवस्था के प्रकट कराने में उपादान तो है नहीं जिससे उसे प्रधानता दी जाय। रही प्रथम विकल्प की बात सो यह बात ध्रुव सत्य है कि जीव के संसार शेष रहने पर ही वैसे परिणाम होते हैं और वैसे परिणामों के होने पर ही परभव की प्राप्ति होती है।

यद्यपि अधिकतर लोग इस सत्य के स्वीकार करने में अपने पुरुषार्थ की हानि मानते हैं। उनका कहना है कि यदि जगत् का क्रम इसी आधार पर चालू है तो फिर तत्त्व का उपदेश क्यों दिया जाता है और जगत् को अपनी ओर देखने के लिये क्यों कहा जाता है। ऐसे लोग जगत् के सारे क्रम को अनियत मानते हैं। वे ऐसी बात को सुन कर घबड़ाते हैं। अधिकतर अनियतवादी यह आक्षेप करते हैं कि यदि जगत् के समस्त कार्य एक धारा में प्रवाहित हो रहे हैं तो फिर किसी को अच्छा और किसी को बुरा कहने में क्या फायदा है? क्योंकि जिस समय जिससे हिंसा, चोरी या व्यभिचार होना होगा होगा ही। उसे कौन मेट सकता है। अनियतवाद के मानने में तो व्यक्तिको अपने पुरुषार्थ के करने की स्वतन्त्रता मिल जाती है। वह पुरुषार्थ द्वारा विरुद्ध परिस्थितियों को बदल सकता है। उन्हें अपने अनुकूल बना सकता है। पर ऐसा मानने पर इस सारे कथन पर पानी पड़ जाता है। व्यक्ति का जीवन सांचे में ढले हुए के समान हो जाता है। उसका कोई भी पुरुषार्थ शेष नहीं रहता। उनका यह भी कहना है कि यदि श्रमण भगवान् महावीर इस विचार के होते तो उनका मक्खलि गोशाल के मत से विरोध क्यों होता। मक्खलि गोशाल व्यक्ति का स्वर्ग, नरक जाना नियत मानता था। जब जिसे जहां जाना होगा जायगा, उसे कौन रोक सकता है ऐसा उसका कहना था। उनके कथनानुसार श्रमण भगवान् महावीर ने मक्खलि गोशालके इस मत का विरोध किया था। यह तभी बन सकता है जब श्रमण भगवान् महावीर के उपदेशों को नियतिवाद पर आधारित न माना जाय।

अब देखना यह है कि यह अनियतवाद क्या वस्तु है और उसमें स्वपुरुषार्थ को कितना स्थान है। यहां प्रसंग से पुरुषार्थ शब्द के अर्थ पर भी विचार करना होगा। जहां तक हम ऐसे विचारकों के कथन से यह समझे हैं कि अनियदवाद का अर्थ है कि जब जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो तब उसके अनुरूप कार्य का होना। उनके मत से परिस्थिति का निर्माण कभी व्यक्ति स्वयं करता है जिसे वे व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ मानते हैं और कभी अनुकूल या प्रतिकूल सामग्री के मिलने से उसका निर्माण होता है। यहां प्रश्न कार्य के होने के क्रम में नहीं है! प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है। व्यक्ति के मनमें परिस्थिति के निर्माण की भावना क्यों उत्पन्न होती है? क्यों वह किसी को अनुकूल और किसी को प्रतिकूल समझ बैठता है। एक बात और है कि जिस समय किसी मनुष्य ने परिस्थिति के निर्माण की बात सोची, उसके पहले उसके मन में ऐसी बात क्यों नहीं आई। यदि उस समय की परिस्थिति के कारण उसके मन में ऐसी बात आई यह कहा जाय तो यह विचारणीय हो जाता है कि उसी समय ऐसी परिस्थिति का निर्माण क्यों हुआ। यदि उस समय की अनुकूल या प्रतिकूल सामग्री को इसके लिये दायी माना जाता है तो यह भी तो देखना होगा कि उस समय इसका सर्जन किसने किया? यदि इस सब का निर्माता अन्य कोई व्यक्ति माना जाता है तब ईश्वर को मानने में क्या बुराई है? इससे इस जगत् की समस्त अव्यवस्थाओं और

व्यवस्थाओं का एक निश्चित उत्तर तो मिल जाता है। और यदि पदार्थों के स्वाभाविक घटना क्रम को इसके लिये दायी माना जाता है तो फिर अनियतवादियों को विचार करना होगा कि ऐसी स्थिति में उनके अनियतवाद को कहीं स्थान रहता है क्या ?

अधिकतर लोग, किसी ने एक मकान बना लिया, विपुल सम्पत्ति संचित कर ली, अनेक नौकर चाकर रख लिये, राज्य के अधिकारी बन गये इसे, अपना पुरुषार्थ मानते हैं। वे सोचते हैं कि जगत् को अपनी इच्छानुकूल परिणमाया जा सकता है। इच्छा मन में होती है। उसके होने मात्र से यदि जगत् उनके अनुकूल परिणमन करने लगे तो बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय। क्यों कि ऐसा चाहनेवाले अगणित हैं और उनकी इच्छाऐं भी अगणित हैं। एक ही पदार्थ के सम्बन्ध में असंख्य प्राणी असंख्य प्रकार से सोचते हैं। कोई उसे कुछ बनाना चाहता है और कोई कुछ। फिर वह सबकी इच्छानुकूल परिणमन क्यों नहीं करता। सीधी सी बात तो यह है कि इच्छा अपनी दिशा में होती है और पदार्थ का परिणमन अपनी दिशा में होता है। जिसकी इच्छा और क्रिया से पदार्थ के परिणमन का मेल बैठ जाता है वह वहां कषायवश अपने को सफल अनुभव करता है। वस्तुतः वह परिणमन उसकी इच्छा की प्रेरणा से नहीं हुआ। इच्छा के होने में व्यक्ति स्वतन्त्र है और परिणमन में विवक्षित पदार्थ स्वतन्त्र है। ये दोनों कार्य अपनी अपनी तत्कालीन योग्यतावश ही हुए हैं। मात्र इन दोनों का निमितनैमित्तिक सम्बन्ध होने से यह कहा जाता है कि इस कारण यह कार्य हुआ। इस विषय को ठीक तरह से समझने के लिये अध्यापक और विद्यार्थियों का दृष्टान्त विशेष उपयोगी है। एक अध्यापक अनेक छात्रों को समानभाव से पढ़ाता है फिर क्या कारण है कि वे सब छात्र एकसा अध्ययन नहीं कर पाते। कोई अध्यापक के द्वारा बतलाये गये विषय को अच्छी तरह से हृदयंगम कर लेता है, कोई उसे अल्प मात्रा में हृदयंगम करने में समर्थ होता है और कोई निरालण्ठ ही रह जाता है। यदि अन्य को कार्यकारी माना जाता है तो अध्यापक के निमित्त से सबको एक से ज्ञान की प्राप्ति होनी चाहिये थी। पर ऐसा होता नहीं, इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य अपने अपने उपादान की योग्यतानुसार ही होता है। जिस काल में वस्तु में जैसा परिणमन होना होता है वह वैसा ही होता है और निमित्त भी वैसा ही मिलता है। निमित्त का काम परिणमन में सहकार प्रदान करना मात्र है। बलात् परिणमन कराना उसका काम नहीं है।

पञ्चाध्यायी का विषय—

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि जगत् में दो प्रकार की वृत्ति की प्रमुखता रही है एक स्वावलम्बिनी वृत्ति और दूसरी परावलम्बिनी वृत्ति। जैनधर्म सदा से स्वावलम्बिनी वृत्ति का ही समर्थक रहा है। 'स्व' का अर्थ प्रत्येक वस्तु का अपना व्यक्तित्व है। मात्र उस पर अवलम्बित रहनेवाली वृत्ति ही स्वावलम्बिनी वृत्ति कही जाती है। इसने ईश्वरवादका निषेध इसी आधार से किया है। यदि व्यक्ति अपने जीवन में इस वृत्ति को प्रमुखता देता है तो सहकारी रूप से निमित्त को स्वीकार करते हुए भी उसे आत्मनिर्भर बनना होगा। इससे जगत के क्रम में अन्तर नहीं पड़ कर भी व्यक्ति की दृष्टि बदल जाती है। जिसे जैन ऋषियों ने सम्यग्दर्शन शब्द से पुकारा है वह यहीं से प्रारम्भ होता है। तब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि जगत के कार्यों का जो मैं अपने में कर्तृत्व का आरोप करता हूं वह एक मात्र मेरी विपरीत बुद्धि या कषाय का परिणाम है। मुझे जगत् को नहीं बदलना है; केवल अपने को बदलना है। प्रस्तुत ग्रन्थ पंचाध्यायी में वर्णित विषयों का जब हम सम्यक् प्रकार से अवलोकन करते हैं तब हमें एक

मात्र इसी विषय की शिक्षा मिलती है। यह विश्व की पदार्थ स्थिति पर तो प्रकाश डालता ही है पर इससे व्यक्ति को जो सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलती है वह यह कि व्यक्ति स्वावलम्बी कैसे बने। इसलिये इस ग्रन्थ में जिन विषयों का निर्देश किया है उनमें से उपयोगी कुछ विषयों का यहाँ हम स्वतन्त्र भाव से खुलासा करते हैं—

द्रव्य का सामान्य स्वरूप—

विश्व जड़ चेतन दो प्रकार के तत्त्वों का समुदाय है। वेदान्त दर्शन के सिवा शेष सब दर्शनों ने इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। यहाँ हम उन सब दर्शनों की स्वतन्त्र चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ हमें मात्र जैन दर्शन के अनुसार विश्व का विचार करना है और देखना है कि चेतन जगत् का जड़ जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है।

जैन दर्शन जगत् में मूलभूत छह तत्त्वों की स्वीकृति देता है। उनके नाम हैं—जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। ये छहों 'द्रव्य' शब्द द्वारा पुकारे जाते हैं। इस शब्द में दो अर्थ छिपे हुए हैं—द्रवण शीलता और स्थायित्व। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील (उत्पाद व्ययशील) होकर भी ध्रुव है इसलिए उसे द्रव्य कहते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

साधारणतः जैनदर्शन के सिवा अन्य दर्शनों में द्रव्य के विषय में चार मत मिलते हैं। एक मत यह है कि जगत् में जो कुछ है वह एक है, सद्रूप है और नित्य है। यह मत मात्र एक चेतन तत्त्व की प्रतिष्ठा करता है और विश्व की विविधता को माया का परिणाम बतलाता है। किन्तु इसके विपरीत दूसरा मत है कि जगत् में जो कुछ है वह नाना है और विशरणशील (उत्पाद-व्ययशील) है। तीसरा मत सत् को तो मानता ही है पर इसके सिवा सत् से भिन्न असत् को भी मानता है। वह सत् में भी परमाणु द्रव्य और काल, आत्मा आदि को नित्य और कार्य द्रव्य घट पट आदि को अनित्य मानता है। चौथा मत सत् के चेतन और अचेतन दो भेद करता है। उसमें चेतन को नित्य और अचेतन को परिणामी नित्य मानता है। एक ऐसा भी मत है जो जगत् की सत्ता को वास्तविक नहीं मानता।

किन्तु जैनदर्शन में द्रव्य की परिभाषा भिन्न प्रकार से की गई है। उसमें किसी भी पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य ही माना गया है और न सर्वथा अनित्य ही। कारण द्रव्य सर्वथा नित्य है और कार्य द्रव्य सर्वथा अनित्य है यह भी उसका मत नहीं है किन्तु उसके मत से जड़ चेतन समग्र सद्रूप पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव हैं।

अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्याय का त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिक स्वभावरूप अन्वय का बना रहना ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिलकर द्रव्य के निजरूप हैं। '*उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सद् द्रव्यलक्षणम्*' यह इस दर्शन की घोषणा है।

उदाहरणार्थ कोयला जलकर राख हो जाता है। इसमें पुद्‌गल की कोयला रूप पर्याय का व्यय होता है और क्षार रूप पर्याय का उत्पाद होता है, किन्तु दोनों अवस्थाओं में पुद्‌गल द्रव्य का अस्तित्व अचल रहता है। उसके प्राङ्गार (Carbon) तत्त्व का कभी विनाश नहीं होता। यही उसकी ध्रौव्यता है।

आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमें वह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है। जैसे दूध कुछ समय बाद दही रूप में परिणम जाता है और फिर दही का मट्ठा बना लिया

जाता है। यहाँ यद्यपि दूध से दही और दही से मट्ठा ये तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएं दिखाई देती हैं पर हैं ये तीनों एक गोरस की ही। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में अवस्था भेद के होने पर भी उसका अन्वय पाया जाता है, इसलिए वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सिद्ध होता है। यह प्रत्येक द्रव्य का सामान्य स्वभाव है।

अब प्रश्न यह होता है कि एक ही द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप कैसे हो सकता है। कदाचित् काल भेद से उसे उत्पाद और व्ययरूप मान भी लिया जाय, क्योंकि जिसका उत्पाद होता है उसका कालान्तर में नाश अवश्य होता है। तथापि वह ऐसी अवस्था में ध्रौव्यरूप नहीं हो सकता क्यों कि जिसका उत्पाद और व्यय होता है उसे ध्रौव्य स्वभाव मानने में विरोध आता है। समाधान यह है कि अवस्था भेद से द्रव्य में ये तीनों माने गये हैं। जिस काल में द्रव्य की पूर्व अवस्था नाश को प्राप्त होती है उसी समय उसकी नई अवस्था उत्पन्न होती है फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय स्वभाव बना रहता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव है यह सिद्ध होता है।

इस भाव को व्यक्त करते हुए स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसा में लिखते हैं—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥'

'घट का इच्छुक उसका नाश होने पर दुखी होता है, मुकुट का इच्छुक उसका उत्पाद होने पर हर्षित होता है और सुवर्ण का इच्छुक न दुखी होता है न हर्षित होता है। वह मध्यस्थ रहता है। एक ही समय में यह शोक, प्रमोद और माध्यस्थ्य भाव बिना कारण के तो हो नहीं सकता। इससे मालूम पड़ता है कि प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक है।'

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये द्रव्य की अवस्थाएँ हैं। द्रव्य इनमें व्याप्त कर स्थित है इसलिए द्रव्य कथंचित् नित्यानित्य है। उत्पाद और व्ययरूप अवस्थाओं की अपेक्षा वह कथंचित् अनित्य है और ध्रौव्यरूप अवस्था की अपेक्षा वह कथंचित् नित्य है। द्रव्यकी यह नित्यानित्यात्मकता अनुभवसिद्ध है।

दूसरे शब्दों में द्रव्य को गुणपर्याय वाला भी कहा जाता है, जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी। प्रत्येक द्रव्य में कार्यभेद से अनन्त शक्तियों का अनुमान होता है। इन्हीं को गुण संज्ञा है ये अन्वयी स्वभाव होकर भी सदा काल एक अवस्था में नहीं रहते हैं किन्तु प्रति समय बदलते रहते हैं। इनका बदलना ही पर्याय है। गुण अन्वयी होते हैं इस कथन का यह तात्पर्य है कि शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता। ज्ञान सदाकाल ज्ञान बना रहता है। तथापि जो ज्ञान वर्तमान समय में है वही ज्ञान अगले समय में नहीं रहता। दूसरे समय में वह अन्य प्रकार का हो जाता है। तथापि प्रत्येक गुण अपनी धारा के भीतर रहते हुए ही प्रति समय अन्य-अन्य अवस्थाओं को प्राप्त होता है। गुणों की इन अवस्थाओं का नाम ही पर्याय है। इससे उन्हें व्यतिरेकी कहा है। वे प्रति समय अन्य-अन्य होती रहती हैं। ये गुण और पर्याय मिलकर ही द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनके सिवा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ये दोनों उसके स्वरूप हैं।

इस विषय को ठीक तरह से समझने के लिये सोने का दृष्टान्त ठीक होगा। सोना पीतत्व आदि अनेक धर्म और उनकी तरतमरूप अवस्थाओं के सिवा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। कोई सोना कम पीला

होता है, कोई अधिक पीला होता है, कोई गोल होता है और कोई त्रिकोण या चतुष्कोण होता है। सोना इन सब पीतत्व आदि शक्तियों में और उनकी प्रति समय होनेवाली विविध प्रकार की पर्यायों में व्याप्त कर स्थित है। सब द्रव्यों का यही स्वभाव है। अपने गुण और पर्यायों के सिवा उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी से दूसरे शब्दों में उसे गुण पर्यायवाला कहते हैं।

पहले यद्यपि द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-स्वभाववाला बतला आये हैं और यहाँ उसे गुण पर्यायवाला बतलाया है पर विचार करने पर इन दोनों लक्षणों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्द द्वारा कही जाती है, वही गुण पर्याय शब्द द्वारा कही गई है। उत्पाद और व्यय ये पर्याय के दूसरे नाम हैं और ध्रौव्य यह गुण का दूसरा नाम है, इसलिये द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव कहो या गुण और पर्यायवाला कहो, दोनों का एक ही अर्थ है। गुण और पर्याय ये लक्ष्यस्थानीय हैं तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये लक्षणस्थानीय हैं, गुण का मुख्य लक्षण ध्रौव्य है तथा पर्यायका मुख्य लक्षण उत्पाद और व्यय है। जिसका लक्षण किया जाय उसे लक्ष्य कहते हैं और जिसके द्वारा वस्तु की पहिचान की जाय उसे लक्षण कहते हैं। गुण की मुख्य पहिचान उसका सदा काल बने रहना है और पर्याय की मुख्य पहिचान उसका उत्पन्न होते रहना और विनष्ट होते रहना है।

यहाँ द्रव्य को लक्ष्य तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को या गुण और पर्यायको उसका लक्षण कहा है। इससे सहज ही इनमें भेद की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः इनमे भेद नहीं है। भेद बुद्धि में आता है। वस्तु तो अखण्ड और एक है। जब उसे जिस रूप में देखते हैं तब वह उसी रूप में दिखाई देती है।

परन्तु द्रव्य का यह विचार उसे सत्स्वरूप मानकर ही किया जाता है, इसलिये प्रकारान्तर से द्रव्य को सत् भी कहा जाता है। आशय इन तीनों व्याख्याओं का एक है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय में कहा है—

'दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जायासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥'

'सर्वज्ञदेव द्रव्य का लक्षण सत् कहते हैं। अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्याय का आश्रय है वह द्रव्य है।'

द्रव्य के इन तीनों लक्षणों में से किसी एक के कहने से शेष दो का कथन स्वतः हो जाता है, क्योंकि जो सत् है वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप तथा गुण पर्यायवाला है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है वह सत् है और गुण पर्यायवाला भी है तथा जो गुण पर्यायवाला है वह सत् है और उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

द्रव्य और पर्याय की चर्चा महर्षि पतञ्जलि ने भी की है। वे महाभाष्य के पशपशाह्निक में लिखते हैं—

'द्रव्यं नित्यम्, आकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तिः सुवर्णपिण्डः। पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या च अन्याच भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देनेन द्रव्यमेवावशिष्यते।'

'द्रव्य नित्य है और आकृति अर्थात् अवस्था अनित्य है। सुवर्ण का एक आकार पिण्ड है। उसका विनाश कर माला बनाई जाती है। माला का विनाश कर कड़े बनाये जाते हैं। कड़ों को तोड़कर स्वस्तिक बनाये जाते हैं। फिर घूम फिरकर सुवर्ण पिण्ड हो जाता है। फिर उसका विवक्षित आकार खैर के अङ्गार के समान दो कुण्डल हो जाता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरा आकार होता रहता है परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकार का नाश करने से एकमात्र द्रव्य ही शेष रहता है।'

इसकी चर्चा कुमारिल ने भी की है। वे लिखते हैं—

'वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥ २१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभङ्गानामभावे स्यान्मतित्रयम्॥ २२॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
'स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥ २३॥'

'जब सोने के एक प्याले को तोड़कर माला बनाई जाती है तब प्याला चाहनेवाले को शोक होता है, माला चाहनेवाले को हर्ष होता है और सोने का इच्छुक मध्यस्थ रहता है। इससे वस्तु के त्रयात्मक होने की सूचना मिलती है। उत्पाद, स्थिति और व्यय के अभाव में तीन प्रकार की बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्याले का नाश हुए बिना शोक नहीं हो सकता, माला की उत्पत्ति हुए बिना हर्ष नहीं हो सकता और सोने के स्थायित्व के बिना माध्यस्थ्यभाव नहीं हो सकता। अतः वस्तु सामान्य से नित्य है।'

ये दोनों उल्लेख यद्यपि सामान्यतः जैनदर्शन के अनुकूल प्रतीत होते हैं पर इनमें जैनदर्शन से मौलिक अन्तर है। ये मुख्यतः नैयायिक दर्शन के दृष्टिकोण को ही स्पष्ट करते हैं। नैयायिक दर्शन का मन्तव्य है कि कारण द्रव्य सर्वथा नित्य है और कार्य द्रव्य सर्वथा अनित्य है। इन दोनों उल्लेखों का भी यही भाव प्रतीत होता है। महर्षि पतञ्जलि तो द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। किन्तु जैनदर्शन का दृष्टिकोण किसी एक को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने का नहीं है। दृष्टिभेद से वही वस्तु नित्य है और वही अनित्य है ऐसा इसका मन्तव्य है। और जो युक्ति तथा अनुभव से भी सिद्ध होता है।

द्रव्य के अवान्तर भेद—

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि द्रव्य के अवान्तर भेद छः हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छहों में द्रव्य का सामान लक्षण पाया जाता है इसलिये तो इन्हें द्रव्य कहते हैं और इसका विशेष लक्षण पृथक् पृथक् है इसलिये इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई है। इन छहों का जैनदर्शन में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य इन नामों से भी उल्लेख किया जाता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि इन छहों में, जीव द्रव्य के सिवा शेष सब द्रव्य अचेतन हैं।

जीव द्रव्य—

जीव के अस्तित्व के लिये सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अनुभव है। वृक्ष, कीट, पतंग से लेकर मनुष्य तक जितने प्राणी हैं उनमें ऐसा व्यक्तित्व काम करता हुआ अनुभव में आता है जो इतर जड़

तत्वों में नहीं देखा जाता। वह व्यक्तित्व क्या है? प्राचीन ऋषियों ने इसे 'जीव' शब्दद्वारा सम्बोधित किया है। इसका मुख्य लक्षण चेतना है और चेतना का अर्थ है जानना देखना। जो देखता जानता है, सुख दुख का अनुभव करता है राग द्वेष करता है, लड़ता झगड़ता है, डरता डराता है वही जीव ही तो है।

यों तो सांख्यदर्शन भी पुरुष को चेतन मानता है किन्तु वह उसे ज्ञानरूप नहीं मानता। उसके मत से [1]बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों के सम्पर्क होने का नाम ही ज्ञान है। वह मानता है कि सर्व प्रथम प्रकृति से महत्तत्त्व या बुद्धि की उत्पत्ति होती है। यह स्वयं जड़ है, अत: अकेले इसमें ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और अकेले पुरुष में भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती प्रत्युत दोनों के सम्मिलन से यह कार्य सम्पन्न होता है। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् के पदार्थों को बुद्धि के सामने उपस्थित करती हैं तो बुद्धि उनके आकार को धारण कर लेती है। इतने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति के लिये बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ना आवश्यक है। इतनी प्रक्रिया के बाद ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

सांख्यदर्शन ने चैतन्य को पुरुष का स्वरूप मानकर भी उसकी कोई स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है। किन्तु जैनदर्शन इसकी स्पष्ट व्याख्या करता है। वह कहता है कि चेतना यह जीव का दूसरा नाम है। चेतना कहने से हमें दर्शन, ज्ञान, निराकुलता आदि अनन्त शक्तियों का बोध होता है।

यह अनुभवसिद्ध बात है कि विश्व के समस्त पदार्थ स्वतन्त्र और अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं। जीव अनन्त हैं उनका स्वभाव शील एकसा हो सकता है पर उन्हें किसी अन्य शक्ति का अंश मानना उचित नहीं और न कभी उनकी स्वतन्त्र सत्ता का लोप ही हो सकता है। ब्रह्म की कल्पना मात्र बुद्धि का व्यायाम है। सनातन प्रक्रिया से विश्व का प्रपञ्च जिस ढंग से चला आ रहा है आगे भी चलता रहेगा। इसलिये प्रश्न होता है कि स्वतन्त्र रूप से अनुभव में आनेवाले 'अहं प्रत्ययवेद्य' जीव का स्वरूप क्या है? जैन दर्शन ने 'चेतना' शब्द द्वारा इसी प्रश्नका उत्तर दिया है। यद्यपि इस शब्द का अर्थ मुख्यरूप से ज्ञान दर्शन होता है पर ज्ञान दर्शन उपलक्षण है। इससे उन अनन्त शक्तियों का बोध होता है जो जीव के सिवा अन्य द्रव्य में नहीं पाई जातीं।

आत्मा जीवका पर्याय वाची है—

जीवका दूसरा नाम आत्मा है। 'आत्मन्' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—आप्नोति व्याप्नोतीति आत्मा जो स्वीकार करता है या व्याप्त कर रहता है। संसार अवस्था में जीव इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करता है और केवलज्ञान के प्राप्त होने पर वह विश्व के समस्त ज्ञेयों को अपने ज्ञान का विषय बनाता है इसलिये उसका आत्मा यह नाम सार्थक है।

जीवका दूसरा नाम प्राणी है—

प्राणी कहने से भी जीवका ही बोध होता है।

हमें मनुष्य के शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियों की उपलब्धि होती है। इन द्वारा वह विविध प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है। इसके सिवा वह मन से सोचता विचारता है, श्वासोच्छ्वास लेता है, शरीर

---

१ भारतीयदर्शनके आधारसे, पृ० ३३२।

से विविध प्रकार की चेष्टाऐं करता है, वचन बोलता है और कुछ काल तक शरीर को धारण करता है। यह सब एक जीव तत्त्व की करामत है। जीव शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—अजीवीत जीवति जीविष्यतीति जीवः—जो जीता था, जीता है और जीता रहेगा। पांच इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास, आयु, कायबल, वचनबल और मनोबल ये दस प्राण हैं जो उसकी जीवन क्रिया में सहायता करते रहते हैं। इन द्वारा जीव के अस्तित्व का ज्ञान होता है। जीवित शरीर की चमकती हुई आखों से मुर्दा शरीर की आखों में बड़ा अन्तर होता है। मरने के बाद शरीर के सब अवयव जहाँ के तहाँ मौजूद रहते हैं। केवल एक शक्ति का लोप हो जाने से वे कान्तिहीन हो जाते हैं। उनमें सड़ांद पैदा होने लगती है। यंत्र द्वारा शरीर में क्रियाके पैदा करने पर भी वह स्थिति नहीं लाई जा सकती है जो जीवित शरीर में देखी जाती है।

चार्वाक दर्शन की निःसारता—

साधारणतया जीव की स्वतन्त्र सत्ताके विषय में सनातन काल से मतभेद चला आ रहा है। चार्वाक दर्शन ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की है। वह पृथिवी, जल, तेज और वायु इन मूलभूत चार तत्त्वों को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि पृथिवी आदि भूत चतुष्टय के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य पदार्थ नहीं है। चैतन्य आत्मा का धर्म है पर इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है। वह इसकी पुष्टि में मदिरा का दृष्टान्त उपस्थित करता है। मदिरा की उत्पत्ति जिन द्रव्यों से होती है उनमें मादकता नाम मात्र को नहीं है पर मदिरा में मादकता अनुभवसिद्ध है। इससे पता चलता है कि भूत चतुष्टय के सम्मिश्रण से चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति होती है।

किन्तु विचार करने पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्यों कि प्राणियों के स्वभाव में जो वैषम्य दिखाई देता है। वह बलात् आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने को बाध्य करता है। मदिरा की मात्रा में अन्तर हो सकता है। कोई मदिरा अधिक तेज होती है और कोई कम तेज पर उसका कार्य एक ढर्रे का होता है। मदिरा चाहे कहीं की ही क्यों न बनी हो, वह मादकता ही उत्पन्न करती है। यदि जीवका उपादान शरीर के आरम्भक द्रव्य ही मान लिये जाते हैं तो सब जीवों की एक सी ही प्रकृति माननी पड़ेगी। किन्तु विविध देहधारियों की प्रकृति में मौलिक अन्तर दिखाई देता है। कोई क्रोधी होता है, कोई क्षमाशील; कोई दार्शनिक होता है, कोई निरा बुद्धू, कोई शरीर पोषण में आत्मीक उन्नति मानता है और कोई उसके शोषण में। शिक्षादि के भावाभाव से इन प्रवृत्तियों को पनपने का अवसर मिलता है या बाधा पड़ती है, परन्तु होती है यह प्रवृत्ति सहज ही। लाख प्रयत्न करने पर भी किसी में कृत्रिम रूप से इन गुणों का सन्निवेश नहीं किया जा सकता। यदि जीव शरीर से अभिन्न होता तो यह वैषम्य न होना चाहिये था।

एक बात और है। बालक जन्म लेते ही दुग्धपान की इच्छा करता है। माता के स्तन से उसका मुह लगाने पर वह दूंध पीने लगता है। कुछ ऐसे भी बालक देखे गये हैं जो अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाते हैं। रतनलाल जी ने अपनी आत्म रहस्य नामक पुस्तक में देश विदेश की ऐसी कई घटनाऐं निबद्ध की हैं। एक घटना बरेली की है। बात सन १९२६ की है। केकयनन्दन वकील के यहां एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब यह बालक ५ वर्ष का हुआ और बोलना सीख गया, तो वह अपने पूर्व जन्म की बातें कहने लगा कि पूर्व जन्म में मैं बनारस निवासी बबुआ पांडे का पुत्र था। उस बालक के

पिता श्री केकयनन्दन, कई मित्रों के साथ, उस बालक को बनारस ले गये और बालक के बतलाये हुए स्थान पर पहुंचे। उस समय बनारस के जिलाधीश श्री बी. एन, मेहता भी उपस्थित थे। बालक बबुआ महाराज तथा उस मोहल्ले के एकत्रित सज्जनों को उनके नाम ले ले कर पुकारने लगा और उनसे मिलने की उत्सुकता प्रकट करने लगा। उसने अपने पूर्व जन्म के गृह तथा बहुत-सी वस्तुओं को पहिचान लिया और अनेक प्रश्न पूछने लगा कि अमुक अमुक वस्तुऐं कहाँ-कहाँ हैं और कैसी हैं। उस बालक का बतलाया हुआ पूर्व जन्म का समस्त वृत्तान्त बिलकुल सत्य निकला।

भूत प्रेतों की कथाऐं भी अक्सर लोग सुनाया करते हैं। कुछ पश्चिमीय विद्वानों ने इनका संकलन भी किया है। भारतीय समाचार पत्रों में भी ये प्रकाशित होती रहती हैं। इनसे सम्बद्ध कई घटनायें ऐसी होती हैं जिन्हें असत्य नहीं माना जा सकता। अक्सर ये वहीं पर क्रियाशील दिखाई देते हैं जहाँ इनका पूर्व जन्म का किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है।

प्रश्न है कि यह सब क्यों होता है? जीव को शरीर से अभिन्न मानने पर न तो बालक को दूध पीने की इच्छा हो सकती है, न वह पूर्व जन्म की घटनाओं की स्मृति रख सकता है और न ही भूत-प्रेत योनि की विविध घटनाओं का सम्बन्ध बिठाया जा सकता है। किन्तु यह सब होता अवश्य है इससे ज्ञात होता है कि शरीर से भिन्न कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व अवश्य है जो यह सब करता कराता है। चार्वाक दर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता भले ही स्वीकार न करे किन्तु उक्त आधार इतने स्पष्ट हैं जिनके बल पर उसकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है।

इसके स्वरूप का सभी आस्तिक दर्शनों ने विचार किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों का भी इस ओर ध्यान गया है। उनके ध्यान में यह बात आने लगी है कि हाइड्रोजन, आक्सीजन, कारबन, नाइट्रोजन और फासफोरस इन तत्त्वों के मिश्रण से मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण होता है अवश्य किन्तु इसके परमाणु पृथक् पृथक् ज्ञान शून्य हैं, अतः इनके मिश्रित कर देने पर भी उसमें ज्ञान, विचार और विविध प्रकार की भावनाएं नहीं उत्पन्न हो सकती हैं। माना कि वे वैज्ञानिक अभी तक आत्मा का ठीक-ठीक स्वरूप स्थिर नहीं कर सके हैं। उनकी भौतिक विज्ञान के सामने इसकी प्रगति बहुत मन्द है। वास्तव में इसके विचार के लिए एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक प्रयोगशाला की महती आवश्यकता है।

जीव उपयोग स्वभाव है—

सर्वांगरूप से जीव के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्य संग्रह में लिखते हैं—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

इसमें बतलाया है कि जीव का स्वरूप उपयोग है। वह अमूर्ति है, कर्त्ता है, स्वदेहप्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करनेवाला है।

जीव के स्वभाव की चर्चा करते हुए पहले हम यह बतला आये हैं कि उसका स्वभाव ज्ञान दर्शन है। ज्ञान दर्शन ये उपयोग के ही दूसरे नाम हैं। उपयोग उपयुक्त अवस्था को कहते हैं। ज्ञान दर्शन की उपयुक्त अवस्था ही उपयोग है। उसमें पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना यह दर्पण का स्वभाव है।

ऐसा कोई क्षण नहीं जब दर्पण में अन्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता हो। पदार्थ बदलते रहते हैं। उनके साथ प्रतिबिम्ब भी बदलते रहते हैं। फिर भी दर्पण एक के बाद दूसरे पदार्थ को प्रतिबिम्बित करता रहता है। कभी कभी वह एक साथ अनेक पदार्थों को भी प्रतिबिम्बित करता है। उसी प्रकार ज्ञान दर्शन का स्वभाव पदार्थों को जानना देखना है। इस क्रिया का नाम ही उपयोग है। जीव में यह क्रिया सदा चालू रहती है। जब वह बाह्य पदार्थों को जानता है तब उसकी यह क्रिया ज्ञान कहलाती है और जब वह अपने स्वरूप को जानता है तब उसकी यह क्रिया दर्शन कही जाती है।

दर्पण के समान इसमें भी सबको जानने देखने की शक्ति है पर आवरण के कारण वह सबको नहीं जान पाता है। उदाहरणार्थ किसी दर्पण पर आवरण के डाल देने पर उस पर मात्र आवरण का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। एक प्रकार से दर्पण का सम्बन्ध बाह्य जगत् से छूट-सा जाता है। किन्तु आवरण के हटते ही वह अन्य पदार्थों को भी प्रतिबिम्बित करने लगता है। ठीक यही अवस्था ज्ञान की होती है। संसार अवस्था में आत्मा एक मकान में बन्द है। उसे बाहर की वस्तुएँ देखने के लिए खिड़कियाँ चाहिये। पांच इन्द्रियां और मन ये उस मकान की खिड़कियां हैं। देखनेवाला जुदा है। वह इन द्वारा विश्व के दृश्य देखा करता है। वह द्रष्टा है और विश्व के पदार्थ दृश्य हैं। देखते रहना और जानते रहना यह उसका स्वभाव है। आत्मा को उपयोग स्वभाव कहने का यही कारण है।

जीव अमूर्त है—

प्रश्न होता है कि यदि जानना देखना उसका स्वभाव है और वह इन्द्रिय और मन की सहायता से जानता देखता है तो उसे इन्द्रिय और मन की जाति का होना चाहिए। इन्द्रिय और मन रूपी हैं, पुद्‌गल हैं अतः जीव भी रूपी और पुद्‌गल ही प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। समाधान यह है कि इन्द्रिय और मन खिड़कियां हैं स्वयं जानने देखनेवाले नहीं। जानने देखनेवाला अन्य है। उसकी जाति भिन्न है। वह अमूर्त है और इन्द्रियां मूर्त हैं इस लिए इन दोनों की जाति एक नहीं हो सकती। रही सम्बन्ध की बात सो जब कि वह सत्स्वरूप है ऐसी हालत में उसका मूर्त पदार्थों से सम्बन्ध होने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। कार्य कारणभाव की प्रक्रिया में मूर्त और अमूर्त पदार्थों के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को प्रत्येक दर्शन ने स्वीकार किया है। इसके बिना जगत् का व्यवहार भी नहीं चल सकता है। जीव में सनातन प्रक्रिया से जो कमजोरी आई हुई है उसके कारण भी वह पुद्‌गल का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धी बना हुआ है। फिर भी उसकी सत्ता स्वतन्त्र है और पुद्‌गल की सत्ता स्वतन्त्र है। यद्यपि बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्‌गल एक दिखाई देते हैं और एक में अच्छाई बुराई के आ जाने पर दूसरे में भी उसकी प्रतीति होने लगती है पर लक्षण भेद से उनका पार्थक्य स्पष्ट है। मूर्त का अर्थ मात्र रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। ये गुण जीव में नहीं हैं इतना ही उसके अमूर्त होने का तात्पर्य है। और जितने अमूर्त पदार्थ हैं उनके सम्बन्ध में भी यही नियम जानना चाहिये।

जीव कर्त्ता है—

कर्तृत्व यह न केवल जीव की विशेषता है अपि तु प्रत्येक द्रव्य में यह गुण पाया जाता है। फिर भी यहाँ जीव को कर्त्तारूप में स्वीकार करने के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि जो जीव की स्वतन्त्र

सत्ता मान कर भी उसे अकर्त्ता मानते हैं उनकी इस मान्यता का निषेध करना इसका प्रयोजन है और दूसरे अपनी संसार दशा का कर्त्ता स्वयं जीव ही है इसका विधान करना भी इसका प्रयोजन है।

सांख्यदर्शन के मतानुसार आत्मा सर्वथा निर्लेप, त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है। इसकी पुरुष संज्ञा है। वह साक्षात् चैतन्य रूप है। चैतन्य उसका गुण नहीं है। जगत् के पदार्थ त्रैगुण्य सम्पन्न तथा चेतन होते हैं। इनमें त्रैगुण्य तो प्रकृति का अंश है और चैतन्यभाव चेतन पुरुष का अंश है। पुरुष में किसी तरह का सदृश या विसदृश परिणाम नहीं उत्पन्न होता। वह अविकारी, कूटस्थ, नित्य तथा सर्व व्यापक है। क्रिया शीलता प्रकृति का धर्म है। पुरुष वस्तुतः निष्क्रिय तथा अकर्त्ता है। जगत् का काम एकमात्र प्रकृति ही किया करती है। निरीह पुरुष तो केवल साक्षीमात्र या दृष्टामात्र है। त्रिगुण विलक्षण होने से वह नित्यमुक्त है।

इस तरह सांख्यदर्शन ने पुरुष को सर्वथा अकर्ता और निर्लेप माना है। किन्तु यह मान्यता युक्ति और अनुभव दोनों के विरुद्ध है। सांख्यदर्शन पुरुष को भोक्ता तो मानता है पर कर्ता नहीं मानता यह महान् आश्चर्य की बात है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृत में क्या लिखते हैं यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छाइट्ठी अणारिहदो॥३४८॥

एक कर्ता है और दूसरा भोक्ता है ऐसा माननेवाले को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस गाथा में मिथ्या दृष्टि कहा है। मिथ्यादृष्टि शब्द है तो कठोर पर वस्तुस्थिति का निदर्शक है।

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है इसलिये प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्ता ठहरता है। यद्यपि निमित्त कथन की विवक्षा से 'इसने ऐसा किया' ऐसा व्यवहार किया जाता है पर इस कथन द्वारा यह बतलाना प्रयोजन रहता है कि इस कार्य के होने में निमित्त क्या है।

जीव स्वदेहप्रमाण है

जीव का आकार क्या है इस सम्बन्ध है तीन मत मिलते हैं, एक मत के अनुसार वह व्यापक है। यह वेदानुमोदित मत है। वेदों में ऋग्वेद का पुरुष सूक्त प्रसिद्ध है। इसमें पुरुष के सब देश और सब कालव्यापी होने की महत्वपूर्ण कल्पना की गई है। वहां लिखा है कि 'वह हजार मस्तक, हजार आँखों तथा हजार पैरवाला पुरुष चारों ओर से इस पृथ्वी को घेरकर परिमाण में दश अंगुल बड़ा है।' फिर लिखा है कि 'जो कुछ इस समय वर्तमान है जो कुछ उत्पन्न हो चुका है तथा जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है वह सब पुरुष ही है।'

न्याय-वैशेषिक दर्शन पुरुष की इस कल्पना को ही आधारभूत मानकर आत्मतत्त्व के आकार और स्वरूप के निर्णय करने में प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं। सांख्य, योग और मीमांसा दर्शन ने भी इसी से प्रेरणा पाई है। इसी से इन दर्शनों ने आत्मतत्त्व की व्यापकता स्वीकार की है।

दूसरा मत उसे अणुपरिमाण स्वीकार करता है और तीसरा मत है जीव को शरीर परिमाण स्वीकार करनेवाला।

किन्तु इनमें से प्रारम्भ के दो मत आत्मा की वास्तविक स्थिति पर सम्यक् प्रकाश नहीं डालते। क्योंकि न तो आत्मा शरीर के बाहर ही अनुभव में आता है और न ही उसकी मात्र शरीर के एक हिस्से में प्रतीति होती है। हर हालत में वह शरीर परिमाण ही अनुभव में आता है इसलिये इस मत को ही समीचीन मानना उचित है। माना कि शरीर छोटा-बड़ा होता है पर इतने मात्र से आत्मा शरीर परिमाण है यह मत नहीं बाधा जा सकता है, क्योंकि आत्मप्रदेशों में प्रदीप के प्रकाश के समान फैलने और सकुड़ने की ताकत है, इसलिये जब जैसा शरीर मिलता है उसके अनुसार उसमें संकोच विकोच होता रहता है। जैनदर्शन में आत्मा के असंख्यात प्रदेश बतलाये हैं। वे जब फैलकर आकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित होते हैं तब वह अपनी अवगाहना द्वारा लोकाकाश को व्याप्त कर लेता है और जब छोटे से छोटा शरीर मिलता है तब उसकी आवगाहना मात्र उतनी रह जाती है। आत्मा स्वदेह प्रमाण है यह सामान्य नियम है। संसार दशा में निरन्तर शरीर मिलते रहने के कारण यह नियम बन जाता है किन्तु विशिष्ट दशा में इसका अपवाद भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ समुद्घात की दशा में यह स्वदेह प्रमाण का नियम लागू नहीं होता। इसी तरह मुक्त दशा में भी वह अपने अन्तिम देह से अवगाहना में कुछ कम होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि घटने-बढ़ने की दशा में उसमें से कुछ हिस्सा टूटकर अलग हो जाता है या उसमें कोई नया हिस्सा आ मिलता है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा अखंड असंख्यात प्रदेशी है। उसके प्रदेश खण्ड-खण्ड होकर शरीर के समान अलग नहीं होते। शरीर स्वतन्त्र एक द्रव्य नहीं है जब कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र एक द्रव्य है। इसलिये शरीर के अवयवों के छिन्न-भिन्न होनेपर भी आत्मा अखण्ड बना रहता है।

जीव भोक्ता है—

भोग और उपभोग आत्मा की असाधारण योग्यता है। यह योग्यता आत्मा के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं पाई जाती क्योंकि अन्य द्रव्य जड़ हैं इसलिये वे अपने-अपने कार्य के कर्ता होकर भी उसका भोग उपभोग करने में असमर्थ हैं, पर जीव चेतन है। उसमें भोगने की योग्यता पाई जाती है। इस द्वारा वह निरन्तर अपने स्वभाव को अपनी-अपनी योग्यतानुसार भोगता रहता है इसीसे जैनदर्शन में जीव को भोक्ता माना गया है।

भोग अन्य पदार्थ का नहीं होता क्योंकि जानने रूप क्रिया से भोगोपभोगरूप क्रिया में अन्तर है। अन्य पदार्थों को अपना मानना और उनमें भोग उपभोग की कल्पना करना यह मिथ्यात्व का परिपाक है। प्रारम्भ में जीभ का रस से संयोग होने पर उसका ज्ञान होता है तब जाकर यह जीव सुख दुख का वेदन करता है इससे मालूम पड़ता है कि सुख दुख के होने में प्रधान निमित्त ज्ञान है न कि रस। रस ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त है और ज्ञान सुख दुख की उत्पत्ति में, इतना अवश्य है। इसलिये भोग और उपभोग स्वका ही होता है अन्य का नहीं यह सिद्ध होता है।

जीवके भेद—

जीव के अवस्थाकृत भेद दो हैं—संसारी और मुक्त। संसार का दूसरा नाम परावर्तन है। परावर्तन पाँच हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। कर्म बन्धन से बद्ध जो जीव इन पाँच परावर्तनों में परिभ्रमण करते रहते हैं वे संसारी जीव हैं और जिन्होंने इनका त्याग कर स्वतंत्रता प्राप्त कर ली

है वे मुक्त जीव हैं। पहले जीव संसारी होता है उसके बाद बन्धन को काटकर वह उससे मुक्ति लाभ करता है।

यह तो निश्चित है कि जीव स्वतन्त्र तत्त्व है। स्वतन्त्र होना उसका स्वाभाविक अधिकार है किन्तु अधिकतर जीव अपने इस अधिकार को भूले हुए हैं जिससे उन्हें विविध प्रकार की अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। अधिकतर लोग इसका कारण कर्म को मानते हैं किन्तु कर्म पर है। वह न तो अन्य द्रव्य को बाँध सकता है और न ही उसे स्वतन्त्र कर सकता है। वास्तव में जीव स्वयं अपनी कमजोरी वश अन्य द्रव्य से बन्ध को प्राप्त हो रहा है और अपनी कमजोरी को समझकर ही उसे दूर कर देने से वह मुक्ति लाभ करता है। यह स्वयं जीव के हाथ में है कि वह बद्ध रहना चाहता है या मुक्त। एक कवि ने जीव की इस बद्ध दशा के वास्तविक कारण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

अपनी सुधि भूल आप आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभ चाल विसर नलिनी लटकायो॥

इससे जीव के बन्ध और उसके कारण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

जीव का संसार कुछ घर, स्त्री, पुत्र, शरीर आदि नहीं हैं। वास्तव में ये निमित्त हैं। निमित्त का काम उपादान के अनुसार उसके परिणमन में सहायता प्रदान करना है। उपादान में परिणमन करने की जैसी योग्यता होती है उसी के अनुसार ये सहायता प्रदान करते हैं। उपादान में कमजोरी के होने पर ये उस प्रकार के परिणमन में सहायक होते हैं और कमजोरी के हट जाने पर अन्य प्रकार से परिणमन में सहायक होने लगते हैं। मुख्य विचार उपादान का करना है।

जीव की कमजोरी

यह हम पहले ही सिद्ध करके बतला आये हैं कि जीव की ही यह कमजोरी है जिसके कारण वह संसार में रुल रहा है। इसलिये यहाँ मुख्य विचार कमजोरी का करना है। साथ ही उसके कारण पर भी प्रकाश डालना है।

आगम में बन्ध के कारणों का निर्देश करते हुए उसके मुख्य कारण पांच बतलाये हैं—मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद, कषाय और योग।

मिथ्यादर्शन—

आत्मा का सम्यग्दर्शन नाम का एक गुण है जो मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन रूप होता है और जिसका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन का उदय है। इसके होने पर वस्तु का यथार्थ दर्शन नहीं होता, यदि होता भी है तो अयथार्थ दर्शन ही होता है। इसके नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक ये दो भेद हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन विना उपदेश के केवल अन्तरंग कारणों के मिलने पर होता है। इसका होना चारों गतियों के जीवों के सम्भव है। तथा दूसरा बाह्य में उपदेश के निमित्त से होता है। यह अधिकतर मनुष्य जाति में सम्भव है। वर्तमान में जितने पन्थ प्रचलित हैं वे सब इसके परिणाम हैं। इसके इन पन्थों की दृष्टि से मुख्य भेद पांच किये जाते हैं—एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान।

अविरति—

जिससे छह काय के जीवों की हिंसा से और छह इन्द्रियों के विषय से निवृत्ति नहीं होती वह अविरति है। जिस जीव के अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय विद्यमान है उसके उपर्युक्त सभी प्रकार की अविरति पाई जाती है क्यों कि इनका उदय वैसी कमजोरी के सद्भाव में ही होता है। किन्तु जिसके उक्त कषायों का उदय न होकर प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन दोनों प्रकार की कषायों का उदय विद्यमान है उसके त्रसकाय विषयक अविरति का अभाव होकर शेष ग्यारह प्रकार की अविरति पाई जाती है।

प्रमाद—

प्रमाद का अर्थ है अपने कर्तव्य में अनादर भाव। यह अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि कषायों के उदय में तो होता ही है किन्तु संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में भी होता है। इसके निमित्त भेद से अनेक भेद हो जाते हैं। पांच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, निद्रा और प्रणय ये प्रमुख रूप से प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं। शास्त्रों में अधिकतर इसका वर्णन संज्वलन कषाय के तीव्र उदय की अपेक्षा से ही किया गया मिलता है। वहाँ अविरति और कषाय से इसका पार्थक्य दिखलाने के लिये ही ऐसा किया गया है।

कषाय—

चारित्ररूप आत्मपरिणामों में अनिर्मलता का नाम ही कषाय है। यह मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर न्यूनाधिक प्रमाण में दसवें गुणस्थान तक होती है। अगले गुणस्थानों में ऐसी कमजोरी शेष नहीं रहती।

योग—

योग का अर्थ है आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द। यह मन, वचन और काय के निमित्त से होता है इसलिये इसके मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन भेद हो जाते हैं। यह मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है।

जीव की यह पांच प्रकार की कमजोरी है जिसके कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। यद्यपि संसारी जीव में अन्य प्रकार की कमजोरियाँ भी पाई जाती हैं पर वे प्रमुखता से संसार का कारण न होने से उनका यहाँ निर्देश नहीं किया है।

जीव की कमजोरी का कारण—

अब देखना यह है कि जीव में यह कमजोरी आई कैसे? आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृत में इस बात पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

इसका आशय है कि अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य में कोई विशेषता नहीं आती, इसलिये सब द्रव्य अपने अपने स्वभाव के अनुसार ही परिणमन करते हैं।

इसकी टीका करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य लिखते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्यबोधोऽस्मि बोधः॥

जीव विचार करता है कि मुझमें जो राग द्वेष की उत्पत्ति होती है उसमें निमित्तभूत अन्य द्रव्यों का रंचमात्र भी दोष नहीं है। किन्तु यह जीव ही स्वयं अपराधी हुआ अज्ञानवश रागद्वेष रूप अवस्थाओं को प्राप्त होता है। यह बात मुझे अच्छी तरह से समझना है और इस अज्ञान को दूर करना है क्योंकि मेरा स्वभाव ज्ञान है।

इस प्रकार यद्यपि उक्त कथन के आधार से यह निश्चित होता है कि जीव में आई हुई कमजोरी का कारण स्वयं वह है फिर भी यहां विचार इस बात करना है कि यदि इसका कारण स्वयं जीव है तो मुक्त जीव में इसकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है। मुक्त जीव भी तो आखिर जीव ही है, फिर क्या कारण है कि संसारी जीव में ही इसकी उत्पत्ति होती है मुक्त जीव में नहीं। यह बात तो समझ में आती है कि इस कमजोरी का नाम ही संसार है पर सर्वथा बाह्य कारण के बिना वह होती है यह बात समझ में नहीं आती।

पञ्चास्तिकाय में संसार परम्परा का निर्देश करते हुए लिखा है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदीसु गदी॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।

संसार में स्थित जीव के राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। इससे शरीर मिलता है। शरीर के मिलने से इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। विषयों का ग्रहण होने से राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। जो जीव संसार चक्र में परिभ्रमण करता है उसकी ऐसी अवस्था होती है।

इससे भी यही ज्ञात होता है कि संसार का मुख्य कारण कर्म है, क्योंकि वह राग द्वेष का जनक है, अतः जीव अपने ही कारण बंधता है और अपने ही कारण छूटता है यह कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न मार्मिक है पर इसका उत्तर यह है कि कर्म निमित्त कारण अवश्य है। उसके बिना जीव का संसार में एक क्षण भी रहना असम्भव है। किन्तु देखना यह है कि कर्म में ऐसी योग्यता कहां से आई जिससे वह रागद्वेष रूप परिणति के उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करता है। क्या उसमें यह योग्यता पहले से ही मौजूद है या उसे यह शक्ति स्वयं जीव के निमित्त से मिली है। जहां तक उक्त संसार परम्परा के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कर्म में ऐसी योग्यता स्वयं जीव के निमित्त से आती है। यदि जीव में रागद्वेष रूप परिणति न हो तब न तो कर्म का ही बन्ध हो सकता है और न ही वह आगामी रागद्वेष रूप परिणति के सर्जन करने में निमित्त हो सकता है, अतएव जीव की रागद्वेष रूप परिणति और कर्म इन दोनों का परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि यह जीव स्वयं अपने अपराध के कारण बंधता है और

उसका ठीक तरह से ज्ञान होनेपर उससे मुक्त हो जाता है। जीव की वर्तमान अशुद्धता का कारण उसकी पूर्वकालीन अशुद्धता है और उसका कारण उसकी पूर्वकालीन अशुद्धता है। इस प्रकार यह क्रम अनादि-काल से चला आ रहा है और तबतक चालू रहेगा जबतक यह जीव अपनी कमजोरी को ठीक तरह से अनुभव में लाकर उसे दूर करने के मार्ग का पथिक नहीं बनता।

कमजोरी को दूर करने का उपाय—

अब प्रश्न यह है कि जीवन में जो यह कमजोरी घर किये हुए है उसे दूर कैसे किया जाय। आचार्यों ने इसका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को बतलाया है। ये तीनों मिलकर मुक्ति के मार्ग हैं। जीव स्वयं अपने को भूला हुआ है। वह पर में अपनत्व बुद्धि कर तदनुकूल आचरण कर रहा है। इससे तो वह बंधा हुआ है और जब उसे यह विवेक होता है कि यह पर है, मैं यह हूँ तब वह, पर से आसक्ति हटाकर ऐसा आचरण करने लगता है जिससे उसे मुक्त होने में देर नहीं लगती। इसलिये इस कमजोरी को दूर करने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही है, यह निश्चित होता है।

सम्यग्दर्शन—

शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की चर्चा कई प्रकार से की गई है। कहीं जीवादि सात पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, कहीं आप्त, आगम और गुरु के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, कहीं स्वानुभूति को सम्यग्दर्शन कहा है और कहीं स्वपर विवेक को सम्यग्दर्शन कहा है। इन सबका अभिप्राय एक है। इनके द्वारा एकमात्र यही ज्ञान कराया गया है कि यह जानने देखनेवाली शक्ति क्या है और तदितर पदार्थ क्या हैं।

जीवन में सम्यग्दर्शन का बड़ा महत्त्व है। यह वह विवेक-सूर्य है जिसके उदित होने पर मिथ्यात्व रूपी तम तुरतां पलायमान हो जाता है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। अधिकतर व्यक्ति विविध प्रकारके तप करते हैं, नग्न रहते हैं और साधु बनने का दावा भी करते हैं पर इसके बिना यह सब क्रिया-कलाप संसार का कारण है। यह सब प्रकार के अहंकार से मनुष्य की रक्षा करता है। इसके होने पर नामरूप का अहंकार तो होता ही नहीं, जीवन में प्राप्त हुई ऋद्धि सिद्धि का भी अहंकार नहीं होता। शास्त्रों में आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष और तीन मूढ़ताओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। यह इन बुराईयों से व्यक्ति की सदा रक्षा करता है।

सम्यग्दर्शन दो शब्दों के मेल से बनता है—सम्यक् और दर्शन। प्रत्येक पदार्थ का जो स्वरूप है उसे ठीक तरह से अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है यह इसका तात्पर्य है।

जैसा कि हम देखते हैं कि संसार अवस्था में जीव और शरीर दो का मेल हो रहा है। इनके कार्य भी मिलकर होते हैं। इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को यह विवेक करना कठिन हो जाता है कि इसमें कौन कार्य शरीर का है और कौन कार्य आत्मा का है। बहुत से तो ऐसे भी व्यक्ति हैं जो शरीर और आत्मा को दो नहीं मानते। वे माता पिता से इसकी उत्पत्ति मानते हैं और शरीर के विनाश को ही आत्मा का मरण मानते हैं। वे एकमात्र काम को ही जीवन का पुरुषार्थ मानते हैं। इनके इस मत को व्यक्त करते हुए एक कवि ने कहा है—

यावज्जीवेत् चिरं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

इसमें न केवल वर्तमान जीवन को चिर काल तक जीवित रख कर उसे हर प्रकार से पुष्ट करने की बात कही गई है किन्तु यह कार्य यदि समाज-विरोधी तत्त्वों को स्वीकार करके सम्पन्न किया जा सकता है तो इस द्वारा वैसा करने की भी छूट दी गई है। जिनके हाथ में धर्म का झंडा है उन्हें यह एक प्रकार की चुनौती है। इस द्वारा कहा गया है कि परलोक की बात छोड़ो, पुण्य पाप की बात छोड़ो, अपने लौकिक जीवन की ओर देखो, वही सब कुछ है।

किन्तु जो आत्मा और शरीर को दो मानते हैं उनमें से भी बहुतों की गति इससे कुछ भिन्न नहीं है। वे वचनों द्वारा आत्मा की बात तो करते हैं, मन्दिर में जाकर पूजा प्रभावना की क्रिया भी सम्पन्न करते हैं और भोजन में भी चुन चुन कर पदार्थ उपयोग में लाते हैं पर उनकी दृष्टि का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो यही ज्ञात होता है कि उनका समस्त श्रम एकमात्र शरीर के लिये ही हो रहा है। वे शरीराश्रित क्रियाओं से आत्माश्रित क्रियाओं का विवेक करने में असमर्थ हैं।

इस समय आत्मधर्म की अपेक्षा रूढिधर्म को विशेष प्रमुखता मिल गई है। आम जनता आत्मधर्म का विचार न कर मात्र रूढिधर्म का विचार करने लगी है। तत्त्वोपदेश, पूजा, खान पान और सामाजिक व्यवहार में ऐसे तत्त्व प्रविष्ट हो गये हैं जो स्पष्टतः धर्मविरोधी हैं पर उनका समर्थन करने का प्रयत्न किया जाता है और जो इस प्रवृत्ति का विरोध करते हैं उन्हें धर्मद्रोही कहा जाता है। जैन धर्म सामाजिक व्यवहार में ऊँच-नीच के कल्पित भेद को वास्तविक नहीं मानता, कल्पितजाति और कुल के अहंकार को छोड़ने की बात कहता है, भोजन किसके हाथ से मिला है इसका विचार न कर मात्र भोजन शुद्धि का विचार करता है, जीहुजूरी उपदेशों में ईश्वरवाद की छाया होने से उन्हें जीवन शुद्धि में प्रयोजक नहीं मानता और पूजन में द्रव्य की उठाधरी की अपेक्षा परिणामों की शुद्धि पर अधिक जोर देता है फिर भी वर्तमान समय में इससे सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्ति हो रही है और उसे धर्म समझ कर उसका समर्थन किया जाता है। इस समय जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में इतना विकार आ गया है जिसके संशोधन की महती आवश्यकता है। शास्त्रों में कर्म और कर्मफल को आत्मधर्म मानने की कटु आलोचना की गई है पर उनकी बात सुनता कौन है। सबकी दृष्टि लौकिक क्रियाकाण्ड में उलझी हुई है। जो मोक्षमार्ग से दूर हैं वे तो ऐसा करते ही हैं किन्तु जो अपने को प्रतिमाधारी, व्रती, साधु मानते हैं वे भी प्रायः ऐसा ही करते हुए पाये जाते हैं। आज उल्टी गङ्गा बहाई जा रही है और यह सब हो रहा है जैन धर्म के नाम पर।

आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की व्याख्या की है। वे प्रवचनसार में लिखते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

चारित्र ही धर्म है जो 'सम' इस शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और समका अर्थ है मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम।

सनातन प्रक्रिया से जीवन में कमजोरी आई हुई है जिसके कारण जीव अपने स्वरूप को पहिचानने में असमर्थ है। इतना ही नहीं वह मोह और कषायवश अन्य बाह्य पदार्थों में उलझा रहता

है और कर्म के निमित्त से इसकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उन्हें अपना स्वरूप मानता रहता है तथा उनके संयोग-वियोग में सुखी-दुखी भी होता रहता है। सम्यग्दर्शन का काम इनका विवेक करा देना है। इससे आत्मा का उद्देश्य और गन्तव्य मार्ग निश्चित हो जाता है। वह उस धर्म को पहिचानने लगता है जो उसका स्वभाव है। वह सोचता है—

एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

मेरी आत्मा शाश्वत होकर स्वतन्त्र तो है ही किन्तु उसका स्वभाव भी एकमात्र ज्ञान दर्शन है। इसके सिवा मुझमें और जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब संयोग का फल है।

सम्यग्दर्शन की चर्चा पञ्चाध्यायी में विस्तृत आधारों पर की गई है। इसमें चेतना के तीन स्तर बतलाये हैं—कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञानचेतना। इनमें से प्रारम्भ की दो चेतनाएँ अज्ञान दशा में होती हैं। ज्ञानी के एकमात्र ज्ञानचेतना होती है। वह मात्र ज्ञान दर्शन को ही अपना स्वभाव मानता है और उसीमें रममाण होने का प्रयत्न करता है। कदाचित् जीवन की कमजोरीवश वह संयोगज भावों में भी रति और अरति करता हुआ पाया जाता है तो भी उसे वह अपना स्वभाव नहीं मानता। सम्यग्दर्शन की महिमा बड़ी है। यह जीवन का वह श्रोत है जिसके कारण जीव अपनी स्वतन्त्रता को तो अनुभव करता ही है साथ ही विश्व के प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता को भी स्वीकार करता है। उसे न जीवन का भय रहता है और न मरण का ही। वह सब प्रकारके भयों से मुक्त होता है, क्योंकि वह इन्हें बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग से संबंध रखनेवाली अवस्थाएँ मानता है। वह सोचता है कि जीवन के इहलोक और परलोक ये भेद शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा से किये जाते हैं। जबतक वर्तमान शरीर का सम्बन्ध है तबतक इहलोक कहलाता है और आगामी-शरीर-सम्बन्ध की अपेक्षा परलोक ऐसा व्यवहार किया जाता है। जब कोई यह विचार करता है कि मेरा परलोक अच्छा हो तब उसका यह विचार मुख्यतया आगामी शरीर से सम्बन्ध रखनेवाला होता है। ऐसा विचार इहलोक और परलोक को माननेवाले प्रत्येक जीव का होता है। किंतु परलोक सर्वथा व्यक्ति के विचार पर अवलम्बित नहीं है। विचार का आचार से मेल होना चाहिये। उसमें भी विचार और आचार ये दोनों बाह्य परिस्थिति से उतने प्रभावित नहीं होते जितने कि वे उस-उस व्यक्ति के जीवन क्रम पर अवलंबित रहते हैं।

यह कौन नहीं जानता कि प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख प्राप्ति का मार्ग भी एक ही हो सकता है। फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति के आचार और विचार में भेद क्यों दिखाई देता है ? क्यों एक जीवन शुद्धि के अनुकूल अपना आचरण करता है और विचार भी तदनुकूल बनाता है और दूसरा इस से ठीक विपरीत प्रवृत्ति करता हुआ दिखाई देता है। उत्तर स्पष्ट है कि संसार के सभी प्राणी अपने को पहिचानने में असमर्थ हैं। जिन्होंने न केवल अपने को पहिचाना है अपि तु वैसे पुरुषों से सम्पर्क स्थापित किया है और साधन भी वैसे ही जुटाये हैं वे मात्र जीवन शुद्धिकी ओर ध्यान देते हैं। उनका समस्त श्रम और विचार अपने लिये होता है। वे यह स्पष्ट मानते हैं कि दूसरों के लिये न तो मैं कुछ कर सकता हूँ और न दूसरे ही मेरे लिये कुछ कर सकते हैं। लोक में जो भी उपकार व्यवहार दिखाई देता है वह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का फल है। उसके आधार से अपने में अन्य के कर्तृत्व का आरोप करना मिथ्या है और अन्य में अपने कर्तृत्व का आरोप करना भी मिथ्या है। किन्तु जिन्होंने अपने को पहिचाना नहीं है उनकी

स्थिति इससे ठीक विपरीत है। शास्त्रों में इस प्रवृत्तिका कारण मिथ्यात्व परिणाम बतलाया गया है। जीवमें होता तो है यह परिणाम नैमित्तिक, किन्तु उसका सद्भाव रहने तक अनेक प्रकार की विपरीताएँ जन्म लेती रहती हैं। ऐसे व्यक्ति की, जो मिथ्यात्वरूप परिणाम के आधीन है, बुद्धि ठिकाने लाना बड़ा ही कठिन काम है। एक मात्र काल लब्धि ही इसकी प्रयोजक मानी गई है। काललब्धि जीवकी अपनी योग्यता है। प्रत्येक वस्तु की जब जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार कार्य होता है। यह सोचना कि हम कभी भी कोई कार्य कर सकते हैं निरा मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व जब तक जीवन में घर किये हुए है तब तक उद्धार होना असम्भव है। कभी कभी यह होता है कि संसारी जीव इस यथार्थता को जानता है पर जीवन में इस तत्त्वज्ञान के न उतरने के कारण वह मूढ ही बना रहता है। मुख्यतया प्रत्येक प्राणीको अपने जीवनकी गांठ खोलनी है। लौकिक जीवनका अर्थ है बाहर की ओर देखना और आध्यात्मिक जीवनका अर्थ है भीतर की ओर देखना। अभी तक यह प्राणी अपने लिये घर, स्त्री, धन आदि का संग्रह करता रहा है, और जब जो पर्याय मिली उसीको अपनी मानता रहा है। यह इसका बाहरी जीवन है। इस बाहरी जीवन का त्याग कर इसे वह वस्तु प्राप्त करनी है जो इसकी अपनी है और जिससे इसकी स्वतंत्रता प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त बनता है। जीवन में सम्यग्दर्शन का महत्त्व इसी दृष्टि से माना गया है। यह वह शक्ति है जिससे जीवन की गाँठ खोलने में सहायता मिलती है।

यों तो इसकी प्राप्ति चारों गति के जीवों को होती है पर जो असंज्ञी हैं उन्हें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। संज्ञियों में भी इसकी प्राप्ति उन्हीं को होती है जिन्होंने व्यक्तिस्वातन्त्र्य के आधार पर स्वावलम्बन को अपने जीवन में उतारने का निर्णय किया है फिर चाहे भले ही वे वर्तमान में परावलंबिनी वृत्ति का रंचमात्र भी त्याग न कर सकें। सम्यग्दर्शन धर्म का आवश्यक अंग है। पूर्ण धर्म की प्राप्ति उसी के सद्भाव में होती है। एक बात अवश्य है कि यह सब कर्म भूमिज मनुष्य के ही संभव है। देव और नरक गति भोग प्रधान होने से वहां मात्र दृष्टि लाभ होता है क्योंकि वहां स्वावलंबिनी वृत्ति का जीवन में अंशमात्र भी उतारना संभव नहीं है। रही तिर्यंच गति की बात सो इस पर्याय में पूर्ण विकास संभव नहीं होने से यहाँ भी पूर्ण धर्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है फिर भी कुछ भाई कर्म भूमिज मनुष्यों में अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, और काल के रहते हुए भी ऐसा विधान करते हैं कि यह मनुष्य इतना धर्म धारण कर सकता है और यह मनुष्य इतना। इसके लिये वे पीछे के कुछ श्रावकाचारों और पुराणों के प्रमाण उपस्थित करते हैं। यहां हमें इन प्रमाणोंकी गहराई से छानबीन नहीं करनी है, किन्तु इतना अवश्य कहना है कि जीविकोपयोगी कर्म के आधार से धर्म धारण करने की योग्यता में अन्तर मानना तीर्थंकरों की आज्ञा के विरुद्ध है। वर्ण व्यवस्था को किसी न किसी रूपमें भारतीय सभी परंपराओं ने स्वीकार किया है पर कौन परम्परा इसे किस रूप में स्वीकार करती है यही सबसे अधिक महत्त्वका प्रश्न है। हम यह जानते हैं कि अब देश, काल ऐसा उपस्थित हुआ है जिसके कारण कुछ काल बाद पुरानी सामाजिक व्यवस्थाएँ केवल अध्ययन और खोज की वस्तुएँ रह जांयगीं पर उस दृष्टि से हमें उनको अस्वीकार नहीं करना है। हमें तो यहां उनके वास्तविक अन्तरको जानकर ही अस्वीकार करना है।

जैसा कि मनुस्मृति आदि से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण परंपरा जन्म से वर्ण व्यवस्था पर जोर देती है। उसमें ब्राह्मणकी सन्तान ब्राह्मण और शूद्र की सन्तान शूद्र ही मानी जाती है फिर चाहे वह कर्म कोई

भी क्यों न करे। हम देखते हैं कि वर्तमान में अधिकतर, कथित ब्राह्मण, अध्ययन, अध्यापन आदि कर्म न करके अन्य अन्य कर्म करते हैं। कोई रसोई बनाता है, कोई पानी भरता है, कोई जूतों की दुकान करता है, कोई कपड़ा बेचता है और कोई नौकरी करता है! फिर भी वह और उसकी सन्तान ब्राह्मण ही मानी जाती है। यही अवस्था दूसरे वर्णों की है।

किन्तु जैनधर्म ने जन्म से वर्णव्यवस्था पर कभी भी जोर नहीं दिया है। उसने वर्ण का आधार एक मात्र कर्म को ही माना है। फिर भी वह इस आधार से ऊंच नीच की कल्पना त्रिकाल में नहीं करता है। उसके मत से न कोई कर्म बुरा है और न कोई कर्म अच्छा। वह अच्छाई और बुराई या उच्चत्व और नीचत्व व्यक्ति के जीवन से स्वीकार करता है। जो व्यक्ति हिंसा की ओर गतिशील है वह बुरा ही बुरा है और जो जीवन में अहिंसा को प्रश्रय देता है उसकी अच्छाई को पूछना किससे है। यही बात उच्चत्व और नीचत्व की है। इसलिये जन्मना वर्ण-व्यवस्था के आधार से किसी मनुष्य को धर्म धारण करने के योग्य मानना और किसी का अयोग्य मानना जैनधर्म की आत्मा के विरुद्ध है। यह कल्पित जाति और कुल का अभिमान तो सम्यग्दृष्टि के ही छूट जाता है। वह सभी प्रकार के अभिमान से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

हमें यह जानकर बड़ा अफसोस होता है कि विचार का स्थान रूढ़िवादिता ने ले लिया है सम्यग्दृष्टि का स्थान परम विचारक का है इस बात को प्रायः भुला दिया गया है। माना कि 'नान्यथावादिनो जिनाः' इस आधार पर वह जिनाज्ञा को प्रमाण मानने के लिये सदा तत्पर रहता है पर जिनाज्ञा के नाम पर सभी बातों को वह आँख मीच कर स्वीकार करता जाय यह नहीं हो सकता। जैन परम्परा में युक्ति, अनुभव और आगम इन तीन बातों को प्रमुखता दी गई है। आगम में भी यहां पूर्व पूर्व आगम की प्रमाणता मानी गई है सम्यग्दृष्टि तीर्थंकरों के वचनों को प्रमाण मानने के लिये अपने निःशंकित गुण का उपयोग करता भी है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उनके नाम पर आज तक जो कुछ भी लिखा गया है उस सब को प्रमाण मानता है। वह उत्तरवचन का पूर्व वचन के साथ मिलान करता है। यदि उत्तर वचन पूर्व वचन के अनुकूल होता है तो वह उसे प्रमाण मानता है अन्यथा वह उसका त्याग कर देता है। धर्म और सिद्धान्त के नाम पर वह जो कुछ भी बोलता है वह श्रमण भगवान् महावीर की वाणी है इस विश्वास के आधार पर ही बोलता है। धर्म का कोई भी वक्ता या लेखक मात्र अनुवादक माना गया है। मैं इस विषय का लेखक या वक्ता हूँ इस अहंकार का उसे त्याग करना पड़ता है। पूर्वाचार्य किसी ग्रन्थ के आदि या अन्त में अपने नाम का उल्लेख नहीं करते थे इसका कारण एक मात्र यही था। वे सम्हल सम्हल कर उन्हीं वचनों का संग्रह करते थे जिनकी यथार्थता का वे अच्छी तरह से निर्णय कर लेते थे। किन्तु उत्तर काल में एक ही परम्परा में अनेक मतों और पन्थों का निर्माण हो जाने के कारण अनेक अपसिद्धान्तों ने प्रवेश पा लिया है। इसका कारण कहीं देश काल रहा है और कहीं व्यक्ति। इतिहास इसका साक्षी है कि हम मूल परम्परा की यथावत रक्षा न कर सके। भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ ही काल बाद हम में मतभेद हो गया और हम दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो भागों में बट गये। जिस मार्ग को उस समय हमारे पूर्वजों ने परिस्थितिवश स्वीकार किया था वह हमारी परम्परा का एक अपरिहार्य अंग बनके ही रहा। इसके बाद भी ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हुआ जिनके कारण हम और भी पीछे हटे हैं। तुलना के लिये रत्नकरण्डक और दूसरे आचार ग्रन्थ लिये जा सकते हैं। रत्नकरण्डक में

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के आधार से मात्र मोक्षमार्ग का निरूपण है किन्तु इसकी तुलना में जब हम दूसरे आचार ग्रन्थों की मीमांसा करते हैं तो उनमें हमें अनेक नई बातों का प्रवेश दिखाई देता है। उनमें मात्र मोक्षमार्ग का निरूपण न होकर उस समय के सामाजिक रीति-रिवाजों का भी विधि विधान करके उनके अनुसार चलने की बात कही गई है। इस परिस्थिति का समर्थन करनेके लिये यशस्तिलककार सोमदेव सूरि तो यहां तक लिखते हैं—

'सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणम् ॥'

यद्यपि इसके द्वारा जैनों को लौकिक विधि को प्रमाण मानने की सशर्त शिक्षा दी गई है पर प्रश्न यह है कि सोमदेव सूरि को यह बात कहने के लिये क्यों बाध्य होना पड़ा? क्या उनके काल तक जैन लोग लौकिक विधि को प्रमाण नहीं मानते थे और इसलिये उनका इतर जनों से विरोध था? जहाँ तक उक्त कथन से तो यही ज्ञात होता है कि जैनों ने लौकिक विधि को कभी भी प्रमाण नहीं माना है। उनकी परम्परा सदा उदार और सर्व संग्राहक रही है। उन्होंने मनुष्यों के आर्य और म्लेच्छ ये भेद स्वीकार करके भी उनके समान अधिकार माने हैं। किन्तु कालदोष से उत्तरोत्तर वैदिकों के सामने जैन कमजोर पड़ते गये और अन्त में जाकर जैनों को वैदिकों के सामाजिक विधि विधान स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। हमने अपने सामाजिक रीति रिवाजों को तिलांजलि देकर वे सब रीति रिवाज स्वीकार कर लिये जो वैदिकों की अपनी विशेषता रही है। आज तो हम सामाजिक दृष्टि से तत्त्वतः वैदिक बने बैठे हैं। और आश्चर्य यह है कि हम इस स्थिति को ही अपनी मानने लगे हैं। वस्तुतः उक्त कथन इसी बात की स्वीकृतिमात्र है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि सम्यग्दर्शन वस्तुजात के यथार्थ स्वरूप के बोध करने में सहायता प्रदान करता है। इसके होने पर व्यक्ति की शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है; फिर वह अपने व्यक्तिगत कर्तव्यों की ओर विशेषरूप से ध्यान देने लगता है। सामाजिक रीति रिवाज मोक्ष प्राप्ति में बाधक माने गये हैं इसलिये जैसे जैसे व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति होती जाती है वैसे वैसे वह सामाजिक रीति रिवाजों से अपने को मुक्त करता जाता है। व्रत प्रतिमा के अतीचारों में परविवाह करना एक अतीचार माना गया है। इसकी तह में यही बात छिपी हुई है। विवाह स्वयं अपने में धार्मिक विधि नहीं है। वह तो व्यक्ति की कमजोरी की स्वीकृति का सबसे बड़ा प्रमाण पत्र है। यही कारण है कि व्रती होने के बाद किसी भी मनुष्य को ऐसे सामाजिक कार्यों से जुदा रहने के लिये कहा गया है।

जैसा कि हम देखते हैं कि एक जीवन संशोधनके मार्गमें लगा रहता है और दूसरा चोरी जारी में समय बिताता है। क्या चोरी जारी करनेवाला व्यक्ति उस दुनिया से बाहर निवास करता है जहां गला फाड़-फाड़ कर व्यक्ति के जीवन के सुधार की बात कही जाती है। उसके वहीं रहते हुए और ऐसे उपदेशों के सुनते हुए भी उसके इस तत्त्व को आचरण में लाने की रूचि क्यों नहीं होती है? सम्यग्दृष्टि इसका कारण जानता है इसलिये उसे न तो मरण के कारण उपस्थित होनेपर विषाद होता है और न जीवन के कारण उपस्थित होने पर हर्ष होता है। उसका जीवन निर्भय होता है। भयका कारण कर्म रहते हुए भी उसकी निर्भय वृत्ति में अन्तर नहीं आने पाता।

सम्यग्दर्शन व्यक्तिस्वातन्त्र्य को प्रतिष्ठित करने का सर्वोत्तम साधन है। इसका आध्यात्मिक रहस्य यहीं से समझ में आता है इसलिये उसकी वृत्ति में अन्य की वांछा व विचिकित्सा को रंचमात्र भी स्थान

नहीं मिलता। वह यह भी मानता है कि दूसरे पदार्थ मेरा हिताहित करने की सामर्थ्य रखते हैं इस भावना से उनका आदर सत्कार करना मूढ़ता है। उसका जीवन एकमात्र स्वावलम्बन की ओर प्रवाहित होने लगता है। वह किसी की कमजोरी को जीवन का अवश्यंभावी परिणाम जान कर उसकी उपेक्षा करता है। वह रागादिको विकारी भाव जान उनसे हटकर अपने स्वरूप में स्थित होना ही प्रशस्त मानता है। उसके विकल्प में राग नहीं आता यह बात नहीं है, फिर भी वह अपने उपयोग को स्वभाव की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है और जहां तक बनता है इसी वृत्ति का स्थापन करता रहता है। तत्त्व निर्णय का यह अवश्यंभावी परिणाम है, इसलिये ये गुण सम्यग्दर्शन के साथ नियम से प्रकट होते हैं। इसी से रत्नकरण्डक में कहा है—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

वह दर्शन दर्शन नहीं जिसके होने पर ये गुण प्रकाश में नहीं आते, ऐसा दर्शन संसार परम्परा का छेद करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि यह स्पष्ट है कि जो मन्त्र परिपूर्ण होता है वही विषवेदना को दूर कर सकता है, अन्य नहीं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य की बुद्धि पन्थ के व्यामोह में पड़ कर जीवन सम्बन्धी कार्यों से विमुख होने लगती है। पन्थों का निर्माण क्यों होता है यह इतिहास की वस्तु हो सकती है पर एक बात स्पष्ट है कि पन्थ स्वयं धर्म नहीं है। उन्हें धर्म का मार्ग मानना भी ठीक नहीं है। इनमें ऐसी अनेक बातें आ मिलती हैं जिनका आग्रह बढ़ जाने से मनुष्य बहुत दूर भटक जाता है। उस समय प्रत्येक मनुष्यका ध्यान धर्म की ओर न जा कर पन्थरक्षा की ओर विशेष रूप से जाने लगता है। हिन्दुओं में चोटी और जनेऊ का आग्रह, मुसलमानों में दाड़ी और खतना का आग्रह तथा सिखों में केशरक्षा, कंघी और कृपाण का आग्रह इसी वृत्तिका परिणाम है। पन्थ मात्र बाहर की ओर देखता है। वह न केवल मनुष्य को अन्धा बनाता है अपि तु उसे धर्म पर संगठित रूप से आक्रमण करने के लिये उत्साहित भी करता है। जीवन में विकार को समझकर उससे छुटकारा पाने के लिये दृढ़तर प्रयत्न करना ही धर्म है। इसका कार्यक्रम बहुत ही सीधा सादा है। इसमें आडम्बर को स्थान नहीं। चोटी रखने या जनेऊ के पहिनने से विकार का अभाव नहीं हो सकता और न ही ऐसा नहीं करने से विकार को प्रश्रय ही मिल सकता है। उसके त्याग के लिये आत्मा का संशोधन करना होगा। विश्व क्या है और उसमें आत्मा का स्थान क्या है इसका निर्देश हम पहले ही कर आये हैं। हमें अपने स्वरूप का विचार इस दृष्टि से करना होगा। पन्थ की बात जाने दीजिये। विचारकों ने और सन्तों ने उसे तो प्रशस्त माना ही नहीं, उन्होंने भीतर ही भीतर घुस कर आत्मा को छानने का प्रयत्न किया है। सात तत्त्वों की चरचा कौन नहीं जानता। वह आत्मा की छाननी का एक प्रकार है। मनुष्य गेहूँ को छानते समय चलनी का उपयोग करता है। उससे वह गेहूँ में मिली हुई मिट्टी को निकाल कर बाहर फेंक देता है। हमें अपनी बुद्धि का उपयोग चलनी के स्थान में करना है। आत्मा में पुद्गलके निमित्त से अनन्त विकार आ मिले हैं। उनका हमें संशोधन करना है। मनुष्य की यह बुद्धि एकमात्र सम्यग्दर्शन के होने पर जागृत होती है, इसलिये सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा है। आचार्य कुन्दकुन्द इसकी महिमा का व्याख्यान करते हुए षट् प्राभृत में लिखते हैं--

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥

इसमें चारित्र की अपेक्षा दर्शन पर विशेष जोर दिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शन से च्युत है उसे जीवन के प्रत्येक कार्यसे च्युत समझना चाहिये। वह मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति जो चारित्र से च्युत है सिद्ध हो सकता है पर सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन अनंत शक्तिसम्पन्न आत्मा के विश्वास का केंद्र है। इसके द्वारा प्रत्येक प्राणी आत्मा से जड़ तत्त्वों के पार्थक्य को अनुभव में लाता है। आत्मा में वैसी योग्यताके होने पर सर्वप्रथम यह विश्वास गुरु के निमित्त से प्रस्फुटित होता है। इसके बाद सतत मनन और अनुभव के द्वारा वह दृढ़मूल होने लगता है। सम्यग्दर्शन के विविध लक्षण इस उत्पत्ति क्रमको ध्यान में रखकर ही किये गये हैं। जब हम सात तत्त्वों का निर्णय करते हैं या देव, गुरु और शास्त्र के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते हैं तब हम इस प्रक्रिया द्वारा मात्र अपने स्वरूप पर विश्वास लाते हैं। घूम फिर कर पर से भिन्न आत्मा के पृथक् अस्तित्व और उसके स्वरूप को अनुभव में लाना ही सम्यग्दर्शन है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

आगम में सम्यग्दर्शन के मुख्य दो भेद मिलते हैं—व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन। ये भेद नयदृष्टि से किये गये हैं, तत्त्वतः सम्यग्दर्शन एक है। वह आत्मा का गुण है और पर्याय भी। गुण और पर्याय में अंतर यह है कि गुण अन्वयी होता है और पर्याय व्यतिरेकी। जब तक जीव को स्व-पर-विवेक नहीं होता तब तक वह मिथ्यादर्शन इस नाम से पुकारा जाता है और स्वपरविवेक के होने पर वही सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन यह जीव की स्वाभाविक अवस्था है और मिथ्यादर्शन नैमित्तिक अवस्था है। यद्यपि निमित्त भेद से सम्यग्दर्शन के भी अनेक भेद किये जाते हैं पर उन निमित्तों से मिथ्यादर्शन के निमित्त में अन्तर है। सम्यग्दर्शन के होने में दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम मुख्य रूप से विवक्षित है और मिथ्यादर्शन में दर्शन मोहनीय का उदय लिया गया है।

इस तरह विचार करने पर सम्यग्दर्शन की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इससे जीवन में एक नई क्रान्ति जन्म लेती है। मनुष्य के आचार और विचार में जो अन्तर आता है वह इसी का फल है। स्वर्ग की संपदा इसके सामने न कुछ है। इसके होनेपर मनुष्य नरक के दुख हँसते हँसते भोग लेता है। मोक्ष प्राप्ति का यह सबसे बड़ा प्रमाणपत्र है। ऐसी यह पवित्र निधि है। इसलिये भला इसे कौन नहीं चाहेगा।

सम्यग्ज्ञान

आगम में जो ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहा है। रत्नकरण्डक में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

> *'अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।*
> *निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥'*

जो ज्ञान पदार्थ को न न्यून जानता है, न अधिक जानता है, न विपरीत जानता है किन्तु संदेहरहित होकर याथातथ्य जानता है, आगमज्ञों ने उसे सम्यग्ज्ञान कहा है।

इसमें यद्यपि सम्यग्ज्ञान का स्वतन्त्रभाव से लक्षण किया गया है पर वस्तु का याथातथ्य जानना सम्यग्दर्शन के होनेपर ही सम्भव है, इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है जो सम्यग्दर्शन का सहचारी है।

अधिकतर ऐसा होता है कि इंद्रियों की निर्दोषता और बाह्य कारणों की अनुकूलता न मिलने से वस्तु का न्यूनाधिक ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। व्यक्ति के विषय में यह सन्देह हो जाता है कि यह कौन

व्यक्ति है। कभी सीप को चांदी जान लिया जाता है और कभी उस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान ही नहीं होता, इसलिये यह प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेवाले ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहना कहां तक उचित है। समाधान यह है कि सम्यग्ज्ञान के प्रकरणमें इंद्रिय आदि की सदोषता के कारण जो भ्रम होता है वह विवक्षित नहीं है क्योंकि इससे लौकिक व्यवहार में थोड़ी बहुत बाधा भले ही आती हो पर इससे जगत् के स्वरूप के विषय में भ्रम नहीं होता इसलिये ऐसा जीव सम्यग्ज्ञानी ही है। वह यह जानता है कि मुख्य द्रव्य जाति की अपेक्षा छः हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्त है, काल असंख्यात हैं, धर्म एक है, अधर्म एक है और आकाश एक है। ये स्वतन्त्र और अनन्त शक्तिसंपन्न हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं। सब अपने अपने स्वभावानुसार उत्पाद, व्यय और ध्रुवशील हैं। जीव संसार में अपनी कमजोरीवश भ्रमण कर रहा है। कर्म संसार का कारण है यह निमित्त की प्रधानता से कहा जाता है, वस्तुतः कर्म जीव के संसार का कारण नहीं है।

यह हो सकता है कि इसमें से अधिकतर ज्ञान श्रुताभ्यास का फल हो। किन्तु बहुत से ऐसे भी प्राणी होते हैं जिन्हें न तो श्रुताभ्यास का अवसर मिलता है और न जाति स्मरण ही होता है। उदाहरणार्थ चौथे आदि नरकों में जिस जीव को सम्यग्दर्शन होता है उसे श्रुताभ्यास का कारणभूत बाह्य निमित्त नहीं मिलता और जाति स्मरण सबको होता ही है यह बात भी नहीं है फिर भी उनके सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिये यह विचारणीय हो जाता है कि वस्तुतः सम्यग्ज्ञान की सीमा कितनी है। इसका समाधान यह है कि संभव है कि सबको छह द्रव्यों का पूरा पूरा ज्ञान भले ही न हो पर जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसे अपने स्वतंत्र अस्तित्व तथा बन्ध और मुक्ति के कारणों की प्रतीति अवश्य होती है। वह यह जानता है कि मैं स्वतंत्र होकर भी अपने ही दोष के कारण बन्ध का अनुभव करता हूँ और उस दोष का त्याग होनेपर ही स्वतंत्र हो सकूंगा। अपने आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की प्रतीति सम्यग्ज्ञान की आत्मा है। यह प्रतीति चारों गतियों के सम्यग्दृष्टियों के अवश्य होती है। श्रुताभ्यास से जायमान ज्ञान तो मिथ्यादृष्टियों के भी पाया जाता है। आगम में ऐसे जीव भी मिथ्याज्ञानी बतलाये हैं जो ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक के पाठी होते हैं। श्रुताभ्यास के साथ सम्यज्ञानकी व्याप्ति नहीं है। सम्यग्ज्ञानकी व्याप्ति तो स्वतंत्र भाव से स्वरूपास्तित्व की दृढ़ प्रतीति के साथ है। ऐसी प्रतीति मात्र सम्यग्ज्ञानी के होती है। इसलिये करण और बाह्य साधनों की सदोषता के कारण जो ज्ञान होता है वह मोक्षमार्ग में न तो साधक ही माना गया है और न बाधक ही। मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के अन्तर को बतलानेवाली कसौटी ही भिन्न है। यदि स्वतन्त्र भावसे स्वरूपास्तित्व की दृढ़प्रतीति है तो सम्यग्ज्ञान है और नहीं है तो मिथ्याज्ञान है।

इस तरह सम्यग्ज्ञान का मथितार्थ क्या है इसका विवेक हो जाने पर यह देखना है कि इसके मूल भेद कितने हैं और किस दृष्टि से हैं। तत्त्वार्थसूत्र में पदार्थों के जानने के उपायों का निर्देश करते हुए 'प्रमाणनयैरधिगमः' यह सूत्र आया है। इसमें पदार्थों को जानने के दो उपाय बतलाये हैं– एक प्रमाण और दूसरा नय। इन दोनों की व्याख्या सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत है, क्योंकि ये दोनों सम्यग्ज्ञान के भेद हैं। इनका स्वतंत्र रूप से निर्देश करने का कारण भिन्न है। प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी इसलिये ये दो हैं।

दर्शन और न्याय के ग्रन्थों में प्रमाण की चर्चा प्रमुखता से की जाती है पर वहाँ सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार ज्ञान की यथार्थता पर मुख्य रूपसे जोर दिया जाता है। उस दृष्टि से यदि कोई मनुष्य सीप को चांदी रूपसे जानता है तो वह मिथ्याज्ञान ही माना जायगा। वहां यह विवेक करना कठिन है कि जानने

वाला सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि। वहां तो यह देखा जाता है कि जानने वाले ने जिस वस्तु का नाम लिया है और अपने अभिप्राय से वह जिस वस्तु को बतलाना चाहता है उसका नाम वही है जो उसने कहा है या अन्य। यहां अध्यात्मदृष्टि की प्रधानता न होकर व्यवहार की प्रधानता है, इसलिये न्याय और दर्शन शास्त्र में जो प्रमाण ज्ञान कहा गया है वह सम्यग्ज्ञान भी हो सकता है और मिथ्याज्ञान भी। यदि जाननेवाला सम्यग्दृष्टि है तो उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होगा और जाननेवाला मिथ्यादृष्टि है तो उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को इंद्रिय आदि की सदोषता के कारण उसका अन्य नाम लेने पर भी अन्य अशेष पदार्थों से उसके स्वतन्त्र रूप से पृथक् स्वरूपास्तित्व की प्रतीति होती है और मिथ्यादृष्टि को ऐसी प्रतीति नहीं होती।

एक बार हम कुछ भाइयोंके साथ यात्रा कर रहे थे। मार्ग में कुछ अंतराल से एक गधा घास चर रहा था जो दूर से देखने में घोड़ा सा दिखाई देता था। हम लोगों में इस बात पर विवाद छिड़ गया कि वह गधा है या घोड़ा। एक ने उसे गधा बतलाया और दूसरे ने घोड़ा। तीसरा बोला भाई वह गधा हो या घोड़ा, इससे हमें मतलब नहीं। तत्काल हम तो इतना जानते हैं कि वह अपनी पृथक् सत्ता रखनेवाला एक स्वतन्त्र प्राणी है और स्वतन्त्र भाव से अपनी क्रिया का कर्ता है। मुझे तीसरे की बात सुन कर यह अनुभव हुआ कि सम्यग्ज्ञान इससे भिन्न और क्या हो सकता है। वास्तव में, सम्यग्ज्ञ का सीधा काम स्वपर विवेक कराना है। यह विवेक दो प्रकार से होता है। एक तो समग्र भाव से वस्तु को जान कर होता है और दूसरे प्रत्येक वस्तु का पृथक् पृथक् विश्लेषण करने से होता है इस लिये उसके प्रमाण और नय ये भेद किये जाते हैं। ये दोनों प्रकार के भेद एक मात्र श्रुतज्ञान में सम्भव हैं, क्यों कि श्रुत ज्ञान विकल्पात्मक होता है। अन्य समग्र ज्ञान निर्विकल्पक होने से उनमें प्रमाण भेद ही घटित होता है नय भेद नहीं।

यद्यपि यह सम्यग्ज्ञान आत्मा की निज वस्तु है और वह सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है फिर भी मनुष्य को सतत यह प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिये कि वह अपने ज्ञान का उपयोग विषयकषाय की पुष्टि के लिये न करके आत्म हित के लिये ही करे। जो साहित्य विषय कषाय की पुष्टि करनेवाला है उसके पठन पाठन से बचते रहना इसका परम कर्तव्य है।

जीवन में यह जानने की योग्यता नैसर्गिक है। काच में अन्य पदार्थ को प्रतिबिम्बित करने की योग्यता पारद के निमित्त से आती है। तभी वह दर्पण इस संज्ञा को प्राप्त होता है। पारद के अभाव में वह अन्य पदार्थ को प्रतिबिम्बित करने में असमर्थ है। इस आधार से यह सोचा जाता है कि जीव स्वतन्त्र होने पर मात्र आत्मज्ञ रहता है, तब वह अन्य पदार्थों को नहीं जान सकता। वह अन्य पदार्थों को तभी तक जान सकता है जब तक वह जड़ पदार्थों से सम्बद्ध रहता है। किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि यदि जानना आत्मा का स्वभाव है तो उसे स्वतन्त्र होने पर अन्य पदार्थों के जानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। आत्मस्वरूप की मान्यता को लेकर अन्य दर्शनों से जैन दर्शन में यही अन्तर है कि जहां दूसरे दर्शनों ने किसी भी हालत में ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं माना है वहां जैन दर्शन उसे एक मात्र आत्मा का स्वभाव मानता है इसलिये वह मुक्त अवस्था में आत्मा के समान अन्य पदार्थों को भी जानता रहता है।

सम्यक् चारित्र

पहले हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रसंग से व्यक्ति स्वातन्त्र्य का समर्थन कर आये हैं। हम यह भी बतला आये हैं कि व्यक्ति स्वयं अपनी कमजोरीवश परतन्त्रता का अनुभव करता है। इसकी दशा उस शुक के समान है जो आकाश में उड़ने की शक्ति भूल कर नलिनी को स्वयं पकड़े हुए है और यह मान

रहा है कि इसने मुझे पकड़ रखा है। जीवका कर्म से अनादि कालीन सम्बन्ध है यह सही है पर यह दोष किसका है ? यदि कोई जेल खाने के दुख भोगता है तो क्या यह दोष जेलर का माना जायगा ? वे व्यक्ति जो निर्दोष हैं जेलखाने के अधिकारी नहीं होते। जेल का दुख उन्हीं को भोगना पड़ता है जो सदोष होते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह जीव स्वयं बंधता है और स्वयं ही मुक्त होता है। बांधने छोड़ने वाला कोई अन्य नहीं है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि मोक्ष प्राप्ति का एक साधन सम्यक् चारित्र भी है। यह अन्तिम साधन है। इसके पूर्णता को प्राप्त होने पर जीव नियम से मुक्त होता है। सम्यक् चरित्र का अर्थ है समाचीन आचरण। अब देखना यह है कि यह समाचीन आचरण क्या वस्तु है ? आगम में इसकी विस्तृत चरचा की गई है। वहां लिखा है कि राग द्वेष पर विजय पाना और तदनुकूल आचरण करना ही सम्यक् चारित्र है।

यह तो हम अनेक बार बतला आये हैं कि जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाना है। क्यों कि इसके बिना व्यक्ति स्वातन्त्र्य की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, इस लिये स्वावलम्बन के साधन भूत सम्यक् चारित्र को जीवन में कैसे उतारा जाय इसी की यहां संक्षेप में चरचा करनी है।

स्वावलम्बी बनने के दो मार्ग हैं—एक गृहस्थ धर्म और दूसरा मुनि धर्म। गृहस्थ शनैः शनैः स्वावलम्बी बनने का अभ्यास करता है और मुनि पूर्ण स्वावलम्बी होता है। जीवन शुद्धि का इससे सुन्दरतम कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता है। विश्व में आज जो संघर्ष दिखलाई देता है वह परावलम्बी जीवन की प्रतिक्रियामात्र है। भौतिक साधनों का उपयोग जीवन निर्माण के कार्य में उतना साधक नहीं जितना कि वह बाधक रूप से अनुभव में आता है।

आचार या चारित्र शब्द न केवल क्रिया का पर्याय वाची है और न केवल भावों का ही, किन्तु इस द्वारा दोनों को स्वीकार किया गया है। आत्मनिर्भर बनाने के लिये परिणामों की निर्मलता जितनी अधिक प्रयोजक मानी गई है बाह्य पदार्थों का त्याग उससे कुछ कम प्रयोजक नहीं माना गया है। यदि कोई मनुष्य लंगोटी धारण करता है तो वह उसके विकल्प से रहित नहीं माना जा सकता। चारित्र में बाह्य जनता पर पड़ने वाले प्रभाव की अपेक्षा अपनी ओर विशेष रूप से देखना होता है। जिस व्यक्ति का यह संकल्प होता है कि वह उससे लगे हुए शरीर, वचन और मनको तथा इनके निमित्त से होनेवाले विकारी परिणामों को दूर करके ही दम लेगा ऐसी हालत में वह ऐसा काम कभी नहीं कर सकता जिससे उसके इस परिणति में अन्तर पड़ने की सम्भावना हो। मुख्यतया यही परिणति सम्यक् चारित्र की रीढ़ है।

सम्यक् चारित्र यह मुक्ति की अंतिम सीढ़ी है। इसकी महिमा का गुण गान करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। जिसका जीवन नख से लेकर शिखातक परमुखापेक्षी बना हुआ है वह भला इसके महत्त्व को क्या जाने। धन्य हैं वे साधुचरित महापुरुष जिन्होंने इसे अपने जीवन का केन्द्र बनाया है। हम इस बात का आश्चर्य करते हैं कि कोई व्यक्ति भोजन के बिना अधिक दिन तक जीवित कैसे रहता है। पर हमें आश्चर्य इस बात का होना चाहिये कि हम अनादिकाल से भोजन लेते आ रहे हैं फिर भी जीवित हैं। वस्तुतः भोजन जीवन का आधार नहीं है। जीवन तो प्रत्येक पदार्थ की आत्मा है जो अपनी स्वतन्त्र अवस्था में ही फूल फल सकता है। साधारणतः लोक में जिसे जीवन कहा जाता है उससे व्यक्ति का कार्य सधनेवाला नहीं है। ऐसी परिणति सम्यक् चारित्र की विरोधिनी मानी गई है। सम्यक् चारित्र का अभ्यास ही इसी

लिये किया जाता है कि इसका पूर्ण रूप से त्याग हो जाय। सम्यक् चारित्र यह स्वरूप स्थिति का पर्यायवाची है। इसमें किसी प्रकार की रूढि को स्थान नहीं मिल सकता।

अधिकतर लोग बाह्य प्रवृत्ति को ही सम्यक् चारित्र मानते हैं। बाह्य प्रवृत्ति कुछ आत्मा की परिणति तो है नहीं जिससे उसे सम्यक् चरित्र कहा जाय। वह तो शरीर धर्म है। जिस प्रवृत्ति में आत्मा की मुख्यता रहती है वस्तुतः सम्यक् चरित्र उसे ही कह सकते हैं। किन्तु ऐसी प्रवृत्ति चर्म चक्षुओं से नहीं देखी जा सकती। यह ठीक है कि बाह्य प्रवृत्ति के आधार पर हम आन्तर परिणति का अनुमान करते हैं किन्तु जहां अनुमान से आन्तर परिणति का समर्थन हो वहीं बाह्य प्रवृत्ति को उपचार से सम्यक् चारित्र कहना उचित है, अन्यत्र मात्र बाह्य प्रवृत्ति को देख कर उसका व्यवहार करना छल मात्र है। किसी व्यक्ति में सम्यक् चारित्र का सद्भाव इसी पहलु से स्वीकार किया जा सकता है।

समग्र जैन दर्शन का सार व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्राण प्रतिष्ठा करना रहा है इस लिये सम्यक् चारित्र का विश्लेषण इसी आधार से करके ही उसे प्रयोजक मानना चाहिये यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

श्रावण शुक्ला १५
वी० नि० स० २४७६
ता० २७-८-५०

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

विषयानुक्रम

सरलार्थप्रबोधिनी हिन्दी भाषा

टीका सहित

पञ्चाध्यायी

प्रथम अध्याय

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम्॥ १ ॥

शेषानपि तीर्थकरानन्तसिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान् वन्दे ॥ २ ॥

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमताराातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

मङ्गलाचरण—

अवयव रूप से पांच अध्यायों में विभक्त ग्रन्थराज को आत्मवश होकर बनानेवाले मेरे लिये जिनके वचन पदार्थों का प्रतिभास कराने में मूल कारण हुए उन महावीर स्वामी की मैं (ग्रन्थकार) स्तुति करता हूँ ॥१॥ साथ ही साथ मैं शेष तीर्थंकर और अनन्त सिद्धों को तथा धर्माचार्य, धर्माध्यापक और धर्म-साधु इन तीन प्रकार के मुनीश्वरों को भी नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जो अनादि निधन है, ज्ञानीजनों के द्वारा वन्दनीय है और निर्दोष है ऐसा जैन शासन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशित आगम भी जयवन्त रहे। जो कि कुमतरूपी प्रतिपक्षियों को अग्नि के समान निर्दय होकर भस्म करता है ॥३॥ इस प्रकार पांचों परमेष्ठियों का वन्दनारूप मंगलाचरण सत्कर्म करके अब मैं पञ्चाध्यायी नामक शास्त्र के बनाने की प्रतिज्ञा करता हूँ ॥४॥

(१) प्रवचनसार में सर्व प्रथम भगवान महावीर और शेष तीर्थंकरों को नमस्कार करने के बाद पांच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। मालूम होता है कि इसी क्रमको ध्यानमें रखकर पञ्चाध्यायीकारने मंगलाचरण किया है। अन्तर इतना है कि प्रवचनसारमें जिनशासनको नमस्कार नहीं किया गया है किन्तु पञ्चाध्यायीमें जिनशासनको भी नमस्कार किया गया है।

विशेषार्थ—प्रारम्भ के इन चार पद्यों में पहले मंगलाचरण करके अनन्तर पञ्चाध्यायी ग्रन्थ के बनाने की प्रतिज्ञा की गई है। मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकार ने सर्व प्रथम भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया है। [illegible] उन्होंने [illegible] है [illegible] ही पदार्थों का प्रतिभास कराने में मूल कारण [illegible] पञ्च[illegible] जैसे ग्रन्थराज [illegible] है इसलिये सर्व प्रथम उनकी स्तुति क्रमप्राप्त है। इस समय महावीर स्वामी का तीर्थ चालू है। मालूम होता है कि इस कारण भी प्रारम्भ में महावीर स्वामी की स्तुति की गई है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि ग्रन्थकर्ता अन्य तीर्थंकरों या अन्य परमेष्ठियों को गौण मानते हैं। वे भी उतने ही प्रधान हैं जितने कि भगवान महावीर, इसलिये दूसरे पद्य द्वारा उनकी स्तुति करते हुए यह बतलाया गया है कि भगवान महावीर की स्तुति के साथ ही साथ शेष तीर्थंकर, सिद्ध, धर्माचार्य, धर्माध्यापक और धर्मसाधुओं की भी मैं (ग्रन्थकर्ता) स्तुति करता हूँ।

यहाँ दो बातें खास रूप से ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम बात तो यह कि पांच परमेष्ठियों में अरहंतों को अलग से नमस्कार न करके चौबीस तीर्थंकरों को ही अरहंत माना गया है। यद्यपि अरहन्त यह संज्ञा तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलियों की है। पर आगम में अरहन्त की अन्तरंग और बहिरंग जितनी विशेषताएँ बतलाई हैं वे सबकी सब सामान्य केवलियों के नहीं पाई जातीं इसलिये ग्रन्थकार ने यहाँ प्रमुखता से चौबीस तीर्थंकरों को ही अरहन्त माना है। या चौबीस तीर्थंकर उपलक्षण हैं जिससे अन्य सयोगी और अयोगी जिनों का ग्रहण हो जाता है। दूसरी बात यह है कि आचार्य, अध्यापक और साधु परमेष्ठी की स्तुति करते समय इन तीनों के लिये धर्म विशेषण दिया गया है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि लोक में अनेक प्रकार के आचार्य, अध्यापक और साधु माने गये हैं पर प्रकृत में उन सबसे प्रयोजन नहीं है, किन्तु जो आचार्य उपाध्याय और साधु मोक्षमार्ग में प्रयोजक हैं वे ही यहाँ उपादेय हैं। ज्ञात होता है कि इस बात का खुलासा करने के लिये इन तीनों परमेष्ठियों के लिये धर्म विशेषण दिया गया है।

इस प्रकार पञ्च परमेष्ठियों की स्तुति करके अनन्तर जैन शासन के गुणों का ख्यापन किया गया है और उसे कुमतों के नाश करने के लिये अग्नि की उपमा दी गई है। यहाँ जैन शासन को मुख्यतया तीन विशेषण दिये गये हैं। पहला विशेषण अनादि निधन है। इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि जैन शासन सदा से चलता आया है और सदा काल तक चलता रहेगा। बात यह है कि जैन शासन ने सदा से सत्य का दावा किया है और है भी यह बात सही, इसलिये इसे अनादि निधन मानने में कोई आपत्ति नहीं। दूसरा विशेषण सुबन्ध है। जो वासनाओं से ऊपर उठकर अपना और जग का कल्याण करना चाहते हैं उन्हें जैन शासन की शरण में जाना जरूरी है इसीलिये इसे सुबन्ध कहा है। तीसरा विशेषण अनवद्य है। अनवद्य का अर्थ होता है निर्दोष। इससे यह ख्यापित किया है कि जैन शासन के प्रवर्तक निर्दोष होने से उनके द्वारा प्रवर्तित शासन भी निर्दोष है।

इस प्रकार प्रारम्भ के तीन पद्यों द्वारा पंच परमेष्ठियों की और जैन शासन की स्तुति करके चौथे पद्य द्वारा अपनी इस पञ्च परमेष्ठियों की वन्दना को मंगल रूप सत्कर्म बतलाते हुए पंचाध्यायी ग्रन्थ के रचने की प्रतिज्ञा की गई है। यद्यपि ग्रन्थकार ने वन्दना पंच परमेष्ठी और जैन शासन दोनों की है तथापि इस पद्य में वन्दना को मङ्गल सत्कर्म बतलाते हुए केवल पाँच परमेष्ठियों का ही उल्लेख किया है जैन शासन का नहीं। सो इसका यह कारण प्रतीत होता है कि अरहन्त परमेष्ठी के द्वारा उपदिष्ट और सब परमेष्ठियों के द्वारा आचरित मार्ग ही जैन शासन है, इसलिये पंच परमेष्ठियों का उल्लेख कर देने से जैन शासन का उल्लेख हो ही जाता है। यही सबब है कि इस चौथे पद्य में फिर से जैन शासन पद का उल्लेख नहीं किया है ॥१-४॥

अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥ ५ ॥

सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या ।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथान्यायात् ।
साध्यं वस्त्वविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

ग्रन्थ बनाने में हेतु—

यद्यपि इस पंचाध्यायी ग्रन्थ के रचने में अन्तरंग कारण कवि का विशुद्धतर परिणाम है तो भी उस अन्तरंग कारण का भी कारण सबका उपकार करने वाली सुबुद्धि है ॥५॥

विशेषार्थ लोकोपकार की तरफ झुकनेवाली बुद्धि से परिणामों में उत्तम विशुद्धि आती है और विशुद्धता सम्पन्न प्रतिभा से ग्रन्थ बनाने की शक्ति प्रकट होती है । इसीसे ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ के निर्माण का अन्तरंग कारण अपने अतिविशुद्ध परिणामों को बतलाया है और उन विशुद्ध परिणामों के उत्पन्न होने का कारण सब का उपकार करनेवाली सुबुद्धि बतलाई है ॥ ५ ॥

किस कारण से ग्रन्थकारने आगे कहा जानेवाला क्रम स्वीकार किया है इसका निर्देश—

सभी जीव सुगम उक्ति द्वारा धर्म सुनना चाहते हैं ऐसी विज्ञप्ति के होने पर उनके लिये इस विषय में यह उपक्रम लाभप्रद है ॥ ६ ॥

विशेषार्थः—इस पद्य द्वारा ग्रन्थकार ने दो विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। प्रथम तो यह बतलाया है कि इस ग्रन्थ द्वारा हितकारी वीतराग आत्मधर्म का ही प्रतिपादन किया जायगा। दूसरे यह बतलाया है कि वह सुगम प्रतिपादन शैली द्वारा किया जायगा। इस प्रकार उक्त पद्यद्वारा इन दो बातों की घोषणा करके ग्रन्थकार ने इस पंचाध्यायी ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ा दिया है। इससे प्रत्येक मुमुक्षु आत्म-विश्वास के साथ इसके पठन पाठन में प्रवृत्त होगा यह इस पद्य का भाव है ॥ ६ ॥

विवेचनक्रम का निर्देश—

धर्मी के सद्भाव में ही धर्मों का विचार किया जा सकता है उसके अभाव में नहीं इसलिये प्रथम सामान्य वस्तुको सिद्ध करके तदनन्तर धर्मविशिष्ट वस्तु भी सिद्ध की जायगी ॥ ७ ॥

विशेषार्थ - उक्त पद्यद्वारा ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में जिस क्रम से विषयों का विवेचन किया है उसका निर्देश कर दिया है जो इस प्रकार है—

(१) सामान्य वस्तु का विवेचन ।

(२) विशेष वस्तुओं का विवेचन ।

ग्रन्थकार ने प्रथम और द्वितीय अध्याय में जिस क्रम से विवेचन किया है उसका अवलोकन करने से उक्त अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है ॥ ७ ॥

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम् ।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥ ८ ॥

इत्थं नो चेदसतः प्रादुर्भूतिनिरंकुशा भवति ।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥ ९ ॥

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम् ।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेऽपि ॥ १० ॥

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।
सोऽपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोऽपि परः ॥ ११ ॥

युतसिद्धत्वेऽप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक्प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदः कथं तयोर्भवति ॥ १२ ॥

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोऽपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथञ्चिद् द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात् ॥ १३ ॥

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा ।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥ १४ ॥

तत्त्व का लक्षण और उसमें आनेवाले दोषों का परिहार—

तत्त्व का लक्षण सत है या सन्मात्र ही तत्त्व है। और जिस कारण से वह स्वतःसिद्ध है इसलिये वह अनादि है, अनिधन है, स्वसहाय है और निर्विकल्प अर्थात् अखण्ड है ॥ ८ ॥ अब यदि तत्त्व को उक्त प्रकार का नहीं माना जाता है तो क्रम से ये दोष आते हैं। (१) तत्त्व को अनादि नहीं मानने पर बिना किसी बाधा के असत पदार्थ की उत्पति प्राप्त होती है (२) अनिधन नहीं मानने पर एक पदार्थ की उत्पत्ति अन्य पदार्थ से प्राप्त होती है। (३) स्वतन्त्र नहीं मानने पर युतसिद्ध नामक दोष आता है और (४) निर्विकल्प नहीं मानने पर सत के विनाशका प्रसंग प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ यदि कहा जाय की इन दोषों के प्राप्त होने से क्या बिगड़ता है सो भी बात नहीं है क्यों कि (१) असत की उत्पति मान लेने पर अपने आप अनन्त द्रव्यों की उत्पति प्राप्त होती है और तब मिट्टी आदि के अभाव में भी घट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥ १० ॥ इसी प्रकार (२) एक पदार्थ की उत्पत्ति किसी दूसरे पदार्थ से मानने पर अनवस्था नामका दोष प्राप्त होता है, क्योंकि जिस पदार्थ से विवक्षित वस्तु की सिद्धि मानी जायगी वह पदार्थ भी किसी दूसरे पदार्थ से उत्पन्न होगा और वह दूसरा पदार्थ भी किसी तीसरे पदार्थ से उत्पन्न होगा ॥ ११ ॥ इसी प्रकार (३) वस्तु को युतसिद्ध मानने पर गुण और गुणी के पृथक् पृथक् प्रदेश मानने पड़ेंगे। और इस प्रकार दोनों के स्वतन्त्र सिद्ध हो जाने पर इन दोनों में लक्षण भेद कैसे सिद्ध किया जा सकेगा अर्थात् नहीं किया जा सकेगा ॥ १२ ॥ इसी प्रकार (४) सत का नाश होता है यह पक्ष भी बाधित है क्योंकि ज्ञानी जनों को प्रत्यक्षसे द्रव्य कथंचित नित्य प्रतीत होता है ॥ १३ ॥ यतः तत्त्व को अनादि, अनिधन, स्वसहाय और अखण्ड नहीं मानने पर उक्त दोष आते हैं अतः जो भी व्यक्ति इन दोषों से रहित वस्तु को स्वीकार करना

---

(१) दव्वं सल्लक्खणियं ... निय० गा० १०।

चाहता है उसका कर्तव्य है कि वह प्रारम्भ में पदार्थ का जो निर्दोष लक्षण कहा है उस लक्षणवाला तत्त्व को स्वीकार कर ले ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—विषय विभाग का निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने सर्व प्रथम सामान्य तत्त्व के विवेचन करने की प्रतिज्ञा की थी। तदनुसार ग्रन्थकारने उक्त पद्यों द्वारा सामान्य तत्त्व के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए वैसा नहीं मानने पर जो दोष पैदा होते हैं उनका परिहार किया है।

यहाँ सामान्य तत्त्व का लक्षण सत बतलाया है या सत को ही सामान्य तत्त्वरूप मान लिया है। इन दो शैलियों से पदार्थ का विवेचन करने में खास भेद है। जब कि प्रथम प्रकार कथंचित् भेद का द्योतक है वैसी हालत में दूसरा प्रकार कथंचित् अभेदको सूचित करता है। परब्रह्मवादियों ने सत् को एक और अभिन्न माना है। उनकी यह मान्यता तात्त्विक नहीं है यह बात विवेचन करने की प्रथम शैली से सूचित होती है। और वैशेषकों ने सामान्य नामका सर्वथा स्वतंत्र पदार्थ मान कर सामान्य विशेष में जो सर्वथा भेद की घोषणा की है उनकी वह घोषणा समीचीन नहीं है यह विवेचन करने की दूसरी शैली से मालूम पड़ता है। इस प्रकार सत्स्वरूप या सत लक्षणवाला जो तत्त्व है वह स्वतः सिद्ध है क्योंकि उसका अनादि, अनन्त, स्वसहाय और निर्विकल्प होना अनिवार्य है। स्वतःसिद्ध का अर्थ है कि इसे किसी ने बनाया नहीं, किन्तु सदा से अपने इस स्वरूप के साथ अवस्थित है। किन्तु तत्त्व स्वतःसिद्ध तब बन सकता है जब उसे अनादि आदि रूप मान लिया जाय। यदि इसे अनादि नहीं माना जाता है तो न्यायका यह सिद्धान्त कि असत की उत्पत्ति नहीं होती, नहीं ठहरता। क्योंकि ऐसी हालत में असत की उत्पत्ति संभव होने से अनन्त अकल्पित नये पदार्थों की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है और तब यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं रहती कि मिट्टी के अभाव में भी घट की उत्पत्ति होने लगेगी। किन्तु न तो कभी ऐसा हुआ और न कभी ऐसा हो सकता है इसलिये यही निष्कर्ष निकलता है कि सत्स्वरूप तत्त्व को अनादि मान लेना चाहिये।

अनिधन का अर्थ है विनाश रहित। जैसे नये तत्त्व का उत्पाद नहीं होता वैसे ही लोक में जितने स्वतंत्र तत्त्व हैं उनका विनाश भी नहीं होता। किन्तु पदार्थ को अन्तवाला मान लेने पर संसार की उत्पत्ति पर से माननी पड़ेगी। जिससे इसकी उत्पत्ति मानी जायगी उसकी उत्पत्ति भी किसी अन्य से माननी पड़ेगी जिससे अनवस्था नामक महान् दोष प्राप्त होगा। इस दोष से बचने का एक ही उपाय है कि वस्तु को अनिधन—अन्तरहित मान लिया जाय।

स्वसहाय का अर्थ है आत्मसापेक्ष। ऐसा नियम है कि लोक में जितने तत्त्व हैं वे सब आत्मनिर्भर हैं। उनका अस्तित्व अन्य सापेक्ष नहीं है। किन्तु ऐसा न मान कर यदि उनका अस्तित्व अन्य सापेक्ष माना जाता है तो गुण और गुणी भी जुदे जुदे प्राप्त होते हैं। और इनके सर्वथा स्वतंत्र सिद्ध हो जाने पर यह गुण है और यह गुणी यह भेद कैसे बन सकेगा। यह दोष न आवे अतः प्रत्येक तत्त्व को स्वसहाय मान लेना चाहिये।

निर्विकल्प का अर्थ है अखण्ड। लोक में जितने तत्त्व हैं वे सब सदाकाल यथावस्थित हैं। पुद्गल अनन्तानन्त हैं। जीव इनके अनन्तवें भाग प्रमाण हैं धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक हैं और काल असंख्यात हैं। सदा काल ये इतने ही बने रहते हैं, न्यूनाधिक नहीं होते। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो सत का अभाव प्राप्त होता है। किन्तु सत का कभी अभाव होता नहीं ऐसा न्याय का सिद्धांत है। इसलिये सब तत्त्वों को निर्विकल्प अर्थात अखण्ड मान लेना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार युक्ति और अनुभव से विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि स्वतः सिद्धता यह वस्तु का

किन्त्वेवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरङ्कुशा किन्तु ।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरंकुशा भवतु ।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥ १६ ॥

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोऽपि ।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥ १७ ॥

अत्राप्याह कुदृष्टिर्यदि नयपक्षौ विवक्षितौ भवतः ।
का नः क्षतिर्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥ १८ ॥

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥ १९ ॥

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नानारूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥

प्रमुख गुण है। जगत का व्यवस्थितपना इसी से बन सकता है अन्य प्रकार से नहीं। इससे उसकी अनादिता, अनन्तता, स्वसहायता और अखण्डता भलेप्रकार सिद्ध हो जाती है। किन्तु स्वतः सिद्ध न मानने पर उक्त चार गुणों के स्थान में असत की उत्पत्ति, पर से उत्पत्ति, युतसिद्धत्व और सत का विनाश ये चार महान दूषण आते हैं। किन्तु इनका प्राप्त होना इष्ट नहीं, अतः उक्त जिन धर्मोंवाला पदार्थ माना गया है वह वैसा ही है ऐसा निश्चित होता है ॥ ८-१४ ॥

सत्ता का स्वरूप निर्देश—

जिस सत्ता का पहले निर्देश किया है वह सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। किन्तु अपने प्रतिपक्षी की अपेक्षा सापेक्ष है अन्य की अपेक्षा नहीं ॥१५॥

शंका—यहाँ किसी का ऐसा कहना है कि सत्ता नाम का जो पदार्थ है वह निरपेक्ष ही होना चाहिये, क्योंकि वह पर पक्ष की अपेक्षा किये बिना केवल अपने पक्ष का अवलम्बन लेकर ही स्थित है?

समाधान—किन्तु उसका ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सत्ता का विपक्ष और सपक्ष ये दोनों ही नयपक्ष हैं और ये दोनों परस्पर विवक्षा भेद से विपक्ष रूप हैं ॥१७॥

शंका—इस पर फिर किसी अज्ञानी का कहना है कि यदि यहाँ नयपक्ष विवक्षित हैं तो रहे आवें इससे हमारी क्या हानि है? कुछ भी नहीं, किन्तु हमारा कहना इतना ही है कि प्रकृत में सत्ता की सिद्धि किसी एक से हो जानी चाहिये?

समाधान—पर उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्याय उभयरूप है या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकरूप उभय नय का विषय है इनमें से किसी एक का लोप करने पर शेष के लोपरूप दोष का प्रसंग प्राप्त होता है ॥१९॥ खुलासा इस प्रकार है—

सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है। इसी प्रकार एकरूपता का प्रतिपक्ष नानारूपता है ॥२०॥ एक पदार्थस्थिति

एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम् ।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥

एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

एकस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च ।
भेदनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥ २३ ॥

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये ।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवाङ्गुलिवितस्तिहस्तादिः ॥ २४ ॥

सर्व पदार्थस्थिति का विपक्ष है। ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश की अपेक्षा त्रिलक्षणात्मक सत्ता का प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव है ॥२१॥ एक का प्रतिपक्ष यह अनेक है और इसी प्रकार अनन्त पर्यायात्मकता का प्रतिपक्ष एक पर्यायरूपता है ॥२२॥

विशेषार्थ— यहां सत्ता के स्वरूप का मार्मिक शब्दों में निर्देश किया गया है। भगवान कुन्दकुन्द ने इसकी चर्चा पंचास्तिकाय में की है। वहां बतलाया है कि सत्ता एक है, सब पदार्थों में स्थित है, विश्वरूप है, अनन्त पर्यायात्मक है और उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वभाव है। वह यद्यपि ऐसी है तो भी सर्वथा निरपेक्ष नहीं है किन्तु विपक्ष सहित है। सत्ता का विपक्ष असत्ता है। एक का विपक्ष अनेक है। सब पदार्थों में स्थित है इसका विपक्ष एकपदार्थ स्थिति है। विश्वरूपत्व का विपक्ष एकरूपत्व है। अनन्त पर्यायात्मकता का विपक्ष एक पर्यायात्मकता है और उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा त्रिलक्षणात्मकता का विपक्ष त्रिलक्षणाभाव है।

कुन्दकुन्द भगवान ने एक गाथा में जो कुछ कहा है वही यहां २०, २१ और २२ क्रमांक वाले तीन श्लोकों में दरसाया गया है।

पदार्थों में स्वरूप का अवबोधक अन्वयरूप जो धर्म पाया जाता है उसे सत्ता कहते हैं। यह अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव के द्वारा नाना पदार्थों में व्याप्त होकर रहती है इसलिये नाना रूप है। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जो सत्स्वरूप न हो, इसलिये सर्वपदार्थस्थित है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव होने से त्रिलक्षणात्मक है। सब पदार्थों में अन्वयरूप से पाई जाती है इसलिये एक है और अनन्त पर्यायों का आधार है इसलिये अनन्तपर्यायात्मक है। यद्यपि सत्ता का स्वरूप उक्त प्रकार का है तो भी यह केवल अन्वय रूप से ही विचार करने पर प्राप्त होता है। व्यतिरेक रूप से विचार करने पर तो इसकी स्थिति ठीक इससे उलटी हो जाती है। इसी से इसे उक्त कथन के प्रतिपक्षवाला भी बतलाया गया है। आशय यह है कि वस्तु न सामान्यात्मक ही है और न विशेषात्मक ही किन्तु उभयात्मक है। जिसकी सिद्धि विवक्षाभेद से होती है। नयपक्ष यह विवक्षाभेद का ही पर्यायवाची है। इससे सामान्य विशेषरूप से उभयात्मक वस्तु की सिद्धि होती है, क्योंकि वस्तु न केवल सामान्यात्मक ही है और न केवल विशेषात्मक ही। इसी से सत्ता को जहां सर्वपदार्थस्थित आदि रूप कहा है वहां उसे एक पदार्थ स्थित आदिरूप भी बतलाया है ॥१५-२२॥

द्रव्य में अंश विभाग का सकारण निर्देश—

शंका—जब कि वस्तु एक, अनादिनिधन और निर्विकल्प है तब फिर उसमें भेद का क्या कारण है जिससे कि उक्त कथन सुसंगत समझा जाय?

समाधान—जिस प्रकार आकाश में विस्तार के अनुसार एक अंगुल, एक बिलस्त और एक हाथ

प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोऽप्यनन्ताश्च ।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥ २५ ॥

पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥ २६ ॥

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि ।
को दोषो यद्भीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥ २७ ॥

देशाभाव नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेऽपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयस्तस्य साधकाभावात् ।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥ २९ ॥

किञ्चैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोऽनुमीयेत ।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्त्वममहत्त्वम् ॥ ३० ॥

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंशदेशांशाः ।
तल्लक्षणयोगादप्यणुवद्द्रव्याणि सन्तु तानन्ति ॥ ३१ ॥

आदिरूप से अंश विभाग किया जाता है उसी प्रकार जो द्रव्य अखण्ड प्रदेशी और बड़ा है उसमें भी विस्तार के अनुसार अंश विभाग किया जाता है और इस विभाग के अनुसार द्रव्य में पहला, दूसरा इत्यादि रूप से असंख्यात या उससे भी आगे जाकर अनन्तरूप जितने निरंश अंश प्राप्त होते हैं उतने वे द्रव्यपर्याय माने जाते हैं, क्योंकि द्रव्य में जो अंशकल्पना की जाती है वह पर्यायधर्म के अनुसार ही की जाती है। इसलिये पहले जो कुछ कथन कर आये हैं वह सब निर्दोष है और प्रमाण से (युक्ति से) भी सुसंगत है यह सिद्ध होता है ॥२३-२६॥

शंका—इस विभाग के बिना जो द्रव्य को एक अखण्ड ही भले प्रकार अनुभव कर रहा है उसके सामने ऐसा कौनसा दोष है जिसके भय से उक्त व्यवस्था ही समीचीन मानी जाती है ?

समाधान—बात यह है कि यदि देश नहीं माना जाता है तो द्रव्य का अस्तित्व ही अनुभव में नहीं आ सकता है और देशांश के नहीं माननें पर सब द्रव्य एक देशमात्र प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ यदि कहा जाय कि वस्तु का अभाव होता है तो हो जाओ सो ऐसा कहना भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि वस्तु के अभाव का साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। और इसी प्रकार वस्तु को एकांशमात्र मानने में भी कोई लाभ नहीं है, क्यों कि ऐसा मानने पर बड़े भारी आकाश की प्रतीति नहीं बनेगी वह एकांशमात्र प्राप्त हो जायगा ॥ २९ ॥ दूसरे यह अंश कल्पना इसलिये सार्थक है क्योंकि इससे यह द्रव्य कायवान् है यह कायवान् नहीं है, यह छोटा है और यह बड़ा है इसका अनुमान हो जाता है ॥ ३० ॥

शंका—तब फिर ऐसा ही मान लिया जाय कि जितने भी निरंश देशांश हैं उनमें द्रव्यका लक्षण घटित होने से परमाणु के समान वे भी स्वतन्त्र द्रव्य हो जांय ?

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥
प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य।
एकत्र तत्र देशे भवितुंशीलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥
तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥
प्रथमेतरपक्षे खलु यः परिणामः सः सर्वदेशेषु।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥
एकप्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यतः स्वतःसिद्धः ॥ ३६ ॥
न स्याद् द्रव्यं क्वचिदपि बहुप्रदेशेषु खण्डितो देशः।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥ ३७ ॥

समाधान—यह बात नहीं है, क्यों कि खण्ड खण्ड एकदेश वस्तु के मानने में और अखण्डित अनेकदेश वस्तु के मानने में परिणमन सम्बन्धी बड़ा भारी अन्तर है जो प्रत्यक्षगम्य है ॥ ३१-३२ ॥ यदि खण्ड खण्ड एक देशरूप वस्तु मानी जाती है तो उसका जो गुणात्मक परिणमन होगा वह केवल एक देश में ही हो सकेगा सबदेश में नहीं ॥३३॥ किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्यों कि देह के एकदेश में किसी विषय का स्पर्श होने से शरीर भर में उसका इन्द्रियजन्य ज्ञान पाया जाता है, इसलिये गुणों के परिणमन को खण्डैकदेशगत मानना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है ॥३४॥ हां अखण्डित अनेकदेश वस्तुरूप दूसरा पक्ष मानने पर जो गुणात्मक परिणमन होगा वह अवश्य ही सब देश में होगा इस लिये वह ठीक है, क्यों कि हम देखते हैं कि बांस को ताड़ित करने पर उसकी सब पोरें हिल उठती हैं ॥३५॥ इस प्रकार यद्यपि अखण्डित अनेकदेश वस्तु का समर्थन हो जाता है तो भी सब वस्तुएं ऐसी ही नहीं है किन्तु कोई कोई वस्तु एक प्रदेश-वाली भी है। जैसे कि खण्डवर्जित स्वतन्त्र पुद्गल परमाणु और स्वतःसिद्ध कालाणु ॥३६॥ इससे ज्ञात होता है कि कहीं भी बहुत प्रदेशों को खण्डित करके एक अंशरूप द्रव्य नहीं हो सकता है, क्यों कि सर्वत्र 'यह भी द्रव्य है' इस प्रकार का प्रत्यय होने से द्रव्य अखण्डित अनेक प्रदेशवाला सिद्ध होता है ॥३७॥

विशेषार्थ—पहले यह बतलाया जा चुका है कि केवल सत्ता ही नहीं है किन्तु उसकी प्रतिपक्षभूत असत्ता भी है। इस पर जो द्रव्य को एक और निर्विकल्प मानता है उसके द्वारा इस भेद का कारण पूछा जाने पर ग्रन्थकार ने यह उत्तर दिया कि जैसे आकाश एक, अखण्ड और महान् है तो भी उसमें एक अंगुल, एक विलस्त, एक हाथ, एक धनुष एक कोप, एक योजना इत्यादि रूप से विभाग किया जाता है वैसे ही बहुप्रदेशी द्रव्यों में विस्तार के अनुसार खण्डकल्पना की जाती है और इस प्रकार जिस द्रव्य में एक दो, संख्यात, असंख्यात और अनन्त आदि जितने प्रदेश सम्भव होते हैं उतने हो वे द्रव्य पर्याय माने जाते हैं। अखण्ड एक वस्तु में खण्ड कल्पना की गई इसलिये तो ये पर्याय कहलाते हैं और विभाग शक्त्यंशों की अपेक्षा न किया जाकर प्रदेशों की अपेक्षा से किया गया है इसलिये ये द्रव्यपर्याय कहलाते हैं। इस हिसाब से धर्म, अधर्म और एक जीव में असंख्यात प्रदेश प्राप्त होते हैं। आकाश में अनन्त प्रदेश प्राप्त होते हैं

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः ।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥ ३८ ॥

तेषामात्मा देशो न हि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
न हि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥ ३९ ॥

और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश प्राप्त होते हैं। पर इस व्यवस्था से सर्वथा एक द्रव्यवादी संतुष्ट न किया जा सका, इसलिये वह पुनः पूछता है कि ऐसा कौनसा अलंध्य दोष है जिस दोष के दूर करने के लिये यह विभाग किया जाता है। इस पर ग्रन्थकारने जो उत्तर दिया उसका आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य है क्यों कि इसके बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं ज्ञात हो सकता है और वह आकार अनेक हिस्सों में बटा हुआ है क्यों कि ऐसा न मानने पर सब द्रव्य एक प्रदेशमात्र प्राप्त हो जायगे। यह कायवान् द्रव्य है, यह अकायवान द्रव्य है। या यह द्रव्य इस द्रव्य से बड़ा है, यह छोटा है इस प्रकार जो विविध विभाग दिखाई देते हैं उन विभागों का कारण भी यह अंशकल्पना ही है। इस प्रकार यद्यपि द्रव्य में प्रदेश विभाग किया जाता है तो भी यह विभाग खण्ड खण्ड नहीं है किन्तु प्रत्येक द्रव्य अखण्डित अनेक प्रदेशवाला है। द्रव्य के खण्डों को स्वतंत्र मानने पर प्रत्यक्ष से बाधा आती है। उदाहरणार्थ स्पर्श हाथ से किया जाता है पर उसका ज्ञान समस्त शरीर में होता है। इससे खण्डों को पृथक् पृथक् मानने की कल्पना का निरास होकर अखण्डित अनेक देशवाली वस्तु की सिद्धि हो जाती है। बांस के दृष्टान्त से भी अखण्डित अनेक देशवाली वस्तु की सिद्धि की जा सकती है। देखते हैं कि ठोकर तो बांस के किसी एक हिस्से में मारी जाती है पर इससे सारा बांस हिल उठता है। क्या यह दृष्टान्त अखण्डित अनेक देशवाली वस्तु के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है? अर्थात् अवश्य है पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि अणुमात्र कोई द्रव्य ही नहीं है। ऐसे भी द्रव्य हैं जो अणुमात्र हैं और जो स्वयं एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र हैं कालाणु और पुद्गल परमाणु इसके दृष्टान्त हैं। इस प्रकार उक्त विवेचन से दो बातें निष्पन्न होती हैं—

(१) या तो द्रव्य अखण्डित अनेक प्रदेशवाले हैं।

(२) या अखण्डित एकदेशवाले।

(१) अखण्डित अनेक देशवाला द्रव्य तो इसलिये है कि द्रव्य के किसी एक हिस्से में क्रिया की जाती है पर उसका परिणाम समस्त द्रव्य में देखा जाता है।

(२) तथा अखण्डित एक देशवाला द्रव्य इस लिये है कि जैसे द्व्यणुक आदि स्कन्धों का विभाग किया जा सकता है वैसे अणुका विभाग करना सम्भव नहीं है।

अखण्डित अनेक देशवाले द्रव्य चार हैं—जीव, धर्म, अधर्म और आकाश। इसी प्रकार पुद्गल स्कन्ध भी उपचार से अखण्डित अनेक देशवाला माना गया है। पुद्गल स्कन्ध अपनी बद्ध दशा में अनेक देश वाला होकर भी अखण्ड होता है इस लिये तो उसे अखण्ड अनेक देशवाला माना है किन्तु वस्तुतः एक स्कन्ध में जितने परमाणु हैं वे जुदे जुदे हैं इस लिये उसे अखण्ड अनेक देशवाला कहना औपचारिक माना गया है। तथा अखण्डित एकदेशवाले द्रव्य दो हैं पुद्गलाणु और कालाणु ॥ २३-३७ ॥

द्रव्य और उनके गुणों का विचार—

इस प्रकार पहले जो प्रदेश सिद्ध कर आये हैं वे सब मिलकर अपने विशेषों के साथ द्रव्य कहलाते हैं और जितने भी विशेष होते हैं वे सब गुण कहे जाते हैं ॥ ३८ ॥ उन गुणोंका आत्मा ही द्रव्य है क्योंकि वे द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जाते हैं। देश में विशेष रहते हैं ऐसा बात नहीं है किन्तु विशेषों से ही देश

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
न हि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०॥

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद् द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥४१॥

नैवं हि सर्वसंकरदोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥४२॥

अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तरेण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥४३॥

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेऽपि ।
कथमिव गुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥४४॥

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परिणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥४५॥

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निबन्धनं त्विति चेत् ॥४६॥

वैसा—तन्मय हो रहा है ॥३९॥ इस विषय में दृष्टान्त यह है कि शुक्लादि गुणों का यह शरीर ही तन्तु है। तन्तु में शुक्लादि गुण रहते हैं यह बात नहीं है किन्तु शुक्लादि गुणों से तन्तु ही वैसा—तन्मय हो रहा है ॥४०॥

शंका—देश भिन्न हैं और देश के आश्रय से रहनेवाले विशेष भिन्न हैं। किन्तु जैसे दण्ड के संयोग से दण्डी यह व्यपदेश होता है वैसे ही गुणों के संयोग से द्रव्य कहलाता है ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वसंकर दोष आता है और जिसके लिये यह दृष्टान्त मौजूद है कि चेतन के योग से अचेतन भी चेतन क्यों नहीं हो जाता ॥४२॥ अथवा द्रव्य में गुणों का संयोग होने के पहले गुणों के अभाव में द्रव्य के प्रदेशों की सत्ता कैसे जानी जायगी और प्रदेशों के बिना गुणों का लक्षण ही कैसे जाना जा सकेगा। अर्थात् नहीं जाना जा सकेगा ॥४३॥ इस पर भी यदि हठ से या बिना किसी युक्ति से द्रव्य और गुण इन दोनों को पृथक् पृथक् माना जाता है तो दोनों समान सत्तावाले होने से उनमें गुणगुणीभाव कैसे घटित हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है ॥ ४४ ॥ इसलिये यह कथन निर्दोष प्रतीत होता है कि जो स्वयं विशेष रहित हैं ऐसे द्रव्य के विशेष ही गुण कहलाते हैं और वे प्रतिक्षण कथंचित् परिणमनशील हैं ॥४५॥

शंका—गुण और गुणी अभिन्न हैं इसलिये इनकी एकता सिद्ध की जाती है किन्तु वह एकत्व भी द्वैत के समान प्रतीत होता है सो इस प्रतीति का क्या कारण है?

यत् किञ्चिदस्ति वस्तु स्वतःस्वभावे स्थितं स्वभावश्च।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥४७॥

शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥४८॥

देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥४९॥

समाधान—जो भी कोई वस्तु है यद्यपि वह स्वयं अपने अपने स्वभाव में स्थित है किन्तु अपनी अपनी वस्तु को न छोड़कर रहनेवाला वह स्वभाव ही विवक्षित होकर भेद का कर्ता हो जाता है ॥४६-४७॥

शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। अर्थात् ये सब विशेष या गुण के पर्यायवाची नाम हैं ॥४८॥

विशेषार्थ—यहाँ सर्वप्रथम गुणों का स्वरूप और इनका द्रव्य के साथ क्या सम्बन्ध है इसका विचार करते हुए बतलाया है कि द्रव्य के प्रत्येक प्रदेशगत जो विशेष या शक्त्यंश हैं वे ही गुण हैं और अपने अपने विशेष सहित वे प्रदेश ही द्रव्य हैं। यदि द्रव्य को इन गुणों का आत्मा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि इनकी द्रव्य से पृथक् सत्ता नहीं पाई जाती। द्रव्य में गुण रहते हैं यह कहने की अपेक्षा गुणों से द्रव्य तन्मय हो रहा है यह कहना अधिक युक्तियुक्त है। दृष्टान्त से भी इसी बात की पुष्टि होती है। शुक्लादि गुण और तन्तु ये सर्वथा दो वस्तुएँ नहीं हैं। वास्तव में देखा जाय तो शुक्लादि गुणों का शरीर ही तन्तु है। तन्तु में शुक्लादि गुण वास करते हैं यह कहना युक्त नहीं किन्तु शुक्लादि गुणों से तन्तु तन्मय हो रहा है यह कहना अधिक युक्तियुक्त है। इस प्रकार यद्यपि द्रव्य और गुण इनमें कथंचित् अभेद सिद्ध होता है। किन्तु सर्वथा भेदवादी वैशेषिकों का इस विषय में यह मन्तव्य है कि द्रव्य भिन्न है और गुण भिन्न हैं। तथापि जैसे दंड के संयोग से पुरुष दण्डी कहलाता है वैसे ही गुणों का द्रव्य में समवाय सम्बन्ध हो रहा है, इसलिए गुणों को द्रव्य से कथंचित् अभिन्न मानना मयुक्तिक नहीं है। पर विचार करने पर उनकी यह मान्यता समीचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने से एक तो सर्वसंकर दोष प्राप्त होता है। एक में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों की प्राप्ति होना ही संकर है। जब कि गुणको स्वतंत्र और द्रव्य को स्वतंत्र माना जाकर इनका समवाय सम्बन्ध माना जाता है तो जैसे चेतन का समवाय आत्मा में माना जाता है वैसे ही वह अचेतन पदार्थों में भी प्राप्त होता है। दूसरे समवाय सम्बन्ध होने के पहले न तो द्रव्य का कोई स्वरूप प्राप्त होता है और न गुण ही बिना आधार के रह सकते हैं। तीसरे जब द्रव्य और गुण स्वतंत्र हैं तो इनमें यह गुण है और यह गुणी यह बात भी नहीं बनती है। यतः द्रव्य और गुण को अलग अलग मानने से उपर्युक्त दोष आते हैं अतः इनमें सर्वथा भेद मानना ठीक नहीं। इस प्रकार यद्यपि द्रव्य और गुणों में अभेद सिद्ध होता है तो भी यह अभेद कथंचित् भेद का अविनाभावी है। क्योंकि इसके बिना स्वभाव और स्वभाववान यह विकल्प ही नहीं बनता है ॥ ३८-४८ ॥

प्रत्येक द्रव्य में सम्भव गुणों का विचार—

प्रत्येक द्रव्यकी जो कोई एक शक्ति है वह अन्य शक्तिरूप नहीं हो सकती। इस प्रकार क्रमसे विचार करने पर प्रत्येक द्रव्य में स्पष्ट रूप से अनन्त शक्तियां प्राप्त होती हैं ॥४९॥ जैसे कि आम्रफल में

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्ते भवन्त्यनेकेऽपि ॥ ५० ॥

तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ॥ ५१ ॥

एवं यः कोऽपि गुणः सोऽपि च नः यात्तदन्यरूपो वा।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ॥ ५२ ॥

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥ ५३ ॥

दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वासस्ततोऽपि शुक्लतरम्।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥ ५४ ॥

अथ वा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोऽप्यखण्डोऽपि।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोऽप्यनेकः स्यात् ॥ ५५ ॥

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों गुण यद्यपि युगपत् पाये जाते हैं तो भी प्रतिनियत इन्द्रिय के विषय होने के कारण वे अनेक भी हैं ॥५०॥ इसी प्रकार यह भी इसका उदाहरण हो सकता है कि जीव में जो एक दर्शन नाम का गुण है वह न तो ज्ञान है, न सुख है, न चारित्र है और न कोई अन्य गुण ही है किन्तु वह दर्शन ही है ॥५१॥ इसी प्रकार द्रव्य का जो कोई गुण है वह भी उससे भिन्न अन्य गुणस्वरूप नहीं हो सकता है, इसलिये परस्पर भिन्न रहनेवाले ये अनन्त गुण स्वयं प्रतिभासित होते हैं ॥५२॥

विशेषार्थ—यहां प्रत्येक द्रव्य में कितने गुण होते हैं इसका विचार किया गया है। ग्रन्थकार का कहना है और है भी बात ऐसी ही कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं और वे सब सदा ही दूसरे से जुदे जुदे रहते हैं। आम में पीला रंग, मृदु स्पर्श, मीठा रस और उत्तम गन्ध ये सब एक ही समय में पाये जाते हैं। पर स्पर्शन इन्द्रिय का जो विषय है वह रसना या अन्य इन्द्रिय का नहीं और रसना का जो विषय है वह स्पर्शनादि अन्य इन्द्रियों का नहीं। इससे ज्ञात होता है कि वे सब स्पर्शादि एक साथ एक द्रव्य में रहते हुए भी जुदे जुदे हैं। इसी प्रकार आत्मा या अन्य द्रव्य में जितने भी गुण पाये जाते हैं वे सबके सब जुदे जुदे हैं। आत्मा का दर्शन गुण न तो ज्ञान रूप हो सकता है और न सुख आदि अन्य गुणरूप ही हो सकता है। इसी प्रकार अन्य गुणों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। इस प्रकार विश्लेषण करके विचार करने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक द्रव्य में अनुभव से अनन्त गुणों की सिद्धि होती है ॥ ४९-५२ ॥

गुणांशों का विचार—

उन अनन्त शक्तियों में से किसी भी एक शक्ति के अनन्त निरंश अंश होते हैं, क्योंकि प्रत्येक गुण में जो तरतमभाव देखा जाता है और इससे जो अंशच्छेद प्राप्त होते हैं इससे ऐसा ही अनुभव में आता है ॥ ५३ ॥ उदाहरणार्थ—कोई वस्त्र सफेद होता है, कोई वस्त्र उससे भी अधिक सफेद होता है। और इस प्रकार जितने अंश प्राप्त होते हैं वे सब एक शुक्ल गुण के अंश हैं ॥ ५४ ॥ अथवा ज्ञान यह जीवमात्र का एक और अखण्ड गुण है तो भी उसके सबसे जघन्य अविभाग प्रतिच्छेदों के द्वारा कल्पना से खण्ड करने पर

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद् गुणांशस्य ।
विष्कम्भस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः ॥ ५६ ॥

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योऽपि च तदर्धछेदेन ॥ ५७ ॥

एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेत्तुमशक्यो यः कोऽपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥ ५८ ॥

तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति न हि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ॥ ५९ ॥

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्च्छेदो भङ्गः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥ ६० ॥

वह अनेक रूप प्रतीत होता है ॥ ५५ ॥ फिर भी जैसे देश का छेद होता है। वैसे गुण का छेद नहीं होता, क्योंकि जैसे विष्कम्भ के विभाग से देश स्थूल होता है वैसे गुण या गुणांश स्थूल नहीं होता ॥ ५६ ॥ इस विभाग क्रम का उपदेश इस प्रकार है कि यद्यपि गुण स्वभाव से प्रवाहरूप है तथापि उसे अर्धच्छेद रूप से छेदना चाहिये और इस प्रकार जो एक अर्ध भाग प्राप्त हो उसे पुनः अर्धच्छेद रूप से छेदना चाहिये ॥ ५७ ॥ इस प्रकार पुनः पुनः उत्तरोत्तर प्राप्त हुए अर्धच्छेदों द्वारा तब तक विभाजित करते जाना चाहिये जब तक कि वह फिर से छेदा न जा सके और इस प्रकार जो कोई भी निरंश गुणांश प्राप्त होता है उस गुणांश से गिनती करने पर वे सब गुणांश अनन्त होते हैं और उनका आत्मा ही गुण है, क्योंकि वे गुण से जुदे नहीं है ॥५८-५९॥ इनके अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग ये सब शब्द एकार्थवाचक हैं ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—अब तक द्रव्य और उसके प्रदेशों का तथा प्रत्येक द्रव्य में व्याप्त कर रहनेवाले गुणों का विचार किया। अब यहाँ यह देखना है कि क्या प्रत्येक गुण सर्वथा एक है या उसमें भी किसी अपेक्षा से विभाग किया जा सकता है। हम देखते हैं कि बकरी के दूध में स्निग्ध गुण कम होता है। गाय के दूध में इससे अधिक स्निग्ध गुण होता है और इससे भी अधिक स्निग्ध गुण भैंस के दूध में होता है। इससे इतना तो पता लग ही जाता है कि प्रत्येक गुण में तरतमभाव पाया जाता है। पर यह तरतमभाव अकारण तो हो नहीं सकता है। किन्तु इसका कारण अवश्य होना चाहिये और जो इसका कारण है उसे ही गुणांश कहते हैं। जिनकी न्यूनाधिकता के कारण वह गुण भी वैसा ही प्रतीत होने लगता है। विभिन्न वस्त्रों की सफेदी की तरतमता भी इसकी साक्षी है। वर्तमान काल में एक शक्तिमापक यंत्र चला है जिससे शक्ति की न्यूनाधिकता का पता लगाया जाता है। यह इञ्जन दस अश्वशक्तिका है और यह पन्द्रह अश्वशक्ति का यह इसी से जाना जाता है। इससे यद्यपि यह ज्ञात हो जाता है कि प्रत्येक गुण में गुणांश होते हैं पर यह जानना शेष है कि एक गुणांश का कितना परिमाण है, उसके लाने का क्रम क्या है और प्रत्येक गुण में वे कितने पाये जा सकते हैं। गुणांश कोई द्रव्य तो है नहीं जिससे उसका परिमाण वजनद्वारा या प्रदेशों की गणनाद्वारा किया जा सके। वह तो शक्त्यंश है इसलिये हमें इससे शक्ति का वह सबसे छोटा अंश लेना चाहिये जिसका पुनः विभाग न किया जा सके। यह तो गुणांशका परिमाण हुआ। किन्तु इसे प्राप्त करने का सरल तरीका यह है कि—एक शक्ति लो और बुद्धि द्वारा उसके दो हिस्से करो। पुनः एक हिस्से को छोड़ दो और शेष बचे हुए एक हिस्से के दो हिस्से करो। इस प्रकार उत्तरोत्तर तब तक हिस्से करते जाओ

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नापि ।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥ ६१ ॥

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि ।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥ ६३ ॥

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात् ।
एकेनैव कृतं यत्स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥ ६४ ॥

तन्नैवं फलवत्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्वात् ॥ ६५ ॥

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ६६ ॥

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोऽपि यथा ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥ ६७ ॥

जब तक ऐसा करना सम्भव हो। इस क्रम से अन्त में एक अविभागी शक्त्यंश प्राप्त होगा। अब यदि इसके अनुसार गिनती की जाती है तो प्रत्येक गुण में अनन्त शक्त्यंश प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक गुण अनन्त भागों में बट जाता है परन्तु वह गुण ही उन शक्त्यंशों की आत्मा है क्योंकि गुण से उन्हें जुदा नहीं किया जा सकता है। यह उपर्युक्त कथन का सार है ॥५०-६०॥

अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय का खुलासा करते हुए गुण, गुणांश और द्रव्य द्रव्यांश विषयक अन्य आपत्तियों का निराकरण—

इस प्रकार गुण में जो गुणांश होते हैं वे ही नाम से गुण पर्याय कहलाते हैं और ऐसा कथन करना कोई विरोध को भी नहीं प्राप्त होता, क्योंकि प्रकृत में गुण पर्यायों को अंशरूप स्वीकार किया गया है ॥ ६१ ॥ अर्थ और गुण ये एकार्थवाची होने से कितने ही विद्वान प्रकृत में गुण पर्यायों को अर्थपर्याय भी कहते हैं ॥ ६२ ॥ और इसी प्रकार कितने ही विद्वान् जिन्हें पहले देशांशों की अपेक्षा द्रव्यपर्याय कह आये हैं उन्हें व्यञ्जनपर्याय भी कहते हैं ॥ ६३ ॥

शंका—पिष्टपेषण न्याय के अनुसार यह सब कथन करना व्यर्थ है, क्योंकि किसी एक के मानने से ही काम चल जाता है जैसे कि चाहे गुण मान लो या चाहे गुणांश मान लो?

समाधान—किन्तु इस प्रकार का कथन करना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अवस्थित रूप से और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनवस्थित रूप से वस्तु अनुभव में आती है इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से कथन करना सार्थक है ॥ ६५ ॥ जैसे कि वस्त्र परिणमन शील होता हुआ भी शुक्लादिरूप से अवस्थित है और शुक्लगुण के तरतमरूप अंशों की अपेक्षा से अनवस्थित है ॥ ६६ ॥ और भी जैसे कि आत्मा परिणमन शील होता हुआ भी ज्ञान गुणरूप से अवस्थित है और ज्ञानगुण के तरतमरूप अंशों के कारण अनवस्थित है ॥ ६७ ॥

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद् द्रव्यम् ।
यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत्क्षणिकम् ॥ ६८ ॥

अथ चेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः ।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥ ६९ ॥

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोऽप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

यदि उक्त कथानुसार वस्तु को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अवस्थित और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनवस्थित नहीं माना जाता है और इसके विपरीत तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि या तो द्रव्य गुणांशों के समान निरंश है, अथवा परिणामी न होकर कीलक के समान नित्य है, अथवा क्षणिक है, अथवा अनन्त निरंश अंश तो हैं पर उनका तारतमरूप परिणमन न होकर समान परिणमन होता है ॥ ६८-६९ ॥ सो इन चारों बातों का मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो ऐसा मानना प्रत्यक्ष से बाधित है, दूसरे उनका साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है और साधक प्रमाण का अभाव इसलिये है कि जहाँ साध्य साधन की व्याप्ति विषयक सन्देह का निवारण किया जाय ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है ॥ ७० ॥

विशेषार्थ—सर्व प्रथम यहाँ गुण पर्याय और द्रव्य पर्याय के पर्यायवाची नाम और उनकी सार्थकता बतलाई गई है। गुण और अर्थ ये एकार्थवाची होने से जिसे गुण पर्याय कहते हैं वही अर्थपर्याय है। और जिसे द्रव्यपर्याय कहते हैं उसी का दूसरा नाम व्यंजनपर्याय है। जीव द्रव्य में ज्ञान आदि, पुद्गलद्रव्य में रूप आदि, धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व आदि, अधर्मद्रव्य में स्थितिहेतुत्व आदि, आकाश द्रव्य में अवगाहनत्व आदि और कालद्रव्य में वर्तना आदि अनन्त गुण हैं जो अपने अपने स्वरूप का त्याग न करने के कारण यद्यपि त्रिकालावस्थायी हैं तथापि वे सदा एक परिमाण में न रहकर अन्तरंग और बहिरंग कारणों के अनुसार न्यूनाधिक रूप से परिणमन करते रहते हैं। उनमें यह न्यूनाधिकता उनके गुणांशों की अपेक्षा से ही प्राप्त होती है अन्य प्रकार से नहीं; अतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे अवस्थित और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वे अनवस्थित सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य और उनके प्रदेशों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये। माना कि द्रव्य के प्रदेशों में न्यूनाधिकता नहीं होती। वे जितने हैं सदा काल उतने ही बने रहते हैं तथापि अवगाहन गुण की अपेक्षा उनके अवगाहन में न्यूनाधिकता आती रहती है। असंख्य प्रदेशी एक ही जीवद्रव्य कभी कीड़ी के शरीर में समा जाता है और कभी फैल कर वह लोकाकाश के बराबर हो जाता है, प्रदेशों में न्यूनाधिकता के नहीं होने पर भी यहाँ पर भी तारतम्य घटित हो जाता है। इस प्रकार इस कथन से अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दोनों की सिद्धि हो जाती है। तथापि यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि अर्थपर्याय तो छहों द्रव्यों में पाई जाती है किन्तु व्यंजन पर्याय जैसी अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गल द्रव्य में घटित होती है वैसी शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल में तथा धर्मादि शेष चार द्रव्यों में घटित नहीं होती, क्योंकि इन द्रव्यों का सदा अवस्थित एक आकार पाया जाता है। इसलिए इन द्रव्यों में आकार मात्र को देखकर व्यंजन पर्याय कही गई है। प्रवचन[1]सार में बतलाया है कि जो अनेक द्रव्यरूप एकता की प्रतिपत्ति का कारण है वह व्यंजन पर्याय है। इसके समान जातीय और असमान जातीय ऐसे दो भेद हैं।

(१) तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि। असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। प्रवच. ज्ञे. गाथा १ टीका।

द्रव्यत्वं किन्नाम पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥
गुणपर्ययवद् द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ ७२ ॥
गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताऽप्युशन्ति बुधाः ।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ ७३ ॥
अयमत्राभिप्रायो ये देशाः सद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निःशेषम् ॥ ७४ ॥
न हि किञ्चित्सद् द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।
केचित्सन्ति तदंशाः द्रव्यं तत्सन्निपाताद्वा ॥ ७५ ॥
अथवापि यथा भित्तौ चित्रं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद् द्रव्यम् ॥ ७६ ॥

इनमें से अनेक पुद्गल रूप जो द्व्यणुक और त्र्यणुक आदि बनते हैं वह समान जातीय व्यंजन पर्याय है। तथा जीव और पुद्गल मिलकर जो नर नारकादि पर्याय होती हैं वह असमान जातीय व्यंजन पर्याय है। सो इससे भी उक्त अभिप्राय की ही पुष्टि होती है।

इस प्रकार यद्यपि द्रव्य और उनकी पर्यायों की यह स्थिति है तथापि अन्य मतावलम्बी द्रव्य को भिन्न भिन्न प्रकार से मानते हैं। विचार करने पर ऐसे चार पक्ष उपस्थित होते हैं। एक द्रव्य को निरंश मानने का पक्ष है। दूसरा कूटस्थ नित्य मानने का पक्ष है, तीसरा समान परिणमनरूप मानने का पक्ष है और चौथा क्षणिक पक्ष है। किन्तु ये चारों ही पक्ष असमीचीन हैं क्योंकि इनके समर्थन में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। लोक में जितने भी दृष्टान्त पाये जाते हैं उनसे नित्यानित्यात्मक या गुणपर्यायवाली वस्तु का ही समर्थन होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

द्रव्य विचार—

द्रव्य क्या है ऐसा किसी जिज्ञासु के द्वारा पूछने पर आचार्य प्रमाण और नय के द्वारा भले प्रकार से जान कर उसके लक्षण को कहते हैं ॥ ७१ ॥ जो गुण और पर्यायवाला है वह द्रव्य है यह द्रव्य का लक्षण सुसिद्ध है और अविरुद्ध है। गुण तथा पर्यायों का समूह ही द्रव्य है यह इसका वाक्यार्थ है ॥ ७२ ॥ कोई आचार्य 'गुणों का समुदाय द्रव्य है' द्रव्य का इतना ही लक्षण कहते हैं और कितने ही वृद्ध आचार्य समगुण पर्याय को द्रव्य कहते हैं ॥ ७३ ॥ इसका यह अभिप्राय है कि जो देश, गुण और इन दोनों के अंश हैं वे मिल कर एक शब्द द्वारा द्रव्य कहे जाते हैं ॥ ७४ ॥ यदि ऐसा माना जाय कि द्रव्य अलग है, गुण अलग हैं, प्रदेश अलग हैं और गुणांश अलग हैं और इन सबके संयोग से द्रव्य होता है सो यह बात भी नहीं है ॥७५॥ अथवा कोई ऐसा माने कि जैसे दीवाल में चित्र होता है वैसे ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से प्रदेश, गुण और

(१) दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ पञ्चा० गा० १०। तत्त्वा० अ० ५ सू० २९। (२)......दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि। प्रवचः ज्ञे० गा० १।

(२) पुस्तके 'समवानिति' पाठः।

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह ।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

भिन्नोऽप्यथ दृष्टान्तो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे ।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ॥ ७९ ॥

दृष्टान्तश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः ।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥ ८० ॥

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायिवागिति चेत् ॥ ८१ ॥

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥ ८३ ॥

अतएव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥ ८४ ॥

गुणांश रहते हैं और इन सबके आश्रय से द्रव्य कहलाता है सो यह भी बात नहीं है ॥७६॥ किन्तु यह बात है कि जैसे मूल, स्कन्ध, शाखाएं, पत्ते, फूल, गुच्छे, और फल ये सब एक शब्दमें वृक्ष कहे जाते हैं, क्योंकि वह वृक्ष उन मूलादिमय है वैसे ही देश, देशांश, गुण और गुणांश ये सब एक शब्द द्वारा द्रव्य कहे जाते हैं, क्यों कि द्रव्य तन्मय है ॥ ७७ ॥

यद्यपि इस विषय में भिन्न और अभिन्न दोनों प्रकार के दृष्टान्त और कारक पाये जाते हैं तथापि द्रव्य को गुणात्मक सिद्ध करते समय अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न कारक लेना चाहिये ॥७८॥ भित्ति में चित्र है और घट में दही है ये भिन्न दृष्टान्त के उदाहरण हैं तथा किसी को धन के सम्बन्ध से धनवान् कहना यह भिन्न कारक का उदाहरण है ॥ ७९ ॥ इसी प्रकार वृक्ष में शाखाएं हैं और घर में खम्भा है ऐसा कहना यह अभिन्न दृष्टान्त के उदाहरण हैं तथा यह वृक्ष शाखावान् है ऐसा कहना यह अभिन्न कारक का उदाहरण है ॥ ८० ॥

शंका—यदि समुदाय और समुदायी ये सर्वथा एक ही हैं तो समुदाय इतना ही कहना चाहिये किन्तु समवायियों का उल्लेख करना ठीक नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय नियमसे प्रतीत होता है समुदाययों का है। स्पष्ट प्रमाण और प्रसिद्ध दृष्टान्त से भी इसकी सिद्धि होती है ॥ ८२ ॥ जैसे आम्रफल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये यद्यपि अपने अपने लक्षण से भिन्न हैं तथापि अखण्डदेशी होने के कारण वे किसी भी तरह अलग अलग नहीं किये जा सकते हैं ॥८३॥ अतएव जैसे पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा देशांश, और गुणांश इन सबका कथन

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिपप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्षयन्ति बुधाः ॥ ८५ ॥
उत्पादस्थितिभङ्गैर्युक्तं सद् द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तैः ॥ ८६ ॥

करना चाहिये वैसे ही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा उन सबके स्थान में एक द्रव्य ही है ऐसा भी कथन करना चाहिये ॥ ८४ ॥

विशेषार्थ—यहाँ पर मुख्यतया द्रव्य के लक्षण का विचार किया गया है। वैसा करते हुए यहाँ ग्रन्थकार ने विविध आचार्यों के अभिप्रायानुसार तीन लक्षण प्रस्तुत किये हैं। प्रथम लक्षण में द्रव्य को गुण पर्यायवाला बतलाया है। बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का और क्रम से होनेवाली उनकी पर्यायों का पिण्डमात्र है इसलिये प्रकृत में द्रव्य को गुणपर्यायवाला कहा है। सर्वत्र गुणों को अन्वयी और पर्यायों को व्यतिरेकी बतलाया है। इसका अर्थ है कि जिनसे धारा में एकरूपता बनी रहती है वे गुण हैं और जिनसे उसमें भेद प्रतीत होता है वे पर्यायें हैं। जीव में ज्ञान की धारा का विच्छेद कभी नहीं होता इसलिये ज्ञान यह गुण है। किन्तु कभी वह मतिज्ञान रूप होता है और कभी अन्य रूप इसलिये मतिज्ञान आदि उसकी पर्यायें हैं। द्रव्य सदा इन गुण पर्यायों रूप रहता है इसलिये इसे गुणपर्यायवाला कहा गया है। द्रव्य के इस लक्षण में प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम आदि किसी भी प्रमाण से विरोध नहीं आता है इसलिये यह सुसिद्ध और अविरुद्ध कहा गया है। इस प्रकार यद्यपि द्रव्य गुण पर्यायवाला या गुण और पर्यायों का समुदायमात्र प्राप्त होता है तथापि कितने आचार्य गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं सो इस लक्षण में विविध अवस्थाओं की अविवक्षा करके ही यह कथन किया गया है इसलिये इसे पूर्वोक्त लक्षण का विरोधी न मानकर पूरक ही मानना चाहिये। तथापि गुण और पर्यायवाला या गुणवाला द्रव्य है ऐसा कथन करने से गुण और पर्याय भिन्न प्रतीत होते हैं और द्रव्य भिन्न प्रतीत होता है इसलिए इस दोष के वारण के लिए कितने ही आचार्य द्रव्य का लक्षण समगुणपर्याय करते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि देश, देशांश तथा गुण और गुणांश ये पृथक् पृथक् न होकर परस्पर में मिले हुए हैं। इनमें से किसी को भी जुदा करना शक्य नहीं है। जैसे स्कन्ध, शाखा आदि रूप वृक्ष होता है वैसे ही देश, देशांश, गुण और गुणांशमय द्रव्य है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ द्रव्य विचार के प्रकरण में भिन्न कारक और भिन्न दृष्टान्त को स्वीकार न करके अभिन्न कारक और अभिन्न दृष्टान्त को स्वीकार किया गया है। इनके उदाहरण मूल में दिये ही हैं, इसलिए यहाँ फिर से नहीं दुहराये गये हैं। इस पर से कोई यह फलित करना चाहता है कि जब कि गुण गुणांश और देश देशांश इनका समुदाय ही द्रव्य है तब फिर समुदाय का ही कथन करना चाहिये समुदायी रूप देश देशांश और गुण गुणांश का नहीं। ग्रन्थकर्ता ने इस शंकाका जो समाधान किया है उसका आशय यह है कि समुदाय समुदायियों का ही होता है और वह उनसे कथंचित् अभिन्न पाया जाता है। जैसे कि आम में स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये सभी पाये जाते हैं तो भी वे उससे सर्वथा जुदे नहीं किये जा सकते उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये। इसीलिये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा गुण, गुणांश आदि जुदे जुदे कहे जाते हैं किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक अखण्ड द्रव्य ही है ऐसा यहाँ जानना चाहिये।

प्रकारान्तर से द्रव्य व प्रकृत में उपयोगी अन्य विषयों का विचार—

इसी एक लक्षण को दूसरे वाक्य द्वारा निर्दोष रीति से विशेष जानकारी के लिये बुद्धिमान पुरुष यों लक्षित करते हैं ॥ ८५ ॥ यथा—उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय इन तीनों से युक्त सत ही द्रव्य का लक्षण है।

---

(१) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। सद् द्रव्यलक्षणम्। तत्त्वा० अ० ५ सू० ३३-२४।

अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशाः ।
नाम्ना सदिति गुणाः स्यादेकोऽनेके त एकशः प्रोक्ताः ॥ ८७ ॥

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः ।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥ ८८ ॥

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभङ्गमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥ ८९ ॥

न हि पुनरुत्पादस्थितिभङ्गमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ९० ॥

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद् द्वितयं हि वस्तुतया ॥ ९१ ॥

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद् द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥ ९२ ॥

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति ।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥ ९३ ॥

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥ ९४ ॥

किन्तु वह सत इन तीनों से युगपत् युक्त मानने पर ही सिद्ध होता है। पृथक् पृथक् इनसे युक्त मानने पर नहीं सिद्ध होता ॥ ८६ ॥ प्रकरणानुसार सारांश यह है कि ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय ये तीनों अंश नाम से सद्गुणरूप हैं इस लिये एक हैं और पृथक् पृथक् कहे जाने पर वे अनेक हैं ॥ ८७ ॥ प्रकृत में लक्ष्य और लक्षण इनमें यदि भेद विवक्षा का आश्रय लिया जाता है तो सत यही गुण ठहरता है और द्रव्यार्थिक नय विवक्षित होता है तो वही सत स्वयं द्रव्य ठहरता है ॥ ८८ ॥ जिस प्रकार वस्तु स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार वह स्वतः परिणामी भी है इस लिये प्रकृत में वह सत नियम से उत्पाद, ध्रौव्य और व्ययरूप है यह सिद्ध हुआ ॥ ८९ ॥ यदि परिणाम के बिना भी वस्तु को उत्पाद, स्थिति और व्ययरूप माना जाता है तो असत का जन्म और सत का विनाश दुर्निवार है ॥ ९० ॥ अतः द्रव्य कथंचित् किसी एक अवस्थारूप से उत्पन्न होता है किसी दूसरी अवस्थारूप से व्यय को प्राप्त होता है किन्तु वस्तुरूप से ये दोनों ही अवस्थाएं नहीं होतीं। अर्थात् द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है किन्तु अपने स्वरूप में निमग्न रहता है ॥ ९१ ॥ जैसे लोक में मिट्टी एक ही समय में घटरूप से उत्पन्न होती है पिण्डरूप से नष्ट होती है तथा मिट्टी रूप से ये दोनों ही अवस्थाएं नहीं होती ॥ ९२ ॥

शंका—प्रकृत में जो कुछ कहा गया है वह सब कल्पनामात्र है, क्योंकि वस्तु को उत्पाद आदिरूप मानना व्यर्थ है। वस्तु को ऐसा मानने में कुछ लाभ भी नहीं है और वैसा नहीं मानने से हानि भी नहीं है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य को उत्पाद आदि तीन रूप मानने में ही लाभ है, नहीं मानने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि उत्पादादि के नहीं मानने पर द्रव्यादि का अभाव होकर सर्वशून्य

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥ ९५ ॥
परिणामिनोऽप्यभावात् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतत्वात् ॥ ९६ ॥

दोष प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥ यथा परिणाम के न मानने से द्रव्य सदा एक सा प्राप्त होता है उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं बन सकता और ऐसी अवस्थामें न तो परलोक ही बनता है और न कार्य कारण भाव ही बन सकता है ॥ ९५ ॥ इसी प्रकार यदि परिणामी को न माना जाय तो वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरती है। परन्तु यह बात बनती नहीं. क्यों कि प्रत्यभिज्ञान से कथंचित् नित्य आत्मा की प्रतीति होती है ॥ ९६ ॥

विशेषार्थ—पहले जो गुण और पर्यायवाला है वह द्रव्य है यह बतला आये हैं। अब यहाँ उसी को दूसरे शब्दों में सद्रूप बतलाया गया है। इन दोनों लक्षणों का वाक्यार्थ एक है यह तो आगे बतलायेंगे किन्तु यहां प्रकरणानुसार सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप कैसे है यह बतलाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में पूर्व पर्याय का नाश होकर ही नवीन पर्याय का उत्पाद होता है पर ऐसा होते हुए भी वह अपनी धारा को नहीं छोड़ता, इससे ज्ञात होता है कि पदार्थ उत्पादादि त्रयात्मक है। पर यहां पर ये उत्पाद और व्यय भिन्नकालवर्ती न लेकर एक कालवर्ती ही लेने चाहिये, क्योंकि पूर्व पर्याय के व्यय का जो समय है वही नवीन पर्याय के उत्पाद का है। दूध का विनाश और दही का उत्पाद भिन्नकालवर्ती नहीं है। इस प्रकार उत्पाद और व्यय के एक कालवर्ती सिद्ध हो जाने पर सत् युगपत् उत्पादादि त्रयात्मक है यह सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि घट की अपेक्षा उत्पाद और पिण्ड की अपेक्षा व्यय इस प्रकार उत्पाद और व्यय ये दोनों एक कालवर्ती भले ही सिद्ध हो जांय पर उसी समय ध्रौव्य धर्म नहीं घटित होता, क्योंकि उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के साथ रहने में विरोध है। जो ध्रुवभाव को प्राप्त है उसका उत्पाद-व्यय नहीं हो सकता। और जो उत्पाद व्ययरूप है वह ध्रुवभाव को प्राप्त नहीं हो सकता। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस रूप से वस्तु में ध्रुव भाव माना गया है उस रूप से उत्पाद व्यय नहीं माने गये हैं और जिस रूप से उत्पाद-व्यय माने गये हैं उस रूप से ध्रुव भाव नहीं माना गया है। उदाहरणार्थ—पिण्ड पर्याय का विनाश होकर घट पर्याय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यहां यद्यपि एक पर्याय का विनाश हो कर दूसरी पर्याय की उत्पत्ति है तथापि मिट्टी रूप से वह ध्रुव है। मिट्टी रूप से न तो इसका उत्पाद ही कहा जा सकता है और न व्यय ही, इसलिये सत् युगपत् उत्पादादि त्रयात्मक है यह सिद्ध होता है। तब भी उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इनको सर्वथा भिन्न मानना युक्त नहीं। ये कथंचित् एक भी हैं और कथंचित् अनेक भी हैं। जब वे एक सत् गुण के द्वारा कहे जाते हैं तब एक हैं इसी से तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी सत को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप बतलाया है। आशय यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये एक सत् के ही विविध परिणाम हैं। सत् को छोड़ कर ये और कुछ भी नहीं है। किन्तु जब ये पृथक् पृथक् कहे जाते हैं तब अनेक हैं। उत्पाद अलग है, व्यय अलग है और ध्रौव्य अलग है। जो उत्पाद है वह व्यय और ध्रौव्य नहीं हो सकता। जो व्यय है वह भी उत्पाद और ध्रौव्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो ध्रौव्य है वह उत्पाद और व्यय नहीं हो सकता।

प्रकृत में जैसे ये उत्पादादि त्रय सद्गुण की अपेक्षा कथंचित् एक रूप और भेद विवक्षा से कथंचित् अनेक रूप सिद्ध होते हैं वैसे ही सद्गुण का द्रव्य से कथंचित् भेदाभेद जान लेना चाहिये। जब द्रव्य का लक्षण सत् किया जाता है तब सत् यह गुण ठहरता है और जब सत और द्रव्य में लक्ष्य लक्षणभेद विवक्षित नहीं होता है तब वही सत स्वयं द्रव्य ठहरता है। इस प्रकार वस्तु और सत में कथंचित् अभेद सिद्ध हो जाने पर वस्तु का जो स्वभाव है वही स्वभाव सत का ठहरता है। इसी से यहां वस्तु को स्वतः सिद्ध और परिणामी

गुणपर्ययवद् द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥ ९७ ॥

तन्न यतः सुविचारादेकोऽर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।
अन्यतरं स्यादिति चेन्न मिथोऽभिव्यञ्जकत्वाद्वा ॥ ९८ ॥

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।
गुणवद् द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥ ९९ ॥

अपि च गुणाः संलक्ष्यास्तेषामिह लक्षणं भवेत् ध्रौव्यम् ।
तस्माल्लक्ष्यं साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रसिद्धत्वात् ॥ १०० ॥

पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः ।
इत्युक्ते पर्ययवद् द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥ १०१ ॥

मानकर सत को उत्पादादित्रय रूप सिद्ध किया गया है । अब यदि वस्तु को बिना परिणाम के उत्पादादि त्रय-रूप माना जाता है तो असत का जन्म और सत का विनाश ये दोष प्राप्त होते हैं । ये दोष न प्राप्त हों इसलिये द्रव्य को किसी एक अवस्था से उत्पाद रूप और किसी अन्य अवस्था से व्ययरूप मानकर भी द्रव्यतया इन दोनों से रहित मान लेना चाहिये । यदि द्रव्य को परिणामी न माना जाय तो न तो परलोक की सिद्धि होती है और न कार्यकारणभाव ही बनता है । इसी प्रकार ध्रौव्य के नहीं मानने पर भी क्षणिकत्व आदि अनेक दोष आते हैं । यतः पदार्थ न तो सर्वथा क्षणिक प्रतीत होते हैं और न सर्वथा नित्य ही अतः वे उत्पादादित्रय-रूप हैं यह सिद्ध होता है ॥ ८ -९६ ।

द्रव्य के विविध लक्षणों का समन्वय—

शंका—पहले 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण कहा गया है और अब वाक्यान्तर के द्वारा 'सद् द्रव्यलक्षणम्' द्रव्य के इस लक्षण का उपदेश दिया गया है इसलिये उस लक्षण से इस लक्षण में बाधा आती है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भले प्रकार से विचार करने से दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ होता है ।

शंका—यदि ऐसा है तो दोनों में से किसी एक लक्षण को ही कहना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि परस्पर में एक दूसरे के अभिव्यंजक होने से दोनों ही लक्षण कहे गये हैं ॥ ९७-९८ ॥

उनका खुलासा इस प्रकार है कि नित्यत्व की गुण के साथ व्याप्ति है इसलिये गुणवाला द्रव्य है ऐसा कहने पर वह ध्रौव्यवान् सिद्ध होता है ॥ ९९ ॥ दूसरे गुण लक्ष्य हैं और ध्रौव्य उनका लक्षण है इसलिये यहां पर लक्ष्य-लक्षण में क्रम से साध्य-साधनभाव सिद्ध होता है ॥ १०० ॥ उसी तरह यहां पर पर्यायों की नियम से व्यय और उत्पाद के साथ व्याप्ति है इसलिए पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा कहने पर उत्पाद-व्ययवाला

लक्ष्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभाव इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥ १०२ ॥

द्रव्य सिद्ध होता है ॥ १०१ ॥ दूसरे पर्यायें लक्ष्य के स्थानापन्न और स्वभाववान् प्राप्त होती हैं तथा उनके लक्षण और स्वभाव के स्थानापन्न व्यय और उत्पाद प्राप्त होते हैं ॥ १०२ ॥

विशेषार्थ—पहले द्रव्य के दो प्रकार के लक्षण कह आये हैं। प्रथम लक्षण द्वारा द्रव्य को गुण और पर्यायवाला सिद्ध किया गया है और दूसरे लक्षण द्वारा इसे सत्स्वरूप बतलाते हुए सत को उत्पाद व्यय और ध्रौव्यवाला बतलाया गया है। अब इस पर यह प्रश्न हुआ है कि अलग अलग इन दो लक्षणों के कहने की क्या आवश्यकता है। प्रथम तो एक वस्तु के दो लक्षण मानने पर परस्पर में वे बाधक ठहरते हैं। यदा कदाचित् उन्हें बाधक न भी माना जाय तब ऐसी कौन सी बात है जिसके कारण एक ही वस्तु के विविध लक्षण करने पड़े। जहां तक वस्तु के स्वरूप को दिखलाने का प्रश्न है एक ही लक्षण से काम चल जाता है अतः किसी एक लक्षण को निबद्ध कर देना पर्याप्त है। यह एक गम्भीर प्रश्न है जिसका समाधान करते हुए ग्रन्थकर्ता ने बतलाया है कि ये दोनों लक्षण परस्पर में एक दूसरे के अभिव्यंजक होने से इनका अलग अलग निर्देश किया है। पहले लक्षण में गुण और पर्याय इन दो बातों का निर्देश किया है और दूसरे लक्षण में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन बातों का निर्देश किया है। यद्यपि वस्तु स्वभाव का विश्लेषण करने पर वह अनिर्वचनीय सिद्ध होती है। यह एक दृष्टि है जिससे हम उसमें नित्यता का आरोप करते हैं और यह एक दूसरी दृष्टि है जिससे हम उसमें अनित्यता का भी आरोप करते हैं। ये कल्पित किये गये नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म भी सापेक्ष ही हैं, अतः विविध धर्मों के प्रथक्करण करने का जो भी प्रयत्न है वह वस्तुस्पर्शी होकर भी उसकी अनिर्वचनीयता में बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार वस्तु के अनिर्वचनीय रहते हुए भी जिन धर्मों के द्वारा हम उसका प्रथक्करण करते हैं वर्गीकरण करके वे धर्म ही यहां लक्षणरूप से निबद्ध किये गये हैं। एक ओर ऐसे धर्म गुण और पर्याय हैं तथा दूसरी ओर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। यह तो मानी हुई बात है कि जब कि ये दोनों द्रव्य के लक्षण हैं तब इनका अभिप्राय एक होना चाहिये, अन्यथा वे एक दूसरे के पूरक नहीं हो सकते। अतः प्रकृत में हमें यही देखना है कि इन दोनों लक्षणों का अर्थ एक सा कैसे है और ये दोनों एक दूसरे के पूरक कैसे हैं। यद्यपि पीछे गुणों को नित्यानित्यात्मक सिद्ध कर आये हैं तथापि अन्वयी होने से गुणों की व्याप्ति नित्यता के साथ है और ध्रौव्य नित्यता का पर्यायवाची है, इस लिये गुणवाला द्रव्य है ऐसा कहने से वह ध्रौव्यवाला सिद्ध होता है। इसी प्रकार यद्यपि आगे चल कर पर्यायों को नित्यानित्यात्मक सिद्ध करनेवाले हैं तथापि क्रमवर्ती और व्यतिरेकी होने से पर्यायों की व्याप्ति अनित्यता के साथ है। और उत्पाद तथा व्यय ये अनित्य होते हैं, इस लिये पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा कहने से वह उत्पाद और व्ययवाला सिद्ध होता है। यहां पर इतना विशेष जानना चाहिये कि गुण और पर्याय ये स्वभाववान् या लक्ष्यस्थानीय हैं तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये स्वभाव या लक्षणस्थानीय हैं। इस हिसाब से गुणों का स्वभाव या लक्षण ध्रौव्य तथा पर्यायों का स्वभाव या लक्षण उत्पाद और व्यय प्राप्त होता है। जिसका लक्षण किया जाय उसे लक्ष्य कहते हैं और जिसके द्वारा वस्तु की पहिचान की जाय उसे लक्षण कहते हैं। गुणों की मुख्य पहिचान उनका सदा बने रहना है और पर्यायों की मुख्य पहिचान उनका उत्पन्न होते रहना और विनष्ट होते रहना है। इसी से यहां पर गुण और पर्यायों को लक्ष्य और उत्पादादिकको उनका लक्षण कहा है। ये उत्पादादिक गुण और पर्यायों के स्वभाव इसलिये कहलाते हैं, क्यों कि ये उनके आत्मभूत धर्म हैं। पर इससे गुण और पर्याय द्रव्यस्थानीय नहीं हो जाते हैं, क्यों कि यह विश्लेषण करने का एक प्रकार है। वस्तुतः द्रव्य में जो

(१) द्रव्यस्थानीया-मु० प्र० (इन्दौर)

अथ च गुणत्वं किमहो सूक्तः केनापि जन्मिना सूरिः ।
प्रोचे सोदाहरणं लक्षितमिव लक्षणं गुणानां हि ॥ १०३ ॥

द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ १०४ ॥

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये ।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०५ ॥

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति ।
बुद्ध्या विभज्यमाना क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६ ॥

उत्पाद और व्यय होता है उसी का दूसरा नाम पर्याय है और उसका उसमें लक्षित होनेवाली शक्तियों के रूप में सदा काल बना रहना ही ध्रौव्य है। इस प्रकार ये परस्पर में पर्यायवाची ठहरते हैं, तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार द्रव्य के दो लक्षण क्यों कहे और इनमें परस्पर क्या सारूप्य है इसका विचार किया ॥ ६७—१०२ ॥

गुण विचार—

किसी भव्यद्वारा गुणका क्या स्वरूप है ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य ने भले प्रकार से जानकर उदाहरण सहित गुणों का लक्षण कहा ॥ १०३ ॥ जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं अन्य विशेषों से रहित हैं ऐसे जितने भी विशेष हैं वे सब गुण कहलाते हैं क्योंकि इनके द्वारा वस्तु हथेली पर रखी हुई के समान स्पष्ट प्रतीत होती है ॥ १०४ ॥ इसका स्पष्टार्थ यह है कि द्रव्य के सभी प्रदेशों में साथ साथ रहनेवाले और ज्ञान के द्वारा विभाग करके क्रमसे एक पंक्ति में स्थापित किये गये जितने भी विशेष हैं वे सब गुण जानने चाहिये ॥ १०५ ॥ जैसे कि सब तन्तुओं में साथ साथ रहनेवाले और बुद्धिके द्वारा विभाग करके क्रमसे एक पंक्तिमें स्थापित किये गये जितने भी शुक्ल आदि विशेष प्राप्त होते हैं वे सब गुण जानने चाहिये ॥ १०६ ॥

विशेषार्थ—पहले गुण और पर्यायवाला द्रव्य है यह कह आये हैं पर वहाँ गुणोंके स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला गया है इस लिये अब उनके स्वरूप का विचार किया जाता है। जब कि द्रव्य को गुण और पर्यायवाला बतलाया है तब इसीसे स्पष्ट है कि गुण द्रव्यके आश्रय से रहते हैं। अर्थात् द्रव्य आधार है और गुण आधेय हैं। पर इससे आधार और आधेय में दही और कुण्ड के समान सर्वथा भेदपक्ष का ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हुए भी वे उससे कथंचित् अभिन्न हैं। जैसे तेल तिलके सब अवयवों में व्याप्त करके रहता है वैसे ही प्रत्येक गुण द्रव्यके सभी अवयवों में समान रूपसे व्याप्त होकर रहता है। पर इससे द्व्यणुक आदि पर्याय में भी यह लक्षण घटित हो जाता है क्योंकि द्व्यणुक आदि भी अपने आधारभूत परमाणु द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। अतएव 'जो स्वयं विशेषरहित हों वे गुण हैं' यह कहा है। ऐसा नियम है कि जैसे द्रव्य में गुण पाये जाते हैं वैसे गुण में अन्य गुण नहीं पाये जाते हैं अतएव वे स्वयं विशेष रहित होते हैं। इस प्रकार यद्यपि 'जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं विशेष रहित हैं वे गुण हैं' गुणका इतना लक्षण फलित हो जाता है पर यह लक्षण पर्यायों में भी पाया जाता है, क्योंकि वे भी द्रव्य के आश्रय से रहती हैं और स्वयं विशेषरहित होती हैं, इसलिये इस अतिव्याप्ति दोषके वारण करने के लिये 'जो 'द्रव्य के आश्रय से रहते हैं' इसका अर्थ 'जो द्रव्य के आश्रय से सदा रहते हैं' इतना समझना चाहिये। इससे गुणों का यह लक्षण पर्यायों में नहीं जाता। इस प्रकार गुणोंके लक्षण का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्येक

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततः प्रायः।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥
जैनानां मतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम्।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥ १०८ ॥
तत्रोदाहरणमिदं तद्भावान्याद् गुणा नित्याः।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥ १०९ ॥
ज्ञानं परिणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥ ११० ॥
दृष्टान्तः किल वर्णो गुणो यथा परिणमन् रसालफले।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्वं न नष्टमिति नित्यम् ॥ १११ ॥
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥ ११२ ॥

द्रव्य में वे कितने होते हैं इसका प्रयोगद्वारा ज्ञान करना और जरूरी है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि गुण द्रव्य के प्रत्येक अवयव में पाये जाते हैं। क्योंकि गुण यह एक शक्ति है इसलिये द्रव्य के एक हिस्से में जो शक्ति होगी अन्यत्र भी वह अवश्य होगी। यदि ऐसा न माना जाय तो वह एक और अखण्ड द्रव्य नहीं कहा जा सकेगा। उदाहरणार्थ जैसे रूप गुण तन्तुके सब अवयवों में व्याप्त कर रहता है। वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। तथापि एक बात और है और वह यह कि तन्तु में केवल रूप ही नहीं पाया जाता है। जैसे नेत्रके द्वारा तन्तु में रूप का ज्ञान होता है वैसे ही अन्य इन्द्रियों के द्वारा उसमें रस आदि अन्य गुणों की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार यदि बुद्धि से विचार करके एक एक गुणको पंक्तिवार संग्रह किया जाय तो वे अनन्त प्राप्त होते हैं। बस इसी प्रकार सब द्रव्यों में जान लेना चाहिये। संसार में जितने भी द्रव्य हैं उनमें से प्रत्येक में गुण के उक्त लक्षण से समन्वित अनन्त गुण पाये जाते हैं ॥१०३-१०६॥

गुणों का नित्यानित्य विचार—

गुणों की नित्यता और अनित्यता के विषय में सहमत न होने के कारण वादी लोग आपस में प्रायः कर बहुत विवाद करते हैं इस लिये यहां पर उनकी नित्यानित्यताका विचार करना आवश्यक है ॥१०७॥ इस विषय में जैनों का यह मत है कि जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है वैसे ही गुण भी द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्यानित्य होते हैं ॥ १०८ ॥ इसका खुलासा यह है कि अपने स्वभाव का नाश न होने के कारण गुण नित्य हैं और इसकी सिद्धि प्रत्यभिज्ञान से होती है। प्रकृत में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण है जैसे वही यह है ॥ १०९ ॥ उदाहरणार्थ जो ज्ञान पहले घटके आकार रूप से परिणमन कर रहा था वह यद्यपि पटके आकाररूपसे बदल जाता है, तो क्या यहां ज्ञानत्व नष्ट हो जाता है? यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता है। यदि ऐसा है तो फिर वह नित्य क्यों न सिद्ध होगा। अर्थात् अवश्य नित्य सिद्ध होगा ॥११०॥ या जैसे आम्रफल में रंग परिणमन करता हुआ हरे से पीला हो जाता है, तो क्या इससे वर्णसामान्य का नाश हो जाता है? अर्थात् नहीं होता है इसलिये वह नित्य है ॥१११॥ तथा जैसे वस्तु परिणमनशील है वैसे ही गुण भी परिणमनशील हैं इसलिये

ज्ञानं गुणो यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः ।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाथ पटं परिच्छिन्दत् ॥ ११३ ॥

संदृष्टी रूपगुणो नित्यश्चाम्रेऽपि वर्णमात्रतया ।
नष्टोत्पन्नो हरितात्परिणममानश्च पीतवत्त्वेन ॥ ११४ ॥

ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्वनित्यास्तु पर्यया: सर्वे ।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मका: गुणा: प्रोक्ता: ॥ ११५ ॥

सत्यं तत्र यत: स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये ।
न गुणेभ्य: पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्ययाश्चेति ॥ ११६ ॥

अपि नित्या: प्रति समयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणा: ।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताक: ॥ ११७ ॥

ननु तदवस्थो हि गुण: किल तदवस्थान्तरं हि परिणाम: ।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदमिति चेत् ॥ ११८ ॥

तन्न यत: सदवस्था: सर्वा आम्रेडितं यथा वस्तु ।
न तथा ताभ्य: पृथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥ ११९ ॥

नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणा: ।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ॥ १२० ॥

गुणों में उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं ॥११२॥ क्यों कि जैसे ज्ञान यह गुण सामान्यरूपसे नित्य है वैसे ही वह घटको छोड़कर पटको जानता हुआ नष्टोत्पन्न अर्थात् अनित्य भी है ॥११३॥ उदाहरणार्थ रूप नामका गुण आम्रफल में भी सामान्य वर्ण की अपेक्षा नित्य है फिर भी वह हरे से पीला हो जाता है इस लिये अनित्य भी है ॥११४॥

शंका—जब कि गुण नित्य होते हैं और सभी पर्यायें अनित्य होती हैं तब फिर यहां पर गुणों को द्रव्य के समान नित्यानित्यात्मक क्यों कहा है ?

समाधान—उपर्युक्त कथन किसी अपेक्षा से ठीक है फिर भी द्रव्य के समान गुणों में भी यही बात विवक्षित है कि सत् अथवा द्रव्य और पर्याय ये गुणों से सर्वथा पृथक् नहीं हैं इसलिये द्रव्य के समान गुण भी कथंचित् नित्यानित्य प्राप्त होते हैं ॥११६॥

दूसरे गुण नित्य हैं तो भी वे बिना प्रयत्न के—स्वभावसे ही प्रति समय परिणमन करते रहते हैं वह परिणमन उनकी ही अवस्था है उनसे जुदी नहीं है इससे भी गुणों की नित्यानित्यता सिद्ध होती है ॥११७॥

शंका— गुण तो सदा एकसा रहता है और परिणाम सदा बदलता रहता है किन्तु इन दोनों के मध्य में रहनेवाला होने के कारण द्रव्य इनसे भिन्न है, यदि ऐसा माना जाय तो क्या हानि है ?

समाधान— सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि सत की सब अवस्थाएं आम्रेडित होकर जैसे वस्तु कहलाती हैं वैसे उनसे पृथक् भिन्न सत्तावाली दूसरी वस्तु नहीं है ॥ ११९ ॥ अतएव जितने भी गुण हैं वे सब परिणमनशील होने से जिस प्रकार उत्पाद-व्ययस्वरूप हैं उसी प्रकार टंकोत्कीर्ण न्याय से अपने स्वरूप में

न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तद् द्वयाधारम् ॥ १२१ ॥
दृष्टान्ताभासोऽयं स्याद्धि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥ १२२ ॥
तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि।
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥ १२३ ॥
ननु केवलं प्रदेशा द्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु।
गुणसंज्ञका हि तस्माद्भवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥ १२४ ॥
तत एव यथा सुघटं भङ्गोत्पादध्रुवत्रयं द्रव्ये।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥ १२५ ॥
तन्न यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद् गुणानां हि।
तदभिज्ञानविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात् ॥ १२६ ॥
अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥ १२७ ॥
तदसद्यतः प्रमाणात् दृष्टान्तादपि च बाधितः पक्षः।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥ १२८ ॥

स्थिर रहने के कारण वे नित्य भी हैं ॥ १२० ॥ किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है कि किन्हीं गुणों का सर्वथा नाश होता है और दूसरे गुणों का उत्पाद होता है तथा द्रव्य उन दोनों प्रकार के गुणों का आधार है ॥ १२१ ॥ जो गुणों का नाश और उत्पाद मानते हैं उनका उक्त कथन को पुष्टि में यह कहना कि मिट्टी में पहले गुण तो नष्ट हो जाते हैं और पाकज दूसरे गुण उत्पन्न होते हैं दृष्टान्ताभास है ॥१२२॥ इसका समीचीन उत्तर यह है कि उस मिट्टी के पकते समय क्या उसकी मिट्टीपने का नाश हो जाता है ? यदि मिट्टीपने का नाश नहीं होता है तो उस समय वह पृथिवीत्व गुणवाली क्यों न मानी जाय ? अर्थात् उसे पृथिवीत्व गुणवाली अवश्य माननी पड़ेगी ॥ १२३ ॥

शंका—केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं और देश के आश्रय से रहनेवाले विशेष ही गुण कहलाते हैं अतः गुणों से द्रव्य भिन्न सिद्ध होता है ॥ १२४ ॥ इसलिये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों जैसे द्रव्य में अच्छी तरह से घट जाते हैं वैसे पृथक् पृथक् गुणों में या मिले हुए सब गुणों में नहीं घट सकते हैं ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा लक्षण मानने से गुणों में क्षणिकता की आपत्ति प्राप्त होती है। और वह क्षणिकपना प्रत्यभिज्ञान का विरोधी है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा जाता है ॥१२६। दूसरे इस मान्यता के अनुसार द्रव्य में एक समय में एक ही गुण होगा और उसके नाश होने के बाद उसमें कोई दूसरा गुण उत्पन्न होगा। एक साथ उसमें अनेक गुण नहीं पाये जायंगे ॥ १२७ ॥ परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह पक्ष प्रमाण और दृष्टान्त दोनों से बाधित है। जैसे कि आम के फल

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः ।
तत् किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः ।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोऽपि सोऽपि गुणः ॥ १३० ॥

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम् ।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १३१ ॥

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः ।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्ययाः केचित् ॥ १३२ ॥

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेऽपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥ १३३ ॥

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पन्दलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथवा निरंशांशैः ॥ १३४ ॥

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

में एक साथ वर्णादि अनेक गुण पाये जाते हैं ॥ १२८ ॥ अब यदि इन दोषों के भय से तुम्हारा यह मत हो कि गुण नित्य और परिणामी हैं तो फिर उनमें एक साथ उत्पादादि त्रय होते हैं ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो ॥१२९॥ और शंकाकार द्वारा पहले जो यह कहा गया था कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो उन प्रदेशों में जो प्रदेशवत्त्व नामक शक्ति विशेष है सो वह भी एक गुण है ॥ १३० ॥ इसलिये पूर्वाचार्यों ने जो गुणों के समुदाय को द्रव्य कहा है वह ठीक ही कहा है। इसका सारांश यह है कि यदि देश अर्थात् द्रव्य का विभाग किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे ॥ १३१ ॥

शंका—यदि गुणों का समुदाय ही द्रव्य कहलाता है तो द्रव्य में जितनी भी पर्यायें होंगी वे सब नियम से गुणपर्याय ही कही जानी चाहिये, द्रव्य पर्याय किसी को भी नहीं कहना चाहिये ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गुणत्व धर्म की अपेक्षा यद्यपि सब गुण गुण हैं तो भी उनमें विशेषता है। जैसे उनमें कोई चेतन गुण हैं और कोई अचेतन गुण हैं वैसे ही वे क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति के भेद से भी दो प्रकार के हैं ॥ १३३ ॥ उनमें से प्रदेश[1] को या देश परिस्पन्दको क्रिया कहते हैं और शक्तिविशेषको या अविभाग प्रतिच्छेदों के द्वारा होनेवाले उनके परिणाम को भाव कहते हैं ॥ १३४ ॥ इसलिये जितने प्रदेश रूप अवयव होते हैं उतने द्रव्य पर्याय कहलाते हैं और जितने गुणांश होते हैं उतने गुणपर्याय कहे जाते हैं ॥ १३५ ॥

इसलिये पहले जो यह कहा गया है कि गुणों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों होते हैं सो

(१) देश परिस्पन्द प्रदेशों के आश्रित होने से यहां प्रदेश को भी क्रिया कहा गया है।

यह सब कथन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होने से निर्दोष है ॥ १३६ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में गुणों की नित्यानित्यता का विचार करके प्रसंगानुसार गुणपर्याय और द्रव्यपर्याय के भेद के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। गुण नित्य होते हैं कि अनित्य यह विवाद पुराना है। किन्तु जैन परम्परा इनमें से किसी भी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करती है। उनके मत से द्रव्य के समान गुण भी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होते हैं; क्योंकि गुण द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जाते, इसलिये द्रव्य का जो स्वभाव ठहरता है गुणों का भी वही स्वभाव प्राप्त होता है। ऐसा नहीं होता कि कोई गुण वर्तमान में हो और कुछ काल बाद न रहे। जितने भी गुण हैं वे सदा पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ जीव में ज्ञान आदि का पुद्गल में रूप आदि का सदा अन्वय देखा जाता है। ऐसा समय न तो कभी प्राप्त हुआ और न कभी प्राप्त हो सकता है जब जीव में ज्ञान आदि गुण न रहें और पुद्गल में रूप आदि न रहें। इससे ज्ञात होता है कि गुण नित्य हैं। उनकी यह नित्यता प्रत्यभिज्ञानगम्य है। माना कि विषय भेद से जीव का ज्ञान गुण बदल जाता है। जब वह घट को जानता है तब वह घटाकार हो जाता है और पटको जानते हुए पटाकार, तथापि ज्ञान की धारा नहीं टूटती, इसलिये सन्तान की अपेक्षा वह नित्य ही है वास्तव में देखा जाय तो नित्य और सन्तान ये एकार्थवाची ही हैं। इनको छोड़ कर ध्रुव भी और कुछ नहीं। जैन परम्परा में ऐसा ध्रुवत्व इष्ट नहीं जो सदा अपरिणामी रहे। सांख्य पुरुष को कूटस्थ नित्य मानते हैं सही पर प्रकृति के सम्पर्क से उसे बद्ध जैसा मान लेने पर वह कूटस्थता बन नहीं सकती। यही बात अन्य नित्यवादियों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार उक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि गुण विविध अवस्थाओं में रह कर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है इसलिये तो वह नित्य है। जैसे हरा आम पकने पर पीला हो जाता है तथापि उससे रंग जुदा नहीं होता। इससे ज्ञात हुआ कि वर्ण नित्य है यही बात सब गुणों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार गुणों की कथंचित् नित्यता के सिद्ध हो जाने पर अब उनकी कथंचित् अनित्यता का विचार करते हैं। यह तो पहले ही बतला आये हैं कि नित्यता का यह मतलब नहीं कि वह सदा एक सा बना रहे उसमें किसी प्रकार का भी परिणमन न हो। यह तो समझ में आता है कि किसी भी वस्तु या गुण में विजातीय परिणमन नहीं होता। जीव बदल कर पुद्गल या अन्य द्रव्य रूप नहीं होता और पुद्गल या अन्य द्रव्य बदल कर जीव रूप नहीं होते। जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल ही। तात्पर्य यह कि जो द्रव्य जिस रूप होता है वैसा ही बना रहता है। जीव का कीड़ी से कुञ्जर होना सम्भव है पर वह जीवत्व को कभी नहीं छोड़ता। किन्तु प्रत्येक वस्तु या गुण में सजातीय परिणमन भी न माना जाय यह बात समझ में नहीं आता। हम देखते हैं कि हमारी बुद्धि विषय के अनुसार सदा बदलती रहती है। जो वर्तमान में पटको जान रही है वही कालान्तर में घटको जानने लगती है। इसी प्रकार जो आम वर्तमान में हरा है वही कालान्तर में पीला भी हो जाता है। अब जब ये या इस प्रकार के और और परिणमन अनुभव में आते हैं तो फिर गुणों को सर्वथा नित्य कैसे माना जा सकता है अर्थात् नहीं माना जा सकता। इससे ज्ञात होता है कि गुण कथंचित् अनित्य भी हैं। इस प्रकार यद्यपि गुण कथंचित् नित्यानित्यात्मक सिद्ध होते हैं तथापि जो कार्य कारण में सर्वथा भेद मानते हैं वे गुणों को सर्वथा नित्य और पर्यायों को सर्वथा अनित्य मानने की सूचना करते हैं पर उनकी यह सूचना इसलिये ठीक नहीं है कि तत्त्वतः विचार करने पर द्रव्य, गुण और पर्याय सर्वथा पृथक् पृथक् सिद्ध नहीं होते किन्तु जैन परम्परा में इन सब में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है इसलिये जैसे द्रव्य नित्यानित्य प्राप्त होता है वैसे गुण भी कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि द्रव्य से गुण और पर्याय में सर्वथा भेद नहीं है तथापि भेदवादी इनमें भेद मानकर ऐसी आशंका करते हैं कि गुण और पर्याय से पृथक् होने के कारण द्रव्य भले ही नित्यानित्य रही आवे, पर इससे गुण नित्यानित्य नहीं प्राप्त होते। किन्तु गुणों को सर्वथा नित्य और पर्यायों को सर्वथा अनित्य मान लेना चाहिये? पर विचार करने पर यह आशंका भी ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि, जैन

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः ॥ १३७ ॥

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोऽपि चान्वयिनः ।
अर्थाश्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

परम्परा में गुण और पर्यायों से द्रव्य को सर्वथा पृथक् नहीं माना है। किन्तु समुच्चय रूप से गुण और पर्यायों को ही द्रव्य माना है। द्रव्य नाम की कोई भी वस्तु गुण और पर्यायों से पृथक् नहीं पाई जाती, इसलिये द्रव्य के नित्यानित्य सिद्ध होने पर उससे अभिन्न गुण भी कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि नैयायिक और वैशेषिक कुछ गुणों को सर्वथा नित्य और कुछ गुणों को सर्वथा अनित्य मानते हैं। उनके मत से कारण द्रव्य के गुण सर्वथा नित्य हैं और कार्य द्रव्य के गुण अनित्य हैं। अपने इस मत की पुष्टि में उनका कहना है कि कच्चे घड़े को अग्नि में पकाने पर उसके पहले के गुण नष्ट होकर नये गुण उत्पन्न होते हैं। वैशेषिक तो इससे एक कदम और आगे बढ़ कर यहां तक कहते हैं कि अग्नि में घड़े के पकाने पर अग्नि की ज्वालाओं के कारण अवयवों के संयोग का नाश हो जाने पर असमवायी कारण के नाश से श्याम घट नष्ट हो जाता है। फिर परमाणुओं में रक्त रूप की उत्पत्ति होकर द्व्यणुक आदि के क्रम से लाल घड़े की उत्पत्ति होती है। पर विचार करने पर उनका यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि घड़े की कच्ची अवस्था बदल कर पकी अवस्था के उत्पन्न होते समय यदि घड़े के मिट्टीपने का नाश माना गया होता तो कदाचित् उक्त कथन घटित होता। किन्तु जब पाक अवस्था में मिट्टी का नाश नहीं होता है तब मिट्टी में रहने वाले गुणों का नाश तो बन हो नहीं सकता है क्योंकि किसी वस्तु का अपने गुणों को छोड़ कर और दूसरा कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये गुण कथंचित् नित्यानित्य हैं यही सिद्ध होता है। इस पर फिर भी भेदवादियों का कहना है कि द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं और उनमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले गुण भिन्न हैं, इसलिये द्रव्य में जैसे उत्पादादिक तीन घटित हो जाते हैं वैसे वे गुणों में घटित नहीं होते हैं। पर इस व्यवस्था के मानने पर दो आपत्तियां आती हैं। प्रथम तो ऐसा मानने से गुणों में क्षणिकता का प्रसंग आता है, क्योंकि सर्वथा भिन्न दो वस्तुओं के संयोग को सर्वथा नित्य मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार यदि गुणों में क्षणिकता आती है तो रही आवे, इसमें क्या आपत्ति है। पर विचार करने पर यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से इस कथन में विरोध आता है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से कालान्तरावस्थायी रूप से ही गुणों की प्रतीति होती है, अतः गुण क्षणिक होते हैं यह बात अनुभव के परे है। तथा दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि गुणों को द्रव्य से भिन्न माना जाता है तो फिर एक साथ एक वस्तु में अनेक गुण नहीं प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु हम देखते हैं कि आम में एक साथ रूप आदि अनेक गुण पाये जाते हैं, अतः उक्त दोष न प्राप्त हों इसलिये गुणों को द्रव्य से कथंचित् अभिन्न मान कर द्रव्य के समान गुणों में भी उत्पादादिक तीन घटित कर लेने चाहिये।

प्रकारान्तर से गुण का विचार—

अब यहाँ पर दूसरे शब्दों में गुण का लक्षण कहते हैं। जैसे कि आत्मा, चिदात्मा और ज्ञानात्मा ये तीनों पर्याय वाचक शब्द हैं वैसे ही यह दूसरे शब्दों में कहा जाने वाला गुण का लक्षण भी उसी अर्थ को व्यक्त करता है जिसका कि पहले कथन कर आये हैं॥ १३७॥ गुण का वह लक्षण दूसरे शब्दों में इस प्रकार है कि गुण, सहभू, अन्वयी और अर्थ ये सब शब्द एकार्थक हैं अर्थात् ये एक अर्थ के वाचक

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत् क्रमात्मानः ॥ १३९ ॥

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत् ।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥ १४० ॥

ननु चैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषङ्गत्वात् ।
पर्यायः पृथगिति चेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोऽन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ १४३ ॥

अयमन्वयोऽस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात्स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः ॥ १४४ ॥

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेऽपि ।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥ १४५ ॥

हैं ॥ १३८ ॥ सह, सार्धं और समं इन तीनों शब्दों का अर्थ एक ही है, इसलिये उक्त शब्दों में से सहभू शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ यह है कि जो एक साथ हैं। तात्पर्य यह है कि गुण युगपत् हैं पर्यायों के समान क्रम क्रम से अर्थात् एक के बाद दूसरा इत्यादि क्रम से नहीं होते हैं ॥ १३९ ॥

शंका—जो द्रव्य के साथ मिलकर होते हैं वे सहभू कहलाते हैं, यदि सहभू शब्द का इस प्रकार व्युत्पत्ति अथ किया जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गुणों से द्रव्य पृथक् हैं इसका पहले ही निषेध कर आये हैं ॥ १४० ॥ दूसरे जो द्रव्य के साथ होते हैं वे गुण हैं यदि गुण का इस प्रकार लक्षण किया जाता है तो अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार पर्यायें भी गुण ठहरती हैं। अब यदि इस दोष का वारण करने के लिये पर्यायों को पृथक् माना जाता है तो सर्वसंकर दोष का निवारण करना कठिन हो जाता है इसलिये जो द्रव्य के साथ मिलकर होते हैं वे सहभू कहलाते हैं सहभू शब्द का यह अर्थ न करके पूर्वोक्त अर्थ करना ही ठीक है ॥ १४१ ॥

अन्वय शब्द में अनु यह पद अव्युच्छिन्न प्रवाहरूप अर्थ का द्योतक है और अय धातु का अर्थ गमन करना है, इसलिये अन्वय शब्द का सार्थक अर्थ द्रव्य होता है ॥ १४२ ॥ इस हिसाब से सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु अर्थ, विधि, ये सब शब्द सामान्यरूप से एक ही अर्थ के वाचक ठहरते हैं ॥ १४३ ॥ इस प्रकार पहले जो अन्वय का अर्थ किया है वह गुणों में घटित होता है इस लिये गुण अन्वयी कहलाते हैं। सारांश यह है कि वस्तु का स्वभाव होने से गुण स्वतः सपक्ष अर्थात् स्वतः सिद्ध हैं उन्हें पर्यायों की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है ॥ १४४ ॥

शंका—यद्यपि गुणों में सत्ता का अन्वय पाया जाता है तो भी उनमें व्यतिरेकीपना होना चाहिये, क्योंकि वे अनेक हैं, इसलिये उनमें भाव व्यतिरेक बन जाता है ?

तन्न यतोऽस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेऽप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥ १४६ ॥

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोऽपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥ १४७ ॥

अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या ।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेऽपि कालव्यतिरेकः ॥ १४९ ॥

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः ॥ १५० ॥

यदि पुनरेवं न स्यात् स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैषः ।
एकांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न बाधितत्वात्प्राक् ॥ १५१ ॥

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोऽपि सन्ति गुणाः ॥ १५२ ॥

किन्त्वेकशः स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण ।
अथ चैकशः स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक और अन्वय में परस्पर भेद है। व्यतिरेकी अनेक होते हैं और अन्वयी गुण नियम से एक है ॥ १४६ ॥

जैसे जो एक देश है वह वही है दूसरा नहीं है और जो दूसरा देश है वह पहला नहीं है किन्तु वह वही है यह देश व्यतिरेक है ॥ १४७ ॥ और जो एक देश जितने क्षेत्र में रहता है वह वही क्षेत्र है दूसरा नहीं है और जो दूसरा क्षेत्र है वह दूसरा ही है पहला नहीं यह क्षेत्र व्यतिरेक है ॥ १४८ ॥ इसी प्रकार एक समय में जो भी अवस्था होती है वह वही है दूसरी नहीं हो सकती और जो दूसरे समय में अवस्था होती है वह दूसरी ही है पहली नहीं हो सकती, यह काल व्यतिरेक है ॥ १४९ ॥ तथा जो कोई एक गुणांश है वह वही है अन्य नहीं हो सकता और जो दूसरा गुणांश है वह दूसरा ही है पहला नहीं हो सकता यह भावव्यतिरेक है ॥ १५० ॥ यदि व्यतिरेक को ऐसा न माना जाय तो पुनः पुनः 'वह यही है वह यही है' इस प्रकार का प्रत्यय होने लगेगा जिससे समग्र वस्तु एकांश देशमात्र प्राप्त हो जायगी। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि एकांश देशमात्र वस्तु की स्वीकारता में पहले ही बाधा दे आये हैं ॥ १५१ ॥ सारांश यह है कि जितनी भी पर्यायें हैं वे एक एक समय की पृथक् पृथक् कही गई हैं इसलिये अनेक होने पर जिस प्रकार वे व्यतिरेकी हैं उस प्रकार अनेक होने पर भी गुण व्यतिरेकी नहीं हैं ॥ १५२ ॥ किन्तु एक बार अपनी बुद्धि में यदि ज्ञान ही आया है तो आत्माका सर्वस्व होने के कारण ज्ञान ही जीव ठहरता है। अथवा एक बार अपनी बुद्धि में यदि दर्शन गुण आया है तो आत्मा का सर्वस्व होने के कारण दर्शन ही

तत एव यथाऽनेके पर्यायाः सैष नेति लक्षणतः ।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥ १५४ ॥
तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥ १५५ ॥
एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥ १५६ ॥
अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥
स्याद् गताविति धातुस्तद्रूपोऽयं निरुच्यते तज्ज्ञैः ।
अन्वर्थोऽनुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोऽपि गुणः ॥ १५८ ॥
अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतःसिद्धाः ।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥
अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेऽपि ।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥ १६० ॥
साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः ।
ते चासाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

जीव ठहरता है ॥ १५३ ॥ इसलिये जिस प्रकार अनेक पर्यायें 'वह यह नहीं है' इस लक्षण से व्यतिरेकी हैं उस प्रकार गुण 'वह यह नहीं हैं' इस लक्षण के न घटने से व्यतिरेकी नहीं हैं ॥१५४॥ अन्वय का लक्षण तो यह है कि ज्ञान ही जीव है ऐसा अनुभव में आते समय यह जीव जितना है, दर्शन ही जीव है ऐसा अनुभव में आते समय भी वह जीव उतना ही है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से ऐसी ही सिद्धि होती है ॥ १५५ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से तथा गुरु के उपदेश से यही क्रम सुखादिक गुणों में भी कहना चाहिये, क्योंकि जो जानता है वह देखता है और वही सुख का अनुभव करता है इस हेतु से उसी बात की सिद्धि होती है ॥ १५६ ॥

अब पहले 'अर्थ' इस संज्ञा द्वारा गुण कहे जाते हैं यह बतलाया जा चुका है सो यह कथन भी रौढिक न होकर यौगिक ही है ॥ १५७ ॥ ऋ एक धातु है, गमन करना उसका अर्थ है। उससे ही यह अर्थ शब्द बना है ऐसा व्याकरण के जानकार कहते हैं। गुणों में अनादि सन्तान रूप से अनुगत रूप अर्थ पाया जाता है इसलिये गुण का 'अर्थ' यह नाम सार्थक ही है ॥ १५८ ॥ सारांश यह है कि गुण भी स्वतः सिद्ध और परिणामी हैं इसलिये नित्यानित्य स्वरूप होने से उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अच्छी तरह से घटते हैं ॥ १५९ ॥

यद्यपि गुणत्व सामान्य की अपेक्षा से सभी गुण समान हैं तथापि इनमें भेद भी है। उनमें कितने ही साधारण गुण हैं और कितने ही असाधारण गुण हैं ॥ १६० ॥ जितने साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण

तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात् ।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ॥ १६२ ॥
संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति ।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥ १६३ ॥

कहलाते हैं और जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं ॥ १६१ ॥ प्रकृत में उनके ऐसा कथन करने का कारण यह है कि साधारण गुणों से द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है और असाधारण गुणों से द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है ॥ १६२ ॥ उदाहरण यह है कि जैसे सत् यह गुण केवल सामान्य द्रव्य का साधक है और ज्ञान यह गुण द्रव्य विशेष का साधक है ॥ १६३ ॥

विशेषार्थ—पहले यह बतला आये हैं कि जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं निर्गुण हैं वे गुण कहलाते हैं। वहां यह भी सिद्ध कर आये हैं कि वे कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होने के कारण उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों अच्छी तरह से घट जाते हैं। अब यहां प्रकृत में गुण के सहभू, अन्वयी और अर्थ ये तीन पर्यायवाची शब्द बतला कर और ये तीनों नाम गुण के कैसे हैं इसकी सम्यक् प्रकार से सिद्धि करके गुणों के साधारण और असाधारण ये दो भेद किये गये हैं। तथा अन्त में इन भेदों की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए यह प्रकरण समाप्त किया गया है। गुणों को सहभू तो इसलिये कहते हैं कि जितने भी गुण हैं वे सब एक साथ हैं। पर्यायों के समान क्रमवर्ती नहीं हैं। आशय यह है कि प्रत्येक गुण की त्रिकालभावी जो अनन्त पर्याय हैं वे सदा सब नहीं पाई जातीं, किन्तु प्रत्येक समय में जुदी जुदी होने से वे क्रमवर्ती हैं। पर यह बात गुणों में नहीं पाई जाती है। अतीत काल में जितने और जो गुण थे वर्तमान में भी उतने और वे ही गुण हैं। इसी प्रकार भविष्य में भी उतने और वे ही गुण रहेंगे इसीलिये गुण सहभू कहे गये हैं। इस सहभू का यदि सहवर्ती अर्थ किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि जितने भी गुण हैं वे सदा एक साथ रहते हैं उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती। सह शब्द दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता है इसलिये इस विषय में यह शंका की जाती है कि जो द्रव्य के साथ होते हैं वे गुण कहलाते हैं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि सहभू शब्द का यह अर्थ समीचीन नहीं है क्योंकि पर्यायें भी द्रव्य के साथ होती हैं इसलिये यह अर्थ पर्यायों में घटित हो जाने के कारण अतिव्याप्त है अतः समीचीन नहीं है। गुण का दूसरा नाम अन्वयी है। अन्वय का अर्थ धारा या परम्परा है। प्रत्येक गुण में सदैव यह धारा पाई जाती है इसलिये गुण अन्वयी कहलाते हैं। माना कि वस्तु में अनन्त गुण होते हैं पर वे वस्तु स्वरूप होने के कारण सपक्षभूत अर्थात् स्वतः सिद्ध हैं। यदि उन्हें सपक्षभूत न माना जाय तो वे एक साथ न रह सकने के कारण क्रमवर्ती सिद्ध हो जायंगे। और ऐसी हालत में क्रमवर्तित्व को व्याप्ति व्यतिरेकित्व से होने के कारण गुण अन्वयी नहीं ठहरेंगे। यतः गुण अन्वयी हैं अतः उन्हें सपक्ष मानना ही ठीक है। यद्यपि यहां यह प्रश्न होता है कि जब कि गुण अनेक हैं और वे एक दूसरे से भिन्न हैं तब उनमें परस्पर व्यतिरेकित्व घट ही जाता है अतः गुणों को अन्वयी न मानकर व्यतिरेकी मानना ही उचित है। पर विचार करने पर यह प्रश्न उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि पर्याय के साथ व्यतिरेकित्व की व्याप्ति जिस प्रकार घटित होती है वैसी गुण के साथ नहीं, इसलिये गुणों को व्यतिरेकी मानना उचित नहीं है। व्यतिरेकित्व का स्पष्ट खुलासा करने के लिये प्रसंगवश यहां पर्याय के स्वरूप पर प्रकाश डाल देना उचित प्रतीत होता है। वैसे तो आगे चल कर स्वयं ग्रन्थकार ने पर्याय का विवेचन किया है किन्तु यहां पर्याय सम्बन्धी उन विविध संकेतों पर विचार करना है जिनका उल्लेख ग्रन्थकार ने यत्र तत्र किया है, क्योंकि ऐसा किये बिना चार प्रकार के व्यतिरेकों की सिद्धि नहीं की जा सकती है। सर्व प्रथम ग्रन्थकार ने द्रव्य में प्रदेश विभाग की सूचना करते हुए पर्याय

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथागमतः।
सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥१६४॥

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च ॥ १६५ ॥

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक्।
अवशिष्टविशेषमितः क्रमतः संलक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १६६ ॥

के विषय में यह निर्देश किया है कि द्रव्य में अंश कल्पना करना यही पर्यायों का स्वभाव है। इसके आगे गुण पर्याय और द्रव्य पर्याय के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि गुणों में जो गुणांश होते हैं वे ही गुण पर्याय हैं और द्रव्य में प्रदेश विभाग ही द्रव्य पर्याय है। इन उल्लेखों से इतना पता तो लग ही जाता है कि ग्रन्थकार अखण्ड और एक वस्तु या गुण में विभाग के किये जाने को पर्याय मानते हैं। आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार ने जो पर्याय का लक्षण किया है उससे भी इसी मान्यता की पुष्टि होती है। वहां बतलाया है कि जो व्यतिरेकी हो, अनित्य हो, क्रमवर्ती हो और उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वभाव हो वह पर्याय है। इससे हमें इस बात का पता सहज ही लग जाता है कि ग्रन्थान्तरों में जो पर्याय का लक्षण कालभेद की अपेक्षा किया गया है उससे पर्याय का यह लक्षण व्यापक है। परीक्षामुख में विशेष के व्यतिरेक विशेष और पर्याय विशेष ये दो भेद किये गये हैं वे दोनों भेद पर्याय का उक्त लक्षण मानने पर ही घटित हो सकते हैं अन्य प्रकार नहीं। मालूम होता है कि पंचाध्यायीकार के सामने पर्याय का लक्षण करते समय यही दृष्टि रही है। इस प्रकार पर्याय के लक्षण के सुघटित हो जाने पर ग्रन्थकार के द्वारा बतलाया गया चार प्रकार के व्यतिरेकों का स्वरूप अच्छी तरह से घट जाता है। द्रव्य व्यतिरेक में द्रव्यों का प्रदेश भेद विवक्षित है। क्षेत्र व्यतिरेक में द्रव्यों का क्षेत्र भेद विवक्षित है। काल व्यतिरेक में द्रव्यों की प्रति समय होनेवाली पर्यायों का भेद लिया गया है और भाव व्यतिरेक में गुणों में गुणांशों की अपेक्षा होनेवाला तरतम भाव लिया गया है। यतः इस प्रकार का व्यतिरेक गुणों में नहीं पाया जाता क्योंकि जिस समय हम द्रव्य को जिस गुण रूप देखते हैं उस समय वह तन्मात्र प्रतीत होता है अतः गुण व्यतिरेकी सिद्ध न होकर अन्वयी ही सिद्ध होते हैं। गुणों का तीसरा नाम अर्थ है अर्थ शब्द गमनार्थक 'ऋ' धातु से बना है। यतः गुण अन्वय प्रधान होता है अतः उसे 'अर्थ' शब्द द्वारा कहने में भी आपत्ति नहीं है। इस प्रकार यद्यपि गुण सहभू, अन्वयी और अर्थ रूप प्राप्त होते हैं तथापि उन्हें सर्वथा नित्य मान लेना उचित नहीं है। किन्तु गुण द्रव्यों के समान कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होते हैं। सामान्य की अपेक्षा वे नित्य होते हैं और अपने गुणांशों की अपेक्षा वे अनित्य होते हैं यह इसका तात्पर्य है। इस प्रकार द्रव्यों में जितने भी गुण प्राप्त होते हैं वे दो भागों में बट जाते हैं—साधारण गुण और असाधारण गुण। इनमें से जो गुण सामान्य रूप से सब द्रव्यों में पाये जाते हैं वे साधारण गुण हैं। जैसे अस्तित्व आदि। और जो प्रत्येक द्रव्य में पाये जाते हैं वे असाधारण गुण हैं। जैसे जीव के ज्ञान आदि गुण व पुद्गल के रूप आदि गुण ॥ १३७–१६३ ॥

पर्याय का विचार—

प्रकृत में गुणों को लक्ष्य करके आगम के अनुसार उनका लक्षण कहा। अब यहाँ पर्यायों को लक्ष्य करके उनका लक्षण कहते हैं ॥ १६४ ॥ जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक होती हैं वे पर्याय कहलाती हैं ॥ १६५ ॥ उनमें से पर्यायों का व्यतिरेकीपना तो प्रायः पहले ही भले प्रकार से बतलाया जा चुका है। अब शेष विशेषताओं को यहाँ क्रम से शक्त्यनुसार बतलाते हैं

अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे ।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः ॥ १६७ ॥

वर्तन्ते तेन यतो भवितुंशीलास्तथा स्वरूपेण ।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ॥ १६८ ॥

अयमर्थः प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैकः ।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथादेशम् । १६९ ॥

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥ १७० ॥

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेऽपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्माः ॥ १७१ ॥

तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा ।
अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥ १७२ ॥

तस्मात् व्यतिरेकित्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः ।
सोऽयं भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ॥ १७३ ॥

विष्कम्भः क्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य ।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥ १७४ ॥

क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च ।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति ॥१७५॥

॥ १६६ ॥ 'क्रम' धातु है जो पाद विक्षेप अर्थ में प्रसिद्ध है। अपने अर्थ के अनुसार क्रम यह उसी का रूप है ॥ १६७ ॥ यतः क्रम से जो वर्तन करें अथवा क्रम रूप से होने का जिनका स्वभाव है या क्रम ही जिनमें होता रहे अतः पर्यायें सार्थकरूप से क्रमवर्ती कहलाती हैं ॥ १६८ ॥ आशय यह है कि पहले एक पर्याय का नाश करके एक अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। फिर उसका नाश हो जाने पर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। यद्यपि पर्यायों का ऐसा क्रम चालू रहता है तथापि यह अपने द्रव्य के अनुसार ही होता है ॥१६९॥

शंका—यदि व्यतिरेक और क्रम में कोई भेद है तो शब्दकृत ही रहा आवे, क्योंकि इन दोनों का एक ही अर्थ है। अब यदि पारमार्थिक भेद है तो बतलाना चाहिये कि वास्तव में इनमें क्या भेद है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि दोनों में पर्यायधर्म समान है तथापि यह विशेषता है कि स्थूलरूप से प्रतिभासित होनेवाली पर्यायों में सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन हैं ॥१७१॥ व्यतिरेक वहाँ होता है जहाँ द्रव्यों के सदृश अंशों में परस्पर के अभावरूप से पृथक् पृथक् अंशविभाग किया जाता है ॥ १७२ ॥ अतएव जो पर्याय स्थूल से भी स्थूल है व्यतिरेकीपना उसी में घटित होता है, क्योंकि 'वह यह है' और 'वह यह नहीं है' इतने मात्र से ही उसकी सिद्धि होती है ॥ १७३ ॥ तथा क्रम विष्कम्भ को कहते हैं या जो पर्यायजात के प्रवाह का कारण है वह भी क्रम कहलाता है। पर्यायों में तथात्व है या अन्यथात्व, क्रम में यह कुछ भी विवक्षित नहीं है ॥ १७४ ॥ किन्तु जो क्रमवर्तीपना व्यतिरेकपूर्वक होता है उसमें 'यह वह

ननु तत्र किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि ।
सोऽयं यः प्राक् स तथा यथेति यः प्राक् तु निश्चयादिति चेत्॥१७६॥

तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य न तथेत्यनित्यस्य प्रतीत्वात् ॥ १७७ ॥

अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतःसिद्धम् ।
प्रतिसमयं परिणमते पुनः पुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥ १७८ ॥

इदं भवति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोंशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥ १७९ ॥

तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्यः ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोऽपि नयात् ॥ १८० ॥

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदिव यथा ।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादिति चेत् ॥ १८१ ॥

सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वह्निः ।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥ १८२ ॥

है किन्तु वह नहीं है' अथवा 'यह वैसा है किन्तु वैसा नहीं है' यह विशेषता अवश्य पाई जाती है ॥ १७५ ॥

शंका—जब कि क्रम से अन्यथा भाव माननेमें यह प्रमाण है कि 'जो पहले था वह यह है' और 'जो जैसा पहले था वह वैसा अब भी है' तब ऐसा कौन सा प्रमाण है जिससे क्रम की सिद्धि की जाय ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवमूलक प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा अनुमान प्रमाण से 'वह वैसा ही है' इस प्रकार के नित्य की और 'वह वैसा नहीं है' इस प्रकार के अनित्य की प्रतीति होती है ॥ १७७ ॥ सारांश यह है कि जिस प्रकार द्रव्य स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार वह नियम से परिणामी भी है। अतः वह द्रव्य प्रति समय प्रदीप की शिखा के समान बार बार परिणमन करता रहता है ॥ १७८ ॥ किन्तु वह परिणमन पूर्व पूर्व पर्याय के नाश द्वारा नष्ट होने वाले अंश का अथवा उत्तर उत्तर पर्याय के उत्पादद्वारा उत्पन्न होने वाले अंश का होता है ॥ १७९ ॥ वह इस प्रकार है कि जैसे गोरस दूध से दही रूप में बदल जाता है वैसे ही जो जीव मनुष्य से देव होता है वह बदल गया है यह कैसे नहीं माना जायगा अर्थात् अवश्य मानना पड़ेगा ॥ १८० ॥

शंका—इस प्रकार अन्यथाभाव के ऐसा मानने से तो मालूम होता है कि सत् की तरह कुछ असत् भी पैदा हो जाता है और असत् की तरह कुछ सत् भी विनष्ट हो जाता है, क्योंकि समानता और असमानता रूप परिणमन के देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ १८१ ॥ अग्नि का उष्णरूप परिणमन करते रहना यह सदृशोत्पाद का उदाहरण है और आम्रफल का हरे से पीला हो जाना यह असदृशोत्पाद का उदाहरण है ॥ १८२ ॥

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा ।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥ १८३ ॥

अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोऽप्युत्तरत्र भावश्च ।
भूत्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नो न भाव इह कश्चित् ॥ १८४ ॥

दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन् ।
उत्तरकालेऽपि तथा जलप्रवाहः स एव परिणामी ॥ १८५ ॥

यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव ।
अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥ १८६ ॥

दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात् ॥ १८७ ॥

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहाच्च ॥ १८८ ॥

अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम् ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥ १८९ ॥

तदिदं यथा हि संविद् घटं परिच्छिन्दर्दिहैव घटमात्रम् ।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छच्च लोकमात्रं स्यात् ॥ १९० ॥

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वभाव से ही असत् का उत्पाद और सत् का विनाश नहीं होता है किन्तु जो उत्पादादि तीन होते हैं वे भी वस्तु का जैसा स्वभाव है तद्रूप ही होते हैं ॥ १८३ ॥ इसका यह तात्पर्य है कि पहले जो भाव था उत्तर काल में भी वही भाव रहता है । भाव का अर्थ होकर होना है । किन्तु प्रकृत में जो सर्वथा नष्ट होता है और सर्वथा उत्पन्न होता है ऐसा कोई भाव नहीं माना गया है ॥ १८४ ॥ इसके उदाहरण रूप में जल का प्रवाह लिया जा सकता है । परिणमनशील जो जल का प्रवाह पूर्व समय में है परिणमन करता हुआ वही जल का प्रवाह उत्तर काल में भी पाया जाता है ॥ १८५ ॥ तथापि द्रव्य में यह जो विसदृशता प्रतीत होती है सो वह अपनी जाति का त्याग किये विना क्रम से होने वाले देशांशों के अवगाहन गुण के निमित्त से ही प्रतीत होती है ॥ १८६ ॥ उदाहरणार्थ एक जीव के प्रदेश असंख्यात प्रदेशी लोक के बराबर होते हैं सो उनकी हानि अथवा वृद्धि केवल अवगाहन की विशेषता से होती है द्रव्य की अपेक्षा से नहीं ॥ १८७ ॥ अथवा दीपशिखा का प्रमाण जितना होता है वह उतना ही अवस्थित रहता है तथापि वह दीपशिखा गृह-भाजन की विशेषता से और अवगाहन की विशेषता से न्यूनाधिक होती रहती है ॥१८८॥ अंशों के अवगाह में यह दृष्टान्त है कि यद्यपि ज्ञान अपने अंशों में अवस्थित है तथापि ज्ञेय के आकार-रूप से परिणत हुआ ज्ञान ज्ञेयाकाररूप से घटता बढ़ता रहता है किन्तु अपने अंशों के द्वारा नहीं घटता बढ़ता ॥ १८९ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान घट को जानता है उस समय वह घटमात्र है । अथवा

न घटाकारेऽपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः ।
लोकाकारेऽपि चितो नियतांशानां न चासदुत्पत्तिः ॥ १९१ ॥

किन्त्वस्ति च कोऽपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः ।
नाम्ना चागुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥ १९२ ॥

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न सम्भवति ।
अपि नोपादानं किल कारणं न फलं तदन्यात् ॥ १९३ ॥

अपि च गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥ १९४ ॥

तन्न यतः परिणामी द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येऽर्थे ॥ १९५ ॥

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥ १९६ ॥

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव ।
यस्मादेवास्य सतस्तद् द्वयमपि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात् ।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

जिस समय वह सम्पूर्ण लोक को प्रत्यक्ष जानता है उस समय वह लोकमात्र है ॥ १९० ॥ तथापि घटाकार होने पर ज्ञान के शेष अंशों का सर्वथा नाश नहीं होता है और उस ज्ञान के नियत अंशों के लोकाकार होने पर असत् की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १९१ ॥ किन्तु वचनों के अगोचर और स्वतः सिद्ध एक अगुरुलघु नाम का गुण है जिसका ज्ञान गुरु के उपदेश से और स्वानुभव प्रत्यक्ष से होता है उसी निमित्त से यह सब व्यवस्था सिद्ध होती है ॥ १९२ ॥

शंका— किसी शक्ति का न तो नाश ही होता है और न उत्पाद ही होता है यदि ऐसा माना जाता है तो द्रव्य के सदा एकरूप रहने के कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं घट सकते हैं और न कोई किसी का उपादान कारण ही बन सकता है और न उपादेय कार्य ही बन सकता है। दूसरे अपने अंशों का अपकर्ष मानने पर गुण दुर्बल क्यों नहीं हो जाता और उत्कर्ष मानने पर बलवान् क्यों नहीं हो जाता ? इस प्रकार यह एक महान् दोष प्राप्त होता है जिसका निराकरण करना कठिन है ?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्य परिणामी है यह पहले अच्छी तरह से बतला आये हैं इसलिये उसमें उत्पादादि तीन अच्छी तरह से घट जाते हैं। किन्तु द्रव्य को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर यह बात नहीं बनती है ॥ १९५ ॥ उदाहरणार्थ—सोने के होने पर उसमें कुण्डलादिक भाव होते हैं और उन कुण्डलादिक भावों के होने पर ही उत्पादादिक तीन सिद्ध होते हैं ॥ १९६ ॥ जिस प्रक्रिया से द्रव्य में उत्पादादि तीन की सिद्धि की है उसी प्रक्रिया से उसमें कारण और कार्य की सिद्धि भी कर लेनी चाहिये, क्योंकि ये दोनों भी सत् पदार्थ के ही होते हैं ॥ १९७ ॥ द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा असत् का उत्पाद

और सत् का विनाश तो दूर रहो। किन्तु गुण का जो प्रमाण है तद्रूप वह सदा बना रहता है इसलिये उसमें स्थूलता और कृशता भी नहीं बन सकती है ॥ १९८ ॥

विशेषार्थ—गुणों का विचार करने के बाद पर्यायों का विचार क्रमप्राप्त है। पर्याय का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार ने उसे क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी और उत्पादादिरूप बतलाया है। इनमें से उत्पादादि तीन के विषय में आगे विस्तार से विचार किया जायगा इसलिये यहां इनके स्वरूप के विषय में अधिक नहीं लिखा है। अब रहे शेष विशेषण सो उनमें से व्यतिरेकित्व के विषय में पहले बहुत कुछ लिख आए हैं इसलिए उसे छोड़कर क्रमवर्तित्व के विषय में विचार करते हैं। पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं इसका अर्थ है कि पर्यायें एक के बाद दूसरी इस क्रम से होती हैं। उदाहरणार्थ पिण्ड, कोश, कुशूल, आढक और घट ये पर्यायें मिट्टी में युगपत् नहीं पाई जातीं किन्तु क्रम से होती हैं इसलिये वे क्रमवर्ती कहलाती हैं। आशय यह है कि प्रति समय एक पर्याय का स्थान दूसरी पर्याय लेती रहती है, यह नहीं हो सकता कि एक पर्याय के रहते हुए दूसरी पर्याय हो जाय, इसलिए स्वभावतः पर्यायों में क्रम घटित हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि पर्यायों में क्रमवर्तित्व घटित हो जाता है तथापि व्यतिरेकत्व से इसमें क्या भेद है यह जान लेना जरूरी है। इनमें पार्थक्य जानने के लिये ग्रन्थकार ने दो प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म ऐसी पर्यायें बतलाई हैं। स्थूल पर्यायें वे हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान किया जा सकता है और सूक्ष्म पर्यायें वे हैं, जिन्हें प्रत्यक्षदर्शी ही स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। जब एक स्थूल पर्याय के बाद दूसरी स्थूल पर्याय होती है तब उनमें सदृशता और विसदृशता का स्पष्ट ज्ञान होता है। किन्तु सूक्ष्म पर्यायों में ऐसा ज्ञान नहीं किया जा सकता, इसलिये यद्यपि क्रम तो सूक्ष्म पर्यायों में भी पाया जाता है किन्तु व्यतिरेक सूक्ष्म पर्यायों में घटित न होकर स्थूल पर्यायों में ही घटित होता है। इन दोनों में तात्त्विक भेद यह है कि व्यतिरेक में 'यह वह नहीं है' या 'जैसा पहले था वैसा अब नहीं है' ऐसा बोध होता है किन्तु क्रम में ऐसा बोध नहीं होता। आशय यह है कि व्यतिरेक क्रमपूर्वक ही होता है।

यद्यपि इस प्रकार वस्तु में पर्यायजात की अपेक्षा क्रम की सिद्ध होती है तथापि जो नित्यवादी पदार्थ को सर्वथा नित्य मानते हैं वे क्रमको स्वीकार नहीं करके वस्तु में सर्वथा तथात्व का ही भान करते हैं। उनके मत में बालक का युवा और युवा का वृद्ध होना कल्पनामात्र है, सम्भवतः वे दिन और रात्रिका भेद भी नहीं स्वीकार करना चाहते, क्योंकि ऐसी प्रतीति को वे मिथ्या या मायामूलक मानते हैं। किन्तु विचार करने पर उनका ऐसा कथन करना मिथ्या प्रतीत होता है क्योंकि जो आम पहले हरा था वह पीला होता हुआ देखा जाता है, इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। किन्तु हरे से पीला हो जाने पर भी आम आम ही बना रहता है इसलिये ज्ञात होता है कि पदार्थ नित्य भी है। अब यदि यह सब मान्यता मिथ्या मानी जाती है तो हरे और पीले आम का कार्यभेद अनुभव में नहीं आना चाहिये। हम देखते हैं कि हरा आम खाने में खट्टा लगता है और उसका स्पर्श कठोर होता है। किन्तु इसके विपरीत पीला आम खाने में मीठा लगता है और उसका स्पर्श मृदु होता है। इसलिये जैसे आम में नित्यानित्यता सिद्ध होती है वैसे ही प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा संसार के सभी पदार्थों में यह नित्यानित्यता घटित होती है। दूध से दही हो जाता है फिर भी उसकी गोरस पर्याय नष्ट नहीं होती। या कोई मनुष्य से देव हो जाता है तथापि उसका जीवत्व कायम रहता है। क्या इन उदाहरणों से वस्तु की नित्यानित्यता सिद्ध नहीं होती है अर्थात् अवश्य होती है। इस प्रकार वस्तु के कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य सिद्ध हो जाने पर किन्हीं का कहना है कि जब वस्तु में पूर्व पर्याय का नाश होकर न्यूतन पर्याय का उत्पाद होता है तो उसमें से कुछ सदंश का नाश हो जाता है और असदंश का उत्पाद होता है। यह शंका लौकायतकों की या वैशेषकों की हो सकती है। लौकायतक मानते हैं कि भूत चतुष्टय के योग्य मिश्रण से नवीन चेतन तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वैशेषिकों की मान्यता है कि जब घटादि पदार्थ अवा में दिये जाते हैं तब पुराने अपाकज

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥१९९॥
उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद् द्रव्यं हि तत्त्रितयम् ॥२००॥
तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात् ॥ २०१ ॥
अपि च व्ययोऽपि न सतो व्ययोऽप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः स च परिणामित्वात् सतोऽप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥
ध्रौव्यं सतः कथञ्चित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०३ ॥
तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।
यः पूर्वं परिणामो भवति हि पश्चात् स एव परिणामः ॥ २०४ ॥

गुणों का नाश होकर नवीन पाकज गुण उत्पन्न होते हैं। पर विचार करने पर यह मान्यता समीचीन प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि जिस पदार्थ की जितनी शक्ति होती है वह सदा काल उतनी ही बनी रहती है, उसमें हानि या वृद्धि कभी भी नहीं होती। हमें जो हानि या वृद्धि दिखाई देती है वह अवगाहना कृत ही है, गुणों की नहीं। उदाहरणार्थ एक दीपक को घट में रखने पर वह जितना होता है मकान में रखने पर भी वह उतना ही बना रहता है। यद्यपि घट में दीपक की किरणों का संकोच और मकान में उनका प्रसार हो जाता है तथापि इससे दीपक में न्यूनाधिकता नहीं आती। माना कि घट को जानते समय ज्ञान घटमात्र और समस्त लोक को जानते समय वह लोकमात्र होता है तथापि इससे स्वयं ज्ञान छोटा बड़ा नहीं हो जाता है। ये ऐसे उदाहरण हैं जिनसे अवस्थित वस्तु का समर्थन होता है। तब फिर यह प्रश्न होता है कि जो यह बतलाया है कि वस्तु में और उसमें रहने वाले गुणों में उत्पाद व्यय होता है वह कैसे बन सकता है। सो इसका समाधान यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु गुण हैं जिनके निमित्त से यह उत्पाद व्यय घटित होता है। फिर भी इससे वस्तु के अवस्थितपने में कोई बाधा नहीं आती है ॥१६४-१९८॥

उत्पादादिक के लक्षणों का विचार—

इस प्रकार प्रकृत में आगमानुसार पर्यायों का लक्षण कहा, अब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का यथाशक्ति पृथक् पृथक् लक्षण कहते हैं ॥१९९॥ उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय ये तीन पर्यायों के भेद हैं सत् के नहीं। और उन पर्यायों को पहले द्रव्य बतला आये हैं इसलिए द्रव्य इन तीन रूप होता है यह सिद्ध हुआ ॥२००॥ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनमें से परिणमन करनेवाले उस सत्‌की जो नवीन अवस्था होती है वह उत्पाद कहलाता है क्यों कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तत् और अतत् भाव के समान वस्तु सत् और असत् भाव से निबद्ध है ॥२०१॥ तथा व्यय भी सत् का नहीं होता है किन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है जो कि प्रध्वंसाभावरूप प्राप्त होता है। यतः सत् परिणमनशील है अतः उसके इस प्रकार का व्यय अवश्य पाया जाता है ॥२०२॥ सत् का केवल ध्रौव्य ही हो यह बात नहीं है किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से उसका कथंचित् ध्रौव्य होता है, क्योंकि उत्पाद और व्यय के समान यह ध्रौव्य भी एक अंशरूप है सर्वांशरूप नहीं है ॥२०३॥ अथवा 'जिस वस्तु का जो भाव है उसका व्यय नहीं होना' यह जो ध्रौव्य का लक्षण बतलाया

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमंश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥ २०६ ॥

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥ २०८ ॥

गया है सो उसका ठीक अर्थ यह है कि जो परिणाम पूर्व समय में होता है तदनन्तर भी वही परिणाम होता है ॥२०४॥ जैसे पुष्प का गन्धरूप परिणाम है इसलिये गन्धगुण प्रति समय परिणमन करता रहता है। कुछ गन्ध को अपरिणामी तो माना नहीं जा सकता। यह भी नहीं माना जा सकता कि पहले पुष्प निर्गन्ध था और अब गन्धवाला हो गया है ॥२०५॥

विशेषार्थ—यहां सर्व प्रथम उत्पाद आदि किसके भेद हैं यह बतला कर उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। उत्पाद आदि द्रव्य के भेद न होकर पर्यायों के भेद इसलिये हैं कि वे स्वयं पर्यायरूप हैं। जो जिस रूप होता है उसकी परिगणना उसी में करना उचित है अन्य में नहीं यह स्पष्ट ही है। तथापि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनका समुच्चय द्रव्य है ऐसा मानने में आपत्ति नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि पृथक् पृथक् इनको द्रव्य मान लिया जाय। यदि इनको पृथक् पृथक् द्रव्य माना जाता है तो एक द्रव्य में ये तीनों नहीं प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार इन उत्पाद आदि प्रत्येक को पर्यायरूप सिद्ध करके अब इनके लक्षण का विचार करते हैं—यह तो पूर्व में ही बतला आए हैं कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सत् अर्थात् द्रव्य कथञ्चित् सद्रूप है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथंचित् असद्रूप है। सद्रूप तो इसलिये है कि उसमें सत्त्व या द्रव्यत्व का अन्वय पाया जाता है और असद्रूप इसलिये है कि उसमें प्रति समय परिणमन होता रहता है। यों द्रव्य के सदसद्रूप सिद्ध होने पर वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा माने बिना एक ही वस्तु में सदसद्रूपता नहीं घटित हो सकती है। इस हिसाब से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनमें से प्रत्येक का लक्षण करने पर वह इस प्रकार प्राप्त होता है—परिणमन शील द्रव्य में नूतन अवस्था के उत्पन्न होने को उत्पाद, पूर्व कालीन अवस्थाके विनाश होने को व्यय और धारा की एकरूपता के बने रहने को ध्रौव्य कहते हैं। अथवा जो वस्तु जिस रूप है उसका उसी रूप बना रहना भी ध्रौव्य है। यहां इन तीनों को एक ही वस्तु में घटित करने के लिये फूल के गन्ध गुण का उदाहरण दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जैसे फूल में प्रति समय गन्ध गुण परिणमन करता रहता है फिर भी वह बना रहता है वैसे ही प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी घटित होते हैं ॥ १९९-२०५ ॥

एक सत् उत्पादादि तीन रूप है इत्यादि अनेक प्रश्नों का समाधान—

उन तीनों में उत्पाद और व्यय ये दोनों तो उस सत् की अनित्यता के कारण हैं और ध्रुव नित्यता का कारण है। इस प्रकार ये तीनों ही अंशात्मक भेद हैं ॥ २०६ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सत्त्व सर्वथा नित्य है और गुण कोई नहीं है। तथा परिणतिमात्र उत्पाद और व्यय ये दोनों सत्त्व से सर्वथा भिन्न हैं सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है ॥ २०७ ॥ क्योंकि ऐसा मानने पर सबको पृथक् पृथक देशता का

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥ २०९ ॥

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोऽयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद् द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥ २१० ॥

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावा कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥ २११ ॥

तन्न यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति ।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥ २१२ ॥

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि ।
एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥ २१३ ॥

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव ।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥ २१४ ॥

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोऽपि वा सदिति ।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोऽपि वा ध्रौव्यम् ॥२१५॥

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१६ ॥

प्रसंग प्राप्त होने के कारण गुण, पर्याय, द्रव्य और सत् इनमें से एक की भी सिद्धि नहीं होगी किन्तु सभी विवादापन्न हो जायगा ॥ २०८ ॥ दूसरे प्रकृत में यह दूषण आता है कि जो नित्य है वह नित्य ही रहेगा और जो अनित्य है वह अनित्य ही रहेगा। कोई एक वस्तु अनेक धर्मात्मक सिद्ध न हो सकेगी ॥ २०९ ॥ तीसरे 'यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है' ऐसा जो काल्पनिक भेद होता है सो वह भी द्रव्यान्तर के समान नहीं बन सकेगा ॥ २१० ॥

शंका—यदि ऐसा माना जाय कि द्रव्य और गुण दोनों ही समुद्र के समान नित्य रहे आवें तथा पर्यायें तरंगों के समान उत्पन्न होती रहें और नष्ट होती रहें, तो क्या हानि है ?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह दृष्टान्त प्रकृत अर्थ का ही बाधक है और शंकाकार के द्वारा नहीं कहे गये प्रकृत अर्थ के विपक्षभूत अर्थ का साधक है। अर्थात् वह शंकाकार के पक्ष का बाधक तो है ही साथ ही सिद्धान्त पक्ष का साधक भी है। वह विपक्षभूत अर्थ का किस प्रकार साधक है यह बतलाते हैं—जिस प्रकार तरंगमालाओं से व्याप्त समुद्र एक ही है। उसी प्रकार किसी भी गुण की पर्यायों से सत् सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु जो समुद्र है वे ही तरंगमालाएं हैं क्योंकि वह समुद्र स्वयं ही तरंगरूप से परिणमन करता है। इसलिये स्वयं सत ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही ध्रौव्य है और स्वयं सत् ही व्यय है। सत् से भिन्न न उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है ॥ २१२-२१५ ॥

अथवा शुद्धनय से न उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है किन्तु केवल

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मजति तदा हि तत् त्रितयम् ।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ २१७ ॥

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न स्वतः ।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥ २१९ ॥

तत्रैतदुदाहरणं यद्युत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥ २२० ॥

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥२२१॥

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥ २२२ ॥

संदृष्टिर्मृद् द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥ २२३ ॥

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

एक सत् है ॥ २१६ ॥ सारांश यह है कि यदि भेद विवक्षित होता है तब तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही पृथक् पृथक् प्रतीत होने लगते हैं और यदि मूल में भेद ही विवक्षित नहीं रहता है तो वे तीनों ही प्रतीत नहीं होते हैं ॥ २१७ ॥

शंका—उत्पाद और व्यय इन दोनों को अंशरूप मानने में आपत्ति नहीं है किन्तु ध्रौव्य त्रिकाल गोचर होने से वह अंशरूप कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये तीनों ही सत् के अंश न होकर स्वयं सद्रूप हैं, क्योंकि जैसे पदार्थान्तर पृथक् पृथक होने से अनेक होते हैं उस प्रकार यह सत् नहीं है ॥ २१९ ॥ इस विषय में यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादरूप से विवक्षित होता है तब उत्पादरूप से परिणमन करता हुआ वह केवल उत्पाद मात्र कहा जाता है ॥ २२० ॥ यदि वह केवल व्यय रूप से विवक्षित होता है तब व्यय रूप से परिणमन करने पर वह सत् केवल व्ययमात्र क्यों नहीं होगा, अर्थात् अवश्य होगा ॥ २२१ ॥ इसी प्रकार जब वह सत् ध्रौव्य रूप से विवक्षित होता है तब ध्रौव्यरूप से परिणमन करता हुआ वह सत् उत्पाद और व्यय के समान केवल ध्रौव्यमात्र होता है ॥ २२२ ॥ उदाहरणार्थ जब मिट्टी विद्यमान घटरूप से विवक्षित होती है तब वह केवल घटमात्र कही जाती है और जब अविद्यमान पिण्डरूप से विवक्षित होती है तब वह केवल पिण्डमात्र कही जाती है ॥ २२३ ॥ अथवा जब वह मिट्टी रूप से विवक्षित होती है तब वह केवल मिट्टीमात्र कही जाती है। इसी प्रकार प्रकृत में भी एक

न पुनः सवो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥ २२५ ॥
ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥ २२६ ॥
तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ २२७ ॥
केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांशिनो हि तत्त्रितयम् ॥ २२८ ॥

ही सत् के ये उत्पादादिक तीन अंश हैं यह बात सिद्ध होती है ॥ २२४ ॥ जैसे वृक्ष में फल, फूल और पत्ते पृथक् पृथक् होते हैं वैसे ही सत् का किसी एक अंश के द्वारा उत्पाद, किसी एक अंश के द्वारा व्यय और किसी एक अंश के द्वारा ध्रौव्य हो सो यह बात नहीं है। किन्तु यह बात है कि सत् ही उत्पादरूप है, सत् ही व्ययरूप है और सत् ही ध्रौव्यरूप है। आशय यह है कि जैसे वृक्ष में फल फूल और पत्ते पृथक् पृथक् रहते हैं वैसे ही सत् में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक् पृथक् नहीं रहते ॥ २२५ ॥

शंका—ये उत्पादादिक तीनों पृथक् पृथक् क्या अंशों के होते हैं या अंशी के होते हैं, या सद्रूप अंशमात्र है या असद्रूप अंशमात्र हैं ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहां पर अनेकान्त बलवान है सर्वथा एकान्त नहीं। इसलिये अनेकान्त पूर्वक जो भी कथन किया जाता है वह सब अविरुद्ध सिद्ध होता है किन्तु अनेकान्त के बिना किया गया कथन परस्पर में विरोधी ठहरता है॥२२७॥केवल अंशों का न उत्पाद होता है, न व्यय होता है और न ध्रौव्य होता है। इसी प्रकार अंशी का भी न उत्पाद होता है, न व्यय होता है और न ध्रौव्य होता है किन्तु इसके विपरीत अंशी का अंशरूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है ऐसा यहां जानना चाहिये॥२२८॥

विशेषार्थ—यहां उत्पादिक के सम्बन्ध में विचार करते हुए निम्न बातों पर प्रकाश डाला गया है।

(१) द्रव्य में जो नित्यानित्य व्यवहार होता है सो इन उत्पादादिक में से इस व्यवहार के प्रयोजक कौन हैं ?

(२) व्यय और उत्पाद ये सत् से भिन्न हैं या अभिन्न ?
(३) द्रव्य और गुणों को नित्य और पर्यायों को अनित्य मानने में क्या आपत्ति है ?
(४) शुद्ध और अशुद्ध नय से उत्पादादिक का विचार।
(५) उत्पादादिक तीनों अंशरूप कैसे सिद्ध होते हैं ?
(६) ये उत्पादादिक तीनों किसके होते हैं ?

अब ग्रन्थ के अनुसार इनका क्रम से विचार करते हैं—

(१) प्रथम प्रश्न का विचार करते हुए ग्रन्थकार ने जो कुछ बतलाया है उसका आशय यह है कि यतः उत्पाद और व्यय एक क्षणवर्ती हैं अतः वे द्रव्य में अनित्यता के प्रयोजक हैं, क्यों कि एक क्षणवर्तित्व का अनित्यता के साथ में अविनाभाव सम्बन्ध है। और ध्रौव्य त्रिकाल गोचर होता है इसलिये वह नित्यता का प्रयोजक है।

(२) शंका यह है कि सत नित्य रहा आवे तथा व्यय और उत्पाद अनित्य हो कर भी सत् से जुदे रहे आवें। ग्रन्थकार ने इस प्रश्न का तीन प्रकार से समाधान किया है। (अ) इसके उत्तर में सर्व प्रथम ग्रन्थकार का यह कहना है कि यदि सत्, गुण और पर्याय को पृथक् पृथक् मान लिया जाता है तो इन सबका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। यद्यपि ग्रन्थकार ने इनको जुदा जुदा मान लेने पर इनका अस्तित्व खतरे में क्यों पड़ जाता है इसका अलग से समाधान नहीं किया है। किन्तु सर्वथा भेद पक्ष के मानने पर जो अन्यत्र दोष बतलाये हैं वे सब यहाँ प्राप्त होते हैं, इसी बात को ध्यान में रख कर ग्रन्थकार ने यह अन्तिम सूचना की है। यहाँ नित्यानित्य पक्ष को गौण करके केवल भेदपक्ष को ध्यान में रखकर यह दोष दिया गया है। (आ) दूसरा उत्तर पूरे प्रश्न को ध्यान में रख कर दिया गया है। प्रश्नकर्ता सत् और परिणाम में भेद मानकर एक को नित्य और दूसरे को अनित्य मानने की सूचना करता है। इस पर ग्रन्थकार ने यद्यपि 'एक में अनेक धर्म नहीं बनते' यह युक्ति देकर प्रश्नकर्ता की बात को ही दुहरा दिया है। प्रश्नकर्ता का यह कहना रहा कि सत् को नित्य और परिणाम को अनित्य मान लिया जाय। उत्तर में ग्रन्थकर्ता भी यही कहता है कि इस प्रकार जो नित्य है वह नित्य ही रहेगा और जो अनित्य है वह अनित्य रहेगा। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह कोई दूषण थोड़े ही हुआ। जब प्रश्नकर्ता को यह बात इष्ट ही है तब उसी बात को उत्तर करते समय दुहरा देने से क्या लाभ है? परन्तु जब हम यह देखते हैं कि वस्तु न तो सर्वथा नित्य ही सिद्ध होती है और न सर्वथा अनित्य ही ऐसी हालत में प्रश्नकर्ता को ग्रन्थकार ने व्याजोक्ति से जो यह उत्तर दिया है कि 'सत् को नित्य और परिणाम को अनित्य मानने पर जो नित्य है वह नित्य ही प्राप्त होगा और जो अनित्य हैं वह अनित्य ही प्राप्त होगा वह समीचीन ही उत्तर दिया है। (इ) तीसरे उत्तर द्वारा ग्रन्थकर्ता ने यह बतलाया है कि यदि सत् को नित्य मान कर व्यय और उत्पाद को उससे भिन्न माना जायगा तो द्रव्य, गुण, पर्याय ये नहीं बन सकेंगे। यत: इनकी एक ही वस्तु में प्रतीति होती है अत: सत् को सर्वथा नित्य तथा उत्पाद और व्यय को उससे भिन्न नहीं मानना चाहिये।

(३) शङ्काकार का यह कहना है कि द्रव्य और गुण नित्य रहे आवें और पर्यायें अनित्य रही आवें। इस शङ्का का जो समाधान किया है उसका आशय यह है कि जैसे तरंगमालाओं से समुद्र को जुदा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये भी सत् से जुदे नहीं है। जब उसे उत्पादरूप से देखते हैं तो उत्पादमय दिखाई देता है। जब व्ययरूप से देखते हैं तो व्ययरूप दिखाई देता है और जब ध्रौव्यरूप से देखते हैं तो केवल ध्रौव्यरूप से दिखाई देता है। वही सत् उत्पाद है, वही सत् व्यय है और वही सत् ध्रौव्य है। सत् इनसे जुदा नहीं और न ये ही सत् से जुदे हैं।

(४) इस प्रकार जब एक सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप बतलाया गया है तब यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि एक अनेकरूप कैसे हो सकता है। आगे इस प्रश्न को मनमें रख कर ग्रन्थकार ने नय दृष्टि से समाधान किया है। उसका भाव यह है कि शुद्ध अर्थात् अभेद दृष्टि से विचार करने पर वह न उत्पादरूप प्रतीत होता है, न व्ययरूप प्रतीत होता है और न ध्रौव्यरूप प्रतीत होता है किन्तु एक सत् ही शेष रह जाता है। किन्तु जब भेद दृष्टि से विचार करते हैं तो उसमें उत्पाद आदि इन सब की प्रतीति होने लगती है इसलिये नयदृष्टि से जो एक है उसे ही अनेकरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं। उदाहरण के लिये सोना लिया जा सकता है। एक ही सोना जब कटकादि पर्यायोंरूप से विवक्षित होता है तब वह अनेकरूप प्रतीत होता है और जब ये सब पर्यायें गौण कर दी जाती हैं तब शुद्ध एक सोना ही दिखाई देता है। इसी प्रकार प्रकृत में जान लेना चाहिये।

(५) इस प्रकार जब एक सत् के उत्पादादिक तीनों सिद्ध हो गये तब यह प्रश्न हुआ कि ये तीनों अंशरूप कैसे सिद्ध होते हैं। शङ्काकार का कहना है कि कदाचित् उत्पाद और व्यय को अंशरूप मान लिया

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत् ॥ २२९ ॥
सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत् त्रयाणां हि ।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥ २३० ॥
क्वापि कुतश्चित् किञ्चित् कस्यापि कथञ्चनापि तन्न स्यात् ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोऽप्यदृष्टान्तात् ॥ २३१ ॥

भी जाय तो भी ध्रौव्य अंशात्मक प्राप्त नहीं होता । इस शङ्का का जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि जिस प्रकार वृक्ष में फल, फूल, शाखा आदि पृथक् पृथक् अवयव होते हैं उस प्रकार ये नहीं हैं किन्तु एक ही सत् जब उत्पादरूप से विवक्षित होता है तब वह उत्पादरूप प्रतीत होता है। और जब ध्रौव्यरूप विवक्षित होता है तब वह ध्रौव्यरूप प्रतीत होता है, इसलिये इन तीनों को सत् के अंश मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

(६) इस प्रकार यद्यपि ये सत् के अंश सिद्ध हो जाते हैं तथापि वे सत् से कथञ्चित् अभिन्न और सर्वांग होने के कारण इस विषय में फिर भी चार प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिनका उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं किया है। ग्रन्थकार ने इन सब प्रश्नों का अनेकान्त दृष्टि से जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि न तो केवल अंशों का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बनता है और न अंशी का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बनता है, किन्तु अंशी का अंशरूप से यह सब सुघटित हो जाता है। आशय यह है कि जिस प्रकार अवयवों के सिवा शरीर सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है उसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के सिवा सत् भी सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है।

इस प्रकार इतने कथन द्वारा गुण क्या है गुणी क्या है और उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कैसे घटित होते हैं इसका विचार किया। साथ ही यह बतलाया कि उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ॥२०६-२२८॥

एक ही पदार्थ में उत्पादादि तीन के अस्तित्व का समर्थन—

शंका—एक ही पदार्थ में अन्वर्थ से अथवा बचनमात्र से उत्पाद और व्यय भले ही हों, परन्तु ध्रुव भी वही पदार्थ होता है यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से कैसे बन सकती है ?

समाधान—यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों में क्षण भेद माना जाय तो पूर्वोक्त कथन में विरोध आ सकता है अथवा स्वयं सत् ही नष्ट होता है और सत् ही उत्पन्न होता है ऐसा माना जाय तो इन तीनों का एक वस्तु में रहना विरोध को प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह बात त्रिकाल में किसी भी पदार्थ के किसी भी हालत में सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो इसका साधक कोई प्रमाण ही है और न कोई ऐसा दृष्टान्त ही है जिससे कि उसकी सिद्धि की जा सके ॥ २३०-२३१ ॥

विशेषार्थ—यहां पर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक ही सत् के होते हैं इसकी सिद्धि की गई है। शंकाकार का कहना यह है कि अन्वर्थ से या नाममात्र से किसी भी हालत में उत्पाद और व्यय ये दोनों तो एक पदार्थ के हो सकते हैं, क्योंकि पहले जो पदार्थ उत्पन्न होता है आगे काल में उसी का विनाश देखा जाता है। परन्तु उसी पदार्थ को ध्रौव्य मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष से विरोध आता है। इस शंका का जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि यदि इन उत्पादादि में क्षण भेद माना जाता या स्वयं सत् का उत्पाद और व्यय माना जाता तो उक्त दोष होता, किन्तु ऐसा नहीं है,

ननु[1] च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात् ।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥ २३२ ॥

ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य ।
एवं च क्षणभेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्ववदिति चेत् ॥ २३३ ॥

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोऽपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्त्वाद् व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥ २३५ ॥

बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरभवोऽस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

यदि वा बीजाङ्कुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥ २३७ ॥

आयातं न्यायबलादेतत्त्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमङ्कुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥ २३८ ॥

क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है और न कोई दृष्टान्त ही मिलता है। हम देखते हैं कि मृत्पिण्ड घटरूप होकर भी मिट्टीरूप बना रहता है इससे उत्पादादि तीनों एक ही पदार्थ में होते हैं यह बात सिद्ध होती है ॥ २२९-२३१ ॥

ये उत्पादादि तीनों एक कालभावी हैं इसका समर्थन—

शंका—उत्पाद अपने समय में होता है, क्योंकि उसका उत्पन्न होना यही एक लक्षण है। व्यय अपने समय में होता है, क्योंकि नाश को प्राप्त होना यह उसका लक्षण है। तथा ध्रौव्य अपने समय में होता है, क्योंकि उसका ध्रुव रहना यही एक लक्षण है। इस प्रकार बीज, अंकुर और वृक्ष के समान इन तीनों में क्षणभेद सिद्ध हो जाता है? शंका का आशय यह है कि जिस प्रकार बीज, अंकुर और वृक्ष ये भिन्न भिन्न समय में होते हैं उसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये भी भिन्न भिन्न समय में होते हैं ऐसा मानना चाहिये?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों में समय भेद नहीं है किंतु ये उत्पादादिक तीनों ही एक समयवर्ती हैं यह बात हेतु और दृष्टांत दोनों से सिद्ध होती है ॥२३४॥ खुलासा इस प्रकार है कि बीज बीज के समय में सत् ही है असत् नहीं है, इसलिये अंकुर के समय उसका सद्रूप से व्यय नहीं होता किन्तु बीज रूप से ही व्यय होता है। ॥ २३५ ॥ तथा इसी प्रकार बीज रूप अवस्था के रहते हुए अंकुर की उत्पत्ति न होकर अभाव ही रहा आता है, इसलिये अंकुर का उत्पाद भी अपने समय में ही होता है अन्य समय में नहीं॥२३६॥अब बीज और अंकुर इन दोनों को सामान्य रूप से यदि वृक्ष कहा जाय तो वृक्ष स्वयं न नष्ट होता है और न उत्पन्न किन्तु अपनी बीज और अंकुररूप पर्यायों की अपेक्षा ही उसका नाश और उत्पाद होता है ॥२३७॥ इस प्रकार न्याय बल से यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक

(१) प्रवच. ज्ञेया. गा. १० टीका।

अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य ॥ २३९ ॥

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत् त्रितयम् ।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोऽपि च तदैव सम्भवति ॥ २४१ ॥

यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुनः ।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोऽपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥ २४२ ॥

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥ २४३ ॥

संदृष्टिः पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदंकुरेण यथा ।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥ २४४ ॥

न हि बीजेन विनष्टः स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन ।
ध्रौव्यं बीजेन पुनः स्यादित्यध्यक्षपक्षबाध्यत्वात् ॥ २४५ ॥

उत्पादव्यययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति ।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥ २४६ ॥

कालवर्ती हैं, क्योंकि अङ्कुर का उत्पाद ही बीज का विनाश है और वृक्ष भी वही है ॥ २३८ ॥ तात्पर्य यह है कि अङ्कुर के उत्पन्न होने का जो समय है वही समय बीज के नाश होने का है तथा बीज और अङ्कुर ये दोनों वृक्ष रूप होने के कारण वृक्ष का भी वही काल है ॥ २३९ ॥ इसलिये यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध होती है कि पदार्थ के एक समय में पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पादादिक तीनों ही सिद्ध होते हैं, किन्तु सर्वथा सत् के नहीं होते हैं ॥ २४० ॥ यदि पर्यायों की अपेक्षा किये बिना केवल सत् के ये तीनों होते तो उस समय प्रकृत कथन विरुद्ध होता और उसी समय उनका कालभेद भी सम्भव होता ॥ २४१ ॥ अथवा जिस समय जिस पर्याय का उत्पाद होता है उसी समय उसका व्यय और ध्रौव्य भी उसी का माना जाता तो यह बात विरोध को प्राप्त होती ॥ २४२ ॥ किन्तु प्रकृत में ऐसा माना है कि किसी अन्य पर्याय के द्वारा सत् का विनाश होता है तथा किसी अन्य पर्याय के द्वारा उसका उत्पाद होता है और इनसे भिन्न किसी अन्य धर्मरूप से उसका ध्रौव्य होता है ॥ २४३ ॥ प्रकृत में वृक्ष का दृष्टान्त उपयोगी है जैसे कि वृक्ष अङ्कुररूप से स्वयं उत्पन्न होता है और बीजरूप से नष्ट होता है तथापि वृक्षरूप से वह दोनों अवस्थाओं में ध्रुव रहता है ॥ २४४ ॥ किन्तु ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीजरूप से ही तो नष्ट होता हो, उसी बीजरूप से वह उत्पन्न होता हो और उसी बीजरूप से वह ध्रुव भी रहता हो, क्योंकि ऐसा मानने पर इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है ॥ २४५ ॥ हां यह बात सही है कि उत्पाद और व्यय इन दोनों का आत्मा (स्वरूप) स्वयं सत् ही है, इसलिये ये

पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोऽस्ति च ध्रौव्यम् ।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ॥ २४७ ॥

दोनों सद्रूप ही हैं सत् से भिन्न नहीं हैं ॥ २४६ ॥ सारांश यह है कि पर्यायार्थिक नय से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों है किन्तु द्रव्यार्थिक नय से न उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है ॥ २४७ ॥

विशेषार्थ—यहां पर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनमें समय भेद न होकर वे एक समयवर्ती हैं यह सिद्ध किया गया है क्योंकि पूर्व पर्याय का विनाश ही न्यूतन पर्याय का उत्पाद है और उनमें अन्वय का बना रहना ही ध्रौव्य है इसलिये ये तीनों एक कालवर्ती सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ बीज का नाश होकर ही अङ्कुर का उत्पाद होता है तो भी वृक्षपना इन दोनों अवस्थाओं में बना रहता है। अब देखना यह है कि यह बीज का नाश और अङ्कुर का उत्पाद भिन्न कालवर्ती है या एक कालवर्ती ? भिन्न कालवर्ती तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि इनको भिन्न कालवर्ती मानने पर इनके बीच में अन्य पर्याय का सद्भाव मानना पड़ेगा किन्तु बीच में अन्य पर्याय तो होती नहीं, इससे सिद्ध है कि ये दोनों एक कालवर्ती होते हैं। इस प्रकार उत्पाद और व्यय के एक कालवर्ती सिद्ध हो जाने पर ध्रौव्य की भी उसी समय सिद्धि होती है, क्योंकि ये तीनों अवस्थाएँ तीन दृष्टियों से मानी गई हैं, इसलिये ये एक कालवर्ती सिद्ध हो जाती हैं। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ही घटित होते हैं द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नहीं। अगुरुलघु गुण के निमित्त से प्रति समय परिणमन शील जीव व, पुद्गल द्रव्य में सदृश व विसदृश दोनों ही प्रकार के परिणमन पाए जाते हैं। तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य में प्रति समय सदृश ही परिणमन पाया जाता है। प्रदेशवत्त्व गुण या अन्य गुण द्वारा द्रव्य, क्षेत्र काल और भावानुसार होनेवाला परिणमन ही उत्पाद और व्यय कहलाता है। तथा अस्तित्व गुण द्वारा सब गुणों का होने वाला सदृश परिणमन ही ध्रौव्य कहलाता है। सदृश और विसदृश दोनों ही अवस्थाओं में अंशकल्पना होती है और इसका नाम ही पर्याय है। इसलिये पर्याय को विषय करनेवाले पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माने गये हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नय का विषय अभेद है, इसलिए उसकी अपेक्षा से अंश कल्पना नहीं बन सकती है। यही सबब है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं है ऐसा माना जाता है। जीव और पुद्गल में वैभाविक नाम का एक गुण है जिसके निमित्त से पुद्गलों में तो सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार का बन्ध होता है किन्तु जीव द्रव्य में सजातीय बन्ध न होकर केवल विजातीय बन्ध ही होता है क्योंकि पुद्गल द्रव्य में सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के बन्ध की कारणभूत वैभाविकी शक्ति मानी गई है और जीव में केवल विजातीय बन्ध की कारणभूत वैभाविकी शक्ति मानी गई है, इसलिए पुद्गल के साथ पुद्गल का और जीव के साथ भी पुद्गल का सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। ये स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार की हैं। इनमें से स्थूल व्यंजन पर्यायों में व्यतिरेक का लक्षण घटित होने से वे व्यतिरेकी भी कहलाती हैं और प्रत्येक समय में होनेवाली इन पर्यायों में क्रम पाया जाने के कारण इन्हें क्रमवर्ती भी कहते है। अब शेष रहे धर्मादिक चार द्रव्य सो इनमें अगुरुलघु गुण के निमित्त से तरतम भाव होता रहता है जिससे इनमें भी प्रदेशवत्त्व गुणनिमित्तक या अन्य गुणनिमित्तक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सब द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित हो जाते हैं तथापि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद. व्यय और ध्रौव्य ऐसा भेद नहीं किया जा सकता है ॥ २३२-२४७ ॥

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाऽथ ।
यदि वा ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्रयेण कथमिति चेत् ॥ २४८ ॥

तत्र यद्विनाभावः प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन विना न स्यादितरद्वयं तु तन्नियमात् ॥ २४९ ॥

अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां विना न चान्यतरत् ।
एकं वा तदवश्यं तत्रयमिह वस्तुसंसिद्ध्यै ॥ २५० ॥

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

उत्पादोऽपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥ २५२ ॥

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद् ध्रौव्यम् ।
भावस्याभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोऽप्यभावत्वात् ॥ २५४ ॥

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथाऽन्यनिन्हववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

अब उत्पादादि तीन का परस्पर में अविनाभाव है यह बतलाते हैं—

शंका—या तो सद्रूप एक उत्पाद ही मानो, या असद्रूप एक व्यय ही मानो अथवा एक ध्रौव्य ही मानो इन तीनों को क्यों मानते हो ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। कारण कि एक के बिना बाकी के दो नहीं हो सकते हैं ॥ २४९ ॥ इसी प्रकार इन तीनों में से किन्हीं दो के बिना कोई एक भी नहीं हो सकता है, इसलिए वस्तु की सिद्धि के लिये इन तीनों का एक साथ मानना आवश्यक है ॥ २५० ॥ खुलासा इस प्रकार है कि व्यय बिना उत्पाद के नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव नियम से भावपूर्वक ही होता है ॥ २५१ ॥ इसी प्रकार उत्पाद भी बिना व्यय के नहीं हो सकता है क्योंकि एक तो ऐसा ही अनुभव में आता है और दूसरे उत्पाद रूप भाव व्ययस्वरूप अभाव से ही कृतार्थ होता है ॥ २५२ ॥ यदि कहा जाय कि उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के बिना हो जांयगे सो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि वस्तु के सद्भाव में ही उसके आश्रय से भाव और अभाव घटित किये जा सकते हैं ॥ २५३ ॥ इसी प्रकार उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य भी नियम से नहीं हो सकता है, क्योंकि विशेष के अभाव में सामान्य सत् भी नहीं पाया जाता है ॥ २५४ ॥ यहां उत्पाद आदिक तीन की व्यवस्था इस

(१) ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो। उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ —प्रव. ज्ञेया. गा. ८ ।

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य ।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५६ ॥
अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम् ।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥ २५७ ॥
अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च ।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तत्परिणामाच्च नापि तद् ध्रौव्यम् ॥ २५८ ॥
अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः ।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५९ ॥
एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा ।
उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥ २६० ॥

प्रकार साध लेना चाहिए अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि जो अन्य का निन्हव करता है वह अपना भी घातक हो जाता है ॥ २५५ ॥ खुलासा इस प्रकार है—जो केवल एक उत्पाद को ही मानता है उसके मत से या तो असत् का उत्पाद होने लगेगा या उत्पाद के कारणों का अभाव होने से उत्पाद ही नहीं होगा ॥ २५६ ॥ तथा जो उत्पाद के बिना केवल व्यय को ही मानता है उसके मत से या तो सद् का सर्वथा नाश हो जायगा या व्यय के हेतु का अभाव होने से व्यय ही नहीं होगा ॥ २५७ ॥ इसी प्रकार जो केवल एक ध्रौव्यवाले पक्ष का ही निश्चय करता है उसके मत से या तो द्रव्य अपरिणामी हो जायगा या उसके परिणमन शील होने से ध्रौव्य ही नहीं बनेगा ॥ २५८ ॥ अब यदि कोई ध्रौव्य की उपेक्षा करके केवल उत्पाद और व्यय इन दो को ही प्रमाण मानता है तो उसके मत से या तो यह सब क्षणिक हो जायगा या सत् के अभाव में न तो व्यय ही बनेगा और न उत्पाद ही बनेगा ॥ २५९ ॥ इस प्रकार जो पुरुष इन पूर्वोक्त दोषों के भय से प्रकृत विषय के अस्तित्व को स्वीकार करता है उसे उत्पाद आदि के अविनाभाव सम्बन्ध को मान लेना चाहिये ॥ २६० ॥

विशेषार्थ—यहां २४८ वें पद्य से लेकर २६० वें पद्य तक १३ पद्यों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते हुए केवल एक के स्वीकार करने पर कौन से दोष प्राप्त होते हैं इस बात का भी निर्देश किया गया है। दर्शन शास्त्र का यह नियम है कि असत् का उत्पाद

---

(१) तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादो वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। —प्रवच. ज्ञेया. गा. ८ टीका।

(२) संहरमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्—प्रवच. ज्ञेया. गा. ८ टीका।

(३) तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत् क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। प्रवच. ज्ञेया. गा. ८ टीका।

(४) प्रतिपु 'तदपरिणामाच्च' इति पाठः।

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद् व्ययादियुक्तं सत्।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्धयर्थम् ॥ २६१ ॥
स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २६२ ॥
अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथवापि भावेन ॥ २६३ ॥

नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। इससे इतना तो पता लग जाता है कि एक तो कोई भी नया तत्त्व उत्पन्न नहीं किया जा सकता और दूसरे जो है उसका अभाव नहीं किया जा सकता। यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि जग को सर्वथा अपरिवर्तनीय तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि जग को सर्वथा अपरिवर्तनशील मानने से दिन रात का भेद और बालक युवा आदि अवस्थाएं कुछ भी नहीं बन सकती हैं। जहां दिन है वहां दिन ही रहना चाहिये और जहां रात्रि है वहां रात्रि ही रहनी चाहिये। इसी प्रकार जो बालक है वह सदा बालक ही बना रहे और जो युवा है वह सदा युवा ही बना रहे। परन्तु ऐसा होता नहीं। इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता उसी प्रकार जितने भी तत्त्व हैं वे सदा एकरूप ही न रहकर अपने स्वाभावानुसार परिवर्तन भी करते रहते हैं। इनके इस परिवर्तन का नाम ही उत्पाद और व्यय है। तथा उन तत्त्वों का सदा कायम रहना ही ध्रौव्य है। इस प्रकार इस कथन से प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव है यह सिद्ध होता है। तथा इसी से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध भी जाना जाता है। अब यदि इन तीनों का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध न मानकर स्वतंत्र रूप से किसी एक या दो को माना जाता है तो एक तो स्वतंत्ररूप से उत्पादादिक ही नहीं बन सकते हैं और दूसरे इतने मात्र से तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। उदाहरणार्थ—यदि केवल उत्पाद ही माना जाता है तो असत् की उत्पत्ति मानना अनिवार्य हो जायगा, किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे ज्ञात होता है कि केवल उत्पाद नहीं है। यदि केवल व्यय माना जाता है तो सत् का विनाश मानना अनिवार्य हो जायगा, किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे ज्ञात होता है कि केवल व्यय भी नहीं है। इसी प्रकार यदि केवल ध्रौव्य माना जाता है तो वस्तुओं में जो पर्याय भेद दिखाई देता है वह नहीं बनेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं। इससे ज्ञात होता है कि केवल ध्रौव्य भी नहीं है। इस प्रकार केवल उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के नहीं सिद्ध होने पर दो दो भी वे नहीं बनते हैं यहां इतना और जान लेना चाहिये। क्योंकि इनमें से उत्पाद व्यय, या उत्पाद-ध्रौव्य अथवा व्यय-ध्रौव्य इस प्रकार दो दो के मान लेने पर भी वस्तुव्यवस्था नहीं घटित होती है, इसलिये इन तीनों का एक साथ सद्भाव मानना आवश्यक है यह सिद्ध होता है ॥ २४८-२६० ॥

अनेकान्त दृष्टि से वस्तु का विचार—

जो गुण पर्याय वाला द्रव्य है वही व्ययादि से युक्त सत् है यह तो कहा। अब अनेकान्त ज्ञान की शुद्धि के लिये वस्तु के स्वरूप का विशेष विचार करते हैं—

कथंचित् है और कथंचित् नहीं है, कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है, कथंचित् अनेक है और कथंचित् एक है, कथंचित् वह है और कथंचित् वह नहीं है इस प्रकार इन चार युगलों के द्वारा ही मानों वस्तु गुम्फित हो रही है ॥ २६२ ॥ खुलासा इस प्रकार है—'जो है वह नहीं भी है' इत्यादि वे चारों युगल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घटित होते हैं ॥ २६३ ॥

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
न पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव ॥ २६४ ॥
किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥ २६५ ॥
अपि चावान्तरसत्ता सद् द्रव्यं सन् गुणश्च पर्यायः ।
सच्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥ २६६ ॥
अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयाऽवधार्येत ।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव न तु मूलात् ॥ २६७ ॥
अपि चावान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु ।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा ॥ २६८ ॥
दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति ।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥ २६९ ॥

द्रव्य की अपेक्षा कथन—

सत्ता दो प्रकार की है—एक महा सत्ता है और दूसरी अवान्तर सत्ता। इस प्रकार से यद्यपि सत्ता के दो भेद हैं तथापि न तो इनके पृथक् पृथक् प्रदेश ही पाये जाते हैं और न इनमें स्वरूप भेद ही है ॥ २६४ ॥ किन्तु सब पदार्थों में अन्वयरूप से जो 'सत्' इस प्रकार का कथन किया जाता है उसे सामान्य मात्र का ग्राहक होने से सत्सामान्य की अपेक्षा महासत्ता कहते हैं ॥ २६५ ॥ तथा द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है इस प्रकार जितना भी विस्तार है वह अवान्तर सत्ता कहलाता है ॥ २६६ ॥ आशय यह है कि जिस समय वस्तु 'सत्' इत्याकारक महासत्ता रूप से अवधारित की जाती है उस समय उसका अवान्तर सत्ता रूप से अभाव ही है। किन्तु यह अभाव मूल से नहीं कहा जा सकता है ॥ २६७ ॥ इसी प्रकार जब अवान्तर सत्ता रूप से वस्तु का निश्चय किया जाता है तब उसका महासत्तारूप से अभाव ही रहता है ॥ २६८ ॥ उक्त कथन की सिद्धि के लिये यह उदाहरण ठीक है कि जैसे पट यह कथंचित् द्रव्य रूप भी है और कथंचित् द्रव्य रूप नहीं भी है। जब पटत्व की विवक्षा होती है तब वह द्रव्य ठहरता है और जब पटत्व की विवक्षा न हो कर शुक्लादि धर्मों की विवक्षा होती है तब वह द्रव्य नहीं भी ठहरता है। प्रकृत में भी इसी प्रकार समझना चाहिये ॥ २६९ ॥

विशेषार्थ—अनेकान्त शब्द में 'अनेक' का अर्थ एक से अधिक और 'अन्त' का अर्थ धर्म होने से 'अनेकान्त' का अर्थ अनेक धर्मात्मक वस्तु है। यहाँ अनेक धर्म से परस्पर प्रतिपक्षी दो धर्म लिये गये हैं। उदाहरणार्थ—अस्तित्व नास्तित्व का प्रतिपक्षी है। नित्यत्व अनित्यत्व का प्रतिपक्षी है। अनेकत्व एकत्व का प्रतिपक्षी है और तत् अतत् का प्रतिपक्षी है। तथापि ये सब धर्म विवक्षा भेद से प्रत्येक वस्तु में पाये अवश्य जाते हैं। इसलिये प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त रूप कहा जाता है। बहुत से विद्वान् अनेकान्त का ऐसा अर्थ करते हैं कि जिसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि या रूप, रस और गन्ध आदि अनेक धर्म पाये जाएँ उसे अनेकान्त कहते हैं। किन्तु प्रत्येक वस्तु में अप्रतिपक्षभूत अनेक धर्मों का सद्भाव तो प्रत्येक दर्शनकार ने माना है। सांख्य प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु ।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राविवक्षितत्वाच्च ॥ २७१ ॥

अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु ।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च ॥ २७२ ॥

संदृष्टिः पटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति ।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ २७३ ॥

इन तीनों की साम्यावस्था रूप मानता है। वैशेषिक भी पृथिवी में गन्ध प्रमुख अनेक गुण मानता है। इसी प्रकार अन्यान्य दर्शनकार भी प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्मों का सद्भाव स्वीकार करते हैं। इसलिये यदि अनेकान्त का यह अर्थ किया जाता है कि जिसमें अनेक धर्म हों वह अनेकान्त है तब तो ये सभी दर्शनकार अनेकान्त के पोषक सिद्ध हो जायँगे। किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है क्यों कि प्रकृत में अनेकान्त का वास्तविक अर्थ यह है कि जिसमें परस्पर प्रतिपक्ष भूत दो धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। इस हिसाब से विचार करने पर जैन दर्शन के सिवा अन्य दर्शनकार अनेकान्त तत्त्व के पोषक नहीं ठहरते हैं क्यों कि उन्होंने परस्पर प्रतिपक्षभूत सत् और असत् का, नित्यत्व और अनित्यत्व का या एकत्व और अनेकत्व का एक वस्तु में सद्भाव स्वीकार नहीं किया है। विवक्षा भेद से ऐसा सद्भाव जैन दर्शन ही स्वीकार करता है, इसलिये जैन दर्शन ही अनेकान्त का पोषक ठहरता है। अनेकान्त का स्वरूप ऐसा है यह ज्ञान तभी निर्मल हो सकता है जब प्रत्येक पदार्थ की स्थिति उस प्रकार से प्रतिभासित होने लगे। इसके लिये यहाँ परस्पर विपक्ष भूत धर्मों के ऐसे चार युगल लिये गये हैं जो विवक्षा भेद से प्रत्येक वस्तु में घटित करके बतलाये गये हैं। उसमें भी सर्व प्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्तित्व और नास्तित्व को घटित किया गया है। द्रव्य के दो भेद हैं सामान्य और विशेष। यहाँ सामान्य से महा सत्ता और विशेष से अवान्तर सत्ता ली गई है। यतः ये दोनों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा विपक्षभूत हैं अतः इनमें से जब जिसकी प्रधान रूप से विवक्षा रहती है तब उसका सद्भाव माना जाता है। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब ये दोनों सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं तब इन दोनों का एक साथ अस्तित्व मानने में क्या बाधा है। सो इस शंका का यह समाधान है कि तत्त्वतः ये दो नहीं हैं किन्तु विवक्षा भेद से ही ये दो मानी जाती हैं। इसलिये जब जिसकी प्रधानता रहती है तब उसी की अपेक्षा से अस्तित्व रूप व्यवहार किया जा सकता है अन्य की अपेक्षा से नहीं ॥ २६४-२६९ ॥

क्षेत्र की अपेक्षा अस्ति-नास्ति विचार—

क्षेत्र के सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद कहे हैं। उनमें से यावत्प्रदेश रूप सामान्य क्षेत्र है और प्रदेशों का व्यक्तिशः विभाग रूप विशेष क्षेत्र है ॥ २७० ॥ अब जिस समय केवल प्रदेशों की अपेक्षा से यावत्प्रदेश रूप वस्तु कही जाती है उस समय वह स्वक्षेत्र रूप से तो है परन्तु उस देश (द्रव्य के अंशों की अविवक्षा होने से अंशों की अपेक्षा से नहीं है ॥ २७१ ॥ इसी प्रकार जिस समय जितने उस वस्तु के अंश होते हैं केवल उन अंशों रूप से वस्तु कही जाती है उस समय वह अंशों की अपेक्षा से तो है किन्तु देश की अविवक्षा होने से देश की अपेक्षा नहीं है ॥ २७२ । उदाहरणार्थ—क्षेत्र रूप से पट देश के विवक्षित होने पर वह कथंचित् है भी और नहीं भी है। यतः पट शुक्लादि तन्तुओं का समुदाय मात्र

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन ।
सोऽपि पूर्ववद् द्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥ २७४ ॥
सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतरस्यावमग्नोन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥ २७५ ॥
तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥ २७६ ॥
तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत ।
अस्ति विवक्षितत्वादिह नास्त्यंशस्याविवक्षया तदिह ॥ २७७ ॥

है अतः पट और तन्तु इनमें से जब जो विवक्षित होता है तब वह है और जो अविवक्षित रहता है वह नहीं है ॥ २७३ ॥

विशेषार्थ—जिसमें वस्तु रहती है उसे क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्र शब्द के इस व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार तत्त्वतः प्रत्येक वस्तु अपने ही प्रदेशों में रहती है इस लिये जिस वस्तु के जितने प्रदेश हैं उनका समुच्चय ही उस वस्तु का सामान्य क्षेत्र ठहरता है और प्रत्येक प्रदेश विशेष क्षेत्र ठहरता है। इसी से यहाँ क्षेत्र के सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद किये गये हैं। लोक में यद्यपि आकाश में या आकाश के किसी अवयव विशेष में क्षेत्र शब्द का व्यवहार किया जाता है तथापि यह उसके आधार गुण की प्रमुखता से ही किया जाता है। वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशों में ही प्रतिष्ठित है इसलिये जिस द्रव्य के जितने प्रदेश हैं वही उसका स्वक्षेत्र है। अब जब इन प्रदेशों में भेद विवक्षित होता है तब उसका प्रत्येक प्रदेश क्षेत्र शब्द से व्यवहृत होने के कारण वह विशेष क्षेत्र कहलाता है और जब इन प्रदेशों का भेद विवक्षित न होकर समुदाय विवक्षित होता है तब प्रदेशों का समुदाय क्षेत्र शब्द से व्यवहृत होने के कारण वह सामान्य क्षेत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के सामान्य और विशेष रूप दो प्रकार के क्षेत्र की सिद्धि हो जाने पर वे परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा से अस्ति नास्ति रूप हैं ऐसा जानना चाहिये। इनमें से जब जो विवक्षित होता है वह अस्तिरूप और उससे भिन्न दूसरा नास्तिरूप ठहरता है। उदाहरणार्थ—जब वस्त्र में तन्तु अविवक्षित रहते हैं तब केवल एक वस्त्र की ही प्रतीति होती है और जब वस्त्र की प्रधानता न रह कर तन्तुओं की प्रधानता हो जाती है तब वस्त्र की प्रतीति न हो कर केवल तन्तुओं की ही प्रतीति होती है। प्रकृत में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से भी प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति रूप है यह सिद्ध होता है ॥ २६५-२७३ ॥

काल के भेद और उनकी अपेक्षा अस्तिनास्ति विचार—

वर्तना का नाम काल है, अथवा प्रति समय अपने स्वभावरूप से वस्तु का जो परिणमन होता है उसका नाम काल है। इसके भी पहले के समान सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद हैं ॥ २७४ ॥ विधिरूप सामान्य काल कहलाता है और निषेधरूप विशेष काल कहलाता है। इन दोनों में से किसी एक के विवक्षित और दूसरे के अविवक्षित होने के कारण अस्ति नास्तिरूप विकल्प होता है ॥ २७५ ॥ प्रकृत में अंश अर्थात् विभाग का न किया जाना ही विधि है। उदाहरणार्थ—सब पदार्थ स्वभावतः सद्रूप हैं ऐसा मानना विधि है। तथा द्रव्य, गुण और पर्याय इत्यादि विविध भेदों के द्वारा उस सत् का विभाग करके उसमें अंश कल्पना का करना ही प्रतिषेध है ॥ २७६ ॥ यहां सामान्य और विशेष काल के साथ अस्ति नास्तिका उदाहरण यह है कि जिस समय केवल सद्रूप से परिणमन निश्चित किया जाता है उस समय उसकी विवक्षा

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥ २७९ ॥

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणो हि परभावः ॥ २८० ॥

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

होने से वह विधिरूप से है किन्तु उसके अंशों की विवक्षा नहीं होने से वह अंशों की अपेक्षा से नहीं है ॥ २७७ ॥ उदाहरणार्थ पटरूप जो सामान्य परिणमन है वह काल सामान्य की अपेक्षा से पट का स्वकाल है, इसलिये इतनेमात्र की अपेक्षा से तो वह है किन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप परिणमन विशेष की अपेक्षा से नहीं है ॥ २७८ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में लक्षणपूर्वक काल के भेद करके उनकी अपेक्षा से अस्तिनास्ति विकल्प घटित किये गये हैं। काल नाम का एक द्रव्य है और उसका वर्तना यह लक्षण है। प्रकृत में जो काल का लक्षण वर्तना किया गया है सो उससे इसी का संकेत किया गया जान पड़ता है। किन्तु यह स्वभाव केवल काल द्रव्य में ही पाया जाता है अन्य द्रव्यों में नहीं। तथापि यहां पर काल शब्द से निमित्त काल का ग्रहण न करके स्वकाल का ही ग्रहण किया गया है, इसलिये स्वकाल का कथन करने के लिये विकल्प रूप से काल का दूसरा लक्षण कहा है। यहां मुख्यतया काल का लक्षण परिणमन किया है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावरूप से प्रतिक्षण परिणमन करता रहता है। यह लक्षण सब द्रव्यों में घटित हो जाता है इसलिये यह उनका स्वकाल कहलाता है। इसके सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद हैं। जहां अवान्तर भेदों की विवक्षा न करके सत्सामान्य का परिणमन विवक्षित होता है वहां वह सामान्य काल कहलाता है। यह केवल विधि अर्थात् सामान्य को विषय करता है इसलिए इसे सामान्य काल कहते हैं। तथा जहां अवान्तर भेदों का परिणमन विवक्षित होता है वहां वह विशेष काल कहलाता है। यह प्रतिषेध अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय इत्यादि विशेष को विषय करता है इसलिये इसे विशेष काल कहते हैं। इनमें से जब सामान्य काल विवक्षित होता है तब उसकी अपेक्षा अस्तिरूप व्यवहार होता है और विशेष काल की अपेक्षा से नास्तिरूप व्यवहार होता है। तथा जब विशेष काल विवक्षित रहता है तब उसकी अपेक्षा से अस्तिरूप व्यवहार होता है और सामान्य काल की अपेक्षा से नास्तिरूप व्यवहार होता है। इस प्रकार काल की अपेक्षा से भी प्रत्येक वस्तु अस्ति और नास्तिरूप है यह सिद्ध होता है।

भावकी अपेक्षा अस्ति-नास्ति विचार—

भाव नाम परिणाम का है। तत्त्व का जो स्वरूप है वही उसका भाव है। अथवा शक्तियों का समुदाय भी भाव कहलाता है। अथवा भाव से पदार्थ के सर्वस्वसार का ग्रहण किया जाता है ॥ २७९ ॥ विभाग करने पर उसके सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद होते हैं। इनमें से जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है अतः वह स्वभाव कहलाता है। तथा जो अविवक्षित होता है वह गौण हो जाता है अतः वह परभाव कहलाता है ॥ २८० ॥ इन दोनों भेदों में से सामान्य भाव विधिरूप है जो शुद्ध, प्रतिषेधक और निरपेक्ष होता है। तथा विशेष भाव प्रतिषेधरूप है जो प्रतिषेध्य, सांश और सापेक्ष होता

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाऽप्यस्ति ।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति ॥ २८३ ॥

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा ।
अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥ २८४ ॥

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया ।
अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८५ ॥

संदृष्टिः [1]पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितर[2]घटादिभावाविवक्षया नास्ति ॥ २८६ ॥

है ॥ २८१ ॥ आशय यह है कि जब तक सत् में अंशकल्पना नहीं की जाती है तब तक वह सामान्य कहा जाता है और जब उसका द्रव्यादिरूप से विभाग कर दिया जाता है तब वह विशेष कहा जाता है ॥ २८२ ॥ इसलिये ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं कि जिस समय सत् सामान्यरूप से है उस समय वह शेष विशेषों की विवक्षा नहीं होने से उसरूपसे नहीं है ॥ २८३ ॥ अथवा जिस समय ये सब पदार्थ विशेष रूप से विवक्षित होने के कारण उसरूप से हैं उस समय सामान्य की विवक्षा नहीं होने से वे उसरूप से नहीं हैं ॥ २८४ ॥ अब इनमें जो भाव विवक्षित होता है वह केवल स्वभावरूप से है और जो भाव अविवक्षित होता है वह परभाव होने से उस समय नहीं है ॥ २८५ ॥ उदाहरणार्थ जो भी पटका भाव पटका सार या पटकी निष्पत्ति है। इसमें जो विवक्षित होता है उसरूप से वह है और इससे भिन्न घटादि भावों की विवक्षा नहीं होने से उसरूप से वह नहीं है ॥ २८६ ॥

विशेषार्थ—यहाँ सर्व प्रथम भाव के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है फिर उसके भेद करके उनकी अपेक्षा अस्ति-नास्ति व्यवहार घटित किया गया है। प्रकृत में भाव का अर्थ परिणाम किया है। भाव शब्द का निरुक्त्यर्थ है 'होते रहना'। जो परिणाम साध्य होने से इस शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। पर इससे कोई विरुद्ध परिणाम का ग्रहण न कर ले इसलिये भाव का दूसरा अर्थ 'जिस पदार्थ का जो स्वरूप है उसका उत्पन्न होना भाव है' यह किया गया है। यद्यपि भाव के इस दूसरे लक्षण से परिणाम की एक धारा का बोध तो हो जाता है पर इससे उसकी क्षणिकता का निराकरण नहीं होता। ऐसी एक धारा को तो क्षणिकवादी बौद्धों ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि पूर्व क्षण उत्तर क्षण में अपने आकार को समर्पित करके निवृत्त हो जाता है। यह एक दोष है जो भाव का दूसरा लक्षण मानने पर भी बना रहता है। अतः इस दोष का परिहार करने के लिये भाव का तीसरा लक्षण दिया है। इस लक्षण द्वारा कहा गया है कि जिस वस्तु की जितनी शक्तियाँ हैं उनका समुदाय ही भाव है। इससे यद्यपि पूर्वोक्त दोष का परिहार हो जाता है तथापि गुणों की व्याप्ति नित्यता के साथ होने के कारण एक नई आपत्ति खड़ी हो जाती है। अतः उपर्युक्त सब दोषों का वारण करने के लिये भाव का चौथा लक्षण किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि वस्तु का जो स्वरूप है वही उसका भाव है। इस प्रकार भाव के स्वरूप का निर्णय करके आगे सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद किये गये हैं। जहाँ अवान्तर

(१) ख ग प्रत्योरयं श्लोकः व्युत्क्रमेण वर्तते। (२) खप्रतौ 'तदघटादि' इति पाठः।

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽथ काले च ।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ॥ २८७ ॥
अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पदवच्छेशास्तु तद्योगात् ॥ २८८ ॥

भेदों की विवक्षा न करके भाव सामान्य विवक्षित होता है वह सामान्य भाव कहलाता है। और जिसमें अवान्तर भेदों की विवक्षा रहती है वह विशेष भाव कहलाता है। इनमें से सामान्य भाव शुद्ध प्रतिषेधक और निरपेक्ष माना गया है। इसमें अवान्तर भेदों की कल्पना नहीं की जाती है इस लिये तो शुद्ध है, और 'नेति' द्वारा अवान्तर भेदों का निषेध करता है इसलिये प्रतिषेधक है। इसी प्रकार इसमें अवान्तर भेदों की अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती इसलिये यह निरपेक्ष भी है। तथा विशेष भाव इसके विपरीत सांश, प्रतिषेध्य और साक्षेप माना गया है। इनमें से जब सामान्य भाव विवक्षित होता है तब उसकी अपेक्षा अस्तिरूप व्यवहार होता है और विशेष भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप व्यवहार होता है। इसी प्रकार जब विशेष भाव विवक्षित होता है तब उसकी अपेक्षा से अस्ति रूप व्यवहार होता है और सामान्य भाव की अपेक्षा से नास्ति रूप व्यवहार होता है, क्यों कि जिस समय जिसकी विवक्षा रहती है उस समय उसकी मुख्यता होने से वह स्वभाव ठहरता है और दूसरा परभाव, इस लिये मुख्यता और गौणता की अपेक्षा से ऐसा व्यवहार होने में कोई आपत्ति नहीं आती है ॥ २७९-२८६ ॥

प्रथमतः नित्य-अनित्य आदि युगलों को पूर्वोक्त क्रम से जानने की सूचना करके तदन्तर इन सब युगलों में सप्तभंगी किस प्रकार घटित करनी चाहिये इसका निर्देश—

सर्वत्र अर्थात् नित्य अनित्य आदि शेष तीन युगलों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा यही क्रम जानना चाहिये। इसमें अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है ॥ २८७ ॥ इस प्रकार अस्ति नास्ति आदि चारों युगलों की अपेक्षा दो भंग कहे। शेष पाँच भंग भी इसी प्रक्रिया से जान लेना चाहिये। इन सातों भंगों में दो भंग वर्ण स्थानीय कहे गये हैं। किन्तु शेष पाँच भंग इनके सम्बन्ध से बनते हैं अतः वे पद स्थानीय जानना चाहिये ॥ २८८ ॥

विशेषार्थ—पहले अस्ति—नास्ति युगल का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विचार किया। अब यहाँ नित्य-अनित्य, एक—अनेक और तत्-अतत् इन तीन युगलों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा उक्त क्रम से विचार करने की सूचना करके सप्तभंगी का निर्देश किया गया है। सप्तभंगी में सात भंग होते हैं। उनमें से दो भंगों का निर्देश तो पूर्वोक्त कथन से ही हो जाता है। किन्तु पूर्वोक्त कथन से शेष पाँच भंगों का ज्ञान नहीं होता, अतः २८८ वें श्लोक में दृष्टान्त द्वारा उनके जानने की प्रक्रिया का निर्देश कर दिया है। सात भंगों में दो भंग स्वतन्त्र होते हैं अतः उन्हें वर्णस्थानीय बतलाया गया है। किन्तु शेष पाँच भंग इन दो भंगों के संयोग से बनते हैं अतः उन्हें पदस्थानीय बतलाया गया है, इस प्रकार यह उक्त कथन का संक्षिप्त सार है। अब यहाँ प्रकरणानुसार सप्तभंगी के स्वरूप का संक्षेप में विचार करते हैं—

सात वाक्यों के समुदाय को सप्तभंगी कहते हैं। विरोधी दो धर्मों की अपेक्षा प्रश्नकर्त्ता के मन में सात संशय उत्पन्न होते हैं जिनके कारण वह उन्हें जानना चाहता है। इसलिये वह सात प्रश्न करता है। सप्तभंगी द्वारा इन्हीं सात प्रश्नों का समाधान किया जाता है।

ये सात वाक्य सत् और असत् इन दो धर्मों की अपेक्षा निम्न प्रकार है—(१) स्यादस्ति (२)

स्यान्नास्ति (३) स्यादस्ति नास्ति (४) स्यादवक्तव्य (५) स्यादस्ति अवक्तव्य (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य और (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य ।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं प्रमाण वाक्य और नय वाक्य। यों साधारणतया प्रमाण वाक्य और नय वाक्य का विश्लेषण करना कठिन है क्यों कि यह सब वक्ता की विपक्षा पर निर्भर करता है। बहुत से विद्वान धर्मी वचन को प्रमाण वाक्य और धर्मवचन को नयवाक्य कहते हैं पर धर्मी धर्म के बिना और धर्म धर्मी के बिना नहीं पाया जाता इसलिए ऐसा भेद नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार जब वाक्य दो प्रकार के होते हैं तो सप्तभंगी भी दो तरह की होनी चाहिये ऐसा बहुत से आचार्यों का मत है। इस मत का कथन अकलंकदेव और विद्यानन्द ने किया है। किन्तु बहुत से विद्वान प्रमाण सप्तभंगी को नहीं मानते। मालूम होता है कि पंचाध्यायी के कर्ता का भी यही अभिप्राय रहा है। आगे प्रमाण का विवेचन करते समय तीसरे और चौथे भंग को प्रश्नकर्ता ने प्रमाणवाक्य बतलाने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्रश्नकर्ता के इस मत का खण्डन करते हुए पंचाध्यायीकार ने लिखा है कि प्रमाण अभंग ज्ञानमय है भंग ज्ञानमय नहीं। प्रमाण का उदाहरण जो पदार्थ स्वरूप से अस्तिरूप है वही पररूप से नास्तिरूप है' यह होगा। इससे उक्त मत की ही पुष्टि होती है।

इन सात भंगों में पहला और दूसरा धर्म स्वतन्त्र होता है और शेष पाँच भंग इन दो भंगों के संयोग से बनते हैं। इसीसे ग्रन्थकर्ता ने प्रथम दो भंगों को वर्णस्थानीय और शेष पाँच भंगों को पदस्थानीय बतलाया है। कितने ही आचार्य अवक्तव्य भंग को भी प्रत्येक मानते हैं पर वस्तुतः वह स्वतंत्र नहीं हैं।

इन सात भंगों में से प्रथम भंग में प्रधानरूप से सत्त्व धर्म की प्रतीति होती है। दूसरे भंग में प्रधानरूप से नास्तित्व धर्म की प्रतीति होती है। तीसरे भंग में क्रम से प्रमुखता को प्राप्त हुए दोनों धर्मों की प्रतीति होती है। चौथे भंग में एक साथ दोनों की प्रधानता होने से अवक्तव्यरूप धर्म को प्रतीति होती है। पाँचवें भंग में अवक्तव्य विशिष्ट सत्त्व धर्म की प्रतीति होती है। छठे भंग में नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्य धर्म की प्रतीति होती है। और सातवें भंगमें क्रम से प्रमुखता को प्राप्त हुए अस्तित्व और नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्य धर्म की प्रतीति होती है।

यद्यपि प्रथमादि भंगों में नास्तित्व आदि धर्मों का उल्लेख नहीं किया जाता। तथापि वे वहाँ गौण रहते हैं इतना मात्र इसका अर्थ लेना चाहिये। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्रम से या युगपत् कहने की अपेक्षा से ही तृतीयादि भंग बनते हैं इसलिए उन्हें वस्तु के धर्म मानना उचित नहीं। वस्तु के धर्म केवल पहला और दूसरा भंग ही हो सकता है। किन्तु विचार करने पर यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि जिस प्रकार पकार और टकार की अपेक्षा घट पद भिन्न है उसी प्रकार प्रथम और द्वितीय भंगों के द्वारा कहे गये धर्मों की अपेक्षा तृतीयादि भंगों के द्वारा कहे गये धर्म भिन्न हैं।

एक यह प्रश्न किया जाता है कि क्रमार्पित उभयरूप तीसरे भंग की अपेक्षा सहार्पित उभयरूप चौथे भंग में कोई भेद नहीं, क्योंकि क्रम और अक्रम ये शब्दनिष्ठ हैं अर्थनिष्ठ नहीं, इसलिए इनसे अर्थ में भिन्न दो धर्मों की प्रतीति नहीं होती। पर विचार करने पर यह प्रश्न भी युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तीसरे भंग में अस्तित्व नास्तित्व उभयरूप धर्म की प्रधानता है और चौथे भंग में अवक्तव्यरूप धर्म की प्रधानता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि वस्तु का स्वरूप केवल सत्त्व ही है, क्योंकि स्वरूप आदि की अपेक्षा वस्तु में जिस प्रकार सत्त्व को प्रतीति होती है। उसी प्रकार उसमें पररूप आदि की अपेक्षा असत्त्व धर्म की भी प्रतीति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वस्तु का स्वरूप केवल असत्त्व ही है क्योंकि पररूप आदि की अपेक्षा वस्तु में जिस प्रकार असत्त्व की प्रतीति होती है उसी प्रकार स्वरूप आदि की अपेक्षा

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाग्विलासत्वात् ॥ २८९ ॥
अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिद्ध्यै।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ॥ २९० ॥
तन्न यतः सर्वं सत् तदुभयभावाध्यवसितमेवेति।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥ २९१ ॥
स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोऽपि।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥
ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि।
किन्त्वन्वयो यथास्ति व्यतिरेकोऽप्यस्ति चिदचिदिव ॥ २९३ ॥

उसमें सत्त्व की भी प्रतीति होती है। इसी प्रकार तदुभय भी केवल वस्तु का स्वरूप नहीं है, क्योंकि तदुभय से विलक्षण जात्यन्तररूप भी वस्तु अनुभव में आती है। इसकी पुष्टि में पानक (पेय) का उदाहरण दिया जा सकता है। हम देखते हैं कि प्रत्येक दही, गुड़, इलायची कालीमिरच और नागकेसर के स्वाद की अपेक्षा इनके मिश्रण से जो पानक तैयार किया जाता है उसका स्वाद विलक्षण ही होता है। इसी प्रकार तदुभय धर्म से अवक्तव्य धर्म विलक्षण ही है।

एक ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार अवक्तव्यत्व अलग धर्म माना गया है उसी प्रकार वक्तव्यत्व नाम का भी स्वतंत्र धर्म मानना चाहिये। पर विचार करने पर यह आपत्ति ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सामान्यरूप से वक्तव्यत्व नाम का भिन्न धर्म नहीं पाया जाता और सत्त्व आदि रूप से जो वक्तव्यत्व धर्म माने गये हैं उनका अन्तर्भाव प्रथमादि भंगों में ही हो जाता है। यदा कदाचित वक्तव्यत्व नाम का स्वतंत्र धर्म माना भी जाय तो विधि और प्रतिषेधरूप वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्व इनकी अपेक्षा एक स्वतंत्र सप्तभंगी ही प्राप्त होती है ॥ २८७-२८८ ॥

इस प्रकार अलग अलग सात धर्मों के बन जाने से सप्तभंगी सिद्ध हो जाती है।

वस्तु में अन्वय व्यतिरेक की सिद्धि—

शंका—अस्ति और नास्ति इन में से किसी एक के मानने से काम चल जाता है, दोनों को सिद्ध करने का प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन है, क्यों कि ऐसा करने से गौरव दोष आता है और कहने की चतुराई मात्र होने से वह उपादेय भी नहीं है। इसलिये तत्त्व की भले प्रकार से सिद्धि करने के लिये या तो केवल विधि का ही कथन करना ठीक है या केवल निषेध का ही कथन करना ठीक है। दोनों का अलग अलग ग्रहण करना युक्त नहीं हैं, क्योंकि इनका अलग अलग ग्रहण करना अनर्थक ठहरता है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि सभी पदार्थ विधि-निषेधरूप भाव से युक्त हैं। यदि इन दोनों में से किसी एक का लोप माना जाता है तो उससे भिन्न दूसरे भाव को भी लुप्त होने की आपत्ति आती है ॥ २९१ ॥ विधि और निषेध में से किसी एक के नहीं मानने पर शेष दूसरे के अभाव का प्रसंग इस प्रकार आता है कि यदि वस्तु केवल अन्वय रूप है ऐसी प्रतीति मानी जाय तो वह व्यतिरेक के अभाव में अन्वय की साधक कैसे हो सकती है। अर्थात् नहीं हो सकती है ॥ २९२ ॥

शंका—अन्वय के समान व्यतिरेक भी रहा आवे इसमें हमारी क्या हानि है अर्थात् कुछ भी

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति ।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोऽप्यन्वये यतो न स्यात् ॥ २९४ ॥

तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा ।
व्यतिरेकोऽस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥ २९५ ॥

दृष्टान्तोऽप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोऽस्ति पटः ।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेऽपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥ २९६ ॥

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः ।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥ २९७ ॥

तत्किं व्यतिरेकस्य भावेन विनाऽन्वयोऽपि नास्तीति ।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥ २९८ ॥

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च ।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥ २९९ ॥

न हि किञ्चिद्विधिरूपं किञ्चित्तच्छेषतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥ ३०० ॥

न पुनर्द्रव्यान्तरवत्संज्ञाभेदोऽप्यबाधितो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥ ३०१ ॥

हानि नहीं। किन्तु जैसे अन्वय है वैसे ही व्यतिरेक भी है। जैसे कि चित् और अचित् ॥ २९३ ॥ यदि तुम्हारा यह मत हो कि व्यतिरेक में अन्वय कभी भी नहीं पाया जाता है तो इससे हमारे पक्ष की किसी प्रकार की भी हानि नहीं है, क्यों कि व्यतिरेक भी अन्वय में नहीं पाया जाता है ॥ २९४ ॥ इसलिये यह कथन निर्दोष है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है उसी प्रकार व्यतिरेक भी है, क्यों कि इन में कोई विशेषता नहीं है। यदि एक शब्द में इन दोनों के विषय में कहा जाय तो ये दोनों समान हैं। यही कहा जा सकता है ॥ २९५ ॥ दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से है उसी प्रकार पट भी अपने स्वरूप की अपेक्षा से है। घट पट में नहीं रहता है और पट घट में नहीं रहता है। किन्तु घट और पट ये दोनों ही स्वतन्त्र हैं ॥ २९६ ॥ जिस प्रकार पट का अभाव घट नहीं है और न पट के अभाव में घट की उत्पत्ति ही होती है। उसी प्रकार पट भी घट के अभाव रूप नहीं है और न घट के अभाव से पट की उत्पत्ति ही होती है ॥ २९७ ॥ इसलिये 'व्यतरेक के अभाव में अन्वय भी नहीं रहता' यह कहना कैसे बन सकता है, क्यों कि व्यतिरेक के अभाव में भी 'अन्वय अपने स्वरूप से है' यह कहा जा सकता है ?

समाधान यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि सत् यह द्वैतरूप होकर भी कथंचित् अद्वैत रूप ही है, इसलिये जब विधि की विवक्षा होती है तब वह विधिमात्र प्राप्त होता है और जब निषेध की विवक्षा होती है तब वह निषेधमात्र प्राप्त होता है ॥ २९९ ॥ ऐसा नहीं है कि कुछ भाग विधिरूप है और उससे बचा हुआ कुछ भाग निषेधरूप है क्यों कि ऐसे सत् की सिद्धि में साधन का मिलना तो दूर रहो, उसमें द्वैत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है क्यों कि वह अशेष विशेषों से रहित माना गया है ॥ ३०० ॥ जिस प्रकार दो द्रव्यों में संज्ञा भेद होता है उसी प्रकार इन में संज्ञा भेद को अबाधित मानना भी उचित नहीं है, क्यों

अपि च निषिद्धत्वे सति न हि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात् ।
उभयात्मकं यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ३०२ ॥

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा ।
संहृत्यान्यतरत्वादन्यतरे संनिरूप्यते तदिह ॥ ३०३ ॥

दृष्टान्तोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया ।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाऽध्यक्षात् ॥ ३०४ ॥

यदि पुनरेव पटत्वं तदिह तथा दृश्यते न तन्तुतया ।
अपि संगृह्य समन्तात् पटोऽयमिति दृश्यते सद्भिः ॥ ३०५ ॥

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः ।
तेषामुभयांगत्वान्नहि कोऽपि कदा विपक्षः स्यात् ॥ ३०६ ॥

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्यात्स्वयं निषेधात्मा ।
अपि च निषेधस्तद्वद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥ ३०७ ॥

इति विन्दन्निह तत्त्वं जैनः स्यात्कोऽपि तत्त्ववेदीति ।
अर्थात्स्यात्स्याद्वादी तदपरथा नाम सिंहमाणवकः ॥ ३०८ ॥

कि ऐसी हालत में विधि सर्वथा विधिमात्र ही प्राप्त होता है तब उसमें बाकी के विशेष लक्षणों का अभाव ही हो जाता है ॥ ३०१ ॥ अथवा निषेध सर्वथा निषेधमात्र ही प्राप्त होता है तब उसमें विधि का अभाव होने के कारण उसका सद्भाव सिद्ध नहीं होता। अब यदि इन दोषों से बचने के लिये वस्तु को उभयात्मक माना जाता है तो वस्तु अन्वय-व्यतिरेकात्मक है इस प्रकृत कथन की प्रतीति कैसे नहीं मानी जायगी, अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकात्मक वस्तु की प्रतीति अवश्य माननी पड़ेगी ॥ ३०२ ॥ इसलिये कभी वह सत् विधिरूप कहा जाता है और कभी निषेधरूप कहा जाता है, क्यों कि परस्पर सापेक्ष होने से इन का एक दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ३०३ ॥ प्रकृत में दृष्टान्त यह है कि जब तक पट तन्तुरूप से विवक्षित रहता है तब तक पट की प्रतीति न होकर प्रत्यक्ष से तन्तुओं की ही प्रतीति होती है ॥ ३०४ ॥ और यदि वही पट जब पट रूप से देखा जाता है तब विद्वान् लोग उसे तन्तुरूप से न देख कर तन्तुओं के समुदाय रूप पट रूप से ही देखते हैं ॥ ३०५ ॥ इत्यादि और भी बहुत से दृष्टान्त हैं जिन से प्रकृत पक्ष का समर्थन होता है। वे सभी दृष्टान्त उभय धर्मवाले हैं इसलिये कोई भी दृष्टान्त विपक्ष रूप नहीं होता है ॥ ३०६ ॥ आशय यह है कि विधि ही स्वयं युक्ति के वश से निषेधरूप हो जाता है और उसी तरह निषेध भी स्वयं युक्ति के वश से विधिरूप हो जाता है ॥ ३०७ ॥ इस प्रकार जो कोई भी व्यक्ति तत्त्व को जानता है वही जैन है, तत्त्ववेदी भी वही है और वास्तव में स्याद्वादी भी वही है। और जो इससे अन्यथा जानता है वह सिंहमाणवक है ॥ ३०८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ अस्ति-नास्ति धर्मों का प्रतिपादन करने के बाद वस्तु को विधि निषेधात्मक या सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध किया गया है। लोक में ऐसे अनेक दर्शन हैं जिनमें से कितने ही दर्शन वस्तु को केवल सामान्यात्मक कितने ही दर्शन केवल विशेषात्मक और कितने ही दर्शन सामान्य और विशेष को मानकर भी दोनों को स्वतन्त्र मानते हैं। परम ब्रह्मवादी चित् अचित् की स्वतन्त्र सत्ता न मान कर

ननु सदिति स्थायि यथा सदिति तथा सर्वकालसमयेषु ।
तत्र विवक्षितसमये तत्स्यादथवा न तदिदमिति चेत् ॥ ३०९ ॥
सत्यं तत्रोत्तरमिति सन्मात्रापेक्षया तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमात् सदवस्थापेक्षया पुनः सदिति ॥ ३१० ॥
ननु तदतदोर्द्वयोरिह नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव ।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात् ॥ ३११ ॥
नैवं यतो विशेषः समयात्परिणमति वा न नित्यादौ ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ॥ ३१२ ॥

केवल महासत्ता को ही स्वीकार करते हैं। उनके मतसे यह जग माया की बहुलता के कारण विविध रूपसे दिखाई देता है। वास्तव में विविध रूप है नहीं। बौद्ध प्रत्येक क्षण को पृथक् पृथक मानता है। उसके मत से सामान्य नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। यौग और वैशेषिक सामान्य और विशेष को मान कर भी दोनों को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन विविध दर्शनकारों ने सामान्य और विशेष को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है पर उन सबकी ये मान्यताएँ समीचीन नहीं हैं यही बात प्रकृत में दिखलाई गई है। यहाँ सर्व प्रथम केवल विधि और केवल प्रतिषेध को मानने से या विधि और प्रतिषेध को मान कर भी दोनों को सर्वथा स्वतन्त्र मानने से जो दोष आते हैं वे दिये गये हैं और अन्त में दृष्टान्त द्वारा उभयात्मक वस्तु की सिद्धि करके यह बतलाया गया है कि जो इस प्रकार वस्तु को मानता है वही जैन, तत्त्वदर्शी या स्याद्वादी है अन्य नहीं। अन्य को तो सिंहमाणवक कहना ही उपयुक्त होगा। सर्व प्रथम केवल सामान्य और केवल विशेष के मानने में यह आपत्ति दी है कि एक के बिना दूसरे की प्रतीति नहीं हो सकती। तथा दोनों को स्वतन्त्र मानने में यह आपत्ति दी है कि इन दोनों की अलग-अलग प्रतीति नहीं होती। किन्तु जो वस्तु अपने अवान्तर भेदों के अविवक्षित होने पर विधिरूप प्रतीत होती है वही वस्तु सामान्य के अविवक्षित होने पर नानारूप भी प्रतीत होने लगती है। इसलिये वस्तु को सर्वथा विधिरूप और सर्वथा निषेधरूप न मानकर उभयात्मक ही मानना चाहिये। उदाहरण द्वारा इस वस्तुस्थिति का समर्थन करने के लिये पट और तन्तुओं को दृष्टान्त रूपसे स्वीकार किया गया है। पट और तन्तु ये सर्वथा स्वतन्त्र दो नहीं हैं। किन्तु इनमें कथंचित् भेदाभेद है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये ॥ २८९-३०८ ॥

सत में अन्वय-व्यतिरेक की सिद्धि—

शंका—जिस प्रकार सत् स्थायी (नित्य) है उसी प्रकार वह सब कालों के सब समयों में भी पाया जाता है। इसलिये परिणामी है। फिर यह क्यों कहा जाता है कि वह विवक्षित समय में है और अविवक्षित समय में नहीं है ?

समाधान— यह कहना ठीक है तथापि इस विषय में यह उत्तर है कि सत्सामान्य की अपेक्षा से 'यह वही है' ऐसा कहा जाता है और सत् की अवस्थाओं की अपेक्षा से 'यह वह नहीं है' ऐसा कहा जाता है ॥ ३१० ॥

तदतद्भाव से नित्यानित्यभाव में क्या भेद है इसका विचार—

शंका—तत् और अतत् इन दोनों में तथा नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों में लक्ष्य-लक्षण रूप एक भेद के सिवा परस्पर में और कौनसा भेद है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनों युगलों में परस्पर में भेद है। नित्या-

ननु सन्नित्यमनित्यं कथञ्चिदेतावतैव तत्सिद्धिः ।
तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत् ॥ ३१३ ॥

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निन्हवे दोषात् ।
नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्त्वम् ॥३१४॥

अयमर्थो यदि नित्यं सर्वं सत् सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा कारणकार्ये कारकसिद्धिस्तु विक्रियाभावात् ॥ ३१५ ॥

यदि वा सदनित्यं स्यात्सर्वस्वं सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा क्षणिकत्वादिह क्रियाफलं कारिकाणि तत्त्वं च ॥ ३१६ ॥

अपि नित्यानित्यात्मनि सत्यपि सति वा न साध्यसंसिद्धिः ।
तदतद्भावाभावैर्विना न यस्माद्विशेषनिष्पत्तिः ॥ ३१७ ॥

अथ तद्यथा यथा सत्परिणममानं यदुक्तमस्तु तथा ।
भवति समीहितसिद्धिर्विना न तदतद्विवक्षया हि यथा ॥ ३१८ ॥

अपि परिणममानं सन्न तदेतत् सर्वथाऽन्यदेवेति ।
इति पूर्वपक्षः किल विना तदेवेति दुर्निवारः स्यात् ॥ ३१९ ॥

नित्यत्व का विचार करते समय तो 'प्रति समय परिणमन होता है या नहीं' यह देखा जाता है और तदतद्भाव का विचार करते समय 'परिणाम सदृश होता है या विसदृश' यह देखा जाता है ॥ ३१२ ॥

शंका—सत् कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है केवल इतने मात्र से ही सदृश और विसदृश परिणाम की सिद्धि हो जाती है फिर यहाँ तत् और अतत् के सद्भाव और असद्भाव के विचार से क्या प्रयोजन है, क्योंकि इस विचार से तो केवल गौरव दोष आता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तत् अतत् के भावाभाव विचार का लोप करने पर यह दोष आता है कि सत् के नित्यानित्यात्मक होने पर भी उसमें तत् अतत् भाव के माने बिना क्रिया फल और तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ३१४ ॥ आशय यह है कि 'सम्पूर्ण सत् केवल नित्य है' यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो इसके स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं बनती और इसके अभाव में कारण, कार्य और कारक इनमें से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है ॥ ३१५ ॥ अथवा 'सम्पूर्ण सत् केवल अनित्य है' यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो इसके स्वीकार करने पर क्षणिकत्व का प्रसंग आता है। जिससे क्रियाफल, कारक और तत्त्व इनमें से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है ॥ ३१६ ॥ यदि सत् को केवल नित्यानित्यात्मक माना जाता है तो भी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि तत् अतत् का भावाभाव माने बिना पदार्थों में जो भेद प्रतीत होता है वह नहीं हो सकता है ॥ ३१७ ॥ अब यदि सत् का जैसा परिणमन होता है वह वैसा ही कहा जाय, ऐसा यदि चाहते हो तो तत् अतद्भाव को स्वीकार कर लेना चाहिये, क्योंकि तत् अतद्भाव की विवक्षा किये बिना समीहित की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥३१८॥

'परिणमन करता हुआ सत् वह नहीं है जो पहले था किन्तु उससे सर्वथा भिन्न ही है' इस प्रकार का किया गया पूर्व पक्ष तत् पक्ष को स्वीकार किये बिना दूर नहीं किया जा सकता है ॥ ३१९ ॥ इसी

अपि परिणतं यथा सद्दीपशिखा सर्वथा तदेव यथा।
इति पूर्वपक्षः किल दुर्वारः स्याद्विना न तदिति नयात् ॥ ३२० ॥

तस्मादवसेयं सन्नित्यानित्यत्ववत्तदतद्वत्।
यस्मादेकेन विना न समीहितसिद्धिरध्यक्षात् ॥ ३२१ ॥

ननु भवतु सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा।
ईहितसिद्धिस्तु सतः परिणामित्वाद्यथाकथञ्चिद्वै ॥ ३२२ ॥

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात् ॥ ३२३ ॥

नापीष्टः संसिद्ध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मः।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो विनाशाद्वा ॥ ३२४ ॥

एतेन निरस्तोऽभूत् क्लीवत्वादात्मनो ऽ पराद्धतया।
तदतद्भावाभावापन्हववादी विबोध्यते त्वधुना ॥ ३२५ ॥

प्रकार 'परिणमन करता हुआ सत् दीप शिखा के समान सर्वथा वही है' ऐसा किया गया पूर्व पक्ष अतत् पक्ष को स्वीकार किये बिना भी दूर नहीं किया जा सकता है ॥ ३२० । इसलिये सत् नित्यानित्य के समान तदतद्रूप है ऐसा मान लेना चाहिये, क्यों कि किसी एक के माने बिना प्रत्यक्षसे इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ३२१ ॥

शंका—परिणाम सर्वथा सदृश या विसदृश किसी प्रकार का भी होता रहे, इसमें तत् अतद्भाव के नहीं मानने से कुछ भी हानि नहीं है, क्यों कि इच्छित अर्थ की सिद्धि तो सत् को कथंचित् परिणामी मान लेने से हो जाती है?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि परिणाम होकर भी वह सदृशात्मक होता है ऐसा एक पक्ष मानने से कोई लाभ नहीं, क्यों कि नित्यैकान्त आदि पक्ष के समान सदृश परिणाम के मानने पर भी वह कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥ ३२३ ॥ इसी प्रकार सर्वथा विसदृश परिणाम के मानने पर भी वह कार्यसिद्धि में समर्थ नहीं हो सकता है; क्योंकि जैसे क्षणिकैकान्त पक्ष के मानने पर असत् की उत्पत्ति और सत् के विनाश का प्रसंग आता है। वैसे ही सर्वथा विसदृश पक्ष के मानने पर भी उक्त दोष आते हैं ॥ ३२४ ॥ इस प्रकार इतने कथन द्वारा तदतद्भाव का अपलाप करनेवाला व्यक्ति क्लीव होने से स्वयं अपने अपराध के कारण निरस्त हो जाता है। अब उसे समझाते हैं। ३२५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ नित्यानित्यता से तदतद्भाव में क्या अन्तर है और इन दोनों को अलग अलग क्यों माना गया है यह बतलाया है। 'नित्य' शब्द का अर्थ है 'ध्रुव' और 'अनित्य' शब्द का अर्थ है 'अध्रुव'। इसी प्रकार 'तत्' शब्द का अर्थ है 'वह' और 'अतत्' शब्द का अर्थ है 'वह नहीं'। ग्रन्थकार का कहना है कि तदतद्भाव के माने बिना नित्यानित्य पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये इन दोनों का मानना जरूरी है। वस्तु कथंचित् परिणामी है और कथंचित् अपरिणामी है इसकी सिद्धि यद्यपि नित्यानित्य पक्ष के स्वीकार करने से होती है तथापि वस्तु का कथंचित् अपरिणामीपना तद्भाव के स्वीकार करने से और कथंचित् परिणामीपना अतद्भाव के स्वीकार करने से ज्ञात होता है। कार्य कारण भाव की सिद्धि भी इसी प्रकार हो सकती है, अतः नित्यानित्यभाव और तदतद्भाव इन दोनों युगलों को स्वीकार

तदतद्भावनिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्ये ॥ ३२६ ॥

जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमँस्तदेवेति ।
सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥ ३२७ ॥

यदि वा तदिति ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः ।
स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ॥ ३२८ ॥

अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोऽपि कालांशाः ।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव ॥ ३२९ ॥

अपि नययोगाद्विसदृशसाधनसिद्ध्यै त एव कालांशाः ।
समयः समयः समयः सोऽपीति बहुप्रतीतित्वात् ॥ ३३० ॥

अतदिदमिह प्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति ।
तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥ ३३१ ॥

अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात् ।
न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥ ३३२ ॥

रूपनिदर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिः मुख्यः ।
अतदिति गुणोऽपृथक्त्वात्तन्मात्रं निरवशेषतया ॥ ३३३ ॥

कर लेना जरूरी है। नित्यानित्यभाव के मान लेने पर इतना ही ज्ञात होता है कि वस्तु नित्य हो कर भी परिणामनशील है किन्तु वह परिणाम सर्वथा सदृश या सर्वथा विसदृश न सिद्ध हो जाय इसलिये तदतद्भाव को नित्यानित्यभाव से सर्वथा स्वतंत्र मान लेना चाहिये यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

तदतद्भाव का विचार—

वस्तु का तद्भाव और अतद्भाव से युक्त जो स्वाभाविक परिणमन होता है उसका इस समय दृष्टान्त पूर्वक विचार करते हैं ॥ ३२६ ॥ यथा-जीव का ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ सदा वही रहता है। इसमें ज्ञानत्व जाति का कभी भी उल्लंघन नहीं होता है। यह तद्भाव का उदाहरण है ॥ ३२७ ॥ तथा वही ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ बदल जाता है, क्यों कि विवक्षित परिणाम का अपने समय में जो सत्त्व है वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्य समय में नहीं है। यह अतद्भाव का उदाहरण है ॥ ३२८ ॥ इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है कि परिणमनशील जितने भी कालांश हैं वे सब अपनी जाति का उल्लंघन नहीं करने के कारण तद्भाव के ही कारण हैं ॥ ३२९ ॥ तथा वे ही काल के अंश पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा से अतद्भाव के भी कारण हैं क्यों कि उनमें प्रथम समय, द्वितीय समय और तृतीय समय इत्यादि रूप से अनेक समयों की प्रतीति होती है ॥ ३३० ॥ प्रकृत में 'यह वह नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति का कारण क्रियाफल और कारक हैं। तथा 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति का कारण तत्त्व है। किन्तु यह बात तभी बनती है जब इन दोनों में परस्पर सापेक्षभाव माना जाय ॥ ३३१ ॥ आशय यह है कि सत् और असत् की तरह तत् और अतत् भी विधि निषेधरूप होते हैं। पर निरपेक्षपने से वे दोनों तत्त्वरूप नहीं हैं किन्तु परस्पर सापेक्षपने से ही ये दोनों तत्त्वरूप हैं ॥ ३३२ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि जिस

अतदिति विधिर्विवक्ष्यो मुख्यः स्यात् केवलं यदादेशात् ।
तदिति स्वतो गुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥ ३३४ ॥
शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया ।
सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥ ३३५ ॥
ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयं च तत्त्वं स्यात् ।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥ ३३६ ॥
सत्यं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वम् ।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात् स्यात्पदाङ्कितं तु पदम् ॥ ३३७ ॥
अथ तद्यथा यथा सत् स्वतोऽस्ति सिद्धं तथा च परिणामि ।
इति नित्यमथानित्यं सच्चैकं द्विस्स्वभावतया ॥ ३३८ ॥

समय 'तत्' इस रूप से केवल विधि मुख्य होता है उस समय तत् का अविनाभावी होने से 'अतत्' गौण हो जाता है। इसलिये पूरी तरह से वस्तु तन्मात्र प्राप्त होती है ॥ ३३३ ॥ तथा जिस समय केवल 'अतत्' का कथन करना विवक्षित होता है उस समय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा से वह मुख्य हो जाता है और 'तत्' यह स्वतः गौण हो जाने से अविवक्षित हो जाता है, इसलिये इस समय वस्तु अतन्मात्र प्राप्त होती है ॥ ३३४ ॥ अब इस विषय में जो विशेष व्याख्यान शेष है सो उस सम्बन्ध में कुछ तो पहले कह आये हैं और कुछ आगे कहेंगे, इसलिये वहां से जान लेना चाहिये, क्यों कि ऐसा न्याय है कि सूत्र में पदों की अनुवृत्ति अन्य सूत्रों से होती हुई देखी जाती है ॥ ३३५ ॥

विशेषार्थ—यहां पर वस्तु के तद्भाव और अतद्भाव के स्वरूप पर उदाहरण के साथ प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक वस्तु में अन्वय की प्रतीति तद्भाव के कारण और व्यतिरेक की प्रतीति अतद्भाव के कारण ही होती है। ज्ञान चाहे जितने रूपों में से होकर गुजरता रहे पर वह अपने ज्ञानत्व की धारा का कभी भी त्याग नहीं करता है। इसी का नाम तद्भाव है। और उसका मतिज्ञान आदि विविध रूपों का स्वीकार करना ही अतद्भाव है। तद्भाव में सदृश परिणाम की मुख्यता है और अतद्भाव में विसदृश परिणाम की मुख्यता है। प्रत्येक वस्तु के जितने कालांश अर्थात् पर्यायें हैं उनमें तद्भाव और अतद्भाव दोनों की प्रतीति होती है। मनुष्य बालक से युवा और युवा से वृद्ध होता है फिर भी वह हर हालत में मनुष्य ही बना रहता है। अब इनमें से जब केवल मनुष्यत्व विवक्षित होता है और बालक आदि विविध अवस्थाएं गौण हो जाती हैं उस समय बालक, युवा या वृद्ध किसी भी मनुष्य में 'यह मनुष्य है' यही एक प्रतीति होती है। तथा जिस समय बालक, युवा या वृद्ध अवस्था मुख्य होती है उस समय उस अवस्था विशेष की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार तद्भाव और अतद्भाव के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

वस्तु नित्य आदि अनेक धर्मात्मक है इसका समर्थन—

शंका—वस्तु क्या नित्य है या अनित्य है? क्या उभयरूप है या अनुभयरूप है? क्या व्यस्तरूप है या समस्तरूप है? क्या क्रमपूर्वक है या अक्रमपूर्वक है?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि इस कथन के पहले यदि सर्वथा पद लगा दिया जाय तो वह स्व पर दोनों का विघातक हो जाता है और यदि उस सब कथन को स्यात्पद से अंकित कर दिया जाय तो वह स्व और पर दोनों का ही उपकारक हो जाता है ॥ ३३७ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि जैसे सत् स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह परिणमनशील भी है। इस प्रकार एक ही सत् दो स्वभाववाला होने से

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः ।
नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात् ॥ ३३९ ॥

अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु ।
अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ॥ ३४० ॥

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद् द्वैतम् ।
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः ॥ ३४१ ॥

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगपदेव तुल्यतया ।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद् ध्वनेरिति न्यायात् ॥ ३४२ ॥

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा ।
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद् गुणोऽन्यतरः ॥ ३४३ ॥

अथ चैकः कोऽपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा ।
सत्परिणामोऽपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत् किमिति ॥ ३४४ ॥

अथ किमनेकार्थत्वादेकं भावद्वयाङ्कितं किञ्चित् ।
अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् किमथ ॥ ३४५ ॥

नित्य भी है और अनित्य भी है ॥ ३३८ ॥ आशय यह है कि जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है, परिणाम दृष्टिगत नहीं होता है उस समय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु नित्य प्राप्त होती है, क्योंकि वस्तु सामान्य का कभी भी नाश नहीं होता है ॥ ३३९ ॥ तथा जिस समय केवल परिणाम दृष्टिगत होता है, वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु अनित्य प्राप्त होती है, क्योंकि प्रति समय न्यूतन पर्याय का उत्पाद और प्राचीन पर्याय का नाश देखा जाता है ॥ ३४० ॥

सत् और परिणाम के विषय में शंकाकार की अनेक आपत्तियाँ—

शंका—जिस प्रकार सत् एक है उसी प्रकार परिणाम भी एक है ये दो हैं फिर क्या कारण है कि इन दोनों में से किसी एक का क्रम से ही कथन किया जा सकता है दोनों का एक साथ नहीं ॥ ३४१ ॥ तो क्या ऐसा है कि जिस प्रकार क, ख, आदि वर्ण एक साथ समानरूप से विद्यमान रहते हैं, परन्तु ध्वनि में क्रमवर्तीपना पाया जाने से वे बोले क्रम से जाते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम एक साथ विद्यमान रहते हुए क्या क्रम से कहे जाते हैं ॥ ३४२ ॥ अथवा ऐसा है क्या कि जिस प्रकार देखने में विन्ध्याचल और हिमालय ये स्वतन्त्र दो हैं परन्तु दोनों में वक्ता की इच्छानुसार जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है और दूसरा गौण हो जाता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम स्वतन्त्र दो हैं और इन दोनों में जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है और दूसरा गौण हो जाता है ॥ ३४३ ॥ या ऐसा है कि जिस प्रकार कोई एक व्यक्ति कभी सिंह और कभी साधु दो तरह से विवक्षित होता है उसी प्रकार वस्तु कभी सत् और कभी परिणामरूप से विवक्षित होती है। वस्तु का सत् और परिणाम के साथ क्या इस तरह का विशेषण—विशेष्य सम्बन्ध है ॥ ३४४ ॥ या ऐसा है क्या कि जिस प्रकार एक ही पदार्थ नाना प्रयोजन होने से अग्नि और वैश्वानर के समान दो नामों से अंकित होता है उसी प्रकार सत्

अथ किं कालविशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात् ।
आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति ॥ ३४६ ॥

अथ किं कालक्रमतोऽप्युत्पन्नं वर्तमानमिव चास्ति ।
भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया ॥ ३४७ ॥

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयमिव मिथः सपक्षतया ।
किमथोपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥ ३४८ ॥

केवलमुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्किमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥ ३४९ ॥

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादिद्वैतमिव ।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित् ॥ ३५० ॥

अथ किं बीजाङ्कुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा ।
स यथा योनीभूतं तत्रैकं योनिजं तदन्यतरम् ॥ ३५१ ॥

अथ किं कनकोपलवत् किञ्चित्स्वं किञ्चिदस्वमेव यतः ।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥ ३५२ ॥

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्ध्यै ।
पानकवत्तन्नियमादर्थाभिव्यञ्जकं द्वैतात् ॥ ३५३ ॥

और परिणाम भी क्या नाना प्रयोजन होने से एक ही वस्तु के दो नाम हैं। या जिस प्रकार दाएँ और बाएँ सींग होते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ॥ ३४५ ॥ अथवा काल भेद से एक पहले और दूसरा पीछे होता है क्या। जिस प्रकार कि कच्ची पकी मिट्टी आगे पीछे होती है उसी प्रकार ये सत् और परिणाम हैं क्या ॥३४६॥ अथवा क्या कालक्रम से उत्पन्न होकर भी ये दोनों वर्तमान काल में परस्पर विरुद्ध भाव से रहते हैं। जैसे कि आगे पीछे परणी हुई दो सपत्नियाँ वर्तमान कालमें परस्पर विरुद्ध भाव से रहती हैं ॥ ३४७ ॥ अथवा बड़े और छोटे भाई के समान ये दोनों परस्पर अविरुद्ध भाव से एक साथ रहते हैं क्या। अथवा ये दोनों उपसुन्द और सुन्द इन दोनों मल्लों के समान परस्पर के आश्रित हैं क्या ॥ ३४८ ॥ अथवा सत् और परिणाम इन दोनों में केवल उपचार से परत्वापरत्व व्यवहार होता है क्या। आशय यह है कि जिस प्रकार अपेक्षामात्र से पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा ये दोनों कही जाती हैं उसी प्रकार ये दोनों हैं क्या ॥ ३४९ ॥ अथवा आधार-आधेय न्याय से इन दोनों में कारक आदि द्वैत घटित होता है क्या! जैसे कि 'घट में जल है' यहाँ आधार-आधेयभाव है किन्तु 'जल में घट है' यहाँ वह नहीं है ॥ ३५० ॥ अथवा जिस प्रकार बीज और अंकुर में कारण-कार्यभाव है उसी प्रकार सत् और परिणाम में भी क्या कारण-कार्यभाव है। जैसे कि बीज और अंकुर में एक कारण है और दूसरा कार्य है ॥ ३५१ ॥ अथवा सत् और परिणाम दोनों में कनक पाषाण के समान क्या एक स्वरूप है और दूसरा पररूप है और इस प्रकार साररूप होने से स्व ग्राह्य है और दूसरा पररूप असाररूप होने से अग्राह्य है ॥ ३५२ ॥ अथवा सत् और परिणाम ये दोनों अर्थसिद्धि के लिये वचन और अर्थ के समान संयुक्त होकर पेय पदार्थ के

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरीदण्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्ध्येत् ॥ ३५४ ॥

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथारुचित्वान्न ।
पदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः ॥ ३५५ ॥

अथ किमुपादानतया स्वार्थं सृजति कश्चिदन्यतमः ।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति ॥ ३५६ ॥

शत्रुवदादेशः स्यात्तद्वत्तद् द्वैतमेव किमिति यथा ।
एकं विनाश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥ ३५७ ॥

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।
वामेतरकरवर्तितरज्जूयुग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥ ३५८ ॥

नैवमदृष्टान्तत्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोऽपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥ ३५९ ॥

समान मिलकर नियम से अर्थ के अभिव्यंजक हैं क्या ॥ ३५३ ॥ अथवा दोनों के विना अर्थ सिद्धि नहीं होती इसलिए सत् और परिणाम इन दोनों का कथन करना आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार भेरी और दण्ड के संयोग से विवक्षित कार्य सिद्ध होता है उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम के सम्बन्ध से पदार्थ की सिद्धि होती है ॥ ३५४ ॥ अथवा सत् और परिणाम इनका कथन रुचिपूर्वक न करके उदासीनता पूर्वक किया जाता है; क्यों कि पदपूर्ण न्याय के अनुसार इनमें से किसी एक के द्वारा ही साध्य की सिद्धि हो जाती है ॥ ३५५ ॥ अथवा कोई एक उपादान कारण होकर अपने कार्य को करता है और दूसरा सहकारी कारण बनकर प्रकृत कार्य को पुष्ट करता है। जिस प्रकार ये दो मित्र हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ॥ ३५६ ॥ अथवा आदेश शत्रु के समान होता है उसी प्रकार ये दोनों हैं क्या। जिससे कि इनमें से कोई एक दूसरे का समूल नाश करके निरपेक्ष भाव से स्वयं उदित होता है ॥ ३५७ ॥ अथवा जिस प्रकार वाम और दक्षिण हाथ में रहनेवाली दो रस्सियाँ परस्पर विमुखता से अलग अलग रहकर भी यथायोग्य कार्य करती हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुखता से अनमिल रह कर ही अपने कार्य को करते हैं ॥ ३५८ ॥

विशेषार्थ—पहले यह बतलाया जा चुका है कि वस्तु सत् और परिणाम उभयरूप है। तथापि इनमें से जब जो विवक्षित होता है तब वह उसरूप प्रतीत होती है, क्योंकि सत् और परिणाम ये सर्वथा जुदे नहीं हैं। किन्तु इस विवेचन से सन्तुष्ट न होकर शंकाकार ने सत् और परिणाम के विषय में दृष्टान्त पूर्वक अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की हैं। आगे स्वयं ग्रन्थकार इन आपत्तियों का निराकरण करनेवाले हैं, अत यहाँ जिन उदाहरणों का आश्रय लेकर ये आपत्तियाँ खड़ी की गई हैं उनके विषय में अधिक नहीं लिखा जाता है ॥ ३४१–३५८ ॥

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने पक्ष की पुष्टि में जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे जब स्व और पर दोनों पक्षों के घातक होने से दृष्टान्त ही नहीं ठहरते तब ऐसा कौन मन्दबुद्धि पुरुष

'ख' पुस्तके 'यदपूर्ण-' इति पाठः ।

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशिनः प्रमाणस्य ।
मा भूदभाव इति न हि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥ ३६० ॥
अपि च प्रमाणाभावे न हि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै ।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोऽपि नार्थकृते ॥ ३६१ ॥
संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरिति चेद्वै ।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया ह्युक्तस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ३६२ ॥
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भवति ।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद् ध्वनेरहेतुत्वम् ॥ ३६३ ॥

होगा जो स्वयं अपने विनाश के लिये प्रयत्न करेगा। अर्थात् कोई भी नहीं हो सकता है ॥ ३५९ ॥

पहले दृष्टान्त में दोष—

परस्पर में साक्षेप सत् और परिणाम इन दोनों धर्मों को विषय करनेवाले प्रमाण का अभाव करना इष्ट नहीं इसलिए प्रकृत में जो वर्णपंक्ति का दृष्टान्त दिया है वह ठीक नहीं है ॥ ३६० ॥ यदा कदाचित् प्रमाण का अभाव भी मान लिया जाय तो भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि जिस प्रकार वाक्य विवक्षा के अभाव में केवल पद पक्ष किसी प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ नहीं है। उसी प्रकार प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष भी अपनी रक्षा में समर्थ नहीं हैं। अर्थात् प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष भी कार्यकारी नहीं है ॥ ३६१ ॥ यदि संस्कार वश पदों में वाक्य प्रतीति मानो जाय तो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कथन करने पर नयों का अभाव होकर केवल प्रमाण के कथन करने की आपत्ति आती है जिसे रोकना दुर्निवार है ॥ ३६२ ॥ यदि कहा जाय कि केवल प्रमाणपक्ष मान लिया जाय तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर दो ऐसे दूषण आते हैं जिनका रोकना दुर्वार हो जाता है। उक्त मान्यता के अनुसार एक तो नयपक्ष का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और दूसरे ध्वनि क्रमवर्ती होती है; यह जो हेतु दिया गया था वह समीचीन हेतु नहीं ठहरता ॥ ३६३ ॥

विशेषार्थ—पहले विविध दृष्टान्तों द्वारा सत् और परिणाम के विषय में आशंका कर आये हैं। उन दृष्टान्तों में एक वर्ण पंक्ति का भी दृष्टान्त दे आये हैं। इस द्वारा यह आशंका प्रकट की गई है कि जिस प्रकार क, ख आदि वर्ण स्वतन्त्ररूप से एक साथ रहते हैं, किन्तु उनका ग्रहण क्रम से होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम का स्वतन्त्ररूप से एक साथ रहना मान कर उनका ग्रहण क्रम से माना जाय। इस आशंका का ग्रन्थकर्ता ने जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि सामान्य और विशेष ये स्वतन्त्र दो न होकर एक अनिर्वचनीय वस्तु को देखने के दो प्रकार हैं जो परस्पर सापेक्ष हैं। यतः प्रमाण ज्ञान सकलादेशी होता है, अतः वह सत् और परिणाम उभयरूप वस्तु को ही ग्रहण करता है। प्रकृत में वर्णपंक्ति के दृष्टान्त द्वारा शंकाकार ने सत् और परिणाम को सर्वथा स्वतन्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है अतः यह दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं होता। यदि प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष स्वीकार किया जाता है तो ऐसा करना युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वाक्य के अभाव में केवल पद कार्यकारी नहीं होता है उसी प्रकार प्रमाण के अभाव में नयपक्ष भी कार्यकारी नहीं है। आशय यह है कि नाना पदों के मिलने से एक वाक्य बनता है और तब जाकर वाक्य से अर्थबोध होता है। इसलिये वाक्य की अपेक्षा से ही प्रत्येक पद कुछ न कुछ अर्थ रखनेवाले कहे जाते हैं। यदि कोई

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यतोऽविवक्षश्च ॥ ३६४ ॥

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोऽपि नरः ।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥ ३६५ ॥

नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।
केवलमिह रूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥ ३६६ ॥

'नमः श्रीवर्धमानाय' इत्यादि वाक्य को न मान कर 'नमः' और 'श्रीवर्धमानाय' इन पदों को भिन्न भिन्न ही मानें तो 'श्री वर्धमान को नमस्कार हो' इस अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार वाक्य पक्ष के अभाव में कारक अर्थात् विभक्ति का भी अर्थ नहीं बन सकता है। वैसे ही प्रमाण के अभाव में नयपक्ष भी कार्यकारी नहीं हैं। यदि कहा जाय कि जैसे वाक्य का उच्चारण नहीं करके भी केवल संस्कार वश पदों से वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। वैसे ही प्रमाण के अभाव में नयों से प्रमाण की प्रतीति हो जायगी सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यावत् कथन प्रमाणरूप प्राप्त होता है तब नय का कोई स्थान ही नहीं रहता। किन्तु यदि इस दृष्टिकोण को समीचीन मान लिया जाय तो दो महान् दूषण आते हैं। एक तो नयपक्ष का सर्वथा अभाव हो जाता है और दूसरे नयपक्ष के अभाव में क्रम नहीं बनता जिससे ध्वनि अहेतुक ठहरती है। यतः ये दोष न प्राप्त होवें अतः सत् और परिणाम को क, ख आदि वर्णों के समान सर्वथा निरपेक्ष न मान कर परस्पर सापेक्ष ही मानना चाहिये।

दूसरे दृष्टान्त में दोष—

विंध्याचल और हिमाचल इन दोनों पर्वतों का दृष्टान्त भी इष्ट वस्तु की सिद्धि करने के लिये समर्थ नहीं है। क्योंकि जब ये नियम से स्वतन्त्र हैं तब इनमें गौण मुख्य भावकी इच्छा करना निरर्थक है ॥ ३६४ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में सत् और परिणाम में कथंचित् भेद स्वीकार किया है। किन्तु विन्ध्याचल और हिमाचल ये सर्वथा स्वतन्त्र दो हैं, अतः सत् और परिणाम की सिद्धि के लिये विन्ध्याचल और हिमाचल का दृष्टान्त उपयोगी नहीं है ॥ ३६४ ॥

तीसरे दृष्टान्त में दोष—

जैसे कोई एक मनुष्य सिंह और साधु कहा जाता है सो प्रकृत में यह दृष्टान्त इष्ट सिद्धि के लिये समर्थ नहीं है, क्योंकि जैसे 'जल सुरभि है', ऐसा मानने पर स्वरूपासिद्ध दोष आता है उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्त में भी स्वरूपासिद्ध दोष आता है ॥ ३६५ ॥ यहाँ स्वरूपासिद्धत्व दोष असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त साध्यशून्य है। दृष्टान्त साध्यशून्य इसलिये है क्योंकि यहाँ दो धर्मोंकी अपेक्षा न करके केवल रूढ़िवश सिंह और साधु ऐसा व्यवहार किया गया है ॥ ३६६ ॥

विशेषार्थ—मनुष्य में सिंहत्व और साधुत्व धर्म के नहीं रहने पर भी व्यवहार में कभी वह सिंह और कभी साधु कहा जाता है। यदि सत् और परिणाम को वस्तु में इस प्रकार माना गया होता तो उक्त दृष्टान्त ठीक होता। किन्तु इसके विपरीत वस्तु सत्परिणामात्मक मानी गई है, इसलिये प्रकृत में यह दृष्टान्त उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। नैयायिक दर्शन के अनुसार जल में सुगन्ध नहीं पाई जाती फिर भी 'जल सुगन्धित है' ऐसा कहा जाता है सो जैसे यह कहना स्वरूपासिद्ध है उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्त भी स्वरूपासिद्ध है अतः यह प्रकृत में उपयोगी नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥३६५-३६६॥

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्धयर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥ ३६७ ॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेऽप्यलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥ ३६८ ॥
प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयाचदिति ।
भिन्नं चेदविशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥ ३६९ ॥
अथ चेद्युतसिद्धत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेऽपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोऽपि दुर्निवारः स्यात् । ३७० ॥
चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥ ३७१ ॥
क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोऽनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥
रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयाङ्कमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥ ३७३ ॥

चौथे दृष्टान्त में दोष—

अग्नि और वैश्वानर इनके समान सत् और परिणाम ये एक वस्तु के दो नाम हैं ऐसा जो कथन कर आये हैं वह भी इष्ट का साधक नहीं है, क्यों कि यह कथन साध्य के विरुद्ध है और दृष्टान्त में साध्य शून्यता का दोष आता है ॥३६७॥ आशय यह है कि प्रकृत दृष्टान्तद्वारा दो नामों की कल्पना की गई है वह दोनों धर्मों की उपेक्षा करके की गई है या उनकी अपेक्षा रख कर की गई है। पहला पक्ष स्वीकार करने पर धर्मों के अभाव में धर्मी का भी अभाव हो जाने से विचार करना ही व्यर्थ हो जाता है ॥ ३६८ ॥ दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर भी वे दोनों धर्म द्रव्य से भिन्न हैं कि अभिन्न हैं इस प्रकार ये दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं? यदि भिन्न पक्ष स्वीकार किया जाता है तो कोई विशेषता नहीं रहने से जैसे पहले धर्मी का अभाव कह आये हैं उसी प्रकार यहां भी धर्मी का अभाव प्राप्त होता है, अतः भिन्न पक्ष के विचार करने में क्या लाभ है अर्थात् कोई लाभ नहीं ॥ ३६९ ॥ यदि दोनों धर्मों के भिन्न रहने पर भी युतसिद्ध होने से धर्म धर्मी भाव की निष्पत्ति मानी जाती है तो सब पदार्थों का सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने के कारण सब पदार्थों का सब रूप होना दुर्निवार हो जायगा ॥ ३७० ॥ अब यदि द्रव्य से दोनों धर्म अभिन्न हैं यह नय पक्ष स्वीकार किया जाता है तो क्या यह अभिन्नता रूप और पट के समान मानी जाती है या क्षार द्रव के समान मानी जाती है ॥ ३७१ ॥ यदि यह अभिन्नता क्षार द्रव के समान मानी जाती है तो प्रकृत में यह ग्राह्य नहीं है, क्यों कि क्षार द्रव परस्पर में निरपेक्ष हैं, इसलिये वर्ण पंक्ति के दृष्टान्त से इस दृष्टान्त में कोई विशेषता नहीं आती। इस न्याय से नय और प्रमाण ये कुछ भी नहीं ठहरते ॥ ३७२ ॥ यदि सत् और परिणाम की अन्वय (वस्तु) से अभिन्नता रूप और पट के समान मानी जाती है तो प्रकृत के अनुकूल होने से यह मानना ठीक ठहरता है, अतः एक वस्तु दो नामों से अंकित है यह पक्ष अपने आप विपक्ष रूप हो जाता है ॥३७३॥

अपि चाकिञ्चित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः ।
सुरभिगगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ ३७४ ॥

न यतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्द्वयोरैक्यात् ॥ ३७५ ॥

विशेषार्थ—अग्नि और वैश्वानर ये एक वस्तु के दो नाम हैं, अतः इस दृष्टान्त से इष्ट की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वस्तु सत्परिणामात्मक है । किन्तु इस दृष्टान्त द्वारा इसकी सिद्धि नहीं होती इसलिये यह दृष्टान्त साध्य से विरुद्ध की सिद्धि करनेवाला होने के कारण साध्य शून्य हो जाता है । आगे इसी विषय का विशेष खुलासा करने के लिये दो शंकाऐं उपस्थित करके उनका जो खुलासा किया गया है वह निम्न प्रकार है—

(१) क्या सत् और परिणाम ये एक ही वस्तु के दो नाम दो धर्मों की उपेक्षा करके रखे गये हैं ? या (२) सत् और परिणाम ये एक ही वस्तु के दो नाम दो धर्मों की अपेक्षा से रखे गये हैं । प्रथम पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है क्यों कि इससे धर्मी का अभाव प्राप्त होता है । दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर यह प्रश्न खड़ा होता है कि वे दोनों धर्म धर्मी से भिन्न हैं कि अभिन्न । यदि धर्मी से धर्मों को भिन्न माना जाता है तो धर्मी और धर्म दोनों का अभाव प्राप्त होता है । यदि अभिन्न पक्ष स्वीकार किया जाता है तो यह अभिन्नता संयोग जन्य है या तादात्म्य रूप है । ऐसा नया प्रश्न खड़ा होता है संयोग जन्य अभिन्नता तो बन नहीं सकती, क्यों कि धर्म धर्मी में ऐसी अभिन्नता किसी ने नहीं स्वीकार की है । अब यदि तादात्म्य रूप अभिन्नता स्वीकार की जाती है तो ऐसी अभिन्नता के स्वीकार करने में कोई हानि नहीं, क्यों कि स्याद्वादियों ने सत् और परिणाम का तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार किया है । पर इससे शंकाकार का यह पक्ष कि 'सत् और परिणाम एक ही वस्तु के दो नाम हैं' नहीं रहता वह स्वयं विपक्षभूत हो जाने के कारण खण्डित हो जाता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३६७-३७३ ॥

पाँचवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

पहले जो सत् और परिणाम के विषय में दाएं और बाँएं सींगों का दृष्टान्त दे आये हैं सो वह दृष्टान्त भी प्रकृत में अकिंचित्कर ही है, क्योंकि आकाश कमल सुगन्धित है इसके समान यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध है ॥ ३७४ ॥ यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध इस लिए है क्योंकि सत् और परिणाम के अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है । किन्तु जिस प्रकार दीप और प्रकाश में अभेद होने से वे गुम्फित होते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम में ऐक्य होने से वे परस्पर में तादात्म्य को प्राप्त हैं ॥ ३७५ ॥

विशेषार्थ—गाय के दाएं और बाएं सींग ये गाय के आश्रय से रहते हैं । अब यदि सत् और परिणाम को दाएँ और बाएँ सींगों के समान माना जाता है तो सत् और परिणाम का एक अन्य आश्रय मानना पड़ेगा । यतः सत् और परिणाम का अन्य आश्रय नहीं है किन्तु वे दीप और प्रकाश के समान परस्पर गुम्फित हैं । अतः सत् और परिणाम की सिद्धि के लिये दाएँ और बाएँ सींगों का दिया गया दृष्टान्त 'आकाशकमल सुरभि है' इसके समान आश्रयासिद्ध है, इसलिये यह दृष्टान्त साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३७४—३७५ ॥

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ ३७६ ॥

परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ ३७७ ॥

तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया ॥ ३७८ ॥

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः ।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥ ३७९ ॥

माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात् ।
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं विचारतया ॥ ३८० ॥

छटवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में कच्ची और पक्की मिट्टी भी दृष्टान्त नहीं हो सकता है, क्योंकि कच्ची और पक्की मिट्टी क्रम से होती है इसलिए यह दृष्टान्त उभय पक्ष का घातक है ॥ ३७६ ॥ शंकाकार ने इस दृष्टान्त द्वारा जो प्रतिज्ञा की है वह स्वभावतः क्रमवर्तित्व की समर्थक है इसलिये तो इससे पर पक्ष का घात हो जाता है और यह असमर्थ साधन है इसलिये यह स्वयं स्वपक्ष का भी बाधक है ॥ ३७७ ॥ क्योंकि शंकाकार के मन में जो भी वस्तु साध्य होगी वह स्वभावतः या तो अनित्य वस्तु साध्य होगी या नित्य वस्तु साध्य होगी। किन्तु प्रकृत में वस्तु स्वभाव से पृथिवी सामान्य की अपेक्षा नित्य मानी गई है और अपक्व पक्व धर्म की अपेक्षा अनित्य मानी गई है ॥ ३७८ ॥

विशेषार्थ—शंकाकार की प्रतिज्ञा यह है कि सत् और परिणाम स्वतन्त्र दो हैं और सिद्धान्त पक्ष यह है कि सत् और परिणाम दीप और प्रकाश के समान तादात्म्य को प्राप्त हैं। अब यदि सत् और परिणाम को कच्ची और पक्की मिट्टी के समान बतलाया जाता है तो यह दृष्टान्त दोनों पक्षों का घातक हो जाता है। कच्ची और पक्की मिट्टी क्रम से होनेवाली एक मिट्टी द्रव्य की दो अवस्थाएँ हैं किन्तु सत् और परिणाम ऐसे नहीं हैं इसलिए तो यह दृष्टान्त पर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्ष का घातक हो जाता है। और इससे शंकाकार की प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं होती, क्यों कि शंकाकार सत् और परिणाम को स्वतन्त्र दो सिद्ध करना चाहता है पर इस दृष्टान्त से वे स्वतन्त्र दो सिद्ध न होकर एक वस्तु की क्रम से होनेवाली दो अवस्थाएँ सिद्ध होती हैं, इसलिए शंकाकार के द्वारा उपस्थित किये गये पक्ष का बाधक हो जाता है। शंकाकार का साध्य या तो अनित्य वस्तु हो सकती है या नित्य, पर वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर अनेक दोष आते हैं, इसलिए पृथिवी सामान्य की अपेक्षा जैसे पृथिवी नित्य सिद्ध होती है और अपक्वपक्व धर्म की अपेक्षा जैसे वह अनित्य सिद्ध होती है उसी प्रकार प्रकृत में जान लेना चाहिये ॥ ३७६—३७८ ॥

सातवें दृष्टान्त में दोषदर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में सपत्नीयुग्म यह दृष्टान्त भी हास्यास्पद के समान है, क्योंकि प्रकृत में इस दृष्टान्त के मानने पर असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीनों दोष आते हैं ॥ ३७९ ॥ 'मेरी माता बाँझ है' इत्यादि के समान तो इसमें विरुद्ध वाक्यता है। तथा कृतकत्व हेतु के बल से अनैकान्तिक

तद्वज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
धर्मिणि चासति तत्त्वे तथाश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥
अपि कोऽपि परायत्तः सोऽपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोऽपि परायत्तः स्यादित्यनवस्थाप्रसङ्गदोषश्च ॥ ३८२ ॥

और क्षणिकैकान्त के बल से असिद्ध दोष आता है इसलिये इसका विचार करना व्यर्थ है ॥ ३८० ॥

विशेषार्थ—यहाँ सपत्नीयुग्म के दृष्टान्त को आधार बनाकर तीन दोष दिये गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। क्षणिकैकान्त हेतु के बल से तो असिद्ध दोष दिया गया है। कृतकत्व हेतु के बल से अनैकान्तिक दोष दिया गया है और मेरी माता बांझ है इत्यादि वचनों के समान विरुद्ध वचन बतला कर विरुद्ध दोष दिया गया है।

सब पदार्थ अनित्य हैं, सर्वथा क्षणिक होने से, सपत्नी युग्म के समान। इस अनुमान में जैसे असिद्ध दोष आता है उसी प्रकार सत् और परिणाम को सपत्नी युग्म के समान सिद्ध करना असिद्ध है।

घट और पट सर्वथा भिन्न हैं, कार्य होने से, सपत्नी युग्म के समान। इस अनुमान में अनैकान्तिक दोष आता है, क्योंकि कृतकत्व हेतु जैसे घट और पटके भिन्नत्वका सूचक है उसी प्रकार वह तन्तु और पटके अभिन्नत्व का भी समर्थक है। इस प्रकार कृतकत्व इस हेतु के बल से प्रकृत में जैसे अनैकान्तिक दोष आता है उसी प्रकार प्रकृत हेतु के बल से सत् और परिणाम को सपत्नी युग्म के समान सिद्ध करना अनैकान्तिक है।

तीसरा विरुद्ध दोष है। सो इसकी सिद्धि में कोई हेतु नहीं दिया गया है किन्तु जैसे यह कहना कि 'मेरी माता बांझ है' विरुद्ध वचन है उसी प्रकार सत् और परिणाम को सपत्नी युग्म के समान सिद्ध करना भी विरुद्ध वचन है यह कह कर उक्त दोष का समर्थन किया गया है। तात्पर्य यह है सत् और परिणाम ये सपत्नी युग्म के समान न तो काल क्रम से ही उत्पन्न होते हैं, न स्वतन्त्र हैं और न वैपरीत्य भाव से ही रहते हैं अतः इनके समर्थन में सपत्नी युग्म का दृष्टान्त देना विरुद्ध वचन है।

इस प्रकार सपत्नी युग्म के दृष्टान्त में असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीनों दोष आते हैं इसलिये इसका विचार करना ही व्यर्थ है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३७९-३८० ॥

आठवें दृष्टान्त में दोष दर्शन

जिस प्रकार पिछले दृष्टान्त अनेक दोषों से दूषित बतला आये हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम के विषय में बड़े और छोटे भाई को दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत करना भी विरुद्ध है। दूसरे इससे धर्मी का अभाव सिद्ध होता है इसलिये आश्रयासिद्ध दोष आता है ॥ ३८१ ॥ तीसरे इसके मानने से अनवस्था दोष भी आता है, क्योंकि इनमें से जो कोई पराधीन होगा वह पर भी पराधीन ही होगा और इस प्रकार उत्तरोत्तर पराधीनता के प्राप्त होने से अनवस्था दोष आता है ॥ ३८२ ॥

विशेषार्थ—बड़े और छोटे भाई क्रम से होते हैं किन्तु सत् और परिणाम इस प्रकार क्रम से नहीं होते। वादी और प्रतिवादी दोनों को उनका युगपत् सद्भाव इष्ट है, इसलिये तो यह दृष्टान्त विरुद्ध है। दूसरे सत् और परिणाम को यदि बड़े और छोटे भाई के समान माना जाता है तो जिस प्रकार बड़े और छोटे भाई ये अपने माता पिता के आश्रय से उत्पन्न होते हैं इस प्रकार इनका कोई स्वतंत्र

(१) ख पुस्तके 'सति चाधर्मिणि' इति पाठः।

सुन्दोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम् ।
तदसदसत्त्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥ ३८३ ॥

सत्युपसुन्दे सुन्दो भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोऽपि ।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्मसुखदोषात् ॥ ३८४ ॥

आश्रय प्राप्त न होने से आश्रयासिद्ध दोष आता है। तीसरे इस दृष्टान्त के आधार से अनवस्था दोष भी आता है, क्यों कि जिस प्रकार बड़े और छोटे भाई की उत्पत्ति उनके माता पिता के आधीन है और माता पिता की उत्पत्ति उनके माता पिता के आधीन है। इस प्रकार सत् और परिणाम को मानने पर अनवस्था दोष आता है। अब यदि इन दोषों से बचना है तो सत् और परिणाम को बड़े और छोटे भाई के समान मानना उचित नहीं है यह उक्त कथन का सार है॥ ३८१–३८२ ॥

नौवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

तथा यहां जो सुन्द और उपसुन्द इन दो मल्लों का दृष्टान्त दिया गया है सो वह भी ठीक नहीं है, क्यों कि इससे इतरेतर दोष आता है जिससे सत् और परिणाम का अभाव प्राप्त होता है ॥ ३८३ ॥ उपसुन्द के होने पर सुन्दकी सिद्धि होती है और सुन्द के होने पर उपसुन्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष के आने से किसी एक की सिद्धि नहीं होती है और न कार्य ही बनता है ॥ ३८४ ॥

विशेषार्थ—सुन्द और उपसुन्द के विषय में ऐसी कथा आई है कि सुन्द और उपसुन्द ये समान शक्तिवाले दो मल्ल थे। इन्होंने तपश्चर्या करके शंकर को प्रसन्न कर लिया और फल स्वरूप पार्वती की मागनी की। शंकर ने पार्वती दे दी। किन्तु पार्वती के लिये दोनों में विवाद उठ खड़ा हुआ और उनके विवाद को मेटने के लिये एक मध्यस्थ की आवश्यकता पड़ी। यह देख शंकर ब्राह्मण का रूप धर कर उनके पास पहुँचे और उनके द्वारा प्रार्थना करने पर मध्यस्थ होना स्वीकार कर लिया। दोनों पक्ष की बातें सुन कर यह न्याय दिया कि तुम दोनों क्षत्रिय हो अतः युद्ध द्वारा इस विवाद को मिटाना चाहिये। अन्त में उन दोनों में युद्ध हुआ और वे युद्ध करते हुए एक साथ मर गये।

इस प्रकार यह इनका कथानक है। अब यदि सत् और परिणाम को सुन्द और उपसुन्दस्थानीय माना जाता है तो इतरेतराश्रय दोष आता है, अतः प्रकृत में यह दृष्टान्त उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है॥ ३८३—३८४ ॥

दसवें दृष्टान्त में दोष—

इसके बाद पूर्व पक्ष में पूर्व और पश्चिम दिशा का दृष्टान्त देकर सत् और परिणाम को उनके समान बतलाया गया है। किन्तु उत्तर पक्ष में इस पर विचार नहीं किया गया है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं एक तो यह कि सम्भव है इसके समाधान में जो श्लोक लिखे गये हों वे त्रुटित हो गये हों। दूसरा यह कि सरल समझ कर उत्तर न दिया गया हो। जो भी कारण हो इतना स्पष्ट है कि यह दृष्टान्त भी प्रकृत में लागू नहीं है, क्यों कि दिशा व्यवहार जिस प्रकार उपचार से किया जाता है सत् और परिणाम वैसे उपचरित नहीं हैं किन्तु वास्तविक हैं।

---

(१) प्रतिषु इमौ श्लोकौ व्युत्क्रमेण वर्तेते।

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः कारकादिवद्धि यतः।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिश्च ॥ ३८५ ॥

वृक्षे शाखा हि यथा स्यादेकात्मनि तथैव नानात्वे
स्थाल्यां दधीति हेतोर्व्यभिचारो कारकः कथं न स्यात् ॥ ३८६ ॥

अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथञ्चित्सपक्षदक्षश्चेत्।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८७ ॥

साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम्।
तत्स्वाम्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्र एवांशः ॥ ३८८ ॥

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजाङ्कुरवदिहेति दृष्टान्तः।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥ ३८९ ॥

ग्यारहवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में कारक युग्म का दृष्टान्त भी कार्यकारी नहीं है, क्यों कि यह सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहता है इस लिये सव्यभिचारी है ।। ३८५ ।। जिस प्रकार अभेद पक्ष में 'वृक्ष में शाखा है' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार भेद पक्ष में बटलोई में दही है' यह व्यवहार होता है। इस कारण से कारकयुग्म का दृष्टान्त व्यभिचारी क्यों नहीं होगा ।। ३८६ ।। यदि कहा जाय कि कारक दृष्टान्त के सव्यभिचारी होने पर भी वह किसी प्रकार पक्ष का ही समर्थक है सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्यों कि जिस प्रकार वह पर पक्षका शत्रु है उसी प्रकार वह स्वयं स्वपक्षका भी शत्रु है ।। ३८७ ।। प्रकृत में शंकाकार द्वारा देशांश रूप से सत् और परिणाम ये दोनों सांश सिद्ध किये जा रहे हैं पर जब कि उनका कोई आधार ही नहीं तब फिर ये किसके अंश हो सकते हैं अर्थात् किसी के भी नहीं। वास्तव में ये अंशमात्र ही अंश हैं ।। ३८८ ।।

विशेषार्थ—कारक युग्म का दृष्टान्त देकर शंकाकार ने यह सिद्ध करना चाहा है कि सत् और परिणाम में कोई एक आधार है और दूसरा आधेय है। या इन दोनों का कोई तीसरा आधार है। पर यह दृष्टान्त भेद पक्ष और अभेदपक्ष दोनों में घटित होता है इस लिये सव्यभिचारी होने से प्रकृत में उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। कदाचित् शंकाकार इस दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि सत् और परिणाम ये अंश हैं और अंशी इनसे जुदा है पर विचार करने पर उसका यह दृष्टिकोण भी समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्यों कि इनके सिवा वस्तु का कोई दूसरा रूप शेष नहीं रहता, इसलिये सिद्धान्त रूप से यही कहा जा सकता है कि एतन्मात्र ही वस्तु है। इससे ये अंशात्मक भले ही सिद्ध हो जांय पर वस्तु का इनसे अलग स्वतंत्र अस्तित्व नहीं यह निर्विवाद है ।। ३८५—३८८ ।।

बारहवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में बीज और अङ्कुर का दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है, क्यों कि बीज अपने समय में होता है और अंकुर अपने समय में होता है। ये दोनों पूर्वापर काल में होते हैं इस लिये

बीजावसरे नाङ्कुर इव बीजं नाङ्कुरक्षणे हि यथा ।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात् ॥ ३९० ॥

सदभावे परिणामो भवति न सत्ताक आश्रयाभावात् ।
दीपाभावे हि यथा तत्क्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥ ३९१ ॥

परिणामाभावेऽपि च सदिति च नालम्बते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोऽप्यवश्यमध्यक्षात् ॥ ३९२ ॥

अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीहेष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गः स्यात् ॥ ३९३ ॥

कनकोपलवदिहैषः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम् ।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९४ ॥

हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव ।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥ ३९५ ॥

इनका एक काल में सद्भाव मानना युक्त नहीं है ॥ ३८९ ॥ जिस प्रकार बीज के समय में अंकुर नहीं होता है और अंकुर के समय में बीज नहीं होता है उस प्रकार सत् और परिणाम की बात नहीं है, क्यों कि ये दोनों एक समय में पाये जाते हैं ॥ ३९० ॥ जिस प्रकार दीपक का अभाव होने पर उसी समय आश्रय के बिना प्रकाश दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार सत् के अभाव में आश्रय का अभाव हो जाने से परिणाम का भी सद्भाव नहीं हो सकता है ॥ ३९१ ॥ प्रत्यक्ष से हम देखते हैं कि जिस प्रकार प्रकाश का नाश होने पर प्रदीप का नाश अवश्य हो जाता है उसी प्रकार परिणाम का अभाव होने पर सत् का अस्तित्व भी नहीं रह सकता है ॥ ३९२ ॥ यदि कहा जाय कि काल भेद मान लेने पर बिना प्रयत्न के इष्ट सिद्धि हो जायगी सो इस प्रकार से इष्ट की सिद्धि मानना ठीक नहीं है, क्यों कि सत् और परिणाम में काल भेद मानने पर सत् का विनाश ओर असत् का उत्पाद प्राप्त होता है ॥ ३९३ ॥

विशेषार्थ—बीज और अंकुर में जैसा समय भेद है वैसा समय भेद सत् और परिणाम में नहीं है अत: प्रकृत में यह दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का सार है ॥ ३९४–३९५ ॥

तेरहवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में कनकोपल का दृष्टान्त भी परीक्षा करने पर क्षणमात्र नहीं ठहर सकता है, क्यों कि कनकोपल में गुण गुणी भाव नहीं, इस लिये यह स्वयं असिद्ध दोष से युक्त है ॥३९४॥ कनक और पाषाण इन दोनों में कौन हेय है और कौन उपादेय है यह विचार होता है, क्यों कि ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं। किन्तु यह विचार साध्य में उपयुक्त नहीं है, क्यों कि सत् और परिणाम रूप साध्य एक द्रव्य है ॥ ३९५ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में सत्परिणामात्मक वस्तु साध्य है, अत: इसकी सिद्धि में मिले हुए कनक पाषाण रूप दो द्रव्यों को दृष्टान्त रूप से उपस्थित करना युक्त नहीं है यह उक्त कथन का सार है। कनक और पाषाण ये दो द्रव्य हैं फिर भला यह दृष्टान्त सत्परिणामात्मक वस्तु का समर्थक कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। इसी से इस दृष्टान्त को असिद्ध कहा है ॥ ३९४—३९५ ॥

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम् ।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥ ३९६ ॥
यदि वा निःसारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्धयै ।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ॥ ३९७ ॥
स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः ।
पक्षाधर्मत्वेऽपि च व्याप्यासिद्धत्वदोपदुष्टत्वात् ॥ ३९८ ॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः ।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोऽपि सर्वधर्मः स्यात् ॥ ३९९ ॥
इह पदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः ।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४०० ॥

चौदहवें दृष्टान्त में दोप दर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में जो वचन और अर्थ इन दोनों का दृष्टान्त दिया गया है सो यह भी अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है, क्यों कि 'घट' इन दो वर्णों से कम्बुग्रीवा आदि वाला पदार्थ भिन्न है । ३९६ ॥ यदि उक्त प्रकार से यह दृष्टान्त निःसार होने से इष्ट की सिद्धि के लिये वचन और अर्थ इन दोनों में 'वाग् एव अर्थः, ऐसा समास किया जाता है सो ऐसा समास करने पर भी इष्ट की सिद्धि नहीं होती है, क्यों कि ऐसा मानने पर शब्द के समान अर्थ भी अनित्य प्राप्त होता है ॥ ३९७॥

विशेषार्थ—यहां उक्त दृष्टान्त के विषय में दो प्रकार से विचार किया गया है भेद पक्ष और अभेद पक्ष । किन्तु इन दोनों दृष्टियों से प्रकृत दृष्टान्त उपयोगी नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। विशेष खुलासा मूल से ही हो जाता है ॥ ३९६—३९७ ॥

पन्द्रहवें दृष्टान्त में दोषदर्शन—

प्रकृत में भेरी दण्ड का दृष्टान्त भी अविचारित रम्य है, क्योंकि पक्ष धर्म का अभाव होने से यह व्याप्यासिद्ध दोष से दूषित है ॥ ३९८ ॥ सत् और परिणाम ये दोनों युतसिद्ध हैं यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो एक की भी सिद्धि नहीं होती है । अथवा ऐसा मानने पर सब पदार्थ सब धर्मवाले सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३९९ ॥

विशेषार्थ—भेरी और दण्ड जिस प्रकार संयुक्त होकर कार्यकारी हैं ऐसे सत् और परिणाम नहीं हैं क्योंकि उनका परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है, इसलिये भेरीदण्ड के समान सत्परिणाम की सिद्धि करने पर व्याप्यासिद्ध दोष आता है । कदाचित् भेरी-दण्ड के समान सत् परिणाम को भी युतसिद्ध माना जाता है तो किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती । अथवा इस तरह सभी पदार्थ युतसिद्ध हो जायंगे जिससे कौन किसका धर्म है और कौन किसका धर्मी है यह भेद नहीं किया जा सकेगा । सब पदार्थ सब धर्मवाले सिद्ध हो जायंगे । इस लिये प्रकृत में भेरी-दण्ड का दृष्टान्त उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का सार है ॥ ३९८-३९९ ॥

सोलहवें दृष्टान्त में दोषदर्शन—

सत् और परिणाम के विषय में पदपूर्ण न्याय का दृष्टान्त भी परीक्षा के योग्य नहीं है, क्योंकि इससे दोनों में अविशेषता की आपत्ति प्राप्त होने से द्वैत का अभाव दुर्निवार हो जाता है ॥ ४०० ॥ दूसरे

अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण ।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥ ४०१ ॥

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः ।
स्याद्गौरवप्रसङ्गाद्धेतोरपि हेतुहेतुरनवस्था ॥ ४०२ ॥

तदुदाहरणं कश्चित् स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योऽपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ४०३ ॥

कार्यं प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०४ ॥

ऐसा मानने पर जिस प्रकार किसी एक के बिना इष्ट की सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार इससे भिन्न दूसरे के बिना भी इष्ट की सिद्धि हो जानी चाहिये। और ऐसा मानने पर कार्य कारणभाव का अभाव हो जाता है ॥ ४०१ ॥

विशेषार्थ—पदपूर्ण न्याय में किसी एक पद के देने से काम चल जाता है। दोनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऐसा सत् और परिणाम को माना जाता है तो दो में से कोई एक ही शेष रहेगा दोनों नहीं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि सत् और परिणाम इनमें से किसी एक का भी त्याग नहीं किया जा सकता है क्योंकि दोनों ही तादात्म्य सम्बन्धवाले होकर सफल हैं, अतः प्रकृत में पदपूर्ण न्याय का दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है यह उक्त कथन का सार है ॥ ४००-४०१ ॥

सत्रहवें दृष्टान्त में दोष दर्शन—

सत् और परिणाम मित्रद्वैत के समान हैं यह दृष्टान्त भी स्वप्न के समान है, क्योंकि एक तो इससे गौरव दोष आता है और दूसरे हेतुका हेतु और उस हेतु का हेतु इस प्रकार उत्तरोत्तर हेतु कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है ॥ ४०२ ॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि कोई उपादान कारण बन कर कार्य को उत्पन्न करता है और दूसरा सहकारी बन कर उसे उत्पन्न करता है। फिर इसके बाद इससे भिन्न कारण का मानना भी दुर्वार हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणों की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है ॥ ४०३ ॥ यदि कहा जाय कि प्रत्येक कार्य के एक उपादान और दूसरा सहकारी ऐसे दो हेतु निश्चित हैं उनसे अतिरिक्त अन्य हेतुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में इस प्रकार के नियम का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है ॥ ४०४ ॥

विशेषार्थ—यहाँ मित्रद्वैत से एक उपादान और दूसरा सहकारी कारण लिये गये हैं और फिर यह पूछा गया है कि क्या सत् और परिणाम इस प्रकार हैं। इस प्रश्न का जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि वस्तु में कार्यकारित्व की योग्यता अन्य वस्तु के निमित्त से नहीं आती है। वह तो उसका स्वभाव है। तिस पर भी यदि किसी वस्तु में कार्यकारित्व की योग्यता अन्य वस्तु की सहकारिता से मानी जाती है तो उस अन्य वस्तु में ऐसी योग्यता उससे भिन्न अन्य वस्तु के निमित्त से माननी पड़ेगी और इस प्रकार उत्तरोत्तर हेतु परम्परा की कल्पना करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा। यदि अनवस्था दोष से बचने के लिये एक उपादान और एक सहकारी ऐसे दो ही कारण माने जाते हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य कारण नहीं माने जाते हैं तो ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस प्रमाण के आधार से ऐसा नियम किया जायगा वह प्रमाण नहीं पाया जाता है, अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि सत् और परिणाम मित्रद्वैत के समान एक उपादान और दूसरा सहकारी रूप नहीं हैं ॥ ४०२-४०४ ॥

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः।
अनवस्थादोषत्वाद्यथारिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥ ४०५ ॥
कार्यं प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तं चेत्।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०६ ॥
वामेतरकरवर्त्तितरज्जूयुग्मं न चेह दृष्टान्तः।
बाधितविषयत्वाद्वा दोषात् कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥ ४०७ ॥
तद्वाक्यमुपादानकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात्।
अस्त्यनतिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥ ४०८ ॥

अठारहवें दृष्टान्त में दोषदर्शन—

इसी प्रकार सत् और परिणाम ये दोनों परस्पर में शत्रुद्वैत के समान हैं यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आता है। जैसे कि विवक्षित किसी एक का दूसरा शत्रु है, दूसरे का तीसरा शत्रु है। इस प्रकार उत्तरोत्तर शत्रुओं की परंपरा चालू रहने से अनवस्था दोष आता है ॥ ४०५ ॥ यदि कहा जाय कि प्रत्येक कार्य के दो शत्रु नियत हैं दोसे अधिक शत्रु नहीं होते सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में इस प्रकार के नियम का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है ॥ ४०६ ॥

विशेषार्थ—वस्तु की जिस काल में जैसी पर्याय रूप प्रकट होने की योग्यता होती है तदनुसार कार्य होता है यह सामान्य नियम है। इस नियम के रहते हुए सत् और परिणाम को शत्रुद्वैत के समान मानना उचित नहीं है। पूर्व पर्याय का नाश स्वभाव से होता है और उत्तर पर्याय का उत्पाद भी स्वभाव से होता है। पर्यायों का यही स्वभाव है। वे क्रम से द्रव्य में योग्यता रूप से अवस्थित हैं और एक के बाद एक इस क्रम से उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं। यदि कोई समझे कि पूर्व पर्याय का नाश कर नवीन पर्याय का उत्पाद होता है सो यह बात नहीं है। किन्तु प्रत्येक पर्याय एक क्षणवर्ती होती है यह उनका स्वभाव है। पर्याय पर्याय में से नहीं आती किन्तु द्रव्य में से आती है। द्रव्य का प्रति समय किसी एक शकल में रहना इसी का नाम पर्याय है। इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि सत् और परिणाम शत्रुद्वैत के समान नहीं हैं। इन्हें शत्रुद्वैत के समान मानने पर जो दोष आते हैं वे मूल में दिये ही हैं ॥ ४०५-४०६ ॥

उन्नीसवें दृष्टान्त में दोषदर्शन—

प्रकृत में दाएँ बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियों का दृष्टान्त भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह बाधित विषय है इसलिये कालात्ययापदिष्ट दोष आता है ॥ ४०७ ॥ प्रकृत में खुलासा इस प्रकार है कि कथंचित् अभेद होने से प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण के समान होता है। उदाहरणार्थ दही और दूध इन दोनों अवस्थाओं में गोरसपनेका उल्लंघन नहीं पाया जाता यह बात प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है ॥ ४०८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ सत् और परिणाम की सिद्धि में दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियों को दृष्टान्तरूप से उपस्थित किया गया है। दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियाँ जिस प्रकार दही का मन्थन कर छाछ तयार करती हैं इसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं यह शंकाकार के पूछने का आशय है। इस द्वारा शंकाकारने सत् और परिणाम को निमित्त कारण रूप से ध्वनित किया है। किन्तु

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापन्हवात्तदेवेह ।
तदपि न तद्द्वैतं किल त्यक्तदोषास्पदं यदत्रैतत् ॥ ४०९ ॥
दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात् ।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्ते ॥ ४१० ॥
सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्वाद्वै ।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥ ४११ ॥
अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद् द्वैतम् ।
उन्मज्जच्च निमज्जच्चाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति ॥ ४१२ ॥

शंकाकार का यह कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान के अनुरूप होता है। क्योंकि कार्य कारण से कथंचित् अभिन्न होता है। उदाहरणार्थ दही और दूध ये दोनों कार्य हैं जो गोरसमय हैं। इन्हें गोरस से जुदा नहीं समझा जा सकता है। इसलिये सत् और परिणाम को रज्जु युग्म के दृष्टान्त द्वारा कार्य से भिन्न सिद्ध करना प्रत्यक्ष से बाधित है। और ऐसा नियम है कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा जाता है वह कालात्ययापदिष्ट दोष विशिष्ट माना जाता है। यही सबब है कि दाएँ और बाएँ हाथ में रहनेवाली दो रस्सियों को सत् और परिणाम की सिद्धि में उपयोगी नहीं माना गया है ॥ ४०७-४०८ ॥

सत् और परिणाम को सर्वथा नित्य मानने में दोष—

अब यदि इन दोषों से बचने के लिए यह माना जाय कि सत् और परिणाम अनादिसिद्ध हैं क्योंकि वे किसी के कार्य नहीं हैं। उनमें 'यह वही है' ऐसी प्रतीति होती है सो ऐसा मानने पर भी सत् और परिणाम ये दोनों सब दोषों से रहित सिद्ध नहीं होते ॥ ४०९ ॥

विशेषार्थ - सत् और परिणाम क्या हैं इस विषय में पहले शंकाकारने अनेक दृष्टान्त दिये हैं और ग्रन्थकारने अनेक युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया है। फिर भी सर्वथा नित्यवादी इस कथन से सन्तुष्ट न हो कर यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि सत् और परिणाम का कोई कार्य नहीं दिखाई देने से इन्हें अनादिनिधन क्यों न माना जाय और ऐसा मानना असमीचीन भी नहीं है, क्योंकि उनमें 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति भी होती है। इस पर ग्रन्थकारका जो कुछ कहना है उसका भाव यह है कि सत् और परिणाम को सर्वथा नित्य मानने में भी अनेक दोष आते हैं इसलिये यह मान्यता भी समीचीन नहीं है। सर्वथा नित्यपक्ष के मानने में जो दोष आते हैं उनका निर्देश आगे किया ही है इसलिये यहां नहीं करते हैं ॥ ४०९ ॥

सिद्धान्त पक्ष का समर्थन—

इस प्रकार पूर्व में जितने भी दृष्टान्त दिये गये हैं वे अपने साध्य की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं हैं अतः दृष्टान्ताभास हैं। किन्तु जो दृष्टान्त लक्ष्य के अनुकूल बाणों के समान अपने साध्य की सिद्धि कराने में समर्थ हैं वे प्रशंसनीय माने गये हैं ॥ ४१० ॥ यथा—दीप और प्रकाश अभिन्न प्रदेशी होने से जिस प्रकार इनमें कथंचित् अद्वैत है और संज्ञा लक्षणादिकी अपेक्षा भेद होने से जिस प्रकार इनमें कथंचित् द्वैत है उसी प्रकार अभिन्न प्रदेशी होने से सत् और परिणाम में कथंचित् अद्वैत है और संज्ञा लक्षणादि की अपेक्षा द्वैत भी है ॥ ४११ ॥ अथवा सत् और परिणाम ये दोनों जल और कल्लोल के समान कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न हैं। भेद की अपेक्षा विचार करने पर जल में कल्लोलें उदित भी होती हैं

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तद् द्वैतवदद्वैतम् ।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥ ४१३ ॥

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात् ॥ ४१४ ॥

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सच्चैककालमेकोक्तेः ।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥ ४१५ ॥

व्यस्तं सन्नययोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षतो विवक्षायाः ॥ ४१६ ॥

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथानादितोऽपि परिणामि ।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात् ।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ॥ ४ ॥

इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोऽपि ।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ॥ ४१० ॥

इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित् ।
जीवदवस्थत्वादिह मन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥ ४२० ॥

और अस्त भी होती हैं। किन्तु अभेद की अपेक्षा विचार करने पर न वे उदित होती हैं और न अस्त होती हैं ॥ ४१२ ॥ अथवा सत् और परिणाम इन दोनों में घट और मिट्टी के समान कथंचित् द्वैत और कथंचित् अद्वैत है। जिस प्रकार वस्तु मिट्टी सामान्य की अपेक्षा नित्य होती है और घटरूप पर्याय की अपेक्षा अनित्य होती है उसी प्रकार सत् और परिणाम के विषय में जानना चाहिये ॥ ४१३ ॥ आशय यह है कि 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होने से प्रतीत होता है कि सत् नित्य है और 'यह वह नहीं है' ऐसा प्रतीति होती है इसलिये ज्ञात होता है कि सत् नित्य नहीं है ॥ ४१४ ॥ एक ही सत् युक्तिवश एक काल में उभयरूप भी है तथा नय और प्रमाण आदि वाद से शून्य होने के कारण वही सत् अनुभयरूप भी है ॥ ४१५ ॥ इसी प्रकार नय की विवक्षा करने से सत् पृथक् पृथक् है। उसके नित्यत्व धर्म की प्रधानता करने पर वह नित्य है और प्रमाण की अपेक्षा विचार करने पर वह समस्तरूप भी है ॥ ४१६ ॥ सत् क्रमवर्ती है यह बात विरुद्ध नहीं है, क्योंकि वह अनादि काल से परिणमन करता आ रहा है। तथा सत् अक्रमवर्ती है यह बात भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि वह सदा एकरूप ही पाया जाता है ॥ ४१७ ॥

शंका—जब कि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों का आरोप किया जाता है तो इस तरह यह जग अशरण हो जाता है उसका कोई भी शरण नहीं रहता साथ हो इस प्रकार से कथन करनेवाला स्वयं ही संशयरूपी झूले में झूलने लगता है उसकी प्रतीति चलित हो जाती है ॥ ४१८ ॥ यथा—जो कोई जिज्ञासु 'सत् नित्य है' ऐसी प्रतीति करता है उसके सामने 'सत् अनित्य भी है' विपक्ष में ऐसी शल्य के उपस्थित होने पर वह निःशल्य कैसे हो सकता है ? ॥ ४१९ ॥ इसी प्रकार जो कोई जन 'सत् अनित्य' है ऐसा सोचता है वह भी उसका अपने मन में निश्चय नहीं कर पाता, क्योंकि तब उसे प्रत्यक्ष से अनित्यता की

तत एवं दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः ।
अप्यात्मसुखदोषात् सव्यभिचारो यतोऽचिरादिति चेत् ॥ ४२१ ॥

तन्न यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।
सोऽपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥ ४२२ ॥

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात् ।
तदभावेऽपि न तत्त्वं क्रिया फलं कारकाणि यावदिति ॥ ४२३ ॥

परिणामः सदवस्थाकर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः ।
तदभावे सदभावो नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४२४ ॥

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः ।
भवति पटाभावः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२५ ॥

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात् ।
तत्कर्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥ ४२६ ॥

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च ।
अर्थात् सन्नित्यं किल न ह्यौषधमातुरे तमनुवर्ति ॥ ४२७ ॥

विरोधी 'सत् नित्य है' ऐसी सजीव प्रतीति होने लगती है ॥४२०॥ इसलिये यह अनेकान्त दुरधिगम्य होने से न तो स्वयं कल्याणरूप ही है और न कल्याणकारी ही है। इसके मानने पर वदतो व्याघात दोष आता है जिससे वह सव्यभिचारी सिद्ध होता है, कभी भी वह निर्दोष नहीं कहा जा सकता ? ॥४२१॥

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकान्तके अभाव में सर्वथा एकान्त बलवान् हो जाता है। किन्तु वह भी 'सत् अनित्य है' या 'सत् अनित्य है' इनमें से किसी एक की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होता ॥ ४२२ ॥

सत् को सर्वथा नित्य मानने में दोष और शंका समाधान—

सत् सर्वथा नित्य है ऐसा पक्ष स्वीकार करने पर पदार्थ में विक्रिया किस युक्ति से घटित की जा सकती है ? अर्थात् नहीं की जा सकती और पदार्थ में विक्रिया के नहीं बनने पर तत्त्व, क्रिया, फल और कारक ये कुछ भी नहीं बनते हैं ।.४२३॥ परिणाम ही सत् का विविध अवस्थारूप कार्य होने से विक्रिया इस नाम से कहा जाता है । अब जब सत् में इसका अभाव माना जाता है तो सुप्रसिद्ध दृष्टान्तों से सत् का भी अभाव सिद्ध हो जाता है। वह असिद्ध नहीं रहता ॥ ४२४ ॥ जैसे तन्तुओं का संयोग इस रूप से पट की क्रिया प्रसिद्ध है। अब यदि तन्तुओं का संयोग नहीं माना जाता है तो पट का अभाव हो जाता है क्योंकि पट और तन्तुसंयोग ये एक ही हैं दो नहीं ॥ ४२५ ॥ दूसरे क्रिया यह साधन है और अपवर्ग उसका फल है यह बात प्रमाण से सिद्ध है। किन्तु यदि विक्रिया नहीं मानी जाती है तो उसका कर्ता पुरुष और कारक ये सब कुछ भी नहीं बनते हैं ॥ ४२६ ॥

शंका—विक्रिया के नहीं मानने पर यदि कारकादिक का अभाव होता है तो होओ इससे हमारी क्या हानि है ? वास्तव में सत् तो नित्य ही है। माना कि औषध आतुर के लिये होती है परन्तु वह उसका अनुवर्तन नहीं करती ?

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिनस्तावत् ।
यत्सत्तत् क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलददृष्टान्तः ॥ ४२८ ॥

अयमप्यात्मरिपुः स्यात् सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः ।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात् ॥ ४२९ ॥

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य ।
यस्मात् सदिति कुतः स्यात् सिद्धं तच्छून्यवादिनामिह हि ॥४३०॥

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तदभावसाधनायालम् ।
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद् व्यलीकत्वात् ॥ ४३१ ॥

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम् ।
तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥ ४३२ ॥

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात् ।
तस्मान्न्यायादागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्त्वम् ॥४३३॥

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि कारकादिक का अभाव करनेवाले का यह सब मनीषित तभी तक ठहर सकता है जब तक 'जो सत् है वह क्षणिक है' इसकी पुष्टि में मेघ का दृष्टान्त सामने नहीं आता है ॥ ४२८ ॥

सत् को सर्वथा अनित्य मानने में दोष—

सत् सर्वथा अनित्य है यह पक्ष भी स्वयं अपना शत्रु है, क्योंकि जब सत् का पहले ही नाश हो जाता है तब प्रमाण और उसका फल कैसे बन सकता है ॥ ४२९ ॥ दूसरे 'जो सत् है वह' यह वचन ही स्वयं उसका अभाव कर देता है, क्योंकि सत् का अभाव माननेवालों के मत में सत् की सिद्धि कैसे की जा सकती है । ४३० ॥ तीसरे जो सत् को नहीं मानता है वह उसका अभाव सिद्ध करने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है, क्योंकि उसका ऐसा मानना 'मैं वन्ध्या के पुत्र को मारता हूँ' इस निश्चय के समान झूठा है ॥ ४३१ ॥ चौथे 'जो सत् है वह नित्य है' जिसकी सिद्धि 'वही यह है' इस प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से होती है जो कि क्षणिकैकान्त की बाधक है ॥ ४३२ ॥

विशेषार्थ—यहां सर्व प्रथम सत् और परिणाम के विषय में अनेक दृष्टान्त देकर अनन्तर सर्वथा नित्य पक्ष और सर्वथा अनित्य पक्ष का खण्डन किया गया है । इस विषय को मूल में ही बड़े आकर्षक ढंग से समझाया गया है, इस लिये अधिक कुछ न लिखकर इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि सत् और परिणाम न तो सर्वथा भिन्न हैं और न तो सर्वथा अभिन्न ही । न सर्वथा नित्य हैं और न अनित्य ही । इसी प्रकार न सर्वथा एक हैं और न सर्वथा अनेक ही। किन्तु इस विषय में स्याद्वाद है जो दृष्टिभेद से घटित होता है । पर इससे स्याद्वाद को संशयवाद नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति अपेक्षाभेद से पिता और पुत्र उभयरूप सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये । पदार्थ को सर्वथा एक रूप मानना उचित नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ४१०-४३२ ॥

पुनः सिद्धान्त पक्ष का समर्थन और शंका समाधान—

जिस प्रकार क्षणिकैकान्त के मानने पर पदार्थ की सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार नित्यैकान्त के मानने पर भी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती, इसलिये न्याय से यह बात प्राप्त होती है कि पदार्थ स्वभावतः

ननु नैकं सदिति स्यात् किमनेकं स्यादथोभयं चैतत् ।
अनुभयमिति किं तत्त्वं शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥ ४३४ ॥
सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात् ।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥ ४३५ ॥
अथ तद्यथा सदेकं स्यादभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वा ।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥ ४३६ ॥
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह चाथ भावेन ।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥ ४३७ ॥
गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात् ।
न हि किञ्चिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदंशांशैः ॥ ४३८ ॥
रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्द्वैतम् ।
न हि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भांशैः ॥ ४३९ ॥
न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम् ।
सम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किञ्चित् ॥ ४४० ॥

नित्यानित्यात्मक है॥ ४३३ ॥

शंका—सत् क्या एक है या अनेक है, अथवा उभयरूप है, या अनुभयरूप है, या पहले के समान शेष भंगरूप है, या अन्य प्रकारका है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि युक्तिवश सत् एक भी है, अनेक भी है और उभयरूप भी है। किन्तु इसके विपरीत वह सर्वथा एक और सर्वथा अनेक नहीं है, क्योंकि सत् को ऐसा मानना अप्रमाण है ॥ ४३५ ॥ जैसे कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अभिन्न प्रदेशी होने से तथा गुण और पर्यायरूप अंशों की अपेक्षा भी निरंशदेशी होने से सत् यह एक है ॥ ४३६ ॥

द्रव्यादि की अपेक्षा सत् के एकत्व का समर्थन—

जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् नियम से अखण्ड सिद्ध होता है अब उसी लक्षण को कहेंगे—

द्रव्य की अपेक्षा सत् का एकत्व—

गुण और पर्यायवाला द्रव्य है इसका तात्पर्य है कि उसका शरीर ही गुण और पर्यायों से बना है इसलिये सत् एक है। किन्तु ऐसा नहीं है कि कुछ अंशों की अपेक्षा वह गुणरूप है और कुछ अंशों की अपेक्षा वह पर्यायरूप है ॥ ४३८ ॥ जैसे कि पट रूपादिवाला और तन्तुवाला होता है इसलिये वह स्वयं उन दोनों रूप है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वह कुछ अंशों की अपेक्षा रूपमय है और कुछ अंशों की अपेक्षा तन्तुमय है ॥ ४३९ ॥ गोरस की सम्मिलित अवस्था में भी कुछ अंश घृतरूप होता है और कुछ अंश जलमय होता है, इसलिये जिस प्रकार गोरस नाना सत्ताओं के सम्मेलन से एक सत्तावाला होता है

अपि यदशक्यविवेचनमिह न स्याद्वा प्रयोजकं यस्मात् ।
क्वचिदश्मनि तद्भावान्मा भूत् कनकोपलद्वयाद्वैतम् ॥ ४४१ ॥

तस्मादेकत्वं प्रति प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वम् ।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत् ॥ ४४२ ॥

ननु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः स्वयं सदिति ।
शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४४३ ॥

न च भवति तथावश्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।
तस्मादनवद्यमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥ ४४४ ॥

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतत्वात् ।
न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टान्तात् । ॥ ४४५ ॥

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षाद्वै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिव वान्वयाभावः ॥ ४४६ ॥

यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यतिरेकाभावः किल भवति तदास्यस्य सतोऽप्यछायत्वात् ॥४४७॥

वैसा यह सत् नहीं है ॥ ४४० ॥ अथवा सत् के विषय में अशक्य विवेचन हेतु भी प्रयोजक नहीं है। यद्यपि यह अशक्यविवेचनता किसी किसी पत्थर में पाई जाती है तो भी इससे यह सत् कनकपाषाण इन दोनों के अद्वैत के समान नहीं जानना चाहिये ॥ ४४१ ॥ इसलिये प्रकृत में सत् के एकत्व के प्रति एक अखण्डवस्तुत्व ही प्रयोजक है। अतः सत् एक है इसका तात्पर्य है कि वह द्रव्य की अपेक्षा अखण्डित है ॥ ४४२ ॥

शंका—यदि सत् ही तत्त्व है, वही स्वयं गुण है और वही स्वयं पर्याय है तो इनमें से कोई एक शेष रहना चाहिये शेष का लोप होना दुर्निवार है ॥ ४४३ ॥ किन्तु वैसा होता नहीं, क्योंकि इन सबके समुदाय का निर्देश किया जाता है इसलिये इनका सद्भाव मानना अवश्यंभावी है। अतः यह बात निर्दोष प्राप्त होती है कि एक ही सत् छायादर्श के समान अनेक हेतुक होता है ?

समाधान—यह ठीक है कि सत् कथंचित् अनेक है और उसके हेतु भी अनेक हैं क्योंकि ऐसी प्रतीति होती है तो भी वह यथारुचि छायादर्श के समान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सत् के विषय में छायादर्श का दृष्टान्त असिद्ध है ॥ ४४५ ॥ खुलासा इस प्रकार है—प्रतिबिम्ब का दूसरा नाम ही छाया है जो मुख और दर्पण आदि के सम्बन्ध से बनती है। अब यदि वह छाया दर्पण की है यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो ऐसा मानना समीचीन हो कर भी असमीचीन ही है क्योंकि तब अन्वय नहीं बनता है। यदि वह छाया मुख की है यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो यह भी असमीक्ष्यकारी है क्योंकि तब व्यतिरेक नहीं बनता है। हम देखते हैं कि मुख तो रहता है पर छाया नहीं पाई जाती है ॥ ४४६-४४७ ॥

एतेन निरस्तोऽभून्नानासत्त्वैकसत्त्ववादीति ।
प्रत्येकमनेकं प्रति सद् द्रव्यं सन् गुणो यथेत्यादि ॥ ४४८ ॥

क्षेत्रं प्रदेश इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च ।
तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ॥ ४४९ ॥

अथ ते त्रिधा प्रदेशाः क्वचिन्निरंशैकदेशमात्रं सत् ।
क्वचिदपि च पुनरसंख्यदेशमयं पुनरनन्तदेशवपुः ॥४५० ॥

ननु च द्व्यणुकादि यथा स्यादपि संख्यातदेशि सत्त्विति चेत् ।
न यतः शुद्धादेशैरुपचारस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ ४५१ ॥

इस प्रकार इतने विवेचन से नाना सत्ताओं में एक सत्ता को माननेवाला खण्डित हो जाता है। नैयायिक आदि मानते हैं कि द्रव्य की अलग सत्ता है, गुण की अलग सत्ता है और उन नाना सत्ताओं में एक महासत्ता रहती है पर उनका यह कथन ठीक नहीं है यह उक्त विवेचन से प्रतीत होता है ॥ ४४८ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में क्षणिकैकान्त और नित्यैकान्त का निराकरण कर के वस्तु को अपेक्षा भेद से एकानेक आदि विविध प्रकार का सिद्ध करते हुए सर्व प्रथम द्रव्य की अपेक्षा कथंचित् एकत्व सिद्ध किया गया है। जैसा कि नैयायिक आदि मानते हैं कि द्रव्य भिन्न हैं, गुण भिन्न हैं, और इनमें समवायसम्बन्ध से एक महासत्ता व्याप रही है। तदनुसार वस्तुव्यवस्था मानने पर अनेक दोष आते हैं। प्रथम तो द्रव्य, गुण की स्वतंत्ररूप से प्रतीति नहीं होती। यदा कदाचित् इनको पृथक् पृथक् माना भी जाता है तो ज्ञान का समवाय आत्मा में ही होता है अन्यत्र नहीं इत्यादि रूप से कोई नियामक प्रमाण नहीं मिलता, अतः यही फलित होता है कि इनका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है जैसा नैयायिक मानते हैं तदनुसार ये सर्वथा जुदे जुदे नहीं हैं। इस प्रकार इनका कथंचित् तादात्म्य सिद्ध हो जाने पर अभेद दृष्टि से विचार करने पर द्रव्यादि की अपेक्षा सत् कथंचित एक सिद्ध होता है। इस पर यदि कोई यह कहे कि जिस प्रकार छाया एक है फिर भी वह अनेक हेतुक होती है उसी प्रकार प्रकृत में जो एकत्व की प्रतीति होती है वह भी अनेकहेतुक माननी चाहिये। इससे द्रव्य गुण आदि की पृथक् पृथक् सत्ता भी सिद्ध हो जाती है और इनमें एकत्व की प्रतीति भी बन जाती है सो उसका ऐसा कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रकृत में छाया का दृष्टान्त लागू नहीं होता। माना कि छाया मुख और दर्पण के निमित्त से होती है पर वह किसी एक की नहीं कही जा सकती। तथा मुख और दर्पण सदा एक साथ रहते ही हैं ऐसा भी कोई नियम नहीं है। पर प्रकृत में तो जहां सत्ता है वहां गुण और पर्याय भी हैं और जहां ये हैं वहां सत्ता भी है, क्योंकि सत्ता गुण और पर्याय से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार गुण और पर्याय भी सत्ता से पृथक् नहीं हैं। अतः छाया के दृष्टान्त द्वारा सत्ता का एकत्व सिद्ध करना उचित नहीं। सत् अनेकहेतुक भले ही रहा आवे पर वह छाया के समान अनेकहेतुक नहीं इतना स्पष्ट है यह उक्त कथन का सार है ॥ ४३३-४४८ ॥

क्षेत्र की अपेक्षा सत् के एकत्व का समर्थन—

क्षेत्र, प्रदेश, सत् का आधार भू और निवास ये सब क्षेत्र के नाम हैं। यह क्षेत्र स्वयं सद्रूप ही है। किन्तु सत् भिन्न है और प्रदेश भिन्न हैं और वह सब प्रदेशों में स्थित रहता है ऐसा नहीं है ॥४४९॥ वे प्रदेश तीन प्रकार के हैं। किसी द्रव्य में सत् निरंश एक प्रदेशवाला है, किसी द्रव्य में असंख्यात प्रदेशवाला है और किसी द्रव्य में अनन्त प्रदेशवाला है ॥ ४५० ॥

शंका—द्व्यणुकादि संख्यात प्रदेशी होते हैं अतः सत् को संख्यात प्रदेशी भी बतलाना चाहिये ?

अयमर्थः सद्द्वेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति ।
एकमनेकं च स्यात् प्रत्येकं तन्नयद्वयान्न्यायात् ।। ४५२ ।।

अथ यस्य यदा यावद्यदेकदेशे यथा स्थितं सदिति ।
तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ।। ४५३ ।।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र तथा ।
क्षेत्रेणाखण्डितत्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ।। ४५४ ।।

न पुनश्चैकापवरकसंचरितानेकदीपवत् सदिति ।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ।। ४५५ ।।

अपि तत्र दीपशमने कस्मिंश्चित्तत्प्रकाशहानिः स्यात् ।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे तद्धानिरेकरूपत्वात् ।। ४५६ ।।

नात्र प्रयोजकं स्यान्नियतनिजोभोगदेशमात्रत्वम् ।
तदनन्यथात्वसिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्याद्वा ।। ४५७ ।।

सदनेकं देशानामुपसंहारात् प्रसर्पणादिति चेत् ।
न यतो नित्यविभूनां व्योमादीनां न तद्धि तदयोगात् ।। ४५८ ।।

समाधान—नहीं, क्योंकि यहां शुद्धनय की अपेक्षा कथन किया गया है, अतः उपचार की विवक्षा नहीं की गई है ।।४५१।। आशय यह है कि एक प्रदेशी और अनेक प्रदेशी ऐसे सत् के दो भेद हैं। उस में भी प्रत्येक दो नयों की अपेक्षा से एक और अनेक रूप है ।।४५२।।

जिस समय जिस द्रव्य के एक प्रदेश में यह सत् जिस रूप से स्थित है उस समय उस द्रव्य के सब प्रदेशों में वह उसी रूप से स्थित है ।।४५३।। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सत् का यह निर्दोष लक्षण कहा। यतः यह क्षेत्र की अपेक्षा अखण्डित है अतः वह एक है ऐसा यहां नयदृष्टि से जानना चाहिये ।।४५४।।

यदि कोई समझे कि जिस प्रकार एक कोठे में अनेक दीपों का संचार होता है उसी प्रकार सत् है सो यह बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार दीपकों की वृद्धि होने पर प्रकाश की वृद्धि होती है उस प्रकार सत् की वृद्धि नहीं होती ।।४५५।। और जिस प्रकार उस कोठे में किसी दीपक के बुझने पर प्रकाश की हानि होती है उस प्रकार किसी अविवक्षित देश में सत् की हानि होनी होगी सो भी बात नहीं है क्यों कि वह दीपकों के समान अनेक न होकर सदा एक रूप है ।। ४५६ ।।

यदि कोई कहे कि जिस सत् का निश्चित जितना अपना उपभोग देश है वह उसके एकत्व का प्रयोजक है सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार यदि क्षेत्र की अपेक्षा सत् का एकत्व माना जायगा तो जिसका वह उपभोग देश बदलता नहीं है सदा एकसा बना रहता है वह क्षेत्र की अपेक्षा अनेक कैसे सिद्ध होगा अर्थात् नहीं होगा, अतः आभोग देश की अपेक्षा एकत्व सिद्ध करना उचित नहीं है ।।४५७।।

शंका—प्रदेशों के संकोच विस्तार के कारण सत् अनेक माना जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि नित्य विभु आकाश आदि द्रव्यों का संकोच और विस्तार नहीं होता है,

अपि परमाणोरिह वा कालाणोरेकदेशमात्रत्वात् ।
कथमिव सदनेकं स्यादुपसंहारप्रसर्पणाभावात् ॥ ४५९ ॥

ननु च सदेकं देशैरिव सख्यां खण्डयितुमशक्यत्वात् ।
अपि सदनेकं देशैरिव संख्यानेकतो नयादिति चेत् ॥ ४६० ॥

न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति ।
एकत्वमनेकत्वं न हि तेषां तथापि तदयोगात् ॥ ४६१ ॥

ननु ते यथा प्रदेशाः सन्ति मिथो गुम्फितैकसूत्रत्वात् ।
न तथा सदनेकत्वादेकक्षेत्रावगाहिनः सन्ति ॥ ४६२ ॥

सत्यं तत्र निदानं किमिति तदन्वेषणीयमेव स्यात् ।
येनाखण्डितमिव सत् स्यादेकमनेकदेशवत्त्वेऽपि ॥ ४६३ ॥

ननु तत्र निदानमिदं परिणममाने यदेकदेशेऽस्य ।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु ॥ ४६४ ॥

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टान्तात् ।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदसिद्धेः ॥ ४६५ ॥

अतः प्रदेशों के संकोच और विस्तार के कारण सत् को अनेक कहना उचित नहीं है ॥४५८॥ दूसरे परमाणु और कालाणु ये सदा एकप्रदेशी होते हैं, इनमें संकोच और विस्तार नहीं होता इसलिये सत् अनेक कैसे होगा अर्थात् नहीं हो सकेगा, इसलिये भी संकोच और विस्तार के कारण सत् को अनेक मानना उचित नहीं है ॥४५६॥

शंका—प्रदेशों के समान सत् का संख्या द्वारा विभाग करना अशक्य है इसलिये तो सत् एक माना जाय और प्रदेशों की अपेक्षा सत् अनेक संख्यावाला है इस नय से वह अनेक माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यद्यपि एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्यों का भेद करना शक्य नहीं ह तथापि ऐसा न कर सकने के कारण उनका एकत्व और अनेकत्व नहीं है ॥४६१॥

शंका—परस्पर एक सूत्र में गुम्फित होने से जिस प्रकार एक द्रव्य के प्रदेश होते हैं उस प्रकार एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्यों के प्रदेश नहीं होते, क्योंकि उनकी सत्ता जुदी जुदी है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि इसका क्या कारण है इसका ही पहले विचार करना चाहिये जिससे अनेक प्रदेशवाला होकर भी सत् एक अखण्डितसा प्रतीत होता है ॥४६३॥

शंका—सत् अनेक प्रदेशवाला होकर भी जो अखण्डित एक प्रतीत होता है सो इसका यह कारण है कि जिस प्रकार बांस की एक पोर में परिणमन होने पर उसकी सब पोरों में परिणमन होता है उसी प्रकार सत् के एक प्रदेश में परिणमन होने पर वह उसके सब प्रदेशों में होता है, यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता और यह बात दृष्टान्त के नहीं मिलने से जानी जाती है । तथा दृष्टान्त का अभाव इसलिये है कि केवल अन्वय या केवल व्यतिरेक के मिलने से उसकी सिद्धि नहीं होती है ॥४६५॥

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चिच्चान्यतरेऽपि हेतुवशात् ।
परिणमति परिणमन्ति हि देशाः सर्वे सदेकतस्त्विति चेत् ॥ ४६६ ॥

न यत सव्यभिचारः पक्षोऽनैकान्तिकत्वदोषत्वात् ।
परिणमति समयदेशे तद्देशाः परिणमन्ति नेति यथा ॥ ४६७ ॥

व्यतिरेके वाक्यमिदं यदपरिणमति सदेकदेशे हि ।
क्वचिदपि न परिणमन्ति हि तद्देशाः सर्वतः सदेकत्वात् ॥ ४६८ ॥

तन्न यतः सति सति वै व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा ।
तद्देशसमयभावैरखण्डितत्वात् सतः स्वतः सिद्धात् ॥ ४६९ ॥

एवं यकेऽपि दूरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः ।
यदकिञ्चित्कारित्वादत्रानधिकारिणोऽनुक्ताः ॥ ४७० ॥

शंका—कारणवश सत् के किसी एकदेश के परिणमन होने पर उसके सब देशों में परिणमन होता है और इसका कारण सत् का एकत्व है यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्त दोष के आने से यह पक्ष सव्यभिचारी है। हम देखते हैं कि समय[1] के एकदेश के परिणमन करने पर भी उसके सब देश परिणमन नहीं करते हैं ॥४६६-४६७॥

शंका—सत् के किसी एकदेश में परिणमन नहीं होने पर उसके सब देश भी परिणमन नहीं करते हैं क्यों कि सत् सर्वथा एक है यदि व्यतिरेक के समर्थन में यह व्याप्ति वाक्य माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्यों कि सत् स्वतः सिद्ध है अतः वह अपने देश, काल और भाव की अपेक्षा अखण्डित है इस लिये उसका अन्वय ही बनता है व्यतिरेक नहीं, व्यतिरेक का तो अभाव ही है ॥ ४६९ ॥

इसी प्रकार और जो भी लक्षणाभास हैं उन्हें भी दूरसे ही छोड़ देना चाहिये, क्यों कि अकिंचित्कर होने से प्रकृत में उनका अधिकार नहीं इस लिये वे यहां पर नहीं कहे ॥ ४७० ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में क्षेत्र की अपेक्षा सत् के एकत्व का विचार किया गया है। क्षेत्र से द्रव्य के प्रदेश लिये जाते हैं। यद्यपि आकाश अनन्त प्रदेशी, जीव, धर्म और अधर्म असंख्यात प्रदेशी तथा काल और पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशी कहे जाते हैं। पर यह प्रदेश विभाग आपेक्षिक है। वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य अखण्ड है, इस लिये सत् कथंचित् एक है। यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि कुछ लोग सत् के एकत्वका समर्थन अन्य प्रकार से करते हैं। यथा (१) आभोगदेश की अपेक्षा। (२) खण्ड करना शक्य न होने की अपेक्षा। (३) एक प्रदेश में परिणमन होने पर उसका सब प्रदेशों में संचार होने की अपेक्षा।

ये तीन हेतु हैं जिनके कारण अन्य लोग सत् के एकत्वका समर्थन करते हैं। पर विचार करने पर ये कारण सदोष प्रतीत होते हैं। दोषों का निर्देश मूल में किया ही है। वस्तुतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सत् का स्वरूप अखण्ड है इस लिये वह एक है ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥ ४४६-४७० ॥

---

[1] आत्मा।

कालः समयो यदि वा तद्देशे वर्तनाकृतिश्चार्थात् ।
तेनाप्यखण्डितत्वाद्भवति सदेकं तदेकनययोगात् ॥ ४७१ ॥

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण ।
क्रमतो व्यस्तसमस्तैरितस्ततो वा विचारयन्तु बुधाः ॥ ४७२ ॥

तत्रैकावसरस्थं यद्यावद्यादृगस्ति सत् सर्वम् ।
सर्वावसरसमुदितं तत्तावत्तादृगस्ति सत् सर्वम् ॥ ४७३ ॥

न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धिः ।
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसान्नु हानिरेव सतः ।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

नैवं सतो विनाशादसतः सर्गादसिद्धसिद्धान्तात् ।
सदनन्यथाथ वा चेत् सदनित्यं कालतः कथं तस्य ॥ ४७६ ॥

नासिद्धमनित्यत्वं सतस्ततः कालतोऽपि नित्यस्य ।
परिणामित्वान्नियतं सिद्धं तज्जलधरादिदृष्टान्तात् ॥ ४७७ ॥

काल की अपेक्षा सत् के एकत्व का समर्थन—

काल समय को कहते हैं। अथवा द्रव्य में जो वर्तना निमित्तक आकार अर्थात् परिणमन प्राप्त होता है वह वास्तव में काल है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा यह सत् उस काल की अपेक्षा भी अखण्डित है इसलिये एक है ॥ ४७१ ॥ आशय यह है कि प्रकृत में प्रवाहरूप से सत् की माला को स्थापित करें और बुधजन क्रम से अलग अलग या मिलाकर इधर उधर से उसका विचार करें तो उन्हें ज्ञात होगा कि एक समय में स्थित वह सत् जितना और जैसा है सब समयों में स्थित वह सत् उतना और वैसा ही है ॥ ४७२-४७३ ॥ किन्तु ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार काल की वृद्धि होने पर शरीरादि की वृद्धि होती है और काल की हानि होने पर शरीरादि की हानि होती है उसी प्रकार इस सत् की वृद्धि और हानि होती होगी। वास्तव में सत् की न तो वृद्धि होती है और न हानि ही होती है वह सदा काल की अपेक्षा एक सा ही रहता है ॥ ४७४ ॥

शंका—पूर्व पूर्व भाव का विनाश होने से सत् की हानि रही आवे और उत्तर उत्तर भाव का उत्पाद होने से सत् की वृद्धि रही आवे, यदि ऐसा माना जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सत् का विनाश और असत् का उत्पाद प्राप्त होता है इसलिये उक्त प्रकार से मानना असिद्ध है। अब यदि इस दोष से बचने के लिये सत् को सर्वथा एक रूप ही मान लिया जाय तो उसमें काल की अपेक्षा अनित्यता कैसे घटेगी ॥ ४७६ ॥ यद्यपि सत् काल की अपेक्षा कथंचित् नित्य है तथापि वह अनित्य है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह निरन्तर परिणमन

तस्मादनवद्यमिदं परिणममानं पुनः पुनः सदपि ।
स्यादेकं कालादपि निजप्रमाणादखण्डितत्त्वाद्वा ॥ ४७८ ॥

भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात् ।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च ॥ ४७९ ॥

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात् ।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण ।
पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥ ४८१ ॥

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यावदिह सदिति ।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य सत्तावत् ॥ ४८२ ॥

न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि ।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्त्वे महानिहास्ति यथा ॥ ४८३॥

करता रहता है जो जलधर आदि के दृष्टान्त से सिद्ध है ॥ ४७७ ॥ इसलिये यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध है कि यद्यपि सत् बार बार परिणमन करता रहता है तथापि उसका जितना प्रमाण है उतना वह बना रहता है या अखण्डित है इसलिये काल की अपेक्षा वह एक है ॥ ४७८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ काल की अपेक्षा सत् के एकत्व का विचार किया गया है। यद्यपि काल का व्यवहार समय इस अर्थ में होता है तथापि यहाँ स्वकाल का ग्रहण होने से उसका अर्थ परिणमन लिया गया है। जितने भी पदार्थ हैं वे यद्यपि सदा ही परिणमनशील हैं तथापि इस परिणमन की धारा में सदा ही एकरूपता बनी रहती है, जीव का अजीव हो जाय या अजीव का जीव हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। किन्तु अनन्त काल पहले सत् का जो स्वरूप था वह सदा बना रहता है। प्रति समय के परिवर्तन से इसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं आती। इसलिये द्रव्यार्थिक नय से काल की अपेक्षा सत् एक है यह उक्त कथनका तात्पर्य है ॥ ४७१—४७८ ॥

भावकी अपेक्षा सत् के एकत्व का समर्थन—

भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण और धर्म ये सब भाव के नामान्तर हैं ॥ ४७९ ॥ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भावरूप से सत् अखण्डित है इसलिये वह एक है। अब सावधान होकर उसका लक्षण कहते हैं—

प्रकृत में संपूर्ण सत् को गुणों की पंक्तिरूप से स्थापित करके यदि देखें तो वह सबका सब भावरूप ही दिखाई देता है इसके सिवा और कुछ शेष नहीं बचता है ॥ ४८०-४८१ ॥ इन भावों में से किसी एक भाव की अपेक्षा विचार करने पर सत् जितना है सब भावों की अपेक्षा पृथक् पृथक् या मिलाकर विचार करने पर वह उतना ही है ॥ ४८२ ॥ यदि कहा जाय कि जिस प्रकार पुद्गलमय द्व्यणुक आदि स्कन्ध परमाणुओं के कम होने पर छोटा हो जाता है और अधिक होने पर बड़ा हो जाता है उसी प्रकार यह सत्

अयमर्थो वस्तु यदा लक्ष्येत विवक्षितैकभावेन ।
तन्मात्रं सदिति स्यात् सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८४ ॥

यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।
तन्मात्रं सदिति स्यात् सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८५ ॥

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा ।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥ ४८६ ॥

न च किञ्चित् पीतत्वं किञ्चित् स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च ।
तेषामिह समवायादस्ति सुवर्णस्त्रिसत्त्वसत्ताकः ॥ ४८७ ॥

इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य ।
अन्तर्लीनगुरुत्वाद्विवक्ष्यते तद्गुरुत्वेन ॥ ४८८ ॥

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तदिह विवक्षावशात् सुखत्वं स्यात् ।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः ।
तत् किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात् सुखत्वेन ॥ ४९० ॥

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात् ।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥

भी छोटा और बड़ा हो जाता होगा सो यह बात नहीं है ॥ ४८३ ॥ आशय यह है कि जब वस्तु विवक्षित एक भावरूप से देखी जाती है उस समय सत् विवक्षित भावरूप ही होता है और वह विवक्षित भाव भी सन्मात्र ही होता है ॥ ४८४ ॥ इसी प्रकार जब वह सत् किसी अन्य भावरूप से विवक्षित होता है उस समय वह सत् उस भाव रूप ही होता है और वह विवक्षित भाव भी सन्मात्र ही होता है ॥ ४८५ ॥ इस विषय में यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार पीतादि गुणवाला सोना जब पीतरूप से विवक्षित होता है तब वह केवल पीला ही दिखाई देता है और जब वही सोना गुरुत्व आदि धर्मरूप से विवक्षित होता है तब वह तन्मात्र प्रतीत होता है ॥४८६। ऐसा नहीं है कि कुछ सोना पीला हो, कुछ सोना स्निग्ध हो और कुछ सोना गुरु हो। और इन तीनों गुणोंका सोने में समवाय होने से वह तीनों की सत्ता को लिए हुए एक अखण्ड सत्तावाला हो ॥४८७॥ किन्तु यहाँ यह तात्पर्य है कि सोने का जो पीत गुण है उसमें गुरुत्व गुण अन्तर्लीन है अतः जब सोना गुरुत्व रूप से विवक्षित होता है तब वह केवल गुरु ही प्रतीत होता है ॥४८८॥ इसी प्रकार जीव का जो ज्ञान गुण है वही यहाँ विवक्षावश सुख हो जाता है क्योंकि ज्ञान में सुख अन्तर्लीन है, अतः तदात्मक होने से वह एक सत्तावाला हो जाता है ॥ ४८९ ॥

शंका—वृद्ध पुरुषों ने जब कि युक्ति से विचार करके सूत्र में गुणों को निर्गुण कहा है तब फिर ज्ञान गुण सुखरूप से कैसे विवक्षित हो सकता है ?

समाधान—यह कहना ठीक है कि लक्षण के भेद से गुणों में जो भेद है वह निर्विलक्षण है। तथापि उनकी एक सत्ता होने से वे अखण्डित हैं यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से जानी जाती है ॥ ४९०-४९१ ॥

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात् ।
तदपि विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥ ४९२ ॥

एवं भवति सदेकं भवति न तदपि च निरंकुशं किन्तु ।
सदनेकं स्यादिति किल सप्रतिपक्षं यथाप्रमाणाद्वा ॥ ४९३ ॥

अपि च स्यात् सदनेकं तद्द्रव्याद्यैरखण्डितत्वेऽपि ।
व्यतिरेकेण विना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम् ॥ ४९४ ॥

अस्ति गुणस्तल्लक्षणयोगादिह पर्ययस्तथा च स्यात् ।
तदनेकत्वे नियमात् सदनेकं द्रव्यतः कथं न स्यात् ॥ ४९५ ॥

यत्सत्तदेकदेशे तद्देशे न तद् द्वितीयेषु ।
अपि तद् द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोऽपि तदवश्यम् ॥ ४९७ ॥

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात् ।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥ ४९८ ॥

इसलिए यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध होती है कि सत् भाव की अपेक्षा अखण्डित एक है। किन्तु ऐसा विवक्षा विशेष से है सर्वथा इस नय से नहीं है ॥ ४९२ ॥

द्रव्यादि की अपेक्षा सत् के अनेकत्व का समर्थन—

इस प्रकार यद्यपि सत् एक है तथापि वह सर्वथा एक नहीं है किन्तु वह अनेक भी है क्योंकि प्रमाणानुसार वह सप्रतिपक्ष है ॥ ४९३ ॥ दूसरे सत् के अनेक होने में यह युक्ति है कि द्रव्यादिकी अपेक्षा अखण्डित होने पर भी सत् इसलिये अनेक है, क्योंकि व्यतिरेक के बिना अन्वय पक्ष अपने पक्ष की रक्षा नहीं कर सकता ॥ ४९४ ॥ गुण का लक्षण भिन्न है और पर्याय का भिन्न। अपने अपने लक्षण के अनुसार गुण भी है और पर्याय भी है। यतः गुण और पर्याय नियम से अनेक हैं अतः द्रव्य की अपेक्षा सत् अनेक कैसे नहीं होगा ॥ ४९५ ॥ जो सत् एक देश में है वह उसी देश में है दूसरे देशों में नहीं है। इसी प्रकार दूसरे देश में जो सत् है वह उसी देश में है अन्य देश में नहीं है, अतः ऐसा कौन पुरुष है जो क्षेत्र की अपेक्षा सत् को अनेक नहीं मानेगा ॥ ४९६ ॥ जो सत् एक काल में है वह उसी काल में है, उससे भिन्न दूसरे काल में नहीं है। इसी प्रकार जो सत् अन्य काल में है वह उसी काल में है उससे भिन्न काल में नहीं है, अतः काल की अपेक्षा भी सत् नियम से अनेक है ॥ ४९७ ॥ सन्मात्र होने से जो एक भाव है वह अन्य भावरूप नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जो अन्य भाव है वह उसी रूप ही है अन्यरूप नहीं हो सकता, अतः भाव की अपेक्षा सत् नियम से अनेक है ॥ ४९८ ॥

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।
अपि गौरवप्रसङ्गाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम् ।
इह तदवयवाभावे नियमात् सदवयविनोऽप्यभावत्वात् ॥ ५०१ ॥

अपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात् ॥ ५०२ ॥

उक्तं सदिति यथा स्यादेकमनेकं सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
अधुना तद्वाङ्मात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥ ५०४ ॥

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद् द्विधा च सोऽपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ॥ ५०५ ॥

शेष विधि पहले ही कही जा चुकी है इस लिये यहां गौरवदोष और पुनरुक्त दोष के भय से उसका उल्लेख नहीं किया जाता है ॥ ४९९ ॥ इस लिये यह सिद्ध हुआ कि जो सत् एक है युक्तिवश वही सत् अनेक है, क्यों कि इनमें से किसी एक का लोप करने पर शेष का लोप दुर्निवार हो जाता है ॥ ५०० ॥ दूसरे सत् सर्वथा एक है यह पक्ष वस्तु की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है, क्यों कि सत् के अवयवों के अभाव में सद्रूप अवयवी का भी अभाव हो जाता है ॥ ५०१ ॥ इसी प्रकार सत् सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्यों कि एक ही कथंचित् अनेक माना गया है। किन्तु एक एक मिल कर अनेक अनेक होता है ऐसा नहीं है ॥ ५०२ ॥

विशेषार्थ—पहले द्रव्यादि की अपेक्षा सत् कथंचित् एक है यह सिद्ध कर आये हैं। अब यहां उन्हीं द्रव्यादि की अपेक्षा उसकी अनेकता सिद्ध की गई है। विशेष खुलासा मूल में किया ही है ॥ ४७९-५०२ ॥

प्रमाण और नयके स्वरूपके कहनेकी प्रतिज्ञा—

सत् कथंचित् एक है और कथंचित् अनेक है इस बात का सुप्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा कथन किया जा चुका है। अब संक्षेप से प्रमाण और नय का लक्षण कहते हैं ॥ ५०३ ॥ तत्त्व विरुद्ध दो धर्मस्वरूप है ऐसा उसका लक्षण पहले कहा जा चुका है। उनमेंसे किसी एक धर्म का वाचक नय होता है ॥ ५०४ ॥ वह नय द्रव्यनय और भावनयके भेद से दो प्रकार का है। पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय है और जीव का चैतन्य गुण

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः ।
न यतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात् ॥ ५०६ ॥
ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोऽपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥ ५०७ ॥
उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥ ५०८ ॥
संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथा घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोऽपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥ ५०९ ॥
इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा ।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्तते किल तथापि बलात् ॥ ५१० ॥
अथ तद्यथा तथा सत् सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५११ ॥
स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम् ।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥ ५१२ ॥
अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम् ।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागुपचर्यते च नयः ॥ ५१३ ॥

भावनय है ॥ ५०५ ॥ अथवा ज्ञानविकल्प का नाम ही नय है। किन्तु वह विकल्प परमार्थभूत नहीं होता, क्योंकि न तो शुद्ध ज्ञान गुण को ही नय कह सकते हैं और न शुद्ध ज्ञेय को ही नय कह सकते हैं, किन्तु इन दोनों के सम्बन्ध से जो विकल्प होता है वह नय कहलाता है ॥ ५०६ ॥ ज्ञानविकल्प नय है इस विषय में यह प्रक्रिया लगानी चाहिये कि ज्ञान ज्ञान है नय नहीं है। नय भी नय है ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह विकल्परूप है ॥ ५०७ ॥ आशय यह है कि जिस समय विकल्प विवक्षित होता है उस समय ही नयपक्ष उदय को प्राप्त होता है और जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता है उस समय नयपक्ष अपने आप अस्तंगत हो जाता है ॥ ५०८ ॥ इस विषय में स्पष्ट दृष्टान्त यह है कि जैसे घट को विषय करनेवाले ज्ञान को उपचार से घटज्ञान कहते हैं। किन्तु यथार्थ में ज्ञान ज्ञान ही है घट नहीं है और घट भी घट ही है ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ५०९ ॥ यहाँ पर तात्पर्य यह है कि यद्यपि विकल्परूप होने के कारण नयमात्र हेय है तथापि वह बलवान् के समान बलपूर्वक प्रवृत्त होता है। उसका रोकना कठिन है ॥ ५१० ॥ जितना भी नय है वह विकल्पात्मक है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जो कोई सत् को सन्मात्र मान रहा है वह विकल्प रहित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'सत्' यह विकल्प यहाँ पर भी पाया जाता है। इसका वारण करना कठिन है ॥ ५११ ॥ इसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म वर्णमय जितना भी बाह्य जल्प और अन्तर्जल्प होता है वह तथा तन्मात्र ज्ञान यह सब विकल्पात्मक नय ही है, क्योंकि यह वचनों का विलासमात्र है ॥ ५१२ ॥ अथवा अपनी अपनी विशेषता को लिये हुए वस्तु के एक एक

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य ।
उष्णोऽग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥ ५१४ ॥
इह किल छिदानिदानं स्यादिह परशुः स्वतन्त्र एव यथा ।
न तथा नयः स्वतन्त्रो धर्मविशिष्टं करोति वस्तु बलात् ॥ ५१५ ॥

प्रतिनियत धर्म की अपेक्षा जो नामकरण किया जाता है वह और इसका वाचक वचन भी उपचारसे नय कहा जाता है ॥ ५१३ ॥ उसका खुलासा इस प्रकार है कि जैसे प्रत्यक्ष से अग्नि के उष्ण धर्म को जानकर उसकी अपेक्षा 'अग्नि उष्ण है' इस प्रकार का वचन व्यवहार और ऐसा ही ज्ञान ये दोनों उपचार से नय हैं ॥ ५१४ ॥ किन्तु जिस प्रकार छेदन क्रिया का मूल कारण फरसा छेदन क्रिया के करने में स्वतन्त्र है उस प्रकार नय स्वतन्त्र होकर किसी वस्तु को बलपूर्वक धर्मविशिष्ट नहीं करता है ॥ ५१५ ॥

विशेषार्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रथम अध्याय में सामान्य वस्तु के विचार करने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार उसका विचार करके प्रकृत में नय और प्रमाण के विचार की प्रतिज्ञा करके सर्व प्रथम नय के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आगम में प्रमाण के स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद करके और सब ज्ञानों को तो एक स्वार्थ रूप ही बतलाया है किन्तु श्रुत ज्ञान को स्वार्थ और परार्थ उभयरूप बतलाया गया है। ऐसा नियम है कि छद्मस्थ जीवों के पांचों इन्द्रियां और मन के निमित्त से जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। तदनन्तर इस ज्ञान पूर्वक जो मानसिक विकल्पों की धारा चलती है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस प्रकार से यद्यपि श्रुतज्ञान ज्ञानात्मक प्राप्त होता है तथापि जितना भी आर्हतप्रवचन है वह इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान का जनक होने से उसका अन्तर्भाव भी श्रुतप्रमाण में किया जाता है। यही सबब है कि श्रुतज्ञान के स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद किये गये हैं तथा शेष ज्ञानों को केवल स्वार्थ रूप ही बतलाया गया है। यहां स्वार्थ से ज्ञानात्मक और परार्थ से वचनात्मक प्रमाण लिया गया है। यतः मति आदि ज्ञान केवल ज्ञानरूप प्राप्त होते हैं इसलिये तो इन्हें केवल स्वार्थ रूप बतलाया गया है और श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ उभयरूप प्राप्त होता है, इसलिये उसे स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का बतलाया गया है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के दोनों रूप प्राप्त होने पर नय के भी दो भेद हो जाते हैं क्योंकि नय यह श्रुतज्ञान का भेद है। इसी सबब से प्रकृत में ग्रन्थकार ने नय का सामान्य लक्षण करके उसके द्रव्य नय और भावनय ऐसे दो भेद किये हैं। प्रकृत में नय का सामान्य लक्षण करते हुए ग्रन्थकार ने जो यह बतलाया है कि नय यह वस्तु के किसी एक धर्म का वाचक है सो इसका यह अभिप्राय है कि नय यह किसी एक धर्म द्वारा वस्तु का विवेचन करता है। आगम में विवेचन करने की दो शैलियां प्रसिद्ध हैं। प्रथम शैली द्वारा वक्ता का अभिप्राय समग्र वस्तु के विवेचन करने का रहता है। इस शैली का ही दूसरा नाम सकलादेश है। और दूसरी शैली द्वारा वक्ता का अभिप्राय एक धर्म द्वारा वस्तु के विवेचन करने का रहता है। इस शैली का दूसरा नाम ही विकलादेश है। यों तो नय ज्ञानात्मक और वचनात्मक दोनों प्रकारका होता है। किन्तु प्रकृत में इस दूसरी शैली का ध्यान में रख कर ही नय का सामान्य लक्षण किया गया है। तथापि वह लक्षण नय के द्रव्यनय और भावनय इन दोनों भेदों में घटित न होकर केवल द्रव्य-नय में ही घटित होता है, इसलिये आगे चलकर 'ज्ञानविकल्प का नाम ही नय है' इस प्रकार ग्रन्थकार ने स्वयं नय का दूसरा लक्षण किया है। इस प्रकार ग्रन्थकार के अभिप्रायानुसार नय के दो लक्षण हो कर उसके दो भेद प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ यद्यपि प्रथम द्रव्य नय उपचार से नय कहा गया है क्यों कि वास्तव

एकः सर्वोऽपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोऽपि नयात् ।
अपि च द्विविधः स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात् ॥ ५१६ ॥

एको द्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात् ।
सर्वेषां च नयानां मूलमिवेदं नयद्वयं यावत् ॥ ५१७ ॥

द्रव्यं सन्मुखतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः ॥ ५१८ ॥

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंशः सः ।
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥ ५१९ ॥

में नय यह ज्ञान का एक भेद है। तथापि यह ज्ञानात्मक नय भी मतिज्ञान आदि प्रमाण कोटिका न हो जाय इस विवक्षा से ग्रन्थकार ने इसे भी अपरमार्थभूत और हेय बतलाया है। इस विषय में ग्रन्थकार का कहना है कि नय यह न तो स्वयं ज्ञान ही है और न ज्ञेय ही, किन्तु इन दोनों के सम्बन्ध से जो विवक्षित एक धर्मद्वारा वस्तु को जाननेरूप मानसिक विकल्प होता है उसका नाम नय है। यतः यह अपरमार्थभूत है, अतः वह हेय है यह भी इससे प्रकट हो जाता है। इस प्रकार ग्रन्थकार विकल्पात्मक होने से इस नय को अपरमार्थभूत और हेय बतला कर भी व्यवहार में उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि नयमात्र हेय है तथापि जीवन में उसकी प्रवृत्ति होती ही रहती है। उसे रोका नहीं जा सकता। आशय यह है कि जब तक मानसिक ज्ञान है तब तक मन द्वारा विकल्पों का होना भी अनिवार्य है उन्हें किसी प्रकार भी नहीं रोका जा सकता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने उदाहरण द्वारा यों समझाया है कि जो प्राणी वस्तु को सद्रूप मान रहा है वह सत् इस प्रकार के ज्ञानात्मक विकल्प से अपने को जुदा कैसे अनुभव कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि नय यह अपरमार्थभूत और हेय है तथापि जीवन में उसकी उपयोगिता होने से उसे त्यागा नहीं जा सकता है। किन्तु इस नय का काम धर्मद्वारा वस्तु का विश्लेषण करना है वस्तु को धर्मविशिष्ट करना नहीं। आशय यह है कि नय किसी वस्तु में धर्म का आरोप नहीं करता किन्तु उसमें स्थित धर्मों का विश्लेषणमात्र करता है। यदि वचन द्वारा यह किया जाता है तो वह वचन नय कहलाता है और मानसिक विकल्प द्वारा यह किया जाता है तो वह ज्ञान नय कहलाता है ॥ ५०३–५१५ ॥

नयों के भेद और उनका स्वरूप --

विकल्प सामान्य की अपेक्षा सभी नय एक हैं। तथा विषय भेद से विकल्प दो प्रकार का होता है अतः नय के भी दो भेद हो जाते हैं ॥ ५१६ ॥ एक द्रव्यार्थिक नय है और दूसरा पर्यायार्थिक नय है। सम्पूर्ण नयों के ये दो नय मूलभूत हैं ॥ ५१७ ॥ केवल द्रव्य ही मुख्यता से जिस नय का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है। यह इसका अपनी धातु के अनुसार अन्वर्थ नाम है और यह एक है ॥ ५१८ ॥ अंश नाम पर्यायों का है। इनमें से जो विवक्षित अंश है वह जिस नय का विषय है वह पर्यायार्थिक नय है। इसके अनेक भेद हैं ॥ ५१९ ॥

अधुना रूपदर्शनं संदृष्टिपुरस्सरं द्वयोर्वक्ष्ये ।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वानुभूतपूर्वं तत् ॥ ५२० ॥

पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥ ५२१ ॥

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः ।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥ ५२२ ॥

साधारणगुण इति वा यदिवाऽसाधारणः सतस्तस्य ।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥ ५२३ ॥

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य ।
गुणसद्भावे नियमाद् द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥ ५२४ ॥

विशेषार्थ—जितना भी विकल्पात्मक ज्ञान है उसे नय कहते हैं यह पहले ही बतला आये हैं, अतः विकल्प सामान्य की अपेक्षा नय को एक बतलाया है। किन्तु कोई विकल्प सामान्यग्राही होता है और कोई विशेषग्राही। इस प्रकार विकल्प के दो भागों में बट जाने के कारण नय के भी दो भेद हो जाते हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय। इनमें से जो नय द्रव्य अर्थात् सामान्यको विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायार्थिक नय है। सामान्य एक है अतः द्रव्यार्थिक नय एक माना गया है और पर्याय अनेक होते हैं अतः पर्यायार्थिक नय अनेक माने गये है ॥ ५१६-५१६ ॥

अब दृष्टान्तपूर्वक इन दोनों का स्वरूप कहेंगे। जो सब कथन वाचकों को सुने हुए के समान या अनुभव किये गये के समान प्रतीत होगा ॥ ५२० ॥ पर्यायार्थिक नय कहो या व्यवहार नय इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है वह उपचार मात्र है ॥ ५२१ ॥ विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार है यह इसका निरुक्ति के अनुसार अर्थ है। यह नय परमार्थभूत नहीं। जैसे कि गुण गुणी में सत्तारूप से अभेद होने पर भेद करना व्यवहार नय है ॥ ५२२ ॥ जिस समय वस्तु के साधारण और असधारण गुणों में से कोई एक गुण विवक्षित होता है उस समय व्यवहार नय ठीक माना गया है ॥ ५२३ ॥ अनन्त धर्मवाले द्रव्य के विषय में आस्तिक्य बुद्धि का होना ही इस नय का फल है, क्योंकि गुणों के सद्भाव में द्रव्य के अस्तित्व की प्रतीति नियम से होती है ॥ ५२४ ॥

विशेषार्थ—यह पहले ही बतला आये हैं कि वास्तव में वस्तु अखण्ड और एक है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जितना भी भेद किया जाता है वह सब उपचार मात्र ठहरता है। यतः पर्यायार्थिक नय वस्तु को गुण गुणी के भेद द्वारा ग्रहण करता है इसलिये इसे भी औपचारिक बतलाया है। यद्यपि अन्यत्र उपचार या व्यवहार का प्रयोजन पर निमित्त को बतलाया गया है किन्तु इस ग्रन्थ में विवेचन करने की दृष्टि भिन्न है। यहाँ अभेद दृष्टि परक

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥ ५२५ ॥
अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात्।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ॥ ५२६ ॥
अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात्।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ॥ ५२७ ॥
अस्तमितसर्वसङ्करदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ॥ ५२८ ॥

विवेचन द्रव्यार्थिक नयका और भेददृष्टिपरक विवेचन पर्यायार्थिक नय का विषय माना गया है। यहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय शब्दों का उपयोग भी इसी अर्थ में किया गया है। इसी से निश्चयनय को द्रव्यार्थिक नय का और व्यवहार नय को पर्यायार्थिक नय का पर्यायवाची बतलाया गया है। यतः व्यवहार नय वस्तु के साधारण और असाधारण धर्म द्वारा उसका निरूपण करता है, अतः द्रव्य अनन्त धर्मवाला है ऐसी प्रतीति का होना ही व्यवहार नय का फल है यह उक्त कथन का मथितार्थ है ॥ ५२०-५२४ ॥

व्यवहार नयके भेद और सद्भूत व्यवहार नय का विशेष विचार—

व्यवहार नय के दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। जिस वस्तु का जो गुण है उसकी सद्भूत संज्ञा है। और उन गुणों की प्रवृत्ति मात्र का नाम व्यवहार है ॥ ५२५ ॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि इस नय में वस्तु का असाधारण गुण ही विवक्षित होता है। अथवा वस्तु का साधारण गुण अविवक्षित रहता है। इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति होती है अन्य प्रकार से नहीं ॥ ५२६ ॥ इस नय का फल यह है कि इससे विवक्षित वस्तु के सिवा अन्य वस्तु में 'यह वह नहीं है' इस प्रकार निषेध बुद्धि हो जाती है, क्योंकि परवस्तु से भेदबुद्धि का होना ही नय है। नय कुछ भेद का अभिव्यञ्जक नहीं है ॥ ५२७ ॥ इस नय के कारण सर्वसंकर दोष से और सर्वशून्य दोष से रहित होकर सम्पूर्ण पदार्थों का बिना दूसरे की अपेक्षा किये एक परमाणु के समान ज्ञान होने लगता है ॥ ५२८ ॥

विशेषार्थ—अनगार[1]धर्मामृत में सद्भूत व्यवहारनय का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो नय गुण और गुणी में अभेद रहते हुए भी भेद करता है वह सद्भूत व्यवहार नय है। इसी प्रकार आलाप[2]-पद्धति में सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो नय गुण और गुणी में संज्ञा आदि के भेद से भेद करता है वह सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। प्रकृत ग्रन्थ में सद्भूत का अर्थ तद्गुण और व्यवहार का अर्थ तत्प्रवृत्ति बतलाया है इससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। इस प्रकार इसका फलितार्थ यह है कि जो नय वस्तु के असाधारण किसी एक गुण की प्रमुखता से वस्तु का विवेचन करता है वह सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। इससे एक वस्तु का दूसरी वस्तु से पार्थक्य स्पष्ट रीति से प्रभासित होने लगता है। यही इसकी सफलता है ॥५२५-५२८॥

१—अनगा. १ अ. १०४ श्लो.। (२) आलाप. प. १३१।

अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र ॥ ५२९ ॥

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम् ।
तत्संयोगात्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ॥ ५३० ॥

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥ ५३१ ॥

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥ ५३२ ॥

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

असद्भूत व्यवहार नयका कथन—

अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना यह असद्भूत व्यवहारनय है ॥ ५२९ ॥ उदाहरणार्थ वर्ण आदिवाले मूर्त द्रव्य का कर्म एक भेद है, अतः वह भी मूर्त है। उसके संयोग से क्रोधादिक यद्यपि मूर्त हैं तो भी उन्हें जीव में हुए कहना यह असद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण है ॥ ५३० ॥ इस का कारण द्रव्य में रहने वाली वैभाविकी शक्ति है। यह शक्ति केवल जीव और पुद्गल में होती है जो सहजसिद्ध है ॥ ५३१ ॥ इस असद्भूत व्यवहार नय की प्रतीति का फल यह है कि जितने भी आगन्तुक भाव हैं उनमें से उपाधिका त्याग कर देने पर जो शेष बचता है वही उस वस्तु का शुद्ध गुण है ऐसा मानने से कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि हो जाता है ॥ ५३२ ॥ उदाहरणार्थ सोना दूसरे पदार्थ के गुण के सम्बन्ध से कुछ सफेदसा प्रतीत होता है, परन्तु जब उसमें से पर वस्तु के गुणों का सम्बन्ध छूट जाता है तब वही सोना शुद्धरूप से अनुभव में आने लगता है ॥ ५३३ ॥

विशेषार्थ—अनगार[1] धर्मामृत में असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण बतलाया है कि भेद में अभेद का उपचार करना असद्भूत व्यवहार नय है तथा आलाप[2] पद्धति में बतलाया है कि अन्य के धर्म का अन्य में आरोप करना असद्भूत व्यवहार नय है। प्रकृत ग्रन्थ में असद्भूत व्यवहार नय का यही अर्थ लिया गया है। क्रोध आदि कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिये मूर्त हैं तथा उन्हें जीव का कहना असद्भूत व्यवहार नय है। यहाँ अन्य द्रव्य के गुण धर्म का अन्य में आरोप किया गया है, इसलिए तो यह असद्भूत है और इस कथन में गुण गुणी के भेद की प्रमुखता है इसलिए यह व्यवहार है। यतः इससे उपाधि का ज्ञान होकर उसके त्याग की भावना जागृत होती है, अतः उपाधि के अभाव में जो शुद्ध बचता है वह निजगुण है ऐसा ज्ञान हो जाना ही इसका फल है ॥ ५२७-५३३ ॥

---

(१) अनगा० अ. १, श्लो० १०४। (२) आलाप० प० १३२।

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च ।
अपि चासद्भूतः सोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च ॥ ५३४ ॥

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥५३५ ॥

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥ ५३६ ॥

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ५३८ ॥

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात् ।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात् ॥ ५३९ ॥

सद्भूत और असद्भूत व्यवहार नय के भेद—

सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो प्रकार का है। इसी प्रकार असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो प्रकार का है ॥ ५३४ ॥

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विचार—

जिस पदार्थ की जो आत्मभूत शक्ति है उसको जो नय अवान्तर भेद किये बिना सामान्यरूप से उसी पदार्थ की बतलाता है वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है ॥ ५३५ ॥ इस विषय में यह उदाहरण है कि जिस प्रकार जीव का ज्ञानगुण सदा जीवोपजीवी रहता है उस प्रकार वह ज्ञेय को जानते समय ज्ञेयोपजीवी नहीं होता ॥ ५३६ ॥ जैसे घट के सद्भाव में जीव का ज्ञान गुण घट की अपेक्षा किये बिना चैतन्यरूप ही है। वैसे घट के अभाव में भी जीव का ज्ञान गुण घट की अपेक्षा किये बिना चैतन्यरूप ही है ॥ ५३७ ॥ इस कथन के द्वारा उस मत का निराकरण हो जाता है जो यह मानता है कि घट के सद्भाव में घटज्ञान होता है और घट के अभाव में न तो ज्ञान होता है और न घट ज्ञान ही होता है, क्योंकि इस कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है ॥ ५३८ ॥ पदार्थ में आस्तिक्य का कारण वास्तविक प्रतीति का होना ही इस नय का फल है। जिससे क्षणिक आदि मतों में बिना प्रयत्न के परम उपेक्षा भाव हो जाता है ॥ ५३९ ॥

विशेषार्थ—अनगार[1] धर्मामृत और आलापपद्धति[2] में सद्भूत व्यवहार नय के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये हैं। अनगार धर्मामृत में शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय को अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय और अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय को उपचरित सद्भूत व्यवहार नय भी कहा है। इसी प्रकार अनगार[3] धर्मामृत में असद्भूत व्यवहार नय के उपचरित और अनुपरित ये दो भेद किये हैं। तथा आलापपद्धति[4] में असद्भूत

---

(१) अनगा० अ० १ श्लो० १०५ । (२) आलाप० प० ७९ । (३) अनगा० अ० १, श्लो० १०६ ।
(४) आलाप० प० ८०, ८१ ।

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम ।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः ॥ ५४० ॥

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा ।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥ ५४१ ॥

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात् ।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥ ५४२ ॥

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥ ५४३ ॥

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद् द्रव्यविशेषे यथाप्रमाणं स्यात् ॥ ५४४ ॥

व्यवहार नय के स्वजात्यसद्भूत व्यवहारनय, विजात्यसद्भूत व्यवहार नय और स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनय ऐसे तीन भेद किये हैं। अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय के विषय में तीनों ग्रन्थों के दृष्टिकोण में प्रायः अन्तर है। अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति में यह बतलाया है कि जिस वस्तु का जो शुद्ध गुण है उसको उसीका बतलाना यह शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है। अनगार धर्मामृत में इस नय का उदाहरण देते हुए लिखा है कि केवलज्ञान आदि को जीव का कहना शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है। तथा पंचाध्यायी में यह दृष्टिकोण लिया गया है कि जिस द्रव्य की जो शक्ति है विशेष की अपेक्षा किये बिना सामान्यरूप से उसे उसी द्रव्य का बतलाना अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनय है। पंचाध्यायी के इस लक्षण के अनुसार 'ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण ठहरता है। बात यह है कि अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति में शुद्धता और अशुद्धता का विभाग करके इस नय का कथन किया गया है। किन्तु पंचाध्यायी में ऐसा विभाग करना इष्ट नहीं है। वहां यद्यपि उपाधि का त्याग इष्ट है, परन्तु साथ ही वह कथन सब प्रकार से निरुपाधि होना चाहिये। ज्ञान के साथ 'केवल' पद लगाना यह भी एक उपाधि है, अतः केवलज्ञान जीवका है ऐसा न कहकर 'ज्ञान जीवका है' ऐसा कथन करना ही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय है यह पञ्चाध्यायीकार का अभिप्राय है ॥ ५३५–५३६ ॥

उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका कथन—

यतः हेतुवश स्वगुण का पररूप से अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है ॥ ५४० ॥ जैसे अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण है सो यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण है। यहां पर स्वपर समुदाय का नाम अर्थ है और ज्ञान का उस रूप होना यही विकल्प है ॥ ५४१ ॥ सत्सामान्य निर्विकल्प होने के कारण उसकी अपेक्षा यद्यपि यह लक्षण असत् है तथापि आलम्बन के बिना विषय रहित ज्ञान का कथन करना शक्य नहीं है ॥ ५४२ ॥ इसलिये यद्यपि ज्ञान दूसरों की अपेक्षा किये बिना ही स्वरूप सिद्ध होने से सद्रूप है तथापि हेतु के वश से यहां उसका दूसरे की अपेक्षारूप से उपचार किया जाता है ॥ ५४३ ॥ स्वरूपसिद्धि के बिना पररूप से सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि स्वरूपसिद्धि के बिना पररूप से सिद्धि मानना अप्रमाण है किन्तु यह शक्ति विशेष के कारण ही प्राप्त होती है जो सब द्रव्यों में न होकर यथाप्रमाण द्रव्य विशेष में ही पाई जाती है यह इस नय की प्रवृत्ति

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा ।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥ ५४५ ॥

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥ ५४६ ॥

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी ।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी ॥ ५४७ ॥

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः ।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ॥ ५४८ ॥

में हेतु है ॥ ५४४ ॥ ज्ञेय और ज्ञायक में जो संकर दोष का भ्रम हो जाता है उसका दूर करना ही इस नय का प्रयोजन है अथवा अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सामान्य का साध्य और विशेष का साधक होना भी इसका प्रयोजन है ॥ ५४५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ 'अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है' ऐसा कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण बतलाया है। इस उदाहरण के अनुसार 'ज्ञानप्रमाण है' इतना तो सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण ठहरता है और उसे अर्थविकल्पात्मक कहना यह उपचार ठहरता है। यद्यपि ज्ञान स्वरूपसिद्ध है तथापि उसे अर्थ विकल्पात्मक बतलाया जाता है इसलिए यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण हुआ। अनगार[1] धर्मामृत में 'मतिज्ञान आदि जीवके हैं' यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण दिया है। वहाँ उपचार का कारण अशुद्धता ली गई है जब कि पंचाध्यायी में इसका कारण निज गुण का पर रूप से कथन करना लिया गया है। इस प्रकार इन दोनों विवेचनों में क्या अन्तर है यह स्पष्ट हो जाता है ॥ ५४०-५४५ ॥

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका विचार—

जब अबुद्धि पूर्वक होनेवाले अर्थात् बुद्धि में न आनेवाले क्रोधादिक भाव जीव के विवक्षित होते हैं तब अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय प्रवृत्त होता है ॥५४६॥ इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि जिस पदार्थ की जो विभाव भावरूप शक्ति है वह जब उपयोग दशा से युक्त होती है तब भी वह उससे अभिन्न होती है ॥ ५४७ ॥ जितने भी स्व और पर के निमित्त से होनेवाले आगन्तुक भाव हैं वे क्षणिक होने से और आत्मा के धर्म नहीं होने से आदेय नहीं हैं ऐसी बुद्धिका होना ही इस नयका फल है ॥५४८॥

विशेषार्थ—यहां अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक भावोंको जीवका कहना अनुपरित असद्भूत व्यवहार नय माना गया है। जब कि अनगारधर्मामृत[2] में अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका 'शरीर मेरा है' यह उदाहरण लिया है। इन दोनों विवेचनों में मौलिक अन्तर है। यहां निज गुण गुणी भेद को व्यवहार का प्रयोजक माना है और क्रोधादिक वैभाविक शक्ति की विभावरूप उपयोग दशा का अविनाभाव है जो विभावरूप उपयोग दशा निमित्ताधीन मानी गई है। इसीसे इस व्यवहार को असद्भूत कहा है। यह व्यवहार अनुपचरित इसलिये कहलाया क्योंकि क्रोध चारित्र नामक निज गुणकी ही विभाव दशा है। किन्तु यह दृष्टि अनगारधर्मामृत के उदाहरण में दिखाई नहीं देती। वहां पर वस्तु में निजत्व

---

१. अनगा० अ० १ श्लो० १०६। २. अनगा. अ. १ श्लो. १०६।

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥ ५४९ ॥

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात् ।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥ ५५० ॥

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः ।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ॥ ५५१ ॥

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः ।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत् ॥ ५५२ ॥

कल्पना को असद्भूत व्यवहार का प्रयोजक माना गया है। परन्तु पंचाध्यायीकार ऐसी कल्पना को समीचीन नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि दो पदार्थों में स्पष्टतः भेद है उनमें से किसी एक को सम्बन्ध विशेष के कारण किसी एक का कहना यह समीचीन नय नहीं है। इस नय के मानने का क्या फल है यह मूलमें स्पष्ट रीति से ही बतलाया है ॥ ५४६ ५४८ ॥

उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका विचार—

जब जीव के क्रोधादिक औदयिक भाव बुद्धि पूर्वक विवक्षित होते हैं तब वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है ॥ ५४९ ॥ इस नयकी प्रवृत्ति में यह कारण है कि जितने भी विभाव भाव होते हैं वे नियम से स्व और पर दोनों के निमित्त से होते हैं, क्योंकि द्रव्य में विभाव रूप से परिणमन करने की शक्ति विशेष के रहते हुए भी वे पर निमित्त के बिना नहीं होते ॥ ५५० ॥ अविनाभाव सम्बन्ध होने से अबुद्धि पूर्वक होनेवाले भाव साध्य हैं और उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये बुद्धि पूर्वक होनेवाले भाव साधन हैं इस प्रकार इस बात का बतलाना ही इस नयका फल है ॥ ५५१ ॥

विशेषार्थ—क्रोधादिक जीव के हैं यह असद्भूत व्यवहार नयका उदाहरण है यह पहिले ही सिद्ध कर आये हैं किन्तु भृकुटी का चढ़ना, मुखका विवर्ण हो जाना, शरीर में कम्प होना इत्यादि क्रियाओं को देखकर क्रोधादिक को बुद्धिगोचर मानना उपचरित होने से प्रकृत में 'क्रोधादिक बुद्धि जन्य हैं' इस मान्यता को उपचरित असद्भूत व्यवहार नय बतलाया है। किन्तु अनगार[1] धर्मामृत में उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका उदाहरण 'देश मेरा है' यह दिया है। इन दोनों में मौलिक अन्तर है यह तो स्पष्ट ही है। विशेष खुलासा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयके विवेचन के समय ही कर आये हैं उसी प्रकार यहां भी कर लेना चाहिये। बात यह है कि जब देश भिन्न है और उसमें निजत्व की कल्पना करनेवाला भिन्न है तब 'देश मेरा है' यह कथन समीचीन नयका विषय नहीं हो सकता यह पंचाध्यायीकारकी इष्ट है और यह सम्यग्ज्ञान के अनुकूल होने से समीचीन प्रतीत होती हैं। इस नयका क्या फल है इसका स्पष्ट निर्देश मूलमें किया ही है ॥ ५४९-५५१ ॥

समीचीन नय और मिथ्या नय में क्या अन्तर है इसका खुलासा—

शंका—जिसमें एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित किये जाते हैं वह असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे 'जीव वर्णादिवाला है' ऐसा कथन करना यह इसका दृष्टान्त है यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ॥ ५५२ ॥

१—अनगा० अ० १ श्लो० १०७।

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति ।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात् ॥ ५५३ ॥

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः ।
तन्मिथ्यावादत्वाद् ध्वस्तास्तद्वादिनोऽपि मिथ्यादृशः ॥ ५५४ ॥

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।
इत्युक्ते न गुणः स्यात् प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥ ५५५ ॥

ननु किल वस्तुविचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः ।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ॥ ५५६ ॥

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात् सम्यङ् मिथ्येति नयविशेषोऽपि ॥ ५५७ ॥

अर्थविकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥ ५५८ ॥

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥ ५५९ ॥

ज्ञानं यथा तथासौ नयोऽस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात् ।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके विषय करते हैं और जो स्वयं असत् व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं वे नय नहीं हैं किन्तु नयाभास हैं ॥ ५५३ ॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि जितने भी एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके विषय करनेवाले नय कहे गये हैं वे सब मिथ्यावाद होने से खण्डित हो जाते हैं। साथ ही उनका नयरूप से कथन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं ॥ ५५४ ॥ वह मिथ्यावाद यों है कि जीव वर्णादिवाला है ऐसा जो कथन किया जाता है सो इस कथन के करने में कोई लाभ नहीं है किन्तु उलटा दोष ही है; क्योंकि इस से जीव और वर्णादिक में एकत्व बुद्धि होने लगती है ॥ ५५५ ॥

शंका—वस्तु के विचार करने में गुण हो अथवा दोष हो, किन्तु उस से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि नय प्रवाह न्याय बल से प्राप्त है अतः उसका रोकना कठिन है ?

समाधान—यह कहना ठीक है कि पूर्वोक्त नय प्रवाह का प्राप्त होना अनिवार्य है किन्तु प्रमाणानुसार कौन समीचीन नय है और कौन मिथ्या नय है इस भेद का होना भी तो अनिवार्य है ॥ ५५७ ॥

ज्ञान अर्थ विकल्पात्मक होता है जो विकल्प सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार का है और विशेष को विषय करनेवाला होने से दो प्रकार का है। यथा—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ॥ ५५८ ॥ उनमें से वस्तु का यथार्थ ज्ञान सम्यक् विशेषण का हेतु है और वस्तु का अयथार्थ ज्ञान मिथ्या विशेषण का हेतु है ॥ ५५९ ॥ यह ज्ञान जिस प्रकार है इसी प्रकार नय भी है। अर्थात् विकल्प सामान्य की अपेक्षा सभी नय एक प्रकार का है और उसमें भी प्रथम समीचीन नय है और इसके सिवा शेष नयाभास है ॥ ५६० ॥

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान् ।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः ।
स्यादवयवि प्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः ।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥ ५६३ ॥

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः ।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥ ५६४ ॥

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसम्भवा भावाः ।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥ ५६५ ॥

जो नय उदाहरण, हेतु और फल के साथ विवक्षित वस्तु के गुणों को उसी का कथन करनेवाला हो वह समीचीन नय है। और जो इससे विपरीत हो वह नयाभास है॥ ५६१॥ जैसे प्रमाण फल सहित होता है वैसे ही नयोंका भी फल सहित होना परमावश्यक है। क्योंकि प्रमाण अवयवी है और नय प्रमाण के अंश होने से अवयवरूप हैं॥ ५६२॥ इस लिये जिस वस्तु में जो गुण नहीं है उस वस्तु में उस गुणका आरोप करने रूप व्यवहार उपादेय नहीं है, क्योंकि इससे इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती, अतः जीव वर्णादिवाला है ऐसा कथन करना नय नहीं है किन्तु नयाभास है॥ ५६३॥

शंका—यदि एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित करके उनको उस वस्तु का कहना यह नयाभास है तो ऐसा मानने पर जो पहले असद्भूत व्यवहार नयका लक्षण कह आये हैं उसे नय न कहकर नयाभास कहना चाहिये क्योंकि उसमें क्रोधादिक जीव के गुण न होते हुए भी उनका जीव में आरोप किया गया है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे ये क्रोधादिक भाव जीव से उत्पन्न होते हैं वैसे पुद्गलमयी वर्णादिक जीव के नहीं पाये जाते हैं अतः असद्भूत व्यवहार नय के विषय रूप से क्रोधादिक को जीवका कहना अनुचित नहीं है॥ ५६५॥

विशेषार्थ—यहाँ समीचीन नय और मिथ्या नय में क्या अन्तर है यह स्पष्ट करके बतलाया गया है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान में यह भेद माना गया है कि सम्यग्ज्ञान से स्व और पर का भेद प्राप्त होता है। किन्तु यह भेद मिथ्याज्ञान से नहीं प्राप्त होता। अतः नय सम्यग्ज्ञान का एक भेद है, अतः समीचीन नय वही कहला सकता है जिसके द्वारा विवक्षित वस्तु के गुण धर्म उसी के कहे जावें। इस हिसाब से विचार करने पर जो नय जीव को वर्णादिवाला बतलाता है। अथवा जिस नय की दृष्टि से यह सिद्ध किया जाता है कि 'शरीर मेरा है' या 'घर, स्त्री और पुत्रादिक मेरे हैं' वह नय मिथ्या ठहरता है, क्योंकि जब कि उक्त प्रकार का ज्ञान मिथ्या माना गया है तब ऐसे नय का मिथ्यारूप होना सुतरां सिद्ध है। यद्यपि क्रोधादि औपाधिक भाव आत्मा के नहीं कहे जा सकते, क्योंकि शुद्ध आत्मा में इनकी उपलब्धि नहीं होती। तथापि इनका उपादान कारण जीव ही है, अतः ये असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा जीव के कहे गये हैं। पर वर्णादि और शरीर आदि के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, अतः इन्हें जीवका कहना समीचीन नय का विषय नहीं माना जा सकता यह उक्त कथन का तात्पर्य है॥ ५५२-५६५॥

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्धयर्थम् । ५६६ ॥

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति स जीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ॥ ५६७ ॥

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥ ५६८ ॥

नाशंक्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥ ५६९ ॥

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शंक्यमिति ।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ॥ ५७० ॥

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥ ५७१ ॥

नयाभासों के निरूपण करने की प्रतिज्ञा—

जिनकी संज्ञा हेतु और दृष्टान्त ये सब उपचरित होते हैं वे सब नयाभास कहलाते हैं। अब यहाँ पर हेयरूपसे या नयादिक की शुद्धि करनेके लिये इन नयाभासों का कथन करते हैं ॥ ५६६ ॥

प्रथम नयाभास—

सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से अधिकतर लोग ऐसा व्यवहार करते हैं कि जो यह मनुष्य आदिके शरीररूप है वह जीव है क्योंकि वह जीवसे अभिन्न है ॥ ५६७ ॥ किन्तु यह व्यवहार सिद्धान्त विरुद्ध होने से अव्यवहार ही है। यह व्यवहार सिद्धान्त विरुद्ध है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि शरीर और जीव भिन्न भिन्न धर्मी है इसलिये यह बात सिद्ध ही है ॥ ५६८ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि शरीर और जीव एक क्षेत्रावगाही हैं अतः यह एक क्षेत्रावगाहीपना जीव को मनुष्य शरीररूप व्यवहार करने में कारण हो जायगा सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब द्रव्यों में एक क्षेत्रावगाह के पाये जाने से पूर्वोक्त कथन में अतिव्याप्ति दोष आता है ॥ ५६९ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि शरीर और जीव इन दोनों में बन्ध्यबन्धक भाव है, इसलिये जीवको शरीररूप कहने में कोई आपत्ति नहीं है, सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब वे दोनों नियम से अनेक हैं तब उनका बन्ध मानना स्वतः असिद्ध है ॥ ५७० ॥ यदि इन दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव माना जाय सो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वयं अथवा स्वतः परिणमनशील है उसे निमित्तपने से क्या लाभ है, अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं है ॥ ५७१ ॥

विशेषार्थ—अब तक नयके सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डालकर उसके अवान्तर भेद पर्यायार्थिक नय या व्यवहार नय के अनेक भेदोंका विचार किया अब नयाभासों का विचार किया जाता है। ग्रन्थान्तरों में ऐसे अनेक नयों का उल्लेख किया गया है जिन्हें प्रकृत ग्रन्थ में नयाभास बतलाया गया है। इस विषय में ग्रन्थकार का कहना है कि जहाँ सारा कथन उपचरित होता है उसे नय न जानकर नयाभास जानना चाहिये। ऐसे नयाभासों में 'जीव मनुष्यादि शरीररूप है' ऐसा मानना भी नयाभास

अपरोऽपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः ।
कर्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः ॥ ५७२ ॥

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य ।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रांतिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥ ५७३ ॥

गुणसंक्रातिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा ।
सर्वस्य सर्वसङ्करदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरिणतिं प्राप्य ।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥

इदमत्र समाधानं कर्ता यः कोऽपि सः स्वभावस्य ।
परभावस्य न कर्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेऽपि ॥ ५७६ ॥

भवति स यथा कुलालः कर्ता भोक्ता यथात्मभावस्य ।
न तथा परभावस्य च कर्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥ ५७७ ॥

है। शरीर भिन्न है और जीव भिन्न। शरीर जड़ है और जीव चेतन। फिर भी अज्ञानी जन मिथ्यात्व वश जीवको तद्रूप मान बैठते हैं। किन्तु ऐसा मानना किसी भी हालत में युक्त नहीं अतः यह समीचीन नय न होकर नयाभास है। कुछ विद्वान् इस मान्यता की पुष्टिमें तीन युक्तियां देते हैं प्रथम युक्ति यह है कि शरीर और जीव एक क्षेत्रावगाही हो रहे हैं, दूसरी युक्ति यह है कि शरीर से जीव बन्ध को प्राप्त हो रहा है और तीसरी युक्ति यह है कि शरीर और जीव में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, इस लिये उक्त प्रकार से मानना अयुक्त नहीं है। किन्तु तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने पर ये तीनों ही युक्तियां सदोष प्रतीत होती हैं। इसका विशेष खुलासा मूल में किया ही है, अतः जीव को मनुष्यादि शरीररूप मानना नयाभास ही है ऐसा प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ५६६–५७१ ॥

दूसरा नयाभास—

मूर्त द्रव्य के जो कर्म और नोकर्मरूप कार्य होते हैं उनका यह जीव कर्ता और भोक्ता है ऐसा कथन करना दूसरा नयाभास है ॥५७२॥ जीव को कर्म और नोकर्म का कर्ता और भोक्ता माननेरूप व्यवहार सिद्धान्त विरुद्ध होने से इस नय को नयाभास मानना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि जब कर्म, नोकर्म और जीव भिन्न भिन्न हैं तब फिर उनमें किस प्रमाण के आधार से गुण संक्रम बन सकेगा ॥ ५७३ ॥ यदि गुण संक्रम के बिना ही जीव कर्म का कर्ता और भोक्ता माना जाता है तो सब पदार्थों में सर्वसंकर दोष और सर्वशून्य दोष प्राप्त होता है ॥ ५७४ ॥ जीव की अशुद्ध परिणति के निमित्त से मूर्त द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणम जाता है यही इस विषय में भ्रम का कारण है ॥ ५७५ ॥ किन्तु इसका यह समाधान है कि जो कोई भी कर्ता है वह अपने स्वभाव का ही कर्ता है। वह परभाव का निमित्तमात्र होने पर भी उसका कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता है ॥ ५७६ ॥ जिस प्रकार कुम्हार अपने स्वभाव का कर्ता और भोक्ता होता है उस प्रकार वह कलशरूप परभाव का कर्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। प्रकृत में भी इसी प्रकार जानना

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन ।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥ ५७८ ॥

अथ चेद् घटकर्ताऽसौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽयम् ।
दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभासः ॥ ५७९ ॥

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।
यदबद्धेऽपि परस्मिन् कर्ता भोक्ता परोऽपि भवति यथा ॥ ५८० ॥

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥ ५८१ ॥

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्ता स एव तद्भोक्ता ॥ ५८२ ॥

चाहिये ॥ ५७७ ॥ उदाहरण यह है कि जिस प्रकार घट मिट्टी स्वभाववाला है या मिट्टीमय है उस प्रकार वह कुम्हारमय नहीं है ॥ ५७८ ॥ यदि कहा जाय कि कुम्हार घट का कर्ता है यह लोक व्यवहार होता है इसे कैसे रोका जा सकता है सो इस पर यह कहना है कि यदि ऐसा व्यवहार होता है तो होने दो इससे हमारी क्या हानि है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है, क्योंकि यह व्यवहार नयाभास है ॥ ५७९ ॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह की एक गाथा में बतलाया है कि यह जीव व्यवहार नय से कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। किन्तु विचार करने पर यह बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती क्योंकि कोई भी पदार्थ निमित्तमात्र होने से किसी अन्य पदार्थ का कर्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। यदि अन्य अन्य का कर्ता और भोक्ता माना जाय तो जड़ चेतन और चेतन जड़ हो जायगा, जिससे सर्वसंकर और सर्वशून्य आदि अनेक दोष प्राप्त होंगे। माना कि जीव की अशुद्ध परिणति के निमित्त से पुद्गल वर्गणाएँ कर्म और नोकर्म रूप परिणम जाती हैं। पर निमित्त अपने रूप रहता है और पुद्गल वर्गणाएँ अपने रूप। किसी का किसी में संक्रम नहीं होता, अतः जीव को कर्मों का कर्ता और भोक्ता माननेवाले नय समीचीन नहीं कहे जा सकते। यह पूर्वोक्त कथन का सार है। यद्यपि कुम्हार घट का कर्ता है ऐसा व्यवहार होता है तथापि यह समीचीन नय का विषय नहीं है, क्योंकि कुम्हार घट नहीं हो जाता और न घट कुम्हार ही हो जाता है। घट घट रहता है और कुम्हार कुम्हार। और न एक दूसरे के गुण धर्म ही एक दूसरे में प्रविष्ट होते हैं। अतः कोई किसी अन्य वस्तु का कर्ता भोक्ता न होकर सब अपने अपने स्वभाव के कर्ता भोक्ता हैं यही फलित होता है। और ऐसा मानना ही समीचीन नय है ॥ ५७२-५७६ ॥

तीसरा नयाभास—

दूसरे खोटी बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार मिथ्या बात कहते हैं कि जो पर पदार्थ जीव के साथ बंधा हुआ नहीं है उसका भी जीव कर्ता भोक्ता है ॥ ५८० ॥ जैसे साता वेदनीय के उदय में निमित्त हुए घर धन, धान्य, स्त्री और पुत्र आदिक भावों का यह जीव ही स्वयं कर्ता है और यह जीव ही उनका भोक्ता है ॥ ५८१ ॥

शंका—यह बात हम प्रत्यक्ष से देखते हैं कि घर और स्त्री आदि के रहने पर प्राणियों को सुख होता है और उनके अभाव में सुख नहीं होता, इसलिये यह जीव ही उनका कर्ता है और यह जीव ही उनका भोक्ता है। यदि यहां ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।
सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥ ५८३ ॥

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्ताऽथ वा च मा भवतु ।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चित् चिदात्मको जीवः ॥ ५८४ ॥

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥ ५८५ ॥

चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥ ५८६ ॥

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः ।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥ ५८७ ॥

समाधान—यह कहना ठीक है तो भी यह वैषयिक सुख पर होता हुआ भी पर की अपेक्षा से नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि धन स्त्री आदि बाह्य पदार्थों के रहने पर भी वे किन्हीं के लिये दुःख के कारण देखे जाते हैं। अतः घर, स्त्री आदि का कर्ता और भोक्ता जीव को मानना उचित नहीं है ॥ ५८२-५८३ ॥ आशय यह है कि जीव अपना और पर का यथा कथंचित् कर्ता और भोक्ता होवे अथवा न होवे, तो भी हर हालत में वह चैतन्यस्वरूप ही है ॥ ५८४ ॥

विशेषार्थ—घर, स्त्री, पुत्रादि भिन्न हैं और जीव भिन्न है अतः घर स्त्री आदि का जीव को कर्ता और भोक्ता माननेवाला नय मिथ्या है यह उक्त कथन का तात्पर्य है, क्योंकि प्रत्येक जड़ और चेतन पदार्थ अपने अपने स्वभाव का त्याग करते हुए नहीं पाये जाते। जो ऐसा कथन करते हैं कि सातावेदनीय के उदय से इन स्त्री पुत्रादिक की प्राप्ति होती है उनका यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि स्त्री पुत्रादिक के सद्भाव में भी दुःख और इनके अभाव में भी सुख देखा जाता है; अतः पर को पर का कर्ता और भोक्ता मानना उचित नहीं है और न ऐसा माननेवाला नय ही समीचीन कहा जा सकता है ॥ ५८०-५८४ ॥

चौथा नयाभास—

ज्ञान और ज्ञेय का परस्पर जो बोध्यबोधक सम्बन्ध है उसके कारण ज्ञान को ज्ञेयगत और ज्ञेय का ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है ॥ ५८५ ॥ क्योंकि जिस प्रकार चक्षु रूप को देखता है तथापि वह रूप में चला नहीं जाता है किन्तु चक्षु चक्षु ही रहता है। उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है तथापि वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता है किन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है ॥ ५८६ ॥ इस प्रकार ये चार नयाभास कहे। इसी प्रकार और बहुत से नयाभास होते हैं जो कि वैसे ही लक्षणवाले हैं। इन सबका मुख्य लक्षण यह है कि जो नय से विरुद्ध है वह नयाभास है ॥ ५८७ ॥

विशेषार्थ—दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता जरूर है तथापि वह अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता अवश्य है तथापि ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही। न ज्ञान ज्ञेय में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में, अतः बोध्यबोधक सम्बन्ध के निमित्त से जो नय ज्ञान को ज्ञेयगत और ज्ञेय को ज्ञानगत बतलाता है यह मिथ्या है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ५८५-५८७ ॥

ननु सर्वतो नयास्ते किंनामानोऽथ वा कियन्तश्च ।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः॥ ५८८ ॥

सत्यं यावदनन्ताः सन्ति गुणा वस्तुतो विशेषाख्याः ।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥ ५८९ ॥

अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक् ।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥ ५९० ॥

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः ।
अविनाभावोऽपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः ॥ ५९१ ॥

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा ।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात् ॥ ५९२ ॥

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य ।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ॥ ५९३ ॥

कर्तृत्वं जीवगुणोऽस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः ।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥ ५९४ ॥

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यम् ।
एकैकं धर्मं प्रति नयोऽपि चैकैक एव भवति यतः ॥ ५९५ ॥

नयों के सम्बन्ध में विशेष विचार—

शंका—इन सब नयों के क्या नाम हैं और वे कितने हैं तथा कैसे वे मिथ्या अर्थ को विषय करनेवाले हो जाते हैं और कैसे वे समीचीन वस्तु का कथन करनेवाले होते हैं ?

समाधान—परमार्थ से विशेष संज्ञावाले जितने भी अनन्त गुण हैं वचन और विकल्प रूप उतने ही नयवाद हैं ॥ ५८९ ॥ वे परस्पर निरपेक्ष रूप से विवक्षित होने पर मिथ्या नय कहे जाते हैं। और वे ही परस्पर सापेक्ष रूप से विवक्षित होने पर समीचीन नय कहे जाते हैं, क्योंकि सामान्य और विशेष इन दोनों में अविनाभाव होने से परस्पर सापेक्षता है ॥ ५९० ॥ सापेक्षत्व का दूसरा नाम ही अविनाभाव है, क्योंकि इसके बिना सापेक्षत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। तथा एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं होना यही अविनाभाव है ॥ ५९१ ॥

गुणों के अनुसार नयों के नाम—

जिस पदार्थ का जिस नामवाला जो विशेष गुण कहा गया है आगम के अनुसार उस नामवाले सार्थक नय होते हैं ॥ ५९२ ॥ जैसे सत् का अस्तित्व नामका साधारण गुण है इस लिये इसको विषय करनेवाला संक्षेप से अस्तित्व नय कहलाता है ॥ ५९३ ॥ इसी प्रकार जीवका कर्तृत्व नामका गुण या वैभाविक भाव है इस लिये उसको विषय करनेवाला कर्तृत्व नामका नय कहलाता है ॥ ५९४ ॥ इसी परिपाटी से जितना भी नयचक्र है उसे जान लेना चाहिये, क्योंकि वस्तु के एक एक धर्म की अपेक्षा एक एक ही नय होता है ॥ ५९५ ॥

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात् ।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥ ५९६ ॥

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात् ।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिन्हमाहुराचार्याः ॥ ५९७ ॥

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥ ५९८ ॥

व्यवहारः स यथा स्यात् सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥ ५९९ ॥

विशेषार्थ—यहां सर्व प्रथम गुणों के भेद बतला कर मिथ्या और समीचीन नयों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तदन्तर गुणों के अनुसार कुछ नयों का नाम निर्देश किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सम्मतितर्क में कहा है कि जितने वचन विकल्प हैं उतने ही नयवाद हैं। इसका यह तात्पर्य है कि जितने भी शब्द हैं वे एक एक धर्म की प्रमुखता से ही वस्तुका कथन करते हैं, अतः द्रव्य श्रुतकी जितनी संख्या है उतने नयवाद प्राप्त होते हैं। किन्तु वचनों द्वारा पदार्थों के अनन्त गुण धर्मों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। आगम[1] में बतलाया है कि अनभिलप्य भावों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय भाव होते हैं। और प्रज्ञापनीय भावों का अनन्तवां भाग श्रुतमें निबद्ध है। इससे ज्ञात होता है कि ऐसा अनन्त बहुभाग शेष है जो श्रुतमें निबद्ध नहीं हुआ है और जिसका बहुत कुछ हिस्सा मानसिक विकल्पों का विषय हुआ करता है। पहले नयके द्रव्य नय और भावनय ऐसे दो भेद बतला आये हैं अतः यहां इसी दृष्टि से पदार्थों के अनन्त गुणों की अपेक्षा वचन और विकल्प रूप से उनके उतने ही भेद कर दिये हैं। इस प्रकार ये जितने भी नय प्राप्त होते हैं वे सब के सब समीचीन नय और मिथ्या नय इन दो भेदों में बट जाते हैं।[2] सर्वार्थसिद्धि में इन दो भेदों का खुलासा करते हुए जो लिखा है उसका भाव यह है कि जिस प्रकार तन्तु मिलकर पटको पैदा करते हैं और स्वतंत्र रहकर वे उस कार्य को नहीं कर पाते उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष होने पर सब नय समीचीन कहे गये हैं और परस्पर निरपेक्ष रहने पर मिथ्या कहे गये हैं। प्रकृत में इसी अपेक्षा से सापेक्ष नयों को समीचीन और निरपेक्ष नयों को मिथ्या बतलाया गया है। इसके बाद गुणों के अनुसार किस प्रकार नय होते हैं इसके दो उदाहरण देकर अन्य नयों को इसी प्रकार जानने की सूचना की गई है ॥ ५८८–५९५ ॥

पर्यायार्थिक नय और द्रव्यार्थिक नय का विचार—

उदाहरण सहित जितना भी विशेषण विशेष्यरूप नय है वह सब पर्यायार्थिक नय हैं। उसीका दूसरा नाम व्यवहार नय है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय ऐसा नहीं है ॥ ५९६ ॥

यदि उक्त लक्षणवाला द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो फिर द्रव्यार्थिक नय कौन है? इस प्रकार प्रश्न करने पर आचार्य उसका लक्षण कहते हैं—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है और निश्चय उसका निषेध करनेवाला है, इसलिये व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चय नयका वाच्य है ॥ ५९७–५९८ ॥ जैसे द्रव्य सद्रूप है या जीव ज्ञानवान् है ऐसा कथन करना व्यवहार नय है और 'न' इस पद द्वारा इसका निषेध करना ही निश्चय नय है जो सब नयों में मुख्य है ॥ ५९९ ॥

१—गो० जी० गा० ३३३ । २—सर्वा० अ० १ सू० ३३ ।

नतु चोक्तं लक्षणमिह नयोऽस्ति सर्वोऽपि किल विकल्पात्मा ।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥ ६०० ॥

तन्न यतोऽस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात् ।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात् ।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥ ६०२ ॥

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति ।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥ ६०३ ॥

अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति ।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥ ६०४ ॥

नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात् ।
अर्थाकारेण विना नेति निषेधावबोधशून्यत्वात् ॥ ६०५ ॥

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोकं विना नयो नासौ ।
नेति निषेधात्मत्वादर्थालोकं विना नयो नासौ ॥ ६०६ ॥

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः ।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः ॥ ६०७ ॥

निश्चय नय में विकल्पपने की सिद्धि—

शंका—'सब नय विकल्पात्मक होते हैं' नयका यह लक्षण पहले ही कह आये हैं, फिर निश्चय नय में विकल्प का अभाव होने से इसे नय कैसे माना जाय ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चय नय का पक्ष 'न' इस पद द्वारा लक्षित किया गया है इसलिये वह नय ही है। किसी एक पक्षका कथन करना ही नय है और पक्ष विकल्प रूप होता है। इसलिये विकल्प का अभाव बतला कर निश्चय नयको नय नहीं मानना युक्त नहीं है ॥ ६०१ ॥

जिस प्रकार प्रतिषेध्य अर्थात् व्यवहारनय स्वयं विकल्पात्मक होने से विधिरूप विकल्प है उसी प्रकार प्रतिषेधक अर्थात् निश्चयनय भी स्वयं निषेधरूप विकल्प है ॥ ६०२ ॥ उसका लक्षण इस प्रकार है कि उपयोग एक विकल्प ही है अतः पदार्थ का अनुपयोग यहाँ निर्विकल्प का वाचक प्राप्त होता है ॥ ६०३ ॥ ज्ञानका पदार्थ के आकाररूप से परिणमन करना ही उपयोग है और उसका पदार्थ के आकाररूप से परिणमन नहीं करना ही अनुपयोग है ॥ ६०४ ॥ इसलिए 'न' इस प्रकार का जो निषेधरूप विकल्प है वह सर्वथा उपयोग शून्य नहीं है, क्योंकि वह बोधपक्ष सहित है। अब यदि उसमें अर्थ का आकार नहीं मानोगे तो वह 'न' इस प्रकार के निषेधरूप ज्ञान से शून्य हो जायगा ॥ ६०५ ॥ जिस प्रकार 'जीव ज्ञान गुणवाला है' यह नय पदार्थ का प्रतिभास हुए बिना नहीं होता उसी प्रकार निषेधात्मक होने से 'न' यह नय भी पदार्थ का प्रतिभास हुए बिना नहीं होता है ॥ ६०६ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि जैसे शक्ति विशेष की अपेक्षा 'जीव चिदात्मक है' ऐसा कहना एक पक्ष है वैसे ही अभिन्न देशादिक की अपेक्षा 'जीव वैसा नहीं है' यह

अर्थाल कविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोऽपि यतः ।
न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च ॥ ६०८ ॥

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम् ।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोऽस्ति मूलं यथा नयत्वस्य ॥ ६०९ ॥

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः ।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥ ६१० ॥

कहना भी एक पक्ष है ॥ ६०७ ॥ यतः साधारण तौर पर अर्थ का प्रतिभास होनेरूप विकल्प दोनों ही नयों में समान है, अतः 'न तथा' यह विकल्प भी नय ही है क्योंकि इसमें भी एक पक्ष स्वीकार किया गया है ॥ ६०८ ॥ यतः पक्ष एक अंग को ग्रहण करता है अतः उसमें अंशधर्मपना पाया ही जाता है। और इस कारण से 'न तथा' यह विकल्प द्रव्यार्थिक नय कहा गया है जो कि नय सामान्य का मूल है ॥ ६०९ ॥ यदि कहा जाय कि 'न' इस प्रकारके निषेध को विषय करनेवाले निश्चयनय में एकांगपना असिद्ध है सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि वस्तु में जिस प्रकार विशेष शक्ति होती है उसी प्रकार वह सामान्य शक्ति वाला भी होता है ॥ ६१० ॥

विशेषार्थ—*यहाँ मुख्यतया द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय में अन्तर बतला कर द्रव्यार्थिक नय विकल्प रहित कैसे है इसकी सिद्धि की गई है।* पर्यायार्थिक नय और उसके अवान्तर भेदों का उदाहरण सहित वर्णन तो पहले ही कर आये हैं। किन्तु अब तक द्रव्यार्थिक नय के स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। द्रव्य शब्द का शब्दार्थ अन्वय या सामान्य होता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यार्थिक नय सत् में किसी प्रकार का भेद किये बिना उसे सामान्यरूप से ही ग्रहण करता है। यदि वस्तु का विधिमुखेन कथन किया जाता है तो वह धर्मविशेषद्वारा ही हो सकता है किन्तु धर्मविशेष द्वारा वस्तुका वाचक द्रव्यार्थिक नय न होकर पर्यायार्थिक नय है। इसी से ग्रंथकार ने पर्यायार्थिक नय को विशेषण विशेष्यरूप और द्रव्यार्थिक नय को इसका निषेधक बतलाया है। अब जब इस हिसाब से विचार करते हैं तो 'जीव है, जीव चैतन्य गुणवाला है' इत्यादि व्यवहार नय के उदाहरण ठहरते हैं और 'न तथा' यह निश्चय नय का उदाहरण ठहरता है क्योंकि इसके सिवा अन्य प्रकार से निश्चय नय के विषय का निर्देश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यद्यपि निश्चयनय का विषय और उदाहण क्या है इसका निश्चय हो जाता है। तथापि वह विकल्पसहित है इसका निश्चय करना जरूरी है क्योंकि पहले यह बतला आये हैं कि जितने भी नय हैं वे विकल्प सहित होते हैं। अब यदि यह नय 'जीव है' इत्यादि विकल्पों से सर्वथा रहित मान लिया जाता है तो इसमें नय का सामान्य लक्षण घटित न होने से यह नय ही नहीं ठहरता है। बात है कि वस्तु का विचार दो प्रकार से किया जाता है। एक सामान्यरूप से और दूसरे विशेषरूप से। विशेषरूप से वस्तु का जिस प्रकार कथन करना शक्य है उस प्रकार सामान्य रूप से नहीं। यद्यपि जीव कहने पर अशेष जीवों का ग्रहण हो जाता है किन्तु जीव में केवल एक जीवन गुण तो है नहीं उसमें ज्ञान दर्शन आदि और भी बहुत से गुण हैं। इसलिए जीव शब्द द्वारा जो कुछ कहा गया या समझा गया वह सामान्यरूप न होकर विशेषरूप ही हुआ। अतः द्रव्यार्थिक नय 'न तथा' इस प्रकार का विकल्परूप सिद्ध होता है। यहाँ यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि 'न तथा' यह विकल्प ही नहीं है क्योंकि जिस प्रकार 'जीव है' यह एक विकल्प है उसी प्रकार 'न तथा' इस द्वारा उसका निषेध करना यह भी एक विकल्प है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार निश्चयनय 'न तथा' इस विकल्परूप भले ही सिद्ध हो जाओ पर इस विकल्प द्वारा पदार्थ का ज्ञान न होने से उसे पदार्थ के ज्ञान से शून्य ही मानना चाहिये। पर ऐसा कहना

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथाऽयमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥ ६११ ॥

स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः ।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवत्त्विति चेत् ॥ ६१२ ॥

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोऽस्त्यनन्यथासिद्धः ॥ ६१३ ॥

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥ ६१४ ॥

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोऽथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥ ६१५ ॥

एकं[1] सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति ।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥

युक्त नहीं है, क्योंकि 'न तथा' इस विकल्प में अशेष विशेषों से रहित वस्तु का सामान्यरूप से प्रतिभास निहित है अतः इसे पदार्थ के ज्ञान से शून्य नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि पर्यायार्थिकनय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से वस्तु का विवेचन करता है किन्तु द्रव्यार्थिकनय में वस्तु का द्रव्यादिक रूप से भेद विवक्षित नहीं रहता, अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय 'न तथा' इस उदाहरण द्वारा ही दिखलाया जा सकता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय में क्या अन्तर है, द्रव्यार्थिकनय का विषय और उदाहरण क्या है तथा वह विकल्प सहित कैसे है इसका विचार किया ॥ ५९६-६१० ॥

निश्चय नय उदाहरण सहित क्यों नहीं है इसका विचार—

शंका—जिस प्रकार व्यवहार नय उदाहरण सहित है उसी प्रकार यह निश्चय नय भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोष है, क्योंकि ज्ञान विकल्प दोनों में पाया जाता है, इसकी अपेक्षा इनमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ६११ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि जैसे 'सत् अनेक है, जीव चैतन्यस्वरूप है' इत्यादि रूप से व्यवहार नय उदाहरण सहित है। वैसे ही 'सत् एक है, जीव चैतन्यस्वरूप ही है' इत्यादि रूप से निश्चय नय भी उदाहरण द्वारा अपने पक्ष का कथन करे ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर संकर दोष और सर्वशून्य दोष आता है, अतः लक्षण के भेद से उसके अविनाभावी लक्ष्य का भेद अवश्य मान लेना चाहिये ॥ ६१३ ॥ जिस प्रकार एक पदार्थ का जिस किसी प्रकार विभाग करना यह व्यवहार नय का लक्षण है। उसी प्रकार इससे उल्टा निश्चय नय का लक्षण है, अतः निश्चय नय को व्यवहार नय के समान उदाहरण सहित बतलाना ठीक नहीं है ॥ ६१४ ॥ फिर भी पूर्वोक्त प्रकार से यदि यही माना जाय कि 'सत् एक है, और जीव चैतन्यस्वरूप ही है' ऐसा निश्चय नय कथन करता है तो इस प्रकार एक सत् को द्वैतभाव का प्रसंग आने से उस निश्चय नय का व्यवहार नय में अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ६१५ ॥ क्योंकि 'सत् एक है' इस

(१) ख एवं इति ग :

अथवा चिदेव जीवो यदुदाहियतेऽप्यभेदबुद्धिमता ।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

एवं सुसिद्धसंकरदोषे संति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८ ॥

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः ।
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥

अपि चैवं प्रतिनियतो व्यवहारस्यावकाश एव यथा ।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तद्वानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

जीवः प्राणादिमतः संज्ञाकरणं यदेतदेवेति ।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

यदि वा सदिति सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

उदाहरण में 'सत्' यह लक्ष्य ठहरता है और 'एक' यह लक्षण ठहरता है। किन्तु इस प्रकार लक्षण-लक्ष्य का विभाग व्यवहार नय में ही सम्भव है निश्चय नय में नहीं ॥ ६१६ ॥ अथवा निश्चयनय को माननेवालों द्वारा निश्चयनय का 'चित् ही जीव है' यह उदाहरण दिया जाता है सो यहां पर भी पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहार नय ही प्राप्त होता है निश्चय नय नहीं ॥ ६१७ ॥ इस प्रकार संकर दोष के आ जाने पर सर्व शून्य दोष आता है, क्यों कि नयके लक्षण आदिका अभाव होने से निरपेक्ष नय ही नहीं हो सकता ॥६१८॥

शंका—अवान्तर भेदों की अपेक्षा किये बिना केवल सत ही' या 'जीव ही' यदि निश्चय नय का उदाहरण माना जाय तो क्या दोष आता है, क्यों कि ऐसा मानने पर व्यवहार नय को स्वतन्त्र अवकाश मिल जाता है। जैसे कि 'सत् अनेक है, सत् एक है, जीव चैतन्य द्रव्य है या जीव आत्मा है' ये सब व्यवहार नय के उदाहरण हो जाते हैं, अतः निश्चय नय को उदाहरण रहित मानना उचित नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि 'सत्' यह विकल्प और 'जीव' यह विकल्प ये दोनों ही काल्पनिक हैं। कारण कि जो जिस धर्म से विशिष्ट होता है वह उस धर्मवाला उपचरित किया जाता है ॥ ६२१ ॥ जैसे कि प्राणों को धारण करनेवाले की जीव यह संज्ञा की जाती है। अर्थात् जो जीवन गुण की अपेक्षा रखनेवाला है और जो प्राणादि से युक्त है वह जीव कहलाता है ॥ ६२२ ॥ अथवा सत्ता गुण की अपेक्षा सत् पदार्थ की 'सत्' यह संज्ञा है, इस लिये सद्रूप से सत् यह बिना कहे ही गुण या द्रव्य प्राप्त होता है ॥ ६२३ ॥

---

(१) ख पुस्तके सत्सतः इति पाठः

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्यं गुणो न पर्यय इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥
तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः ।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥ ६२५ ॥
ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा ।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥६२६॥

यदि विशेषण के बिना केवल विशेष्य ही निश्चय नयका विषय माना जाता है तो द्रव्य, गुण और पर्याय ये कुछ भी नहीं बनने से व्यवहार के लोप का प्रसंग प्राप्त होता है ॥ ६२४ ॥ इस लिये ऐसा समझना चाहिये कि उदाहरणपूर्वक जितना भी कथन है वह सब व्यवहार नय है और व्यवहार के निषेध रूप ही निश्चय नय है ॥ ६२५ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में शंका समाधान द्वारा यह विचार किया गया है कि निश्चय नय उदाहरण सहित क्यों नहीं है। इस विचार में दो प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। सर्व प्रथम व्यवहारनय प्रतिषेध्य है और निश्चय नय प्रतिषेधक है इस आशय को ध्यान में रखकर शंकाकार द्वारा व्यवहार नय और निश्चय नय के दो दो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। शंकाकार का कहना है कि जब व्यवहार नय के 'सत् अनेक है, जीव चैतन्य स्वरूप है' ये उदाहरण दिये जाते हैं तब निश्चय नय के इन उदाहरणों के प्रतिषेध स्वरूप 'सत् एक है, जीव चैतन्य स्वरूप ही है' ऐसे उदाहरण देने में कोई आपत्ति नहीं है। इससे व्यवहार नय प्रतिषेध्य है और निश्चय नय प्रतिषेधक है ये लक्षण भी बने रहते हैं और दोनों के उदाहरण भी प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु इस कथन को ग्रन्थकार समीचीन नहीं मानते। उनका कहना है कि इससे व्यवहार नय और निश्चय नय के लक्षणों का सांकर्य हो जाता है। जब यह मान लिया गया है कि वस्तु में किसी भी प्रकार का विभाग करना यह व्यवहार नयका काम है और उस विभाग का निषेध करना यह निश्चय नयका काम है तब 'सत् एक है, जीव चैतन्य स्वरूप ही है' ऐसा विभाग करके वस्तुको विषय करना निश्चय नय कैसे हो सकता है ? यदि कहा जाय कि 'सत् एक है' इस उदाहरण में भेद की प्रमुखता न होकर अभेद की ही प्रमुखता है सो यह बात नहीं है, क्योंकि यहां 'सत्' यह लक्ष्य और 'एक' उसका लक्षण प्राप्त होता है और इस प्रकार लक्ष्य लक्षण का विभाग प्राप्त होने से यह व्यवहार नयका ही उदाहरण ठहरता है निश्चय नयका नहीं, क्योंकि विभाग करके वस्तुको ग्रहण करना व्यवहार नयका काम है। ग्रन्थकार का कहना है कि इस प्रकार के सांकर्य दोष से और इस दोष के कारण प्राप्त होनेवाले सर्वशून्य दोष से बचने के लिये निश्चय नय को उदाहरण रहित मान लेना ही ठीक है।

शंकाकार ने निश्चय नयको उदाहरण सहित सिद्ध करने के लिये जो दूसरी दृष्टि प्रस्तुत की है उसका आशय यह है कि जब निश्चय नय सामान्य को और व्यवहार नय विशेष को ग्रहण करता है तब अशेष विशेषों से रहित सामान्य का बोध करानेवाले वाक्यों को निश्चय नयका उदाहरण मानने में क्या आपत्ति है। और ऐसी हालत में 'सत् है, जीव है' इन उदाहरणों को निश्चय नय के मानने में कोई आपत्ति नहीं है। पर विचार करने पर यह कथन भी समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इन उदाहरणों द्वारा भी वस्तु विशेष का ही बोध होता है। अतः शब्दों द्वारा निश्चय नयका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता है यह सिद्धान्त स्थिर होता है ॥ ६११-६२५ ॥

व्यवहार नय प्रतिषेध्य और निश्चय नय प्रतिषेधक क्यों है इसका विचार—

शंका—जब कि व्यवहार नय और निश्चय नय ये दोनों ही विकल्पात्मक हैं तब फिर पहला

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु ।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ६२७ ॥

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः ।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥ ६२८ ॥

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम् ।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥ ६२९ ॥

यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।
तस्मात् स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोऽपि कथमभूतार्थः ।
गुणपर्ययवद् द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥ ६३१ ॥

अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥ ६३२ ॥

व्यवहार नय प्रतिषेध्य और दूसरा निश्चय नय प्रतिषेधक क्यों है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु के अनुसार अर्थाकार परिणत हुआ विकल्प मात्र प्रतिषेध्यका हेतु नहीं है किन्तु यदि वह वास्तविक नहीं है तो प्रकृत में यही प्रतिषेध्यका हेतु है ॥६२७॥ यतः व्यवहार नय स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है, अतः मिथ्या है और इसी से वह प्रतिषेध्य है और इसी से व्यवहार नय के विषय पर दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि माना गया है ॥ ६२८ ॥ तथा निश्चय नय स्वयं भूतार्थ होने से समीचीन है और इसका विषय निर्विकल्प या वचन अगोचर के समान अनुभव गम्य है ॥ ६२६ ॥ अथवा जो निश्चय दृष्टिवाला है वही सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। इसलिये निश्चय नय उपादेय है किन्तु उसके सिवा अन्य नयवाद उपादेय नहीं हैं ॥ ६३० ॥

विशेषार्थ—यहां व्यवहार नय प्रतिषेध्य और निश्चय नय प्रतिषेधक क्यों है इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थकार का कहना है कि यद्यपि विकल्पात्मक दोनों नय हैं इसलिये विकल्प प्रतिषेध्य का हेतु नहीं है। तथापि व्यवहार नय मिथ्या है और निश्चय नय समीचीन है, अतः व्यवहार नय सुतरां प्रतिषेध्य ठहर जाता है। व्यवहार नय मिथ्या क्यों है इसका कारण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि यद्यपि वस्तु एक और अखण्ड है तथापि द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा उसके हम अनेक भेद करते हैं जो परमार्थभूत नहीं है। यतः व्यवहार नय इनकी अपेक्षा वस्तुको विषय करता है अतः वह मिथ्या है और इसी कारण से इसे प्रतिषेध्य मानकर निश्चय नयको प्रतिषेधक माना गया है ॥६२६-६३०॥

व्यवहारनय अभूतार्थ क्यों है इसका निर्देश—

जितना भी व्यवहार नय है वह सब अभूतार्थ कैसे हो सकता है, क्योंकि द्रव्य गुण पर्यायवाला है ऐसा उपदेश है और अनुभव में भी ऐसा आता है ॥ ६३१ ॥ दूसरे व्यवहारनय को जो अभूतार्थ कहा है सो अभूतार्थ का क्या अभिप्राय है ? क्या व्यवहारनय को अभूतार्थ कहकर द्रव्याभाव लिया गया है, या गुणाभाव लिया गया है, या दोनों का अभाव लिया गया है या इन दोनों के संयोग का अभाव लिया गया है ?

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥ ६३३ ॥

इदमत्र निदानं किल गुणवद् द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे ।
अस्ति गुणोऽस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥ ६३४ ॥

तदसन्न गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सद्भवतु गुणो वा तदेव सद् द्रव्यम् ॥ ६३५ ॥

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥ ६३६ ॥

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।
किमकिञ्चित्कारित्वाद् व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥ ६३७ ॥

समाधान—उक्त शंका ठीक है तथापि यहाँ न तो गुण का अभाव लिया गया है, न द्रव्य का अभाव लिया गया है, न दोनों का अभाव लिया गया है और न इन दोनों के संयोग का ही अभाव लिया गया है तो भी व्यवहार नय अभूतार्थ है ॥ ६३३ ॥ इसका कारण यह है कि सूत्र में जो द्रव्य को गुणवाला कहा है सो इसका यह अर्थ होता है कि गुण पृथक् है, द्रव्य पृथक् है और इनके संयोग से द्रव्य प्राप्त होता है ॥ ६३४ ॥ तथापि विचार करने पर यह कथन असत् प्रतीत होता है, क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं और न उनका संयोग ही है, किन्तु केवल अद्वैत सत् है । जिसे चाहे गुण मान लो, चाहे द्रव्य मान लो, है वह एक ही ॥ ६३५ ॥ इसलिये न्यायबल से यह बात प्राप्त हुई कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और जो केवल उस व्यवहार नय का अनुभव करनेवाले हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और इसलिये वे पथभ्रष्ट हैं ॥ ६३६ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में व्यवहार नय अभूतार्थ क्यों है इसका खुलासा किया गया है । इस विषय में ग्रन्थकार का जो वक्तव्य है वह मर्मस्पर्शी है । ग्रन्थकार का कहना है कि द्रव्य, गुण और पर्याय हैं तो सब पर द्रव्य गुणवाला है या पर्यायवाला है ऐसा कहने से द्रव्य और गुण में भेद की प्रतीति होने लगती है जो वास्तविक नहीं है । वास्तव में पदार्थ एक और अखण्ड है । जब हम उसे त्रिकालभावी अन्वयरूप से देखते हैं तो वही द्रव्यरूप प्रतीत होता है, जब उसे प्रतिक्षण होनेवाले परिणमन की अपेक्षा देखते हैं तो वही पर्यायरूप प्रतीत होता है और जब उसे उसमें प्रतिभासित होनेवाली शक्तियों की अपेक्षा देखते हैं तो वही अनन्त गुणरूप प्रतीत होता है । इस प्रकार यद्यपि एक ही पदार्थ स्वयं द्रव्य भी प्राप्त होता है, गुण भी प्राप्त होता है और पर्याय भी प्राप्त होता है तथापि उसका द्रव्य, गुण और पर्यायरूप से विभाग करना वास्तविक नहीं है । यही सबब है कि व्यवहार को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ बतलाया है ॥ ६३१-६३६ ॥

व्यवहार नय की आवश्यकता—

शंका—यदि व्यवहार नय अभूतार्थ है तो नियम से निश्चय नय ही आदर करने योग्य है, क्योंकि व्यवहार नय अकिञ्चित्कर है अतः अपरमार्थभूत उससे क्या प्रयोजन है ?

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयालम्बि तज्ज्ञानम् ॥ ६३८ ॥

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥ ६३७ ॥

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात् ।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥ ६४० ॥

नैवं यतोऽस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः ।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोऽपि ॥ ६४१ ॥

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्तते ज्ञानम् ।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

समाधान--यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी विषय में बलपूर्वक विवाद होने पर और सन्देह होने पर या वस्तु विचार के समय जो ज्ञान दोनों नयों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है वह प्रमाण माना गया है ॥ ६३८ ॥ इसलिए प्रसंगवश किन्हीं को व्यवहार नय का आश्रय करना योग्य है। किन्तु वह सविकल्प ज्ञानवालों के समान निर्विकल्प ज्ञानवालों के लिए उपयोगी नहीं है ॥ ६३९ ॥

शंका--अपने अभीष्ट की सिद्धि एक ही नय से क्यों नहीं हो जाती, क्योंकि विवाद का परिहार और वस्तु का विचार निश्चय नय से ही हो जायगा; इसलिए व्यवहार नय के मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान--ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों नयों में भेद है वास्तव में निश्चय नय अनिवर्चनीय है, इस लिये तीर्थ की स्थापना करने के लिये वावदूक व्यवहार नय का होना श्रेयस्कर है ॥ ६४१ ॥

विशेषार्थ--यहाँ शंका समाधान द्वारा व्यवहार नय की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। इसका भाव यह है कि संसार में अनेक मत प्रचलित हैं उन सबका वारण और तीर्थ की स्थापना व्यवहार नयका आश्रय लिये बिना नहीं की जा सकती है अतः इस दृष्टि से व्यवहार नय का आश्रय लेना उपयोगी ही है। पर इससे उसे निश्चय नय की कोटि में नहीं बिठलाया जा सकता है, अतः निश्चय नय की अपेक्षा वह हेय है ॥ ६३७-६४१ ॥

निश्चयनयका विषय—

शंका—निश्चय नय का क्या वाच्य है जिसके आलम्बन से ज्ञान की (इस नय की) प्रवृत्ति मानी जाय, क्योंकि निश्चय नय के विषय रूप से सब विशेषों का अभाव मान लेने पर नियम से अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है?

समाधान--इसका यह समाधान है कि व्यवहार नय का जो भी वाच्य है उन सब विकल्पों का

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम्॥ ६४४॥

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलम्बी स्यात्।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलम्बी यः॥ ६४५॥

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात्।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात्॥ ६४६॥

'उभयं णयं वि भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥'

अभाव होने पर जो शेष रहता है वही निश्चय नय का वाच्य है॥ ६४३॥ इसका उदाहरण यह है कि जिस समय तृण की अग्नि विवक्षित होती है उस समय भी अग्नि उष्ण ही है और विशेषण जनित सब विकल्पों का अभाव हो जाने पर भी वह स्पर्शादिक की अपेक्षा उष्ण ही है॥ ६४४॥

विशेषार्थ--प्रकृत में ग्रन्थकार ने बड़ी खूबी से निश्चय नय का विषय दरसाया है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है यह सिद्धान्त है। इसमें से अशेष विशेषों को ग्रहण करना व्यवहार नय का काम है और सामान्य को ग्रहण करना निश्चय नय का काम है। किंतु सामान्य का कथन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता है अतः निश्चय नय का वाच्य 'न तथा' प्राप्त होता है। पर इससे अत्यन्ताभाव निश्चय नय का वाच्य है ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि अशेष विशेषों का अभाव करने पर जो सामान्य अंश शेष रहता है जो कि वचन अगोचर है वही निश्चय नयका विषय है। ग्रंथकार ने इस विषय को समझाने के लिये अग्नि का दृष्टान्त लिया है। जब अग्नि का तृणाग्नि, काष्ठाग्नि इत्यादि विशेषणों के साथ ग्रहण होता है तब भी अग्नि का ही बोध होता है और जब विशेषणों के बिना केवल अग्नि का ग्रहण होता है तब भी उष्ण अग्नि का ही बोध होता है। प्रकृत में इसी प्रकार समझना चाहिये। अर्थात् जब द्रव्य, गुण या पर्याय द्वारा व्यवहार नय वस्तु को ग्रहण करता है तब भी उसी वस्तु का ग्रहण होता है और जब इन विशेषणों से रहित होकर सामान्य रूप से निश्चय नय वस्तु को ग्रहण करता है तब भी उसी वस्तु का ग्रहण होता है। वस्तु का ग्रहण दोनों हालतों में होता है। अन्तर केवल इतना है कि व्यवहार नय में विशेषण विशेष्यरूप से भेद प्रतीति की प्रमुखता है और निश्चयनय में ऐसी प्रतीति को कोई स्थान नहीं। इस प्रकार इतने विवेचन से निश्चय नय के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है॥ ६४२-६४४॥

नयमात्र स्वात्मानुभूति में प्रयोजक नहीं है इसका खुलासा—

शंका—जो व्यवहार नयावलम्बी है वह जैसे स्वात्मानुभूति से रहित है। वैसे ही निश्चय नय का अवलम्ब करनेवाला जीव स्वात्मानुभूति से रहित क्यों है। इस दृष्टि से इन दोनों में समानता क्यों है?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि इतना विशेष है कि निश्चयनय के पक्ष से स्वानुभव की महिमा भिन्न है और वह गुरु के द्वारा उपदेश करने योग्य होने से सूक्ष्म है॥ ६४६॥ कहा भी है—

'जो दो नय कहे गये हैं उन्हें स्वसमय से सम्बन्ध रखनेवाला जीव जानता तो है किन्तु वह नयपक्ष से रहित है इसलिये उसे थोड़ा भी ग्रहण नहीं करता॥'

---

१. ग पुस्तके 'प्यशीतत्वम्' इति पाठः

इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोऽपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलम्बी ॥ ६४७ ॥

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥ ६४८ ॥

दृष्टान्तोऽपि च महिपध्यानाविष्टो यथा हि कोऽपि नरः ।
महिषोऽयमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात् ॥ ६४९ ॥

चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा ।
महिषस्यैकस्य यथा भवनान्महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपि किल यावत् ।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभविताहमस्य नयपक्षः ॥ ६५१ ॥

चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात् ।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानु[२]भूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

इस पूर्वोक्त सूत्र से, सब नय सविकल्प होने से और अनुभव में भी ऐसा ही आने से निश्चित होता है कि जितना भी नय है वह सबका सब परसमय है और वह नयों का अवलम्बन करने वाला है ॥ ६४७ ॥ उसका खुलासा इस प्रकार है कि सविकल्प ज्ञान के होने पर ही वह निश्चयनय निषेधात्मक विकल्परूप है ; किन्तु जहाँ पर निषेध भी नहीं है और विकल्प भी नहीं है वहाँ आत्मा की चैतन्य अनुभूतिमात्र होती है ॥ ६४८ ॥ इस विषय में दृष्टान्त यह है कि जैसे कोई एक महिष का ध्यान करनेवाला मनुष्य जब तक 'यह महिष है और मैं उसका उपासक हूँ' ऐसा ध्यान करता है तब तक वह नय का अवलम्ब करनेवाला ही है। किन्तु जल्दी या देर में दैववश (योग्यतावश) जब वह स्वयं महिषरूप हो जाता है तब वह एक महिषरूप हो जाने के कारण उसके महिषानुभूतिमात्र होती है। वैसे ही कोई एक अपनी आत्मा का ध्यान करनेवाला मनुष्य जब तक 'यह मैं आत्मा हूँ और मैं स्वयं इसका अनुभव करनेवाला हूँ' ऐसे विकल्प से युक्त रहता है तब तक वह नय पक्ष का अवलम्बन करनेवाला ही है ॥ ६४९-६५१ ॥ किन्तु जल्दी या देर में दैववश (योग्यतावश) वही मनुष्य जब निर्विकल्प हो जाता है तब वह स्वयं आत्मा का ही

१. अष्टसती में भट्टाकलंकदेवने योग्यता और पूर्वकर्म इन दोनों को दैव बतलाया है ।

'योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम् । पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम् ।' देखो आप्तमीमांसा ८८ श्लोक की अष्टशती ।

इसी बात को ध्यान में रख कर यहाँ दैव का अर्थ योग्यता किया गया है। इससे प्रकृत विषय की संगति अच्छी बैठ जाती है ।

२. उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् । किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ स॰ क॰ ९ ।

तस्मात् व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात् ।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात् ॥ ६५३ ॥

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति ।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः ॥ ६५४ ॥

नैवमसम्भवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः ।
सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ॥६५५॥

ननु च व्यवहारनयो भवति यथानेक एव सांशत्वात् ।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैकैकस्त्विति चेत् ॥ ६५६ ॥

नैवं यतोऽस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥ ६५७ ॥

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥ ६५८ ॥

अनुभव करता है, इसलिये उस समय एक आत्मानुभूति मात्र होती है ॥ ६५२ ॥ इसलिये व्यवहार नय के समान निश्चयनय भी आत्मानुभूति का कारण नहीं है, क्योंकि तब भी 'यह मैं हूँ, मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार के विकल्प सत् में नियम से होते रहते हैं ॥ ६५३ ॥

शंका—यदि यहाँ पर व्यवहार नय से निरपेक्ष केवल निश्चय नय का पक्ष ही विवक्षित किया जाय तो वह आत्मानुभूति का कारण हो जायगा ?

समाधान—असम्भव दोष आने से वैसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी नय निरपेक्ष नहीं होता है। कारण कि विधि के सद्भाव में प्रतिषेध का और प्रतिषेध के सद्भाव में विधिका पाया जाना निश्चित है ॥ ६५५ ॥

विशेषार्थ—विशेषतः पदार्थ का विश्लेषण करते समय और विभिन्न मतों का समन्वय करते समय नय का उपयोग होता है किन्तु स्वात्मानुभूति के समय इस प्रकार का विकल्परूप मानस परिणाम नहीं होता अतः स्वात्मानुभूति मात्र को नयातीत बतलाया है। यद्यपि निश्चयनय 'द्रव्य है, गुण है' इत्यादि विकल्पों का निषेध करता है इसलिये उसे परमार्थसत् बतलाया है किन्तु स्वात्मानुभूति में 'न तथा' यह विकल्प भी नहीं होता अतः निश्चयनय आत्मानुभूतिका कारण नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥ ६४५-६५५ ॥

व्यवहार नय अनेक क्यों है और निश्चय नय एक क्यों है इसका खुलासा—

शंका—जिस प्रकार व्यवहारनय अनेक है, क्योंकि वह सांश है। उसी प्रकार निश्चयनय भी एक-एक मिलकर अनेक ही है, यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अनन्त धर्म होने से व्यवहारनय अनेक है एक नहीं। किन्तु निश्चयनय का लक्षण 'न तथा' है इसलिए वह एक ही है अनेक नहीं ॥ ६५७ ॥ निश्चयनय के एकत्व में दृष्टान्त यह है कि ताम्ररूप उपाधि की निवृत्ति से स्वर्णपना जिस प्रकार भिन्न है, चाँदीरूप उपाधि की

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित् ।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥ ६५९ ॥

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥ ६६० ॥

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानितो नियमात् ॥ ६६१ ॥

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलङ्कावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक् ।
युगपद् द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥ ६६४ ॥

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः ।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥ ६६५ ॥

निवृत्ति से भी वह वैसा ही भिन्न है ॥ ६५८ ॥ इस कथन से उनका निराकरण हो गया जो अपने ज्ञान के दोष से एक निश्चयनय को अनेक मानते हैं ॥ ६५९ ॥ एक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है, उसी का नाम शुद्ध निश्चयनय है। दूसरा अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसका नाम अशुद्ध निश्चय नय है ॥ ६६० ॥ इत्यादि रूप से जिनके मत में निश्च नय के बहुत से भेद माने गये हैं वह सर्वज्ञ की आज्ञा का उलंघन करनेवाला होने से नियम से मिथ्यादृष्टि है ॥ ६६१ ॥ आशय यह है कि जितने भी जीवादिक पदार्थ हैं उनको व्यवहार और निश्चयनय के द्वारा अविरुद्ध रीति से उस प्रकार समझना चाहिये जिस प्रकार वह आत्मशुद्धि के लिये उपयोगी हो सके ॥ ६६२ ॥

विशेषार्थ—निश्चय नय व्यवहार नय के विषय के निषेधद्वारा सामान्यरूप से अपने विषय की ओर संकेत मात्र करता है इसलिए वह एक है और व्यवहार नय गुणगुणी के भेदरूप से विवक्षित धर्मद्वारा वस्तु को विषय करता है इसलिए वह अनेक है। यद्यपि अन्य ग्रन्थों में निश्चयनय के शुद्धनिश्चयनय और अशुद्ध निश्चय नय ऐसे अनेक भेद मिलते हैं तथापि निश्चय नय का वाच्य 'न तथा' है अतः उसके ये सब भेद नहीं किये जा सकते यह उक्त कथन का तात्पर्य है । ६५६–६६२ ॥

निश्चयनय का निमित्ति और प्रयोजन—

प्रकृत में सामान्यमात्र वस्तु निश्चयनय का हेतु है और कर्मकलंक से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मसिद्धि इसका फल है ॥ ६६३ ॥

प्रमाण का विचार—

इस प्रकार व्यवहार नय और उसके बाद निश्चय नय का पृथक्-पृथक् कथन किया । अब आगे इन दोनों नयों के समुच्चयरूप प्रमाण का लक्षण कहते हैं ॥ ६६४ ॥ विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है और प्रतिषेध

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य ।
एकविकल्पो नयसाहुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥ ६६६ ॥

ननु चास्त्येकविकल्पोऽप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति ।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥ ६६७ ॥

अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा बलाद्वाच्यः ।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमिति दोषः ॥६६८॥

युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात् ।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६६९ ॥

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति ।
सदसदनेकेषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणां च ॥ ६७० ॥

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोऽयं बलाद् द्वयामर्शि ॥ ६७१ ॥

सोऽयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः ।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम् ॥ ६७२ ॥

पूर्वक विधि होती है। किन्तु विधि और प्रतिषेध इन दोनों की जो मैत्री है वही प्रमाण है। अथवा स्व और पर को जाननेवाला जो ज्ञान है वह प्रमाण है ॥ ६६५ ॥ आशय यह है कि अर्थ विकल्प का नाम ज्ञान है। यह ज्ञानका स्वतःसिद्ध लक्षण है। वह जब एक विकल्परूप होता है तब नय ज्ञान कहलाता है और जब उभय विकल्परूप होता है तब प्रमाणज्ञान कहलाता है ॥ ६६६ ॥

शंका—एक विकल्प भी होता है और अविरुद्ध उभय विकल्प भी होता है इसलिए एक समय में विरुद्ध दो भावों का विकल्प कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता है? यदि कहा जाय कि विरुद्ध दो भावों का विकल्प भी हो सकता है, तो वह क्रम से होता है या युगपत् ऐसा यहाँ कहना होगा। यदि वह विकल्प क्रम से माना जाता है तो वह नियम से नयज्ञान प्राप्त होता है प्रमाणज्ञान नहीं यह दोष यहाँ आता है। वह विकल्प युगपत् होता है यदि ऐसा माना जाता है तो यह मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि विरोधी दो धर्मों का एक साथ रहना नहीं बन सकता है। विरोधी दो धर्म एक साथ रहते हैं इसमें प्रत्यक्ष से विरोध आता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते वैसे ही विरोधी दो धर्म भी एक साथ नहीं रह सकते?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि युक्ति विशेष से सत् असत्, भाव अभाव और ध्रुव अध्रुव रूप अनेक विरोधी धर्मों का एक साथ रहना बन जाता है ॥ ६७० ॥ आशय यह है कि जीवादिक के विषय में जो ज्ञान होता है वह उभय परामर्शपूर्वक ही होता है। अथवा सत् के विषय में 'वह यह है' इस प्रकार का जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह भी बलपूर्वक उभय परामर्शी ही होता है ॥ ६७१ ॥ यथा—सामान्य से जो सद्रूप वस्तु है वही यह जीव विशेष है, इस प्रकार संस्कार के वश से सामान्य विशेष

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक् ।
आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥ ६७३ ॥

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात् ।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम् ।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति ।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥ ६७६ ॥

हेतुस्तत्त्वबु[1]भुत्सा संदिग्धस्याथवा च बालस्य ।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवद्वेतुकामस्य ॥ ६७७ ॥

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य ।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥ ६७८ ॥

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात् ।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

निमित्तक ज्ञान होता है ॥ ६७२ ॥ सामान्य और विशेष को एक साथ विषय करनेवाला समीचीन ज्ञान होता है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है, क्योंकि ज्ञान दर्पण के समान है और विषय प्रतिबिम्ब के समान है, अतः जैसा ज्ञेय होगा वैसा ज्ञान होना स्वाभाविक है ॥ ६७३ ॥

शंका—इस प्रकार मानने पर दोनों अलग अगल नय ही कहे जायंगे प्रमाण नहीं, और मिला देने पर वे दोनों नय केवल प्रमाण ही कहे जायंगे नय नहीं ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लक्षण, विषय, उदाहरण, हेतु, फल और नाम इत्यादिक की अपेक्षा नय से प्रमाण में भेद है इसलिये नय से प्रमाण भिन्न जाति का है ॥ ६७५ ॥ जैसे, जो सबको ग्रहण करता है वह प्रमाण है यह प्रमाण का लक्षण है । समस्त वस्तु उसका विषय है । देशादिक का भेद किये बिना अखण्ड पृथिवी उसका उदाहरण है ॥ ६७६ ॥ परस्पर विरोधी अनेक धर्म-विशिष्ट द्रव्य को हाथ में रखे हुए आंवले के समान भले प्रकार से जानने की इच्छा रखनेवाले संदिग्ध अथवा मूर्ख पुरुष के जानने की इच्छा का होना उसका हेतु है ॥ ६७७ ॥ समस्त वस्तुमात्र का प्रत्यक्ष के समान अनुभव होना उसका फल है । प्रमाण यह उसका नाम है और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ये उसके भेद हैं । इस प्रकार प्रमाण के इन लक्षणादिक से ज्ञात होता है कि प्रमाण भिन्न है और नय भिन्न है अतः शंकाकार ने जो यह कहा है कि दोनों नय अलग अगल नय हैं और मिल कर प्रमाण हैं, सो यह कहना उचित नहीं है ॥ ६७८ ॥ आशय यह है कि नियम से नय भी ज्ञान विशेष है और प्रमाण भी ज्ञान विशेष है । दोनों में भीतरी भेद विषय

(१) ख पुस्तके 'हेतुस्तत्त्वबुभुत्सा:' इति पाठः ।

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योऽन्यतमः ।
सोऽप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥ ६८० ॥

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम् ।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम् ॥ ६८१ ॥

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति ।
एको भङ्गः कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यत् ॥ ६८३ ॥

अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात् ।
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥ ६८४ ॥

अथवावक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भङ्गः ।
पूर्वापरबाधायाः कुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥ ६८५ ॥

इदमपि वक्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह ।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यतादोषः ॥ ६८६ ॥

विशेष की अपेक्षा से ही है वास्तव रूप से कोई भेद नहीं है ॥ ६७९ ॥ वह विषय विशेष इस प्रकार है कि द्रव्य का जो कोई एक अंश है वह नय का विषय है और उस अंश के साथ उससे भिन्न शेष अंश मिल कर समस्त वस्तु प्रमाणजात का विषय है ॥ ६८० ॥ जो अनेक नयों के समूह में संग्रह रूप से अनेक धर्मपना प्राप्त होता है वह समीचीन होकर भी समीचीन नहीं है, क्योंकि वह अनेकता विरुद्ध धर्ममय है ॥ ६८१ ॥ और प्रमाण को जो अनेक अंशों का ग्राहक कहा है सो वह विरोधीपने की अपेक्षा से नहीं कहा है किन्तु इसके विपरीत मैत्री भाव से कहा गया है, अतः नयों से प्रमाण भिन्न है, ऐसा यहां समझना चाहिये ॥ ६८२ ॥

शंका—जहां दो नय एक साथ कहे जाते हैं, जैसे 'अस्ति नास्ति' यह एक भंग दो नयों को एक साथ सूचित करता है सो यह भंग एक अंश का ग्राहक नय है अन्य नहीं यह कैसे ? 'अस्ति नास्ति' यह एक साथ एक युक्ति के द्वारा कहा जाता है, इसलिए यह नय है यदि यह माना जाता है तो इससे प्रमाण का नाश प्राप्त होता है । 'अस्ति नास्ति' यह एक भंग क्रम से कहा जाता है इसलिये यह नय है यदि यह माना जाता है तो यह स्वयं अपने नाश के लिये अपना शत्रु हो जाता है, अर्थात् क्रम से कहने पर यह एक भंग नहीं बनता । अथवा यदि यह कहा जाय कि वह भंग एक साथ कहा नहीं जा सकता इसलिये अवक्तव्यमय है सो ऐसा मानने पर पूर्वापर बाधा आने से किस प्रमाण से प्रमाण कि सिद्धि की जायगी । तथा यह कहना भी ठीक नहीं कि वक्ता नय ही होता है प्रमाण नहीं, क्योंकि यह कथन मूल का नाश करनेवाला है । यदि प्रमाण को वक्ता नहीं माना जाता है तो अवाच्यता दोष आता है ?

नैवं यतः प्रमाणं भङ्गध्वंसादभङ्गबोधवपुः ।
भङ्गात्मको नय इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥ ६८७ ॥

स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भङ्गः ।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥ ६८८ ॥

तत्रास्ति च नास्ति समं भङ्गस्यास्यैकधर्मता नियमात् ।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥ ६८९ ॥

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम् ।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेयं तथापि तत्स यथा ॥ ६९० ॥

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपसिद्ध्यभावाच्च ।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६९१ ॥

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योऽयं हि नास्तिमानर्थः ।
भवतीदमुदाहरणं न कथञ्चिद्वै प्रमाणतोऽन्यत्र ॥ ६९२ ॥

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः ।
अपि तुर्यो नयभङ्गस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य ।
क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण भंग विवक्षा के परिहार से अभंग ज्ञानरूप है। हाँ जितने भी नय हैं वे अवश्य उसके अंश हैं अतः वे भंगात्मक ही होते हैं ॥ ६८७ ॥ खुलासा इस प्रकार है—अस्ति और नास्ति क्रम से कहे गये ये दो भंग इनका एक साथ कहा गया संयोग रूप एक भंग, और अवक्तव्य भंग इस प्रकार इन भंगों में विकल्प का उल्लंघन नहीं है इस लिये ये सब नय ही हैं ॥६८८॥ उन भंगों में 'स्यादस्ति नास्ति' यह एक साथ कहा गया भंग नियम से एक धर्मवाला है। वह प्रमाण के समान विरुद्ध दो धर्मों पर आधारित नहीं है ॥ ६८९ ॥ आशय यह है कि अर्थवश या विवक्षावश इसका एक साथ या क्रम से कथन करने पर वह भंग प्रमाण का अंशरूप ही प्राप्त होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। खुलासा इस प्रकार है—स्वरूप की अपेक्षा 'अस्ति' भंग कहा गया है पर रूप की अपेक्षा 'नास्ति' भंग कहा गया है और तीसरा भंग स्वरूप तथा पररूप दोनों की अपेक्षा से होता है इसलिये वह 'अस्ति नास्ति' रूप कहा गया है ॥ ६९०-६९१ ॥ तथा जो पदार्थ अस्ति रूप है वही पदार्थ नास्ति रूप है यह प्रमाण का उदाहरण है। यह उदाहरण प्रमाण के सिवा अन्यत्र नहीं घटित होता ॥ ६९२ ॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि नय एक साथ विरुद्ध दो धर्मों का कथन करने में असमर्थ है इसलिये चौथा नय भंग तात्त्विक रीति से अवक्तव्य माना गया है ॥ ६९३ ॥ किन्तु प्रमाण एक साथ विरुद्ध दो धर्मों का कथन करने में असमर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ केवल नय ही क्रमवर्ती है उसके

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत् ।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अथ तद् द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम् ।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥ ६९७ ॥

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् ।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६९८ ॥

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम् ।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात् ।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम् ॥ ७०० ॥

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम् ।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिव वाच्यम् ॥ ७०१ ॥

समान प्रमाण क्रमवर्ती नहीं है ॥ ६९४ ॥ वह प्रमाण नियम से सत् असत्, एक अनेक और नित्य अनित्य, इत्यादि रूप जितने भी पदार्थ हैं उनका एक साथ कथन करने में समर्थ है ॥ ६९५ ॥

विशेषार्थ--अब तक लक्षण, हेतु, फल और दृष्टान्त पूर्वक नयों का और उनके भेदों का विचार करके यहाँ प्रमाण के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। यह तो पहले ही बतला आये हैं कि नय और प्रमाण ये दोनों ज्ञान के भेद हैं पर इनमें मौलिक अन्तर क्या है यह विचारणीय है। ग्रन्थकर्ता ने मूल में इसी भेद को स्पष्टरूप से बतलाकर प्रमाण का स्वरूप फलित किया है। उसका भाव यह है कि नय ज्ञान एक धर्म द्वारा वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु प्रमाण ज्ञान अखण्ड वस्तु को ग्रहण करता है इस लिये इन दोनों ज्ञानों में मौलिक अन्तर है।

प्रमाण के भेद और उनके लक्षण—

प्रमाण ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। जो किसी की सहायता के बिना होता है वह प्रत्यक्ष है और जो दूसरों की सहायता की अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है ॥ ६९६ ॥ इनमें से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है सकलप्रत्यक्ष और देशप्रत्यक्ष। अविनाशी केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है और दूसरा क्षायोपशमिक ज्ञान देशप्रत्यक्ष है। इस देशप्रत्यक्ष के अप्रतिपाती और प्रतिपाती ऐसे दो भेद हैं ॥ ६९७ ॥ आशय यह है कि जो ज्ञान सब कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है अतएव क्षायिक है, इन्द्रियातीत है, सुखरूप है और अविनश्वर है वह सकलप्रत्यक्ष है ॥ ६९८ ॥ तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययरूप जो ज्ञान है वह देशप्रत्यक्ष है। यह नोइन्द्रियरूप मन की सहायता से उत्पन्न होता है इसलिए तो देश कहलाता है और अन्य की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता है इसलिये प्रत्यक्ष कहलाता है ॥ ६९९ ॥ आभिनिबोधिक ज्ञान विषय और विषयी के सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है। तथा श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होता है इसलिये ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं ॥ ७०० ॥ छद्मस्थ अवस्था में जो चार ज्ञान होते हैं वे यथासम्भव

अवधिमनःपर्ययविद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥ ७०२ ॥

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात् ।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥ ७०३ ॥

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम् ।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम् ॥ ७०४ ॥

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात् ।
केवलमेव मनःसादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥ ७०५ ॥

अपि किञ्चाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे ।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात् ॥७०७॥

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः ।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिव सम्भवत्येतत् ॥ ७०८ ॥

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात् ।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥ ७०९ ॥

आवरण और इन्द्रियों की सहायता से होते हैं इसलिये वास्तव में उन सबको परोक्ष के समान कहना ही उचित है ॥ ७०१ ॥ अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष कहे गये हैं सो यह कथन उपचार से अथवा विवक्षावश से ही घटित होता है अन्वर्थ रूप से नहीं ॥ ७०२ ॥ यहाँ उपचार का कारण यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान नियम से इन्द्रिय जन्य ज्ञान है और श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होने से इन्द्रिय जन्य है उस प्रकार अवधि और मनः पर्यय ये दो ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं हैं इसलिये इनमें एकदेश प्रत्यक्षता का उपचार किया गया है ॥ ७०३ ॥ जिस प्रकार आदि के दो ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के आधीन होते हैं उस प्रकार अन्त के दो ज्ञान नहीं होते, क्योंकि अवधि और मनः पर्यय ये दोनों ज्ञान दूरवर्ती पदार्थों को लीलामात्र में प्रत्यक्ष की तरह जान लेते हैं केवल इन्हें मन की सहायता लेनी पड़ती है इसलिये ये एकदेश प्रत्यक्ष कहे गये हैं ॥ ७०४-७०५ ॥ यह विशेष बात है कि स्वात्मानुभूति के समय प्रारम्भ के मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों से जितना भी ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान के समान प्रत्यक्ष है। इसके सिवा शेष मति व श्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं ॥ ७०६ ॥ किन्तु वे ही दोनों ज्ञान स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करते समय और आकाश आदि को जानते समय परोक्ष हैं प्रत्यक्ष नहीं ॥ ७०७ ॥

शंका—यदि स्वानुभूति के समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं तो फिर तत्त्वार्थसूत्र में 'आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं' ऐसा निर्देश क्यों किया है ? दूसरे इनमें परोक्ष का लक्षण घटित हो जाता है इसलिये भी ये ज्ञान परोक्ष ही प्रतीत होते हैं ?

समाधान—यह कहना ठीक है क्योंकि यदि विसंवाद न हो तो वस्तु का विचार अतिशय रहित

इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः ।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥ ७१० ॥

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन् ।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा ।
द्रव्यमनो भावमनो नोइन्द्रियनाम किल स्वार्थात् ॥ ७१२ ॥

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत् ।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥ ७१३ ॥

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयात् क्रमाच्च स्यात् ॥ ७१४ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत् ।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्तामूर्तस्य वेदकं च मनः ॥ ७१५ ॥

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः ।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥ ७१६ ॥

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात् ।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

हो जाय। इसी से यह मालूम पड़ा है कि तत्त्वार्थसूत्र की उक्त प्रतिज्ञा का यह अभिप्राय है कि साधारण रूप से वे दोनों ज्ञान परोक्ष हैं ॥ ७०९ ॥ तथा सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं रहने से कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होती है जिसके द्वारा यह स्वात्मप्रत्यक्ष होता है ॥ ७१० ॥ खुलासा इस प्रकार है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभूति के समय स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी गई हैं ॥ ७११ ॥ किन्तु वहाँ पर केवल मन ही उपयोगी माना गया है। इस मन के द्रव्यमन और भावमन ऐसे दो भेद हैं और नोइन्द्रिय यह मन का सार्थक नाम है ॥ ७१२ ॥ द्रव्यमन हृदयकमल में होता है जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। यह यद्यपि अचेतन है तो भी अपने विषय के ग्रहण करने में भावमन की सहायता करता है ॥ ७१३ ॥ भावमन आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय है जो अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसके लब्धि और उपयोग ऐसे दो भेद हैं ॥ ७१४ ॥ स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ केवल मूर्त पदार्थ को ग्रहण करती हैं। किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जानता है ॥ ७१५ ॥ इस लिये यह बात निर्दोष है कि अपने आत्मा के ग्रहण करने में मन ही उपयोगी है किन्तु विशिष्ट अवस्था में— सम्यक्त्व अवस्था में वह मन स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है ॥ ७१६ ॥ तथा सूत्र में जो यह बतलाया है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है सो यह कहना असिद्ध नहीं

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्त्तम् ।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥
अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुतज्ञाने ।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्याद्दते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

है ॥ ७१७ ॥ आशय यह है कि भावमन स्वयं ज्ञान विशिष्ट है अतः वह अमूर्त है इसलिये उसके द्वारा जो आत्मा का साक्षात्कार होता है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे नहीं होगा अर्थात् उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं ॥ ७१८ ॥ आत्मा की सिद्धि के लिये मति और श्रुत ये दो ज्ञान ही निश्चित कारण माने हैं। कारण कि उपान्त्य दो ज्ञानों के बिना मोक्ष हो सकता है। किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बिना कभी भी मोक्ष नहीं होता ॥ ७१९ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में प्रमाण के भेद और उनके लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद करके प्रत्यक्ष प्रमाण के सकलप्रत्यक्ष और देशप्रत्यक्ष ऐसे दो भेद किये गये हैं। जो ज्ञान पांच इन्द्रिय और मन की सहायता तथा प्रकाश आदि के सानिध्य विशेष के होने पर होता है वह परोक्ष प्रमाण है और जो किसी की सहायता के बिना होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। आगम में ज्ञान के जो पांच भेद बतलाये हैं उनमें से आदि के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं और शेष तीन प्रत्यक्ष प्रमाण माने गये हैं। इसमें भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये देशप्रत्यक्ष क्यों है इस विषय में आगम का यह अभिप्राय है कि ये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए बिना सहायता के जानते हैं अतः ये देशप्रत्यक्ष हैं। किन्तु ग्रन्थकार का इस विषय में भिन्न अभिप्राय है। इनका कहना है कि इन दोनों ज्ञानों के होने में अन्य की सहायता नहीं लेनी पड़ती इसलिये तो ये प्रत्यक्ष हैं और मन की सहायता से होते हैं इसलिये देशप्रत्यक्ष हैं। अब देखना यह है कि ग्रन्थकार ने देशप्रत्यक्ष का यह लक्षण किस आधार से निश्चित किया है। यह तो पहले ही लिख आये हैं कि जो बिना किसी सहायता के होता है वह प्रत्यक्ष है और जो पांच इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह परोक्ष है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के इन लक्षणों के आधार से देश प्रत्यक्ष के लक्षण पर विचार करने पर वह एकदेश बिना सहायता के ही प्राप्त होता है। आशय यह है कि जब प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षण में सहायता के भावाभाव की अपेक्षा भेद किया जाता है तब फिर देशप्रत्यक्ष यह नामकरण भी एकदेश सहायता के भावाभाव की अपेक्षा होना चाहिये। मालूम होता है इसी अभीप्राय को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने देशप्रत्यक्ष का यह लक्षण किया है कि जो पांच इन्द्रियों के बिना केवल मन की सहायता से होता है वह देश प्रत्यक्ष है। इस प्रकार यद्यपि यह ज्ञात तो हो जाता है कि ग्रन्थकार ने देशप्रत्यक्ष का लक्षण उक्त प्रकार से क्यों किया। तथापि इसकी पुष्टि अन्य प्रमाणों से होती है क्या यह जानना शेष है। प्रकृति अनुयोगद्वार में बतलाया है कि मन से दूसरे के मन को ग्रहण करके जो देश हानि, नगर हानि, राज्यभंग, हानि, लाभ आदि को जानता है वह मनःपर्यय ज्ञान है। इसी प्रकार अवधिज्ञान के विषय में यह नियम है कि उपयोग के लगाने पर ही अवधिज्ञान की प्रवृत्ति होती है सदा नहीं। इस प्रकार इन दोनों कथनों पर ध्यान देने से मालूम पड़ता है कि अवधिज्ञान में और मनःपर्ययज्ञान में मन कारण होने से यहाँ ग्रन्थकार ने इन दोनों ज्ञानों को मनः सापेक्ष बतलाया है। तथा अन्यत्र यह विवक्षा प्रधान नहीं रही इसलिये वहां देशप्रत्यक्ष का अन्य प्रकार से लक्षण किया गया है। फिर भी यहाँ इतना विशेष जानना कि ये दोनों ज्ञान मन द्वारा प्रवृत्त नहीं होते। केवल इनको सोपयोग दशा में लाने के लिये मन कारण पड़ता है इसी से वे मनः सापेक्ष कहे गये हैं। अन्यथा इनकी परिगणना भी परोक्ष प्रमाण में की जाती। यह तो हुई देश प्रत्यक्ष की चर्चा अब बाकी परोक्ष प्रमाण की चर्चा कर लेना भी उचित प्रतीत होता है। यों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को सभी ने

नतु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेवं नापरेषां हि ।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यथा ॥ ७२० ॥

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः ।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतःसिद्धाः ॥ ७२१ ॥

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः ।
समयन्ति सम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित् ॥७२२॥

इत्यादिवादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत् ।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु ॥ ७२३ ॥

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात् ।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम् ॥ ७२४ ॥

परोक्ष माना है। साधारण रूप से पंचाध्यायीकार भी इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष ही मानते हैं। किन्तु इनका एक मत यह भी है कि ये दोनों ज्ञान स्वात्मानुभूति के समय प्रत्यक्ष रहते हैं। इसमें इनकी यह युक्ति है कि मन रूपी और अरूपी सभी पदार्थों को जानता है अतः सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से स्वात्मानुभूति के समय इन दोनों ज्ञानों के द्वारा आत्मा का साक्षात् प्रत्यक्ष होने लगता है। अब प्रकृत में यह विचार करना है कि इनका यह मत कहां तक संगत है। तत्त्वार्थसूत्र[1] में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायें बतलाया है। तत्त्वार्थ[2] राजवार्तिक में इसका खुलासा करते हुए लिखा है कि मन के निमित्त से छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों का ग्रहण होता है। इससे इतना ज्ञान तो हो ही जाता है कि अतीन्द्रिय पदार्थ भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय हैं। तथापि ऐसे ज्ञान को किसी भी आचार्य ने प्रत्यक्ष नहीं बतलाया है। मन क्या मूर्त और क्या अमूर्त सभी पदार्थों को विकल्प द्वारा ही ग्रहण करता है केवलज्ञान जैसे मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है इस प्रकार वह साक्षात्कार नहीं करता। फिर भी पंचाध्यायीकार ने स्वानुभूति के समय मन द्वारा जो आत्मा का साक्षात्कार माना है सो उसका कारण केवल दृढप्रतीति है। श्रुत से जैसा सुना और समझा है वैसा सम्यग्दृष्टि के अनुभव में आने लगता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

अन्य वादियों द्वारा माने गये प्रमाण के स्वरूप का निरसन—

प्रमाण का यह लक्षण जैनों ने ही माना है दूसरों के मतों में ऐसा नहीं माना गया है। सामान्यरूप से विचार करने पर मालूम पड़ता है कि इस विषय में विवाद है क्योंकि बहुत से मतवाले प्रमाण का लक्षण अन्य प्रकार से मानते हैं ॥ ७२० ॥ मिथ्याज्ञानी वेदान्ती कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं, क्योंकि वे अपौरुषेय हैं और वे आकाश के समान स्वतः सिद्ध हैं ॥ ७२१ ॥ अपने आपको पण्डित माननेवाले दूसरे मतवाले मानते हैं कि जो प्रमा की उत्पत्ति में कारण है वह प्रमाण है। तथा अन्य कोई कहते हैं कि जो समीचीन अनुभव का साधन है वह प्रमाण है ॥७२२॥ इस प्रकार अतीन्द्रिय वस्तु को नहीं समझनेवाले और 'मैं आप्त हूँ' इस अभिमान से जले हुए वेदान्ती आदि बहुत से वादी गण अपनी अपनी इच्छानुसार प्रमाण का लक्षण कहते हैं ॥ ७२३ ॥ चूंकि प्रमाण के इन लक्षणों में लक्षण के दोष पाये जाते हैं और विचार करने

१—तत्त्वा० अ० १ सू० २६। तत्त्वा० रा० अ० १ सू० २६।

अर्थाद्यथाकथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम् ।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं को प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

तस्मात्तल्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत् ।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति ।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलत्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥ ७२७ ॥

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥ ७२८ ॥

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥

पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा ।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धत्वात् ॥ ७३१ ॥

अतः यह सब कथन आकाश-फूल के समान अविचारित रम्य मालूम देता है-इस लिये अन्यवादियों ने प्रमाण के जितने भी लक्षण कहे हैं वे सब व्यर्थ हैं ॥ ७२४ ॥ आशय यह है कि किसी भी प्रकार ज्ञान के सिवा अन्य कोई प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो ज्ञान के सिवा इन्द्रिय आदि अचेतन पदार्थ को प्रमाण मानेगा। अर्थात् ज्ञान के सिवा अन्य पदार्थ को कोई भी प्रमाण नहीं मान सकता ॥ ७२५ ॥ करण आदि में ज्ञान अन्तर्लीन है, इस लिये ज्ञानयुक्त करण आदि प्रमाण है यदि ऐसा कहा जाता है तो ज्ञान प्रमाण है यह जो प्रकृत कथन है वह क्यों नहीं प्रतीति में लाया जाता है ?

शंका—ज्ञान प्रमाण का फल रहा आवे और ज्ञान की उत्पत्ति में जो करण हो वह प्रमाण हो जावे। इसके विपरीत यदि ज्ञान को ही प्रमाण मान लिया जाता है तो ज्ञान के कृतार्थ हो जाने से प्रमाण के फल की सिद्धि नहीं हो सकती ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं ज्ञान ही प्रमाण रूप होता हुआ वही फल रूप और वही फलवाला है। इस विषय में दृष्टान्त दीपक है। जैसे दीपक स्वयं प्रकाश्य भी होता है और स्वयं प्रकाशक भी होता है, इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ७२८ ॥ नैयायिकों ने कभी इन्द्रिय को, कभी अपने विषय के साथ सन्निकर्ष को प्राप्त हुई इन्द्रिय को अर्थात् इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को और कभी ज्ञान को प्रमा का करण कहा है। इस प्रकार उन्होंने प्रमा का करण तीन प्रकार का कहा है ॥ ७२९ ॥ इन तीनों में पहला पहला करण और आगे आगे का फल जानना चाहिये, इसलिये यह न्याय से सिद्ध हुआ कि चित् ही फल है और वह ज्ञान ही स्वयं फलवाला है ॥ ७३० ॥ उसमें भी जिस समय ज्ञान करण होता है उस समय भी पृथक् से फल की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि तब अविनाभाव द्वारा चैतन्य के हान और उपादान रूप बुद्धि की सिद्धि देखी जाती है और यही ज्ञान का फल है ॥ ७३१ ॥ साधन

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात् ।
न विना ज्ञानात् त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम् ।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥ ७३३ ॥

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥ ७३४ ॥

योगिज्ञानेऽपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥ ७३५ ॥

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरतया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत् ।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः यावत् ॥ ७३७ ॥

और साध्य दृष्टान्त सहित होने से यह कथन असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि ज्ञानके बिना भुजगादिका त्याग और माला आदि का ग्रहण नहीं होता है ॥ ७३२ ॥ इस प्रकार यहाँ पर मिथ्यावादियों ने स्वच्छन्द होकर जो आर्हत मत के विरुद्ध प्रमाण का लक्षण कहा है इसमें लक्षण के दोष आते हैं इसलिये वह सब लक्षणाभास है ॥ ७३३ ॥ उसका खुलासा इस प्रकार है—यदि प्रमाण को लक्ष्य और प्रमाकरण को उसका लक्षण माना जाता है तो अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योंकि सदेश्वर में यह लक्षण घटित नहीं होता ॥ ७३४ ॥ इसी प्रकार योगिज्ञान में भी यह प्रमाकरण रूप प्रमाण का लक्षण नहीं घटित होता क्योंकि परमाणु आदि में नियम से योगिज्ञान का सन्निकर्ष नहीं पाया जाता, इसलिये भी अव्याप्ति दोष आता है ॥ ७३५ ॥ वेद प्रमाण है इसमें केवल अपौरुषेयत्व हेतु दिया जाता है किन्तु यह हेतु आगमाश्रित होने से अन्याश्रित है इसलिये अहेतु है ॥ ७३६ ॥ इस प्रकार यहाँ जो अनेक प्रकार के मिथ्यामत प्रचलित हैं वे असार होने से स्याद्वादी वृद्ध जनों के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं ॥ ७३७ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में अन्यवादियों के द्वारा माने गये प्रमाण और उनके लक्षणों का निरास करके सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है इसकी स्थापना की गई है और साथ ही प्रमाण का फल भी दर्शाया गया है। यहाँ अन्यवादियों के द्वारा माने गये ऐसे तीन उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम उदाहरण वेदान्ती अर्थात् मीमांसकों का है। मीमांसकों ने प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाण माने हैं। पर प्रकृत में उनकी ओर उनके सामान्य लक्षण की चर्चा न करके यहाँ केवल वेदों की प्रमाणता का निरास किया गया है। मीमांसकों का कहना है कि कहीं पर गुणवाले वक्ता के कारण और कहीं पर वक्ता के अभाव के कारण आगम में निर्दोषता आती है। यतः वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् पुरुषकृत नहीं हैं अतः निर्दोष होने के कारण वे प्रमाण हैं। किन्तु उनका यह कथन केवल आगमाश्रित है। उसकी पुष्टि युक्ति से नहीं होती। अन्य ग्रन्थों के समान वेदों में पद रचना आदि देखकर यही ज्ञात होता है कि अपौरुषेयत्व हेतु असिद्ध है। अन्य ग्रन्थों के कर्ता के समान वेदों का भी कर्ता होना चाहिये। इस प्रकार जब वेदों का कर्ता सिद्ध हो जाता है तब वक्ता के दोषों के अनुसार वेदों में भी दोषों की सम्भावना की जा सकती है। इसलिये

अपौरुषेय होने से वेद प्रमाण हैं यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। दूसरा उदाहरण नैयायिकों का है। नैयायिकों ने ऐसा माना है कि जो प्रमा के प्रति करण है वह प्रमाण है। उनका कहना है कि कहीं पर चार, कहीं पर तीन और कहीं पर दो के सन्निकर्ष से प्रमा की उत्पत्ति होती है। किसी भी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति का नाम प्रमा है। यह फल है और प्रमाण इसका साधन है। कहीं पर आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रमा की उत्पत्ति होती है। कहीं पर आत्मा, मन और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रमा की उत्पत्ति होती है। और कहीं पर आत्मा और मन के सन्निकर्ष से प्रमा की उत्पत्ति होती है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। नैयायिकों ने सन्निकर्ष[1] के लौकिक और अलौकिक ऐसे दो भेद करके लौकिक सन्निकर्ष के छह और अलौकिक सन्निकर्ष के दो भेद माने हैं। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव ये लौकिक सन्निकर्ष के छह भेद हैं। चक्षु से घट का प्रत्यक्ष होने में संयोग सन्निकर्ष कारण पड़ता है। घटरूप के प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवाय कारण पड़ता है। घटरूपत्व के प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवेतसमवाय कारण पड़ता है। शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय सन्निकर्ष कारण पड़ता है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष होने में समवेतसमवाय कारण पड़ता है और अभाव का प्रत्यक्ष होने में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष कारण पड़ता है। सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति और ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति ये अलौकिक सन्निकर्ष के दो भेद हैं। धूम से वन्हि का ज्ञान होते समय सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति सन्निकर्ष होता है और चाक्षुष ज्ञान के साथ ही साथ गन्ध आदि का ज्ञान होने में ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति कारण पड़ता है। इसके अलावा एक योगज नाम का अलौकिक सन्निकर्ष और है। वह सूक्ष्म आदि पदार्थों का ज्ञान होते समय योगियों के होता है। इस प्रकार नैयायिकों ने प्रमा के साधकतम करण को प्रमाण माना है। परन्तु विचार करने पर उनका यह कथन अयुक्त प्रतीत होता है। नैयायिकों ने सदेश्वर अर्थात् शिव को प्रमाण तो माना है परन्तु वह प्रमा का साधकतम करण न होकर आधार माना गया है, अतः शिव में प्रमाण का यह लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष आता है। दूसरे योगिज्ञान प्रमाण तो है परन्तु वह प्रमा का करण नहीं माना गया है क्योंकि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों में उसका सन्निकर्ष नहीं पाया जाता, इसलिये अव्याप्ति दोष आता है। माना कि नैयायिकों ने एक योगजनामका अलग से सन्निकर्ष माना है पर वह काल्पनिक है, इसलिये इससे अव्याप्ति दोष का वारण नहीं किया जा सकता। तीसरा उदाहरण भी नैयायिकों का ही है। भासर्वज्ञ ने अपने न्यायसार में समीचीन अनुभव के साधन को प्रमाण बतलाया है। परन्तु प्रमाण का ऐसा लक्षण मानने पर भी वे ही दोष आते हैं जो प्रमाकरण को प्रमाण का लक्षण मानने पर दे आये हैं। इसलिये प्रतीत होता है कि प्रमाण का यह लक्षण भी समीचीन नहीं है। इस प्रकार यद्यपि यह तो ज्ञात हो जाता है कि अन्य-वादियोंने जो प्रमाण के लक्षण माने हैं वे समीचीन नहीं है तथापि प्रमाण का सामान्य लक्षण क्या है यह जानना शेष रह जाता है। अब आगे इसी विषय पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं। स्याद्वादियों का मत है कि सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि अर्थावबोध के होने में इन्द्रियादि करणों की साधकतमता नहीं होने पर भी ज्ञान की साधकतमता अवश्य पाई जाती है। लोक में ऐसे भी मनुष्य पाये जाते हैं जिनकी आँखें बन्द कर लेने पर भी जो अच्छी तरह से पुस्तक आदि को पढ़ सकते हैं। अतः प्रमा की उत्पत्ति में इन्द्रिय या इन्द्रिय सन्निकर्ष साधकतम करण है यह कहना नहीं बनता। यदि कहा जाय कि यदि ज्ञान को प्रमाण माना जाता है तो उसका उससे भिन्न अन्य फल होना चाहिये। यतः उससे भिन्न अन्य फल नहीं प्राप्त होता इसलिये ज्ञान ही प्रमाण है यह बात नहीं बनती। परन्तु नैयायिकों का ऐसा मानना उनके कथन से ही बाधित हो जाता है। नैयायिकों ने प्रमाका करण तीन प्रकार का माना है। कहीं पर वे इन्द्रिय को प्रमाका करण मानते हैं, कहीं पर वे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रमाका करण

(१) भार. द. पृ. २४८-२४९।

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात् ।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्म ॥ ७३८ ॥

ननु निक्षेपो न नयो न च प्रमाणं न चांशकं तस्य ।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादिति चेत् ॥ ७३९ ॥

सत्यं गुणसापेक्षो सविपक्षः स च नयः स्वयं क्षिपति ।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥ ७४० ॥

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम् ।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात् ॥ ७४१ ॥

मानते हैं और कहीं पर वे ज्ञान को प्रमाका करण मानते हैं। उनके यहाँ सुखादिक का प्रत्यक्ष होने में इन्द्रिय (मन) साधकतम करण माना गया है। रूपादिक का प्रत्यक्ष होने में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष साधकतम करण माना गया है और परमाणु आदि का प्रत्यक्ष होने में ज्ञान साधकतम करण माना गया है। साथ ही उनकी यह भी मान्यता है कि जब ज्ञान[1] प्रमाण होता है तब त्यागरूप बुद्धि, उपादानरूप बुद्धि और उपेक्षारूप बुद्धि फल प्राप्त होते हैं और जब इन्द्रिय प्रमाण होता है तब ज्ञान ही फल प्राप्त होता है। इस प्रकार उनके इस कथन से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि ज्ञान के प्रमाण रहते हुए भी अन्य फल प्राप्त हो जाता है। अतः यह आपत्ति तो रहती ही नहीं कि यदि ज्ञान को प्रमाण माना जाता है तो उससे भिन्न कोई अन्य फल नहीं प्राप्त होता। किन्तु इसके विपरीत उन्हीं के कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान के प्रमाण रहते हुए भी उससे भिन्न फलकी प्राप्ति बन जाती है। अतः ज्ञान को ही प्रमाण मानना समीचीन प्रतीत होता है। फिर भी स्याद्वादियों का यह एकान्त मत नहीं है कि प्रमाण का फल उससे सर्वथा भिन्न ही होना चाहिये। हम देखते हैं कि दीपक में प्रकाशक और प्रकाश्य ये दोनों धर्म पाये जाते हैं। इसी प्रकार यदि वही ज्ञान प्रमाण और वही फल रहा आवे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। तथापि भेद बुद्धि से विचार करने पर कहीं पर अज्ञाननाश, कहीं पर प्रीति, कहीं पर सर्पादि वस्तुओं का त्याग, कहीं पर माला आदि का ग्रहण और कहीं पर उपेक्षा उसका फल बन जाता है। इस प्रकार अन्य वादियों के द्वारा माने गये प्रमाण के लक्षण समीचीन न हो कर प्रमाण का लक्षण सम्यग्ज्ञान को मानना ही समीचीन है यह सिद्ध होता है ॥ ७२०-७३७ ॥

निक्षेप का विचार—

आगम ज्ञान के अनुसार अनुभवगम्य प्रमाण का लक्षण कहा। अब संक्षेप में लक्षणानुसार निक्षेप पद का व्याख्यान करते हैं ॥ ७३८ ॥

शंका—निक्षेप न नय है, न प्रमाण है और न उसका अंश है। किन्तु उसका निर्देश अलग से किया जाता है अतः उसका अपने लक्षण के अनुसार अलग से निर्देश करना चाहिये ?

समाधान—यह कहना ठीक है क्यों कि जो गुणों की अपेक्षा से होता है और विपक्ष सहित है वह नय है और जो यहां उपचार से केवल गुणों का आक्षेप करने वाला है वह निक्षेप है। जिसकी व्युत्पत्ति 'स्वयं क्षिपति' होती है ॥ ७४० ॥

निक्षेप चार प्रकार का है—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप। अब यहां

---

(१) यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलं यदा इन्द्रियं प्रमाणं तदा ज्ञानं फलम् । न्यायभाष्य ।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम ।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा ॥ ७४२ ॥

ऋजुनयनिरपेक्षतया सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः ।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥ ७४३ ॥

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः ।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा जिणिंदपडिमाए ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत् ।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु ॥ ७४५ ॥

इन चारों का लक्षण यथाशास्त्र कहते हैं ॥ ७४१ ॥ जिस वस्तु में उसके नाम के अनुसार गुण तो न हों केवल व्यवहार चलाने के लिये उसका वैसा नाम रख देना नाम निक्षेप है। जैसे किसी का 'जिन' यह नाम नाम निक्षेप है। उसी के समान रूपवाले पदार्थ में 'वह यह है' इस प्रकार उसीकी बुद्धि होना स्थापना निक्षेप है। जैसे 'प्रतिमा' यह स्थापना निक्षेप है ॥ ७४२ ॥ जिसमें ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा नहीं है किन्तु जो भावि नैगम आदि नयों की अपेक्षा से होता है वह द्रव्यनिक्षेप है। जैसे छद्मस्थ जिन जीवको जिनके समान मानना द्रव्यनिक्षेप है ॥ ७४३ ॥ वर्तमानमें जिसकी जो पर्याय हो उसको उसी पर्यायवाला कहना भावनिक्षेप है। जैसे समवशरण में विराजमान, चार घातिकर्मों से रहित, अनन्त ज्ञान आदि चतुष्टय से युक्त और दिव्य परम औदारिक शरीरवाले अरहंत को जिन कहना भावनिक्षेप है ॥ ७४४ ॥ जिन नामवाला व्यक्ति नाम जिन है, जिनेन्द्र देव की प्रतिमा यह स्थापना जिन है, जो आगे जिन होने वाला है वह द्रव्य जिन है और समवशरण में विराजमान भगवान् भावजिन हैं।

इस प्रकार यहां संक्षेप से चारों निक्षेपों का कथन किया। इसी प्रकार विस्तार से भी इनका जीवादि पदार्थों में अलग अलग उदाहरण जानना चाहिये ॥ ७४५ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में निक्षेप का स्वरूप बतलाते हुए नय से उसमें क्या भेद है यह भी बतलाया गया है। निक्षेप शब्द नि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से बनता है, जिसका व्युत्पत्त्यर्थ, निक्षिप्त करना होता है। आशय यह है कि लोक में जितना भी शब्द व्यवहार होता है उसका विभाग द्वारा वर्गीकरण कर देना ही निक्षेप का काम है। नय विषयी है किन्तु निक्षेप शाब्दिक विषय विभाग का ही प्रयोजक है इस लिये इन दोनों में मौलिक भेद है। निक्षेप केवल यह बतलाता है कि हमने जिस शब्द या वाक्य का प्रयोग किया है वह किस विभाग में सम्मिलित किया जा सकता है किन्तु नय उस शब्द प्रयोग में जो आन्तरिक मानस परिणाम कार्य कर रहा है उसका उद्घाटन करता है। वह बतलाता है कि यह शब्द प्रयोग किस दृष्टिकोण से समीचीन है। इस प्रकार नय और निक्षेप इनमें क्या भेद है और निक्षेप का क्या स्वरूप है इसका खुलासा हो जाता है। यतः निक्षेप व्यवस्था के अनुसार समस्त वचन प्रयोग नामादि चार भागों में विभक्त किया जा सकता है अतः निक्षेप के चार भेद माने गये हैं। कहीं विवक्षा

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेपप्रमाणमिति तद्वत् ।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासम्भवं द्वयाम्यधुना ॥ ७४६ ॥

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ।
गुणपर्ययवद् द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

यद् द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोऽपि यथा स्यात् ऋजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥७४९॥

यदिदं द्रव्यं स गुणो योऽपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात् ।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे ॥ ७५१ ॥

भेद से इसके अधिक भेद भी मिलते हैं पर उनका इन चार भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः यहां निक्षेप के मुख्य चार भेद ही किये गये हैं शेष कथन सुगम है ॥ ७३८-७४५ ॥

द्रव्य आदि में प्रमाण, नय और निक्षेप योजना—

गुरु के उपदेशानुसार नय, निक्षेप और प्रमाण का कथन किया। अब द्रव्य, गुण और पर्यायों में यथायोग्य इन को घटित करके बतलाते हैं ॥ ७४६ ॥

तत्त्व अनिर्वचनीय है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। तथा गुण और पर्यायवाला द्रव्य है यह पर्यायार्थिक नय का पक्ष है ॥ ७४७ ॥ जो यह अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है, अन्य नहीं। तथा जो गुण पर्यायवाला है वही तत्त्व है यह प्रमाण का पक्ष है ॥ ७४८ ॥

जो द्रव्य है वह गुण नहीं है। जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। वास्तव में एक पर्याय ही है यह ऋजुसूत्र नय का पक्ष है क्योंकि इसका यही एक पक्ष है ॥ ७४९ ॥ जो यह द्रव्य है वह गुण है और जो गुण है वह द्रव्य है, क्योंकि इनका एक ही अर्थ है। इस प्रकार जो उभय पक्ष में दक्ष है वह प्रमाण पक्ष जानना चाहिये ॥ ७५० ॥

निक्षेप नय विशेष के समान है इसलिये इसका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि निक्षेपों का उदाहरण नयों के विवेचन में नियम से आ जाता है ॥ ७५१ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में द्रव्य, गुण और पर्याय का आलम्बन लेकर पर्यायार्थिक नय, द्रव्यार्थिक नय और प्रमाण पक्ष को समझाने की योजना की गई है। इसी प्रकार आगे एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य और भाव-अभाव इनकी अपेक्षा पर्यायार्थिक नय पक्ष, द्रव्यार्थिक नय पक्ष और प्रमाण पक्ष को बतलाया गया है। इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि किसी एक धर्म द्वारा वस्तु का विवेचन करना पर्यायार्थिक नय है। तथा इस द्वारा उसका निषेध करना द्रव्यार्थिक नय है और उन विरोधी धर्मों को समुच्चय रूप से ग्रहण करना प्रमाण है। हम समझते हैं कि इतने स्पष्टीकरण से मूल कथनी के स्वरूप पर प्रकाश पड़ जाता है इसलिये इन सबका पृथक् पृथक् खुलासा नहीं किया जाता है ॥ ७४६-७५१ ॥

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत् त्रयं मिथोऽनेकम् ।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥ ७५२ ॥

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना ।
इतरद् द्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥ ७५३ ॥

न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात् ।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥ ७५४ ॥

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः ।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥ ७५५ ॥

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्तिनयः ॥ ७५६ ॥

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा ।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्तिनयः ॥ ७५७ ॥

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोऽपि ततः ।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८ ॥

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥ ७५९ ॥

पूर्वोक्त विषय का विशेष खुलासा—

द्रव्य, गुण अथवा पर्याय ये तीनों परस्पर में भिन्न हैं। ऐसा कथन करना व्यवहार नय है अतः इस न्याय के अनुसार वह अनेक है ॥ ७५२ ॥ नाम से चाहे द्रव्य हो, चाहे गुण हो या पर्याय हो किन्तु वह एक सत ही है, इसलिये किसी एक के कहने से अनुक्त दोका ग्रहण हो ही जाता है। यह एक नाम का पर्यायार्थिक नय पक्ष है ॥ ७५३ ॥ न द्रव्य है, न गुण है और न पर्याय है, क्योंकि वस्तु अखंड है। वह किसी विकल्प से भी व्यक्त नहीं की जा सकती है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का मत है ॥ ७५४ ॥ युक्ति वश जिस सत् के द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से अनेक भेद किये जाते हैं वही सत् अखण्ड होने से अभेद्य एक है यह प्रमाण का पक्ष है ॥ ७५५ ॥

वस्तु सामान्यमात्र से है अथवा विशेषमात्र से है। इसमें जब तक विपक्ष अर्थात् नास्तिपक्ष अविवक्षित रहता है तब तक वह एक अस्तिनय है ॥ ७५६ ॥ वस्तु, सामान्य की विवक्षा होने पर गौण होने से विशेष रूप से नहीं है। और इसी प्रकार विशेष की विवक्षा होने पर गौण होने से सामान्य रूप से नहीं है, क्यों कि एक के विवक्षित रहने पर दूसरा गौण हो जाता है यह नास्तिनय है ॥ ७५७ ॥ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु स्वरूप से अस्तिरूप है यह भी नहीं है और पर रूप से नास्तिरूप है यह भी नहीं है, क्यों कि वस्तु सब विकल्पों से रहित है ॥ ७५८ ॥ जो वस्तु स्वरूप के अभाव की अपेक्षा नास्तिरूप है और स्वरूप के सद्भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है वही अनिर्वचनीय है यह सब प्रमाण पक्षका वाच्य है ॥ ७५९ ॥

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ॥७६०॥

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारन्तर्भूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

न विनश्यति वस्तु यथा तथा नैव उत्पद्यते नियमात् ।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ॥ ७६२ ॥

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्य विवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अभिनवभावपरिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः ।
इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥ ७६४ ॥

परिणममानेऽपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेऽपि ।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥ ७६५ ॥

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि ।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥ ७६६ ॥

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत् ।
असदुत्पन्नं न हि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥ ७६७ ॥

सत् प्रति समय यथायोग्य उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है यह नियम से प्रसिद्ध अनित्य नय है जो व्यवहार नय का एक भेद है ॥ ७६० ॥ सत् नियम से न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है क्योंकि उसका अन्य प्रकार से परिणमन नहीं होता। यह स्वयं एक नित्य नय है जो व्यवहार नय के अन्तर्गत है ॥ ७६१ ॥ जैसे वस्तु उत्पन्न नहीं होती है वैसे ही नियम से वह नष्ट भी नहीं होती है और इसी प्रकार वह केवल स्थित भी नहीं रहती है। यह निश्चय नय का पक्ष है ॥ ७६२ ॥ जो यह सामान्य की विवक्षा होने पर विशेष रूप से नहीं है वही विशेषों की विवक्षा होने पर सामान्य रूप से नहीं है यह प्रमाण पक्ष है ॥७६३॥

न्यूतन भावका परिणमन होने से वस्तु में न्यूतन भाव होता है। ऐसा जो कोई कथन करता है वह पर्यायार्थिक नयों में अभाव नय है ॥ ७६४ ॥ जिस वस्तु के जैसे भाव हैं उनके अनुसार उस वस्तु के परिणमन करने पर और विनष्ट होने पर भी अपूर्व भाव नहीं होता है ऐसा मानना भावनय है जो कि पर्यायार्थिक नय का एक भेद है ॥ ७६५ ॥ शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु में सब प्रकार से न न्यूतन भाव होता है और न प्राचीन भाव ही होता है, क्योंकि इस नय की दृष्टि में न वह अभूतपूर्व है और न भूतपूर्व ही ॥ ७६६ ॥ जो यह सत् प्रतिक्षण न्यूतन भावों के द्वारा परिणमनशील है वह न तो असत् [illegible]

इत्यादि यथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम् ।
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावयुतम् ॥ ७६८ ॥

से उत्पन्न ही होता है और न सत् रूप से विनष्ट ही होता है यह प्रमाणपक्ष है ॥ ७६७ ॥ इत्यादि रूप से यथा सम्भव जितना भी नयचक्र यहाँ पर कहा गया है और उसी के समान जितना भी नयचक्र यहाँ पर नहीं कहा गया है उसे भी आगम के अनुसार अनेक भावों की अपेक्षा अलग अलग रूप से घटित कर लेना चाहिए ॥ ७६८ ॥

विशेषार्थ—जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि इस ग्रन्थ में द्रव्यार्थिक नय को ही निश्चयनय और पर्यायार्थिक नय को ही व्यवहार नय बतलाया गया है। साथ ही इनका क्या स्वरूप है इस पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। अब यहां इस बात का विचार करना है कि अन्यत्र द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का या निश्चय नय और व्यवहार नय का जो स्वरूप बतलाया गया है उससे इसमें क्या अन्तर है। इसके लिये हमें समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थ और षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में स्वीकार की गई पद्धति को पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण करके ही विचार करना होगा। समयसार में निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ बतलाया है! वहां इसके अतिरिक्त इन नयों के विषय में और कुछ भी नहीं लिखा गया है। तथापि समयसार आदि ग्रन्थों में जिस क्रम से वर्णन किया गया है उस पर दृष्टि डालने से इन नयों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। वहां जो कुछ भी बतलाया गया है उसका एक भाग यह है कि जो नय पर निमित्त की अपेक्षा किये बिना वस्तु के गुण धर्मों को उसी के बतलाता है वह निश्चय नय है और जो नय निमित्त की प्रमुखता से वस्तु का कथन करता है वह व्यवहार नय है। इस प्रकार जब हम समयसार के उक्त निश्चय नय के साथ इस ग्रन्थ के निश्चय नय का मिलान करते हैं तो हमें इन दोनों की प्रतिपादन शैली में मौलिक अन्तर नजर आता है। समयसार में जहाँ विवक्षित वस्तु के गुण धर्म उसी के बतलाने रूप अर्थ में निश्चयनय चरितार्थ है वहाँ इस ग्रन्थ में व्यवहार मात्र का प्रतिषेध करना निश्चयनय का विषय माना गया है। यद्यपि समयसार में प्रतिषेध द्वारा भी निश्चय नय का विषय दर्शाया गया है परन्तु इसकी मर्यादा नैमित्तिक धर्मों को विवक्षित वस्तु के न बतलाने तक ही सीमित है। इसलिए उसका भी मिलान इस ग्रन्थ में वर्णित निश्चय नय के साथ पूरी तरह से नहीं किया जा सकता है। फिर भी समयसार में एक दृष्टि का निर्देश और किया है जो अखण्ड एकत्व का निर्देश करती है। जैसे न दर्शन है न ज्ञान है और न चारित्र है किन्तु एक ज्ञायकभाव है। मालूम पड़ता है कि पञ्चाध्यायीकार ने निश्चय नय के विषय को इसी अर्थ में चरितार्थ माना है। यह दृष्टि अशेष विशेषों से हटाकर चित्त को एक सामान्य तत्त्व की ओर ले जाती है जो द्रव्यार्थिक नय का वाच्य है। इसी से पञ्चाध्यायीकार द्रव्यार्थिक नय और निश्चय नय को एक मानते हैं। पंचाध्यायीकार के मत से यह दृष्टि प्रधान है और स्वरूप सिद्धि के लिये परमावश्यक है। मालूम होता है कि जो पर्यायबुद्धि न होकर द्रव्य दृष्टिवाला है वही सम्यग्दृष्टि है यह कथन इसी पर से फलित किया गया है। इसी प्रकार सैद्धन्तिक ग्रन्थों में जो द्रव्यार्थिक नय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये भेद मिलते हैं वहाँ जिस विवक्षा से ये भेद किये गये हैं उस विवक्षा में और इस ग्रन्थ में बतलाये गये निश्चय नय की विवक्षा में यह अन्तर है कि सिद्धान्त ग्रन्थों में कालकृत भेद के पूर्व तक जितना भी भेद है वह सब द्रव्यार्थिक नय का विषय मान लिया गया है किन्तु इस ग्रन्थ में द्रव्यादि की अपेक्षा किये गये भेद मात्र को पर्याय माना गया है। यही सबब है कि इस ग्रन्थ में द्रव्यार्थिक नय के भेदों का निषेध किया गया है जब कि अन्यत्र उसके नैगमादि भेद बन जाते हैं। आशय यह है कि इस ग्रन्थ में भेदमात्र को पर्याय कोटि में लिया गया है इसलिये इस

हिसाब से विचार करने पर नैगमादि सभी नय पर्यायार्थिक नय व्यवहार नय के भेद प्राप्त होते हैं और द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नय एक प्राप्त होता है पर इस ग्रन्थ में द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नय को भूतार्थ और पर्यायार्थिक नय या व्यवहार नय को अभूतार्थ बतलाया है सो इसका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रकार भेद करने में कहीं कार्य कारण की, कहीं निमित्तनैमित्तिक भाव आदि की विवक्षा लेनी पड़ती है उस प्रकार अभेद में इन सबकी विवक्षा नहीं रहती। यतः कार्यकारण भाव और निमित्तनैमित्तिक आदि भाव पर हैं अतः व्यवहार नय अभूतार्थ है और निश्चय नय में पर की अपेक्षा नहीं है इसलिये वह भूतार्थ है। इस प्रकार अन्यत्र जो व्यवहार नय और निश्चयनय का खुलासा किया गया है उससे इस ग्रन्थ में वर्णित निश्चय नय और व्यवहार नय के स्वरूप में कहाँ तक सारूप्य और कहां तक अन्तर है यह निर्णय हो जाता है।

प्रथम अध्याय समाप्त।

दूसरा अध्याय

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोऽपि कश्चित्पीतः सितोऽपरः ॥ १ ॥

बहुव्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशत्वतः ।
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥ २ ॥

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शब्दतोऽर्थतः ।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः ॥ ३ ॥

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इसकी सिद्धि—

जिस प्रकार कोई धातु पीली और कोई धातु सफेद होती है यह बात असिद्ध नहीं है। उसी प्रकार वस्तु सामान्य रूप और विशेषरूप होती है यह बात भी स्वतः सिद्ध है ॥ १ ॥ जो सादृश्यरूप से बहुत में व्याप्त करके रहता है वह सामान्य कहलाता है और जो अल्प में व्याप्त कर रहता है वह सामान्य से भिन्न विशेष कहलाता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—यहां वस्तु के सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद किये गये हैं। सदृश परिमाण के कारण वस्तु सामान्य कहलाती है और अवान्तर भेदों की अपेक्षा वह विशेष कही जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेष उभयरूप होती है। वैशेपिकों ने जिस प्रकार सामान्य को स्वतन्त्र और विशेष को स्वतन्त्र पदार्थ माना है उस प्रकार जैन परम्परा में सामान्य को स्वतंत्र और विशेष को स्वतन्त्र पदार्थ न मान कर परस्पर सापेक्ष माना गया है। वैशेषिक मानते हैं कि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि विविध जातियां हैं जो सर्वथा नित्य और व्यापक हैं। किन्तु जैन परम्परा में ऐसी नित्य और व्यापक जातियां नहीं मानी गई हैं। यहां सामान्यका अर्थ सदृश परिणाम लिया गया है जो अनेक व्यक्तिनिष्ठ होने से बहुव्यापक माना गया है। यहां बहुव्यापक का अर्थ बहुत देश में व्याप्त कर रहना नहीं है। वैशेषिक ऐसा मानते हैं कि जिस प्रकार दो मनुष्यों में मनुष्यत्व पाया जाता है उसी प्रकार दो मनुष्यों के अन्तराल में भी मनुष्यत्व रहता है। परन्तु जैन परम्परामें ऐसा नहीं माना गया है। यहां मनुष्यों में तो मनुष्यत्व माना गया है परन्तु मनुष्यों के अन्तराल में मनुष्यत्व नहीं माना गया है। यहां मनुष्यरूप सदृश परिणाम ही मनुष्यत्व का अर्थ लिया गया है। इस लिये प्रकृत में जो सामान्य को बहुव्यापक और विशेष को अल्पव्यापक बतलाया है सो इसका इतना ही अर्थ है कि जो बहुत व्यक्तियों में पाया जाता है वह सामान्य कहलाता है और जो अल्प व्यक्तियों में पाया जाता है वह विशेष कहलाता है। इससे सामान्य और विशेष ये आपेक्षिक धर्म हैं यह भी सिद्ध हो जाता है। प्रकृत में इसी अपेक्षा से वस्तु के सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद किये गये हैं। यहां वस्तु के इन दो भेदों की सिद्धि में जो पीली और सफेद धातुओं को उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया गया है सो यह स्थूल दृष्टान्त है इतना यहां विशेष जानना चाहिये ॥ १-२ ॥

जीव और अजीव के लक्षण पूर्वक जीव तत्त्व की सिद्धि—

शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा द्रव्यों के जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं। इनमें से जीवका

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाचेतनद्वयम् ।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ४ ॥

अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥ ५ ॥

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवः स्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥ ८ ॥

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्ति संज्ञकाः ।
तद्योगान्मूर्तिमद् द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥ ९ ॥

लक्षण चेतना है और अजीव अचेतन होता है ॥ ३ ॥ द्रव्यों के चेतन और अचेतन ये दो भेद असिद्ध नहीं हैं किन्तु प्रसिद्ध दृष्टान्त से ये सुसिद्ध हैं। यदि चेतन और अचेतन को अलग अलग नहीं माना जाता है तो घटादिक से जीता हुआ शरीर विशिष्ट कैसे सिद्ध हो सकता है ॥ ४ ॥ जीव है, क्यों कि सुखादिक का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। जो जीव नहीं है उस सुखादिक का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी नहीं होता, जैसे सुप्रसिद्ध घट। इस प्रकार इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु के साथ प्रत्यक्ष द्वारा जीव का निश्चय करके आत्मसिद्धि के लिये उसकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। यह जीवका स्वरूप हुआ और अजीव इससे विपरीत गुणधर्मवाला है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—यहां द्रव्यों के जीव और अजीव ये दो भेद करके उनकी सिद्धि की गई है। इन दोनों में चेतना के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा भेद है। घटादिक से जीते हुए शरीर की जो विशेषता है वह ही एक ऐसा प्रमाण है जो इन दोनों के पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसके अलावा सुखादिक का जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है इससे भी जीव की स्वतंत्र सत्ता जानी जाती है। इस तरह जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं एक जीव और दूसरा अजीव। जीवका स्वभाव ज्ञान दर्शन है और अजीव इससे विलक्षण स्वभाववाला है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३-६ ॥

मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों की सिद्धि—

द्रव्यों के मूर्त और अमूर्त ये भेद स्वभाव से हैं। जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह मूर्त पदार्थ है। और जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है वह अमूर्त पदार्थ है ॥ ७ ॥ किन्तु जो वस्तुरूप है वह मूर्त है और जो वस्तुरूप नहीं है वह अमूर्त है यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्व शून्य, आदि अनेक दोष आते हैं ॥ ८ ॥ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इनकी मूर्ति संज्ञा है। ये जिसमें पाये जाते हैं वह मूर्त द्रव्य है और ये जिसमें नहीं पाये जाते वह अमूर्त द्रव्य है ॥ ९ ॥ यह

नासम्भवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।
सन्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः ॥ १० ॥

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
यद्विनापीन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥ ११ ॥

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किन्त्वसिद्ध रसादिमत् ॥ १२ ॥

तद्यथा यद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १३ ॥

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ १४ ॥

बात असम्भव भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुभव से इसकी सिद्धि होती है। हम देखते हैं कि इन्द्रियोंका रूपादि के साथ सन्निकर्ष होता है किन्तु इतर गुणों के साथ नहीं होता ॥ १० ॥

विशेषार्थ—यहाँ द्रव्यों के मूर्त और अमूर्त ये दो भेद सिद्ध करके बतलाये गये हैं। एक चार्वाक को छोड़ कर शेष सब आस्तिक दर्शनकारों ने द्रव्यों के इन भेदों को स्वीकार किया है। उन्होंने इनका भेदक यह लक्षण माना है कि जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य होते हैं वे मूर्त द्रव्य हैं और जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते वे अमूर्त द्रव्य हैं। यद्यपि परमाणु आदि का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता तो भी उनमें ऐसी योग्यता पाई जाती है जिससे उनके स्कन्धरूप हो जाने पर उनका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने लगता है इसलिये वे भी मूर्त हैं। परन्तु चार्वाक मूर्त और अमूर्त के इस भेद को नहीं मानता। वह मूर्त द्रव्यों को वास्तविक और अमूर्त द्रव्यों को अवास्तविक मानता है। इसने इस विषय में एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है। उसका कहना है कि मूर्तद्रव्यों का ही इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है इसलिये वे ही वास्तविक हैं। अमूर्त द्रव्यों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता इसलिये वे वास्तविक नहीं हैं। किन्तु उसका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव के आधार से अमूर्त पदार्थ की सिद्धि होती है। इस तरह जगत् में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं यह निश्चित होता है ॥ ७–१० ॥

अमूर्त पदार्थ की सिद्धि—

शंका—शंकाकार कहता है कि इस समय हमें बतलाइये कि अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष के बिना वस्तु का सद्भाव मानना आकाश फूल के समान है ॥ ११ ॥

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सुखादिकका जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है इससे अमूर्त पदार्थ की सिद्धि होती है। इससे यह मालूम पड़ता है कि अमूर्त पदार्थ वस्तुरूप मानना असिद्ध नहीं है किन्तु उसे रसादिवाला मानना ही असिद्ध है ॥ १२ ॥ खुलासा इस प्रकार है—जो रस का ज्ञान है वह स्वयं रस आदिवाला नहीं है क्योंकि जिस प्रकार ज्ञान सुख और दुःख उभयरूप होता है उस प्रकार वह रसरूप नहीं होता है ॥ १३ ॥ सुख और दुःख आदि ज्ञानसे अभिन्न हैं यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि ।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत् ।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथानुपपत्तितः ॥ १६ ॥

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत् ।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥

तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना ।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः ।
स्वसंवेद्याद्यभावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥ २० ॥

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोऽस्त्यमूर्तिमान् ।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥ २१ ॥

सुख और दुखः चेतन होनेसे वे ज्ञानके सिवा अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं ॥ १४ ॥ यदि कहा जाय कि स्वैर संचारी होने से जिस प्रकार सुख और दुःख चिदात्मा में व्याप्त हो रहे हैं उस प्रकार ये अचिदात्मा में भी व्याप्त हो रहे हैं सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वर्ण आदि में सुख और दुःखका पाया जाना असम्भव है ॥ १५ ॥ इसलिये चैतन्य आत्मा आदि वास्तव में अमूर्त सिद्ध होते हैं, अन्यथा अच्छी तरह से सिद्ध किये गये सुखादिक नहीं बन सकते हैं ॥ १६ ॥

शंका—सुखादिक मूर्तीक हैं इसलिए अमूर्त पदार्थ मानना असिद्ध है। खुलासा इस प्रकार है—जो रसका ज्ञान है वह चूंकि रसवाला है इसलिए रस ही है ॥ १७ ॥ इस प्रकार रसज्ञान के मूर्त हो जाने पर विना कारण के अमूर्त पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है, क्योंकि साध्य का साधन के साथ अविनाभाव होता है। न्याय की रीति भी यही है। उसका अतिक्रम नहीं किया जा सकता ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जो रसादि को विषय करनेवाला ज्ञान होता है वह स्वयं रसरूप नहीं हो जाता है। वास्तव में ज्ञान अमूर्त ही होता है, वह तो मूर्तपने के उपचार से केवल मूर्त माना गया है ॥ १९ ॥ किंतु इससे ज्ञान को सर्वथा मूर्त नहीं माना जा सकता जिससे कि वह वर्णादिक वाला सिद्ध होवे। यदि उसे सर्वथा मूर्त माना जायगा तो उसे जडत्व प्राप्त होगा जिससे वह स्वसंवेदी आदि रूप नहीं बनेगा ॥ २० ॥ इसलिये स्वानुभव प्रमाण के बल से आगमानुसार वर्णादि से रहित अमूर्त जीवादि पदार्थ हैं। ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—मूर्त पदार्थों की सिद्धि पहले कर आये हैं! अब यहाँ अमूर्त पदार्थों की सिद्धि करके बतलाई गई है। यह पुराना वाद है कि जीव मूर्त है कि अमूर्त। चार्वाक मानता है कि चेतना

लोकालोकविशेषोऽस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा ।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ २२ ॥

सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः ।
व्योममात्रावशेषत्वात् व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥

भूत चतुष्टय के योग्य मिश्रण का परिमाण है इसलिए वह मूर्त ही है। किंतु सभी आस्तिक उसके इस मत से सहमत नहीं हैं। सब ने किसी न किसी रूप में जीव द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। जैन दर्शन भी जीव की स्वतंत्र सत्ता मानता है। उसने जीव को ज्ञान और सुख आदि रूप माना है, रसादिवाला नहीं। उसकी इस विषय में यह युक्ति है कि जिस प्रकार 'मैं सुखी हूं, दुखी हूं' ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है उस प्रकार 'मैं रूपवाला हूं रसवाला हूँ' ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि रूप रसादिवाले पदार्थों से अपने को सुखी दुखी अनुभव करने वाला पदार्थ भिन्न है। यद्यपि अपने से भिन्न धन मकान आदि के योग से भी 'मैं धनवाला हूं, मैं मकानवाला हूँ' ऐसा प्रत्यय देखा जाता है और आत्मा के साथ संयोग को प्राप्त हुए शरीर के निमित्त से 'मैं रूपवाला हूँ, मैं कुरूप हूँ' ऐसा प्रत्यय देखा जाता है पर यह प्रत्यय जिस प्रकार भ्रममूलक है उस प्रकार 'मैं सुखी हूँ, 'मैं ज्ञानवाला हूँ' यह प्रत्यय भ्रममूलक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सुख और ज्ञान जिस प्रकार आत्मा से अभिन्न रूप से अनुभव में आते हैं उस प्रकार शरीर, धन मकान आदि अभिन्न रूप से अनुभव में नहीं आते इसलिए यही निश्चय होता है कि सुख और ज्ञान आदि का अभिन्न रूप से अनुभव करनेवाला पदार्थ शरीर आदि से जुदा है और वह अमूर्त है। मूर्त उसे इसलिए नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वह रूप रसवाला नहीं है। इससे उसकी स्वतंत्र सत्ता है। हम देखते हैं कि जहाँ रूप रस पाये जाते हैं वहाँ सुख और ज्ञान आदि नहीं पाये जाते और जहाँ सुख और ज्ञान आदि पाये जाते हैं वहाँ रूप और रस आदि नहीं पाये जाते। इससे मूर्त और अमूर्त पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है। अनुभव में भी ऐसा ही आता है, अतः अमूर्त पदार्थ भिन्न सत्तावाला है यह सिद्ध होता है। आगम में इसके पाँच भेद किये गये हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। प्रकृत में जीव द्रव्य की प्रमुखता है इसलिए इस दृष्टि से सिद्धि की गई है। यद्यपि आत्मा को मूर्त सिद्ध करने के लिए यह युक्ति दी जाती है कि रस-ज्ञान रसके अभाव में नहीं पाया जाता इसलिए वह रसरूप ही होता है, पर विचार करने पर यह युक्ति समीचीन नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यदि रसज्ञान को रस रूप माना जाता है तो जहाँ जहाँ रसका सद्भाव पाया जाता है वहां वहां रसज्ञान का सद्भाव अवश्य होना चाहिये पर ऐसा होता नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि रस भिन्न है और ज्ञान भिन्न है। रसका आधार पुद्गल द्रव्य है और ज्ञान का आधार आत्मा। इस प्रकार मूर्त पदार्थ से अमूर्त पदार्थ भिन्न है यह निश्चित होता है॥ ११-२१ ॥

लोकालोक विचार—

लक्षणानुसार द्रव्यों के लोक और अलोक ऐसे दो भेद हैं। यथा—जो छह द्रव्यमय है वह लोक है और जो इससे विपरीत है वह अलोक है॥ २२ ॥ उसमें भी अलोक छहों द्रव्यों से सर्वथा शून्य नहीं है। किन्तु अलोक में एक आकाश द्रव्य शेष रहता है इसलिये वह केवल आकाशमय है॥ २३ ॥

विशेषार्थ—यहां लोकालोक का विभाग करके बतलाया गया है। अन्यत्र लोक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह बतलाया है कि जहां जीवादिक सब द्रव्य देखे जांय वह लोक है और जहां जीवादिक सब द्रव्य नहीं देखे जाते वह अलोक है। इसी व्याख्या के अनुसार प्रकृत में लोक को छहों द्रव्यमय और अलोक को इससे विपरीत बतलाया है। किन्तु इस से यह न समझ लिया जाय कि अलोक शून्यरूप है। यद्यपि यह

क्रियाभावविशेषोऽस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥ २४ ॥

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥

नासम्भवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशम् ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

तद्यथा चाधिचिद् द्रव्यं देशनारभ्य मया ।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्याननतिक्रमात् ॥ २८ ॥

ठीक है कि अलोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य नहीं पाये जाते। फिर भी वह केवल आकाश द्रव्य तो पाया ही जाता है इसलिये अलोक एक आकाश द्रव्यमय है ऐसा यहां जानना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

द्रव्यों की क्रियावती और भाववती शक्ति का विचार—

उन द्रव्यों के अन्वर्थ रूप से क्रियारूप और भावरूप ऐसे दो भेद हैं। क्यों कि कितने ही द्रव्य भाव और क्रिया इन दोनों से युक्त होते हैं और कितने ही द्रव्य केवल भावरूप होते हैं ॥ २४ ॥ जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य भाव और क्रिया दोनों से युक्त हैं। तथा ये दोनों और शेष चार इस प्रकार ये छहों द्रव्य भाव विशेष से युक्त हैं ॥ २५ ॥ क्रिया और भाव इन दोनों में से जो प्रदेशों का हलन चलन रूप परिस्पन्द होता है वह क्रिया कहलाती है और प्रत्येक वस्तु में होनेवाले प्रवाहरूप उसके परिणमन को भाव कहते हैं ॥ २६ ॥ यह बात असंभव भी नहीं है क्यों कि सभी पदार्थ प्रति समय परिणमन करते रहते हैं। उनमें भी कितने ही द्रव्य कदाचित् प्रदेश चलनात्मक भी देखे जाते हैं ॥ २७ ॥

विशेषार्थ— यहां पर पदार्थों में दो प्रकार की योग्यता का विचार किया गया है—एक क्रिया रूप और दूसरी भावरूप। प्रदेश चलनात्मक योग्यता का नाम क्रिया है और परिणमनशील योग्यता का नाम भाव है। इन दोनों में यह अन्तर है कि क्रिया में प्रदेशों की एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गति आगति देखी जाती है पर भाव में पर्यायान्तर रूप होना ही विवक्षित है। क्रिया रूप योग्यता तो केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही है पर दूसरी प्रकार की योग्यता छहों द्रव्यों में पाई जाती है। इसी से तत्त्वार्थसूत्र में छहों द्रव्यों को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला मान करके भी धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों को निष्क्रिय माना गया है। इस प्रकार जीव और पुद्गल ये दोनों प्रकार की योग्यतावाले तथा शेष चार द्रव्य केवल भावरूप योग्यतावाले सिद्ध होते हैं। पर यह क्रिया रूप योग्यता सिद्धालय में स्थित सिद्ध जीवों के नहीं पाई जाती इतना विशेष है और मुक्त होने पर जीव का यद्यपि ऊर्ध्वगमन देखा जाता है पर तब भी उनके प्रदेशों में चांचल्य नहीं होता ॥ २४-२७ ॥

जीव द्रव्यविचार—

अब युक्ति, आगम और अनुभव से मैं (ग्रन्थकर्ता) पूर्वाचार्यों के विवेचनानुसार जीव द्रव्य का कथन करता हूँ। यथा—

प्रागुद्देश्यः स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात् ।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोऽधिष्ठानमन्वयात् ॥ २९ ॥

अस्ति जीवः स्वतः सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान् ।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादिरूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम् ॥ ३० ॥

साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोऽप्यविश्वस्थः सर्वापेक्षोऽपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥

असंख्यातप्रदेशोऽपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोऽपि च ॥ ३२ ॥

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः ।
स्याद् द्विधा सोऽपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥ ३३ ॥

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
मूर्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः ॥ ३४ ॥

सात तत्त्वों में से सर्व प्रथम जीव का कथन करना चाहिये। उसके बाद अजीव का कथन करना चाहिये। फिर क्रम से आस्रव आदि तत्त्वों का विवेचन करना चाहिये, क्योंकि इन सब तत्त्वों में जीव का अन्वय पाया जाता है, इसलिये जीव ही उनका आधार है ॥ २८-२९ ॥

जो स्वतः सिद्ध है, अनादि अनन्त है, अमूर्तिक है, ज्ञानादि अनन्त धर्मों का आधार होने से द्रव्य है और अविनाशी है वह जीव द्रव्य है ॥ ३० ॥ यह जीव साधारण गुणों से युक्त है तो भी असाधारण धर्मों को धारण करनेवाला है। विश्वरूप है तो भी विश्व में स्थित नहीं है। सबसे निरपेक्ष है तो भी सबको जानता है ॥ ३१ ॥ असंख्यात प्रदेशवाला है तो भी अखण्ड प्रदेशी है। सब द्रव्यों से भिन्न है तो भी सब द्रव्यों में स्थित है ॥ ३२ ॥ ऐसा यह जीव शुद्ध नय की अपेक्षा यद्यपि शुद्ध और एक प्रकार का है तो भी वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मुक्त और अमुक्त के भेद से दो प्रकार का है ॥३३॥

विशेषार्थ—यहाँ जीवादि सात तत्त्वों का नामोल्लेख करके सर्व प्रथम जीव तत्त्व का विचार किया गया है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं—एक सामान्य रूप और दूसरे विशेषरूप। सामान्य धर्म वे हैं जो सब द्रव्यों में या एक से अधिक द्रव्यों में पाये जाते हैं और विशेष धर्म वे हैं जो विवक्षित द्रव्य के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते। ये विशेष धर्म ही उस द्रव्य के अनुजीवी धर्म कहलाते हैं। इनके अस्तित्वद्वारा ही उस द्रव्य की पृथक् सत्ता जानी जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर जीव के स्वतंत्र धर्म ज्ञान, दर्शन, सुख आदि प्राप्त होते हैं। ये धर्म अन्यत्र नहीं पाये जाते, इसलिये इनकी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला जो द्रव्य है उसे ही जीव कहते हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिये। इसका विशेष खुलासा मूल में किया ही है ॥ २८-३३ ॥

संसारी जीवका स्वरूप और जीवके संसारी होने के कारण पर विचार—

जो आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त हो रहा है और जो अनादि से ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः ।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥ ३५ ॥

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।
अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥ ३६ ॥

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।
बन्धाभावोऽथ शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम् ॥ ३७ ॥

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥ ३८ ॥

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावो क्रोधादीनामदर्शनात् ॥ ३९ ॥

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः ।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ४० ॥

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम् ।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ४१ ॥

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः ।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः ॥ ४२ ॥

मूर्च्छित है अतएव बद्ध है वह संसारी जीव है ॥ ३४ ॥ जैसे जीवात्मा अनादि है और जैसे पुद्गल अनादि है वैसे ही जीव और कर्म इन दोनों का बन्ध भी अनादि है क्योंकि जीव और कर्मका ऐसा ही सम्बन्ध चला आ रहा है ॥ ३५ ॥ इन दोनों का अनादि सम्बन्ध कनक पाषाण के समान है, क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है ॥ ३६ ॥ यथा—यदि जीव पहले से ही कर्मरहित मान लिया जाय तो बन्धका अभाव प्राप्त होता है और यदि शुद्ध अवस्था में भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकेगा ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार यदि पुद्गल अनादि काल से सर्वथा शुद्ध है ऐसा मान लिया जाता है तो जैसे बिना कारण के आत्मा के ज्ञान प्राप्त होता है वैसे ही बिना कारण के उसके क्रोधादिक भी प्राप्त होने लगेंगे ॥ ३८ ॥ और तब बन्धके कारणभूत क्रोधादिक के निर्निमित्त पाये जाने से या तो बन्ध नित्य ठहरेगा या क्रोधादिक का अभाव मानने पर द्रव्य और गुणका अभाव प्राप्त होगा ॥ ३९ ॥ इसलिये जीव और कर्मका सादि सम्बन्ध न बनने से इनका परस्पर में सिद्ध सम्बन्ध अनादि सिद्ध होता है। और इनका सादि सम्बन्ध इसलिये भी असिद्ध है क्योंकि उसकी पुष्टि करनेवाला कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है ॥ ४० ॥

जैसे कोई किसी का उपकार करता है और वह उसका प्रत्युकार करता है वैसे ही जीवके अशुद्ध रागादि भावों का कर्म कारण है और रागादि भाव उस कर्म के कारण हैं ॥ ४१ ॥ आशय यह है कि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से रागादि भाव होते हैं और रागादि भावों के निमित्त से न्यूतन कर्मका संचय होता है। इन आये हुए कर्मोंका परिपाक होने से फिर रागादि भाव होते हैं और उन रागादि

एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः ।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥ ४३ ॥

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः ।
सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद् द्वयोः पृथक् ।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

भावों के निमित्त से पुनः बन्ध होता है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध सन्तान की अपेक्षा अनादि है और इसी का नाम संसार है जो सम्यग्दर्शन आदि के बिना दुर्मोच्य है ॥ ४३ ॥

विशेषार्थ—यहां जीवकी संसार दशा और उसके कारणों का निर्देश किया गया है। जगत के जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनादि हैं, इसलिये जीव और पुद्गलका अनादि होना सुतरां सिद्ध है। इस प्रकार यद्यपि जीव अनादि तो है पर वह अनादि से अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसके कारण दो हैं एक तो स्वरूप च्युति और दूसरे उसके कारण पर द्रव्य से सम्बन्ध का होना। यहां यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि पहले स्वरूप च्युति हुई या पहले पर द्रव्यका सम्बन्ध हुआ क्योंकि इन दोनों में कार्य-कारण भाव है। दोनों ही कारण हैं और दोनों ही कार्य भी, अतः जैसे ये अनादि हैं वैसे इनका सम्बन्ध भी अनादि है यह सिद्ध होता है। ऐसा न मानने पर अनेक दोष आते हैं जिनका निर्देश मूल में किया ही है ॥ ३४—४३ ॥

बन्ध का कारण—

आत्मा और कर्म का जो बन्ध होना है वह केवल सम्बन्ध मात्र से प्रदेशों का नहीं होता है किन्तु वह आत्मा और कर्म सापेक्ष होकर भी अशुद्ध भावों से होता है ॥ ४४ ॥ चुम्बक पत्थर के द्वारा खिचो हुई सुई के समान आत्मा और कर्म इन दोनों में अलग अलग विभाव नाम की शक्ति है जो परस्पर में बन्ध का कारण है ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल में विभाव और स्वभाव रूप परिणमन करनेवाली एक शक्ति है जिसके कारण जीव संसार में विभाव रूप परिणमन करता है और संसार के निमित्त हटते ही उसका स्वभावरूप परिणमन होता है। बन्ध का कारण यही है। इस तरह एक ओर जीव में स्वयं अशुद्धता आई हुई है जो अनादि है और दूसरी ओर पुद्गल कर्म वर्गणाओं में इसके निमित्त होने की योग्यता है, अतः इस प्रकार परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होने से जीव और कर्म का बन्ध होता है। आशय यह है कि जीव के प्रदेशों का और कर्म परमाणुओं का मिल कर एक क्षेत्रावगाही हो जाना ही बन्ध नहीं है किन्तु जीव की अशुद्धता का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणुओं में आगामी काल में इस अशुद्धता के निमित्त बनने की योग्यता का आना और ऐसी योग्यतावाले निमित्तों को पाकर जीव का अशुद्ध बनते रहना इस तरह मिल कर इन दोनों में जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होने की योग्यता को लिये हुए सम्बन्ध होता है वही वास्तव में बन्ध है। ऐसी योग्यता के आने पर ही जीव और कर्म परमाणुओं का संश्लेष रूप सम्बन्ध होता है अन्यथा नहीं। चुम्बुक पत्थर और सुई में जैसे पृथक् पृथक् आकर्षण करने और आकृष्ट होने की योग्यता है इसी प्रकार जीव और पुद्गल इन दोनों में मिल कर विभाव रूप परिणमन करने की योग्यता है, इसलिये यह योग्यता ही बन्ध का कारण मानी गई है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ४४-४५ ॥

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत् तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

नाप्यसिद्धं स्वतः सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा चित्समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ ५० ॥

बन्ध के तीन भेद और उनका स्वरूप—

वास्तव में बन्ध तीन प्रकारका है—भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध, और उभय बन्ध। प्रारम्भ के दो प्रत्येक हैं और तीसरा जीव और पुद्गल इन दोनों के मेल से होता है ॥ ४६ ॥ भाव बन्ध रागद्वेष रूप होता है इसे जीव बन्ध भी कहते हैं। द्रव्य बन्ध कर्मरूप पुद्गल पिण्ड को कहते हैं। अथवा कर्म रूप शक्ति को द्रव्य बन्ध कहते हैं ॥ ४७ ॥ तथा जीव और कर्म इन दोनों के प्रदेशों का परस्पर में बन्ध्यबन्धक भाव उभय बन्ध कहलाता है जो भाव बन्ध के निमित्त से होता है ॥ ४८ ॥

विशेषार्थ—यहां बन्ध के तीन भेद किये गये हैं भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध और उभय बन्ध। इनमें से प्रारम्भ के दो वस्तुगत योग्यता की अपेक्षा स्वीकार किये गये हैं और अन्तिम कार्य रूप से स्वीकार किया गया है। जीव में निमित्त वश अशुद्ध होने की अनादि कालीन योग्यता है जिससे वह निमित्त पाकर अशुद्ध होता है। पुद्गल में भी स्वभाव से ऐसी योग्यता है जिससे वह जीव की अशुद्धता के निमित्त से उससे संयुक्त होता है इसलिये ये दोनों प्रत्येक बन्ध कहलाते हैं। यहां प्रत्येक बन्ध में वस्तुगत योग्यता ही ली गई है। फिर भी इन्हें बन्ध इस लिये कहा क्यों कि मूल में ऐसी योग्यताएं ही उभय बन्ध का कारण हैं। जीवकी वर्तमान अशुद्ध परिणति उभय बन्ध का कारण है इसलिये तो वह भाव बन्ध कहलाया और पुद्गल की ऐसी योग्यता कालान्तर में जीव की अशुद्धता का कारण है इसलिये वह द्रव्य बन्ध कहलाया। यह इन दोनों के नाम करण का बीज है। किन्तु तीसरे बन्ध को उभय रूप इसलिये कहा है क्यों कि वह वैसी योग्यता के रहते हुए जीव और पुद्गल इन दोनों के मेल से होता है। यह न भाव बन्ध रूप है, न द्रव्य बन्ध रूप है और न इन दोनों के संयोग रूप ही किन्तु इनसे विलक्षण है। यह तो जीव और पुद्गल में वैसी योग्यता के रहते हुए भाव बन्ध के निमित्त से जीव और पुद्गल के प्रदेशों का परस्पर बंध जाने रूप है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ४६—४८ ॥

जीव और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि—

जीव और कर्म का अस्तित्व असिद्ध है यह बात भी नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है। अथवा स्वानुभवगर्भ युक्ति से जीव और कर्म का अस्तित्व जाना जाता है। अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से इनका अस्तित्व जाना जाता है ॥ ४९ ॥ 'मैं हूं' इस प्रकार का ज्ञान होता है जिससे जीव का अस्तित्व जाना जाता है तथा कोई दरिद्र है और कोई श्रीमान् है इससे कर्म का अस्तित्व जाना जाता है ॥ ५० ॥

यथास्तित्वं स्वतःसिद्धं संयोगोऽपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥ ५१ ॥

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत् ।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥ ५२ ॥

नैवं यतः स्वतःसिद्धः स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोऽर्हति ॥ ५३ ॥

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।
एवंविधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ—यहां जीव और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। जीव का अस्तित्व तो 'मैं हूं' इस प्रकार के ज्ञान से सिद्ध होता है और उस 'मैं' पदवाच्य आत्मा की तरतम रूप विविध अवस्थाओं के देखने से कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यद्यपि दरिद्रता और श्रीमन्ती यह सीधा कर्म का कार्य नहीं है पर सकर्मा आत्मा के ही भावानुसार बाह्य पदार्थों का न्यूनाधिक सम्बन्ध देखा जाता है इसलिये परम्परा इससे भी कर्म के अस्तित्व की सिद्धि होती है। यही सबब है कि प्रकृत में ग्रन्थकर्ता ने एक का दरिद्र होना और दूसरे का श्रीमान होना कर्म के अस्तित्व में साधक माना है। वास्तव में दरिद्रता और श्रीमन्ती यह राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का फल है कर्म का नहीं। कर्म तो आत्मा की विविध अवस्थाओं के होने में निमित्त है और उसमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करता है जिससे वह अवस्थानुसार शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को योग द्वारा ग्रहण करके तद्रूप परिणमाता है। कर्म कुछ सीधा धन सम्पत्तिके इकट्ठा करने में निमित्त नहीं होता। उससे तो राग द्वेष आदि भाव होते हैं और इन भावों के अनुसार जीव धन, घर, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों के सयोग वियोग में प्रयत्नशील रहता है, इसलिये इन्हें सीधा कर्म का कार्य नहीं मानना चाहिये[1]॥४६-५०॥

जीव और कर्म तथा उनके बन्ध की सिद्धि

जिस प्रकार जीव और कर्म का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार इनका संयोग भी स्वतः सिद्ध है अन्यथा कर्तापन और भोक्तापन आदि भावों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥ ५१ ॥

शंका—द्व्यणुक आदि की तरह मूर्त पदार्थ से मूर्त पदार्थ ही बंधता है। मूर्त कर्म के साथ अमूर्त आत्मा का बन्ध नहीं हो सकता ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्यों कि जीव और कर्मका बन्ध स्वतः सिद्ध है। इनका ऐसा ही स्वभाव है जो तर्कका अविषय है इस लिये वह आक्षेप के योग्य नहीं फिर भी चाहो तो उसकी परीक्षा की जा सकती है ॥ ५३ ॥ जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता है वह किसीने उपार्जित नहीं किया है। स्वभाव से ही वह ऐसा है। यदि उसे ऐसा नहीं मानते हो तो स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श करके जान सकते हो ॥ ५४ ॥ वैसे ही जीव और पुद्गल कर्म का बन्ध भी अनादि और स्वतः सिद्ध है। वह

१— इसकी विशेष जानकारी के लिये सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थ की भूमिका पढ़िये।

चेत् बुभुत्सास्ति चित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।
मद्यादिना समूर्तं स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ५७ ॥

नासिद्धं तत्तथा योगाद् यथा दृष्टोपलब्धितः ।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद् द्वयम् ॥ ५८ ॥

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥

नासिद्धश्चोपचारोऽयं मूर्तं यत्तत्त्वतोऽपि च ।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥ ६० ॥

किसने कहां पर कैसे किया यह प्रश्न आकाश फूल के समान है ॥ ५५ ॥ इतने पर भी यदि तुम्हारे चित्त में यह जानने की इच्छा हो कि यह बात ऐसी है या अन्य प्रकार से है तो स्वानुभव प्रत्यक्ष से इसका विचार कर सकते हो ॥ ५६ ॥ उदाहरणार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये वास्तव में अमूर्त हैं फिर भी वे मूर्त मद्य आदिक के सम्बन्ध से उनके परिपाक के अनुसार वैसे हो जाते हैं इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ५७ ॥ मदिरा के सम्बन्ध से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वैसे हो जाते हैं। यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्यों कि प्रत्यक्ष से ऐसा ही उपलब्ध होता है। यह हम प्रत्यक्ष से देखते हैं कि मदिरा आदि का संयोग हुए बिना वे दोनों ज्ञान मूर्छित नहीं होते ॥ ५८ ॥ फिर भी यहां जो इन दोनों ज्ञानों को मूर्त कहा है सो उपचार से ही कहा है। वास्तव में वे दोनों ज्ञान मूर्त नहीं हैं, क्यों कि किसी भी अवस्था में पदार्थ की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता ॥ ५९ ॥ और यह उपचार असिद्ध नहीं है, क्यों कि ये दोनों ज्ञान वास्तव रीति से भी मूर्त हैं। पदार्थों की शक्ति की विचित्रता ही ऐसी है जिससे ये स्वतः अपने अपराधवश मूर्त हो रहे हैं ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—यहां पर जीव और कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उनके सम्बन्ध की सिद्धि की गई है। प्रश्न यह है कि जब कि जीव अमूर्त है और कर्म मूर्त तब इनका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? ग्रन्थकार ने इस प्रश्न का जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि यह सम्बन्ध अनादि से स्वतः सिद्ध है अतः इसमें तर्क नहीं हो सकता है। जैसे अग्नि स्वभाव से उष्ण है उसी प्रकार यह सम्बन्ध भी स्वभाव से है। आशय यह है कि जीवमें स्वभाव से अनादि कालीन ऐसी योग्यता है जिससे वह कर्मसे बंधता है और कर्म भी स्वभाव से ऐसी योग्यतावाला है जिससे वह जीव से सम्बद्ध होकर जीवमें विपरिणति पैदा करने में निमित्त होता है। ज्ञान यद्यपि जीव का धर्म है तो भी जैसे मदिरा के सम्बन्ध से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मूर्छित देखे जाते हैं उसी प्रकार जीव कर्म से बंधता है यहां ऐसा समझना चाहिये। मुख्य बात यह है कि मूर्त कर्म भी सदात्मक पदार्थ है और अमूर्त जीव भी सदात्मक पदार्थ है, अतः इनका बन्ध होने में कोई बाधा नहीं आती। फिर भी बन्ध का कारण जीवकी अशुद्धता है जो उसमें अनादि काल से विद्यमान है अतः वह कर्म से बंधता रहता है और जब तक यह अशुद्धता रहेगी तबतक बंधता रहेगा ऐसा ही वस्तु का परिणमन है उसे कोई रोक नहीं सकता। जैसे जीव को यह अशुद्धता की धारा अनिमित्तक है, जीव में से ही आती है उसी प्रकार प्रति समय होनेवाली वह अशुद्धता कर्मनिमित्तक

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥ ६१ ॥

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ६२ ॥

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ६३ ॥

अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः।
ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥ ६४ ॥

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद् घटः।
मद्याकृत्या तथा ज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ६५ ॥

नैवं यतो विशेषोऽस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ ६६ ॥

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद् द्विषद् यथा ॥ ६७ ॥

भी है। इस प्रकार यह संबंध जहाँ स्वभाव सिद्ध ठहरता है वहां वह अन्यसापेक्ष भी सिद्ध होता है। जगत् का समूचा व्यवहार इसी आधार पर चल रहा है इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। ज्ञान को मूर्त और अमूर्त इसी आधार से कहा जाता है। अमूर्त आत्मा का धर्म होने से तो वह अमूर्त है और निमित्त की अपेक्षा होनेवाला ज्ञान मूर्त है अन्यथा ज्ञान के मतिज्ञान आदि भेद नहीं बन सकते ॥ ५२-६० ॥

स्वाभाविकी और वैभाविकी क्रिया का खुलासा करते हुए पुनः बन्ध का समर्थन—

यद्यपि सत् अनादि सिद्ध है। तथापि वह परिणमनशील होने से उसके दो प्रकार की क्रिया होती है-एक स्वाभाविकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया ॥ ६१ ॥ सत् की वैभाविकी क्रिया केवल पराधीन होती है ऐसा नहीं है, क्यों कि जो शक्ति सत् की नहीं है वह अन्य के द्वारा भी नहीं की जा सकती है ॥६२॥

शंका—यदि वैभाविकी क्रिया पारिणामिक है तो स्वाभाविकी क्रिया से इसमें कौन सी विशेषता शेष रहती है? उदाहरणार्थ ज्ञान पदार्थ को जानता है यह चैतन्य का स्वलक्षण है। ऐसी हालत में उसकी जो ज्ञेयाकार क्रिया होती है वह वैभाविकी क्रिया कैसे हो सकती है ॥ ६४ ॥ इस लिये घटाकार जो घटज्ञान होता है वह जैसे घटरूप नहीं हो जाता है वैसे ही जो ज्ञान मद्याकार होता है वह मद्यरूप भी नहीं हो जाता है। किन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्यों कि बद्धज्ञान और अबद्ध ज्ञान में अन्तर है। जो मोहनीय कर्म से आवृत है वह बद्धज्ञान है और जो मोहनीय कर्म के अभाव से होता है वह अबद्ध ज्ञान है ॥ ६६ ॥ बद्धज्ञान का उदाहरण—जैसे जो ज्ञान मोहनीय कर्म से आवृत है वह प्रत्येक पदार्थ को जानता हुआ इष्ट

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा ।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ६८ ॥

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद् दृष्टोपलब्धितः ।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ६९ ॥

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा ।
अस्त्यमूर्तोऽपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥ ७० ॥

और अनिष्ट पदार्थ के संयोगानुसार स्वयं रागी और द्वेषी हो जाता है ॥ ६७ ॥ तथा जो ज्ञान मोहनीय कर्म के सम्बन्ध से रहित है वह अबद्ध ज्ञान है। जैसे जो शुद्ध क्षायिक ज्ञान लोकालोक का प्रकाशक है वह अबद्ध ज्ञान का उदाहरण है ॥ ६८ ॥ यह बात असिद्ध भी नहीं है किन्तु प्रसिद्ध दृष्टान्त से और प्रत्यक्ष से इसकी सिद्धि होती है। हम देखते हैं कि शीत और उष्ण का अनुभव स्वयं अपने को होता है किन्तु उसको जाननेवाले अन्य को नहीं ॥ ६९ ॥ इस लिये दृष्टान्त के साथ यह बात भले प्रकार से सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान कथंचित् मूर्त होते हैं उसी प्रकार यद्यपि आत्मा अमूर्त है तो भी वह मूर्त कर्मों से बद्ध है ॥ ७० ॥

विशेषार्थ—यहां जीव की स्वाभाविकी और वैभाविकी क्रिया का खुलासा करते हुए आत्मा के अमूर्त होने पर भी उसका मूर्त कर्म से बन्ध हो जाता है इसका पुनः समर्थन किया गया है। बात यह है कि कार्य की उत्पत्ति स्वभाव, नियति और निमित्त इन तीन आधारों से होती है। यहां नियति को स्वभावसे पृथक् रख कर विचार किया गया है वैसे तो नियति का स्वभाव में ही अन्तर्भाव हो जाता है। स्वभाव का अर्थ है कि जिस वस्तु में जैसे कार्यरूप होने की योग्यता होती है वैसा ही कार्य होता है। नियति का अर्थ है कि वह कार्यरूप होने की योग्यता क्रमबद्ध और नियमित है। एक काल में जब एक ही कार्य होता है तो वस्तु में एक काल में इस प्रकार की योग्यता भी एक ही प्रकार की पाई जाती है और निमित्त का अर्थ है कि यह योग्यता निमित्त सापेक्ष कार्यरूप प्रकट होती है। जगत् का समस्त व्यवहार इसी आधार से चल रहा है। कार्य के होने में इन तीनों की अपेक्षा रहती है फिर भी स्वभाव और नियति की प्रधानता है क्यों कि कार्य अपने उपादानरूप होता है और उपादान से इन दोनों का ही ग्रहण होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि निमित्त के बिना भी कार्य हो जाता है। कार्य होता तो है तीनों के मिलने पर ही पर निमित्त यह व्यवहार कार्य सापेक्ष होता है और कार्य उपदानरूप होता है इसी से स्वभाव और नियति की प्रधानता कही है। इसी से प्रकृत में सत् को स्वाभाविकी और वैभाविकी इन दोनों प्रकार की क्रियाओं को पारिणामिकी कहा है। इन दोनों में अन्तर इतना है कि स्वाभाविकी क्रिया के प्रति समय के जुदे जुदे निमित्त नहीं होते जब कि वैभाविकी क्रिया के प्रति समय के जुदे जुदे निमित्त होते हैं। निमित्त दो प्रकार के माने गये हैं—सामान्य निमित्त और विशेष निमित्त। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सामान्य निमित्त हैं। इनके रहते हुए जो जुदे जुदे कार्य के जुदे जुदे निमित्त होते हैं उन्हें विशेष निमित्त कहते हैं। उदाहरणार्थ काल द्रव्य वस्तु के प्रत्येक परिणमन में निमित्त है फिर भी जो परिणमन कालसापेक्ष होकर भी अन्य सापेक्ष होता है वह विशेष निमित्तक कहा जाता है। जैसे मिट्टी की घटरूप पर्याय के होने में काल तो निमित्त है ही पर इसके साथ कुम्हार चक्र आदि भी निमित्त हैं, इसलिये ये विशेष निमित्त कहलाते हैं। स्वाभाविक परिणमन तो केवल सामान्य निमित्त सापेक्ष होता है और वैभाविक परिणमन सामान्य निमित्त सापेक्ष होकर भी

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमथंतः।
वावदूकोऽथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥ ७१ ॥
अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥ ७२ ॥
तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्तिः वैभाविकी परम्।
नोपयोगोऽपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥ ७३ ॥

विशेष निमित्त सापेक्ष होता है यह उक्त कथन का सार है। पर इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि वैभाविक परिणमन जब कि विशेष निमित्त सापेक्ष होता है तो जैसे निमित्त मिलेंगे उसी के अनुसार परिणमन होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो वस्तु का वैभाविक परिणमन से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता दूसरे वस्तु की कार्यकारी योग्यता का कोई नियम नहीं रहता और तीसरे निमित्तानुसार परिणमन मानने पर जीव का अजीव रूप भी परिणमन हो सकता है। इसलिए प्रकृत में इतना ही समझना चाहिए कि वैभाविक परिणमन निमित्त सापेक्ष होकर भी वह अपनी उस काल में प्रकट होनेवाली योग्यतानुसार ही होता है। वस्तु के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमन में इसी आधार से अन्तर किया जाता है। जीव की संसार और मुक्त ये दोनों अवस्थाएँ भी इसी आधार से मानी गई हैं। संसार दशा में प्रति समय के जुदे जुदे निमित्त हैं, इसलिये वह वैभाविक दशा कहलाती है किन्तु मुक्त दशा के प्रति समय के जुदे जुदे निमित्त नहीं हैं इसलिये वह स्वाभाविक दशा कहलाती है। दोनों ही अवस्थाएँ जीव की हैं और जीव में उन दोनों रूप होने की योग्यता भी है। अपनी योग्यतावश ही जीव संसारी है और अपनी योग्यतावश ही वह मुक्त होता है। जैसे परिणमन का साधारण कारण काल होते हुए भी द्रव्य अपने उत्पाद व्यय स्वभाव के कारण ही परिणमन करता है। काल उसका कुछ प्रेरक नहीं है। वैसे ही परिणमन का विशेष कारण कर्म रहते हुए भी जीव स्वयं अपनी योग्यतावश राग द्वेष आदि रूप परिणमन करता है कर्म उसका कुछ प्रेरक नहीं है। आगम में निमित्त विशेष का ज्ञान कराने के लिए ही कर्म का उल्लेख किया गया है। उसे कुछ प्रेरक कारण नहीं मानना चाहिये। जीव पराधीन है यह कथन निमित्तविशेष का ज्ञान कराने के लिये ही किया जाता है, तत्त्वतः प्रत्येक परिणमन होता है अपनी योग्यतानुसार ही। इसी से प्रकृत में वैभाविकी क्रिया की पराधीनता का निषेध किया है। फिर भी स्वाभाविकी और वैभाविकी क्रिया में क्या अन्तर है यह बद्ध और अबद्ध ज्ञान का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। आशय इतना ही है कि जब तक जीव के प्रति समय के जुदे जुदे परिणमन होते रहते हैं और इसलिये उनके जुदे जुदे निमित्त बने रहते हैं तब तक जीव बद्ध कहलाता है और जबसे वे परिणमन एक स्वरूप होने लगते हैं अतएव उनके जुदे जुदे निमित्त नहीं रहते तब से जीव अबद्ध कहलाता है। जीव और कर्म के बन्ध का यही बीज है और इसी से कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥ ६१-७० ॥

बद्धता और अशुद्धता का खुलासा—

शंका— वास्तव में बद्धता क्या है और अशुद्धता भी क्या है? इस विषय को जो विस्तार से समझना चाहता है या जिसे इस विषय में संदेह है उसे इसका क्रम से ज्ञान कराना आवश्यक है?

समाधान— द्रव्यों में एक वैभाविक शक्ति है उसके कार्यकारी होने पर जो अन्य के निमित्त से तद्गुणाकार संक्रम होता है वह बन्ध कहलाता है ॥७२॥ उस बन्ध में केवल वैभाविकी शक्ति कारण नहीं

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसम्भवः ॥ ७४ ॥

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥ ७५ ॥

तस्मात्तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये तद्गुणाकृतिः ।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोऽपराधवान् ॥ ७६ ॥

नासिद्धं तत् परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा ।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥ ७७ ॥

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोऽखिलः ।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥ ७८

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः ।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥ ७९ ॥

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥ ८० ॥

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः ।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥ ८१ ॥

है तथा उसका उपयोग भी कारण नहीं है किन्तु पराधीनता कारण है ॥ ७३ ॥ उस उस द्रव्य की वैभाविकी शक्ति उपजीवी गुण है। वह यदि वास्तव में बन्ध का कारण हो तो मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ७४ ॥ शक्ति का अपने विषय के अनुसार व्यक्त होना ही उपयोग है। यदि वही अभिव्यक्ति बन्ध का कारण हो तो सब बन्ध एक हो जायगा उसमें किसी प्रकार का भेद ही नहीं बनेगा। अर्थात् बन्ध का कारण एक होने से बन्ध भी एक समान हो जायगा ॥ ७५ ॥ इस लिये बन्ध की कारणभूत सामग्री के मिलने पर तद्गुणाकार रूप अपनी पराधीनता का एक दूसरे के आकाररूप परिणमन प्राप्त होता है उसीसे अपराधी यह जीव बंधा हुआ है ॥ ७६ ॥ यह पराधीनता असिद्ध भी नहीं है किन्तु प्रसिद्ध दृष्टान्त से सिद्ध है। जैसे कि अज्ञानी आत्मा शीत और उष्ण का अनुभव करते समय स्वयं अपने को ही शीत और उष्ण मान बैठता है ॥ ७७ ॥ उक्त उदाहरण का खुलासा इस प्रकार है कि शीत और उष्ण ये दोनों मिलकर मूर्त द्रव्य का एक गुण हैं फिर भी अमूर्त आत्मा के 'मैं शीत हूं,' मैं उष्ण हूं' ऐसा अनुभव होता है ॥ ७८ ॥

शंका—यदि वैभाविकी शक्ति पर निमित्त से बन्ध कराने में समर्थ है तो पर निमित्त के बिना वह वैसी क्यों नहीं है। अथवा तब वह उसी प्रकार से रहती है या अन्य प्रकार से रहती है ?

समाधान—यह कहना ठीक है किन्तु वैभाविकी शक्ति नित्य है, क्यों कि वह शक्ति है जैसे अन्य शुद्ध शक्तियां। अब यदि इससे विपरीत माना जाता है तो क्रम से शक्तियों का नाश होने से सत्का ही नाश प्राप्त होता है ॥ ८० ॥ किन्तु उस वैभाविकी शक्ति की शुद्ध अवस्था से अशुद्ध अवस्था अन्योन्य

नासिद्धोऽसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः संदृष्टितो यथा।
वह्नियोगाज्जलं चोष्णं शीतं तत्तदयोगतः ॥ ८२ ॥

हेतुक होती है और उस निमित्त के बिना केवल शुद्ध भाव होता है ॥ ८१ ॥ यदि कहा जाय कि यह सिद्धान्त असिद्ध है सो भी नहीं है किन्तु दृष्टान्त से यह सिद्ध है। यथा अग्नि के निमित्त से जल उष्ण होता है और अग्नि का सम्बन्ध न रहने से वह ठंडा हो जाता है प्रकृत में भी इसी प्रकार जानना चाहिये ॥ ८२ ॥

विशेषार्थ—यहां जीव की बद्धता और अशुद्धता का विचार किया गया है। साधारण नियम तो यह है कि प्रत्येक कार्य अपनी उपादान की योग्यतानुसार ही होता है, जिस कार्य की उपादान में योग्यता न हो वह कार्य उससे कभी भी नहीं हो सकता है। इसलिये इस नियम के अनुसार यह निश्चित होता है कि जीव में स्वयं ही ऐसी योग्यता है जिसके कारण वह बंधता है और यह योग्यता उसकी अनादि कालीन है। इसे ही वैभाविकी शक्ति का विभाव रूप परिणमन कहते हैं। किन्तु यह विभाव रूप परिणमन अन्य निमित्त के बिना नहीं हो सकता, क्यों कि प्रत्येक पदार्थ में उस उस परिणाम के विशेष निमित्त के बिना जितने भी परिणमन होते हैं वे सब स्वाभाविक ही होते हैं, ऐसा नियम है। यहां इस विभाव परिणमन में कारणभूत सामग्री को ही कर्म कहते हैं। जो प्रति समय जीव से बंधते रहते हैं और अपना कार्य करके निवृत्त होते रहते हैं। इस प्रकार जीव के विभाव परिणमन का निमित्त पाकर कर्म बंधते हैं और कर्मों के निमित्त से जीव की विभाव रूप परिणति होती है यह क्रम चलता रहता है। इसीका नाम संसार हैऔर जीव की बद्ध दशा भी यही कहलाती है। इससे जीव के भावों में अशुद्धता आती है। यह अशुद्धता अन्यनिमित्तक होने से उपचार से तद्गुणाकार संक्रम रूप मानी गई है। यहां तद्गुण से, जीव जिससे बंधा है, उसके गुण लिये गये हैं जीव में कर्म के गुणों का संचार होता है जिससे अमूर्त ज्ञान भी मूर्त कहा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जीव कर्मरूप हो जाता है किन्तु इसका इतना ही अभिप्राय है कि इससे कर्मानुकूल जीव के गुणों का परिणमन होने लगता है। मोह का उदय होने पर जीव अन्य पदार्थों में ममता करने लगता है और ज्ञानावरण का उदय होने पर जानने की शक्ति होते हुए भी वह अन्य पदार्थों को जान नहीं पाता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही ऐसा है जिससे जीव की ऐसी परिणति होती है। इसी से इस परिणति को पराधीन कहा जाता है। जीव की पराधीनता यही तो है जो उसे कमजोर बनाये रखती है। जीव की यह परिणति निमित्त के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि निमित्तके बिना ऐसी परिणति के मानने पर दो महान् दूषण आते हैं—एक तो जीव कभी मुक्ति लाभ नहीं कर सकता और दूसरे विविध निमित्तक बन्ध न होने से वह एक प्रकार का ही प्राप्त होता है। या अनिमित्तक बन्ध न होने से जीव सदा शुद्धप्राप्त होता है एक यह भी दूषण आता है। यतः जीव अशुद्ध है अतः उसका निमित्त अवश्य मान लेना चाहिये। यही सबब है कि ग्रन्थकार ने जीव की वैभाविकी शक्ति के विभाव रूप परिणमन का निमित्त कर्म को बतलाया है जो जीव से पृथग्भूत वास्तविक वस्तु है और इसकी पुष्टि में गरम जल का उदाहरण दिया है। जल स्वभाव से ठंडा होता है पर अग्नि का निमित्त पाकर जिस प्रकार वह गरम हो जाता है उसी प्रकार वैभाविकी शक्ति का विशेष निमित्त निरपेक्ष परिणमन सिद्ध दशा है पर कर्म के निमित्त से उसका संसार दशा रूप विभाव परिणमन हो रहा है। इस प्रकार जीव की बद्धता क्या है और उसकी अशुद्धता भी क्या है इसका खुलासा हो जाता है ॥ ७१—८२ ॥

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत् ।
एकः स्वाभाविको भावो भावो वैभाविकोऽपरः ॥ ८३ ॥

चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम् ।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥ ८४ ॥

सद्भावेऽथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम् ।
अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ॥ ८५ ॥

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥ ८६ ॥

दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते ॥ ८७ ॥

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥ ८८ ॥

पारिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चापारिणामिकी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याभावात् संदृष्टयभावतः ॥ ८९ ॥

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥ ९० ॥

स्वतन्त्र दो शक्तियां मानने में बाधा—

शंका—ऐसा मानने पर शक्ति तो एक प्राप्त होती है किन्तु उसका परिणमन दो तरह का प्राप्त होता है एक स्वाभाविक भाव और दूसरा वैभाविक भाव ॥ ८३ ॥ इसलिये यदि द्रव्य की दो स्वतन्त्र शक्तियां मान ली जांय तो इसमें पदार्थों की क्या हानि है ? अपने स्वभावों से होनेवाली स्वाभाविकी शक्ति और अपने विभावों से होनेवाली वैभाविकी शक्ति ऐसी दो शक्तियाँ मान ली जांय ॥ ८४ ॥ पुद्गल कर्मों के सद्भाव में या अभाव में शुद्ध भावों से युक्त स्वाभाविकी शक्ति रही आवे ॥ ८५ ॥ तथा वैभाविकी शक्ति पुद्गल कर्मों के सम्बन्ध से तो परिणमनशील रही आवे और कर्मों का उदय न होने पर वह तदवस्थ रही आवे ॥ ८६ ॥ जिस प्रकार दण्ड के सम्बन्ध से चका स्वयं अपने आप घूमता है। किन्तु दण्ड के सम्बन्ध के बिना वह चित्रके समान स्थिर हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में मान लेने पर क्या आपत्ति है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्यों कि पदार्थ की जितनी भी शक्तियां हैं वे सदैव परिणमन करती रहती हैं इस लिये शुद्ध अवस्था में वैभाविकी शक्ति परिणमन नहीं करती है यह कैसे माना जा सकता है ॥ ८८ ॥ कोई शक्ति परिणमन करती रहती है और कोई शक्ति परिणमन नहीं करती, इस बात को ग्रहण (सिद्ध) करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई उदाहरण ही है ॥ ८९ ॥ इस लिये वैभाविकी शक्ति सब कर्मों का अभाव होने पर अपने भावों से स्वयं स्वाभाविक रूप परिणमन

ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायात् शक्तिद्वयं यतः ।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥ ९१ ॥

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वयस्य नयादपि ।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥ ९२ ॥

नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम् ॥ ९३ ॥

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथा जातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥ ९४ ॥

तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ९५ ॥

करती रहती है ॥ ९० ॥ अतः न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि पदार्थ की जो दो शक्तियां हैं वे अवस्थाभेद से ही दो हैं तत्त्वतः वे दो नहीं ॥ ९१ ॥ यदि उन दोनों शक्तियों का एक साथ सद्भाव मान लिया जाता है तो बड़ा भारी दोष आता है। तब न तो कार्यकारण भाव ही बनता है और न बन्ध मोक्ष ही बनता है। इन दोनों का अभाव प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥ यदि कोई एक शक्ति का ही द्विधाभाव माने सो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्यों कि ऐसा मानने पर वे दोनों भेद एक साथ प्राप्त होते हैं। और उन दोनों भेदों के एक साथ प्राप्त होने पर विभाव भी बिना बाधा के नित्य ठहरता है ॥ ९३ ॥ अतः एक वैभाविकी शक्ति के विभाव रूप और स्वभाव रूप ये दो प्रकार के क्रम से होनेवाले परिणमन मान लेना ही ठीक है।

विशेषार्थ—यहां यह प्रश्न है कि क्रम से होनेवाले विभाव और स्वभाव रूप दो परिणमनों का कारण एक शक्ति है या दो। इस शंका का जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि शक्ति तो एक ही है पर उसके परिणमन दो प्रकार के होते हैं—एक स्वभाव परिणमन जो विशेष निमित्तनिरपेक्ष होता है और दूसरा विभाव परिणमन जो कर्म के निमित्त से होता है। यदि ऐसा न मान कर स्वतन्त्र दो शक्तियां मानी जाती हैं तो कार्यकारण भाव की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है जिससे बन्ध मोक्ष ये कुछ भी नहीं बनते हैं। और ऐसा हो नहीं सकता कि एक ही शक्ति के एक साथ दो प्रकार के परिणमन मान लिये जांय, क्यों कि एक तो एक शक्ति के एक साथ दो प्रकार के परिणमन होते नहीं और कदाचित् विचार के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तो विभाव को नित्य मानना पड़ेगा. अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि शक्ति तो एक ही है पर उसका एक परिणमन तो ऐसा होता है जो विशेष निमित्त सापेक्ष होता है और जिससे संसार दशा प्राप्त होती है तथा दूसरा परिणमन ऐसा होता है जो विशेष निमित्त के बिना होता है और जिसके होने पर यह जीव मुक्त कहलाता है ॥ ८३-९३ ॥

जीव और पुद्गल स्वतन्त्र दो पदार्थ होने पर भी वे क्यों बंधते हैं इसका निर्देश—

शंका—जिस प्रकार वस्तुजात बिना कारण के अनादि से स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार उसका परिणमन भी बिना कारण के स्वतः सिद्ध है ॥ ९४ ॥ यह वस्तु जात अवश्य ही ऐसा है, क्यों कि ऐसा नहीं मानने पर जो निग्रह के योग्य सर्व शंकर और सर्व शून्य आदि दोष प्राप्त होते हैं उनका वारण करना

ततः सिद्धं यथा वस्तु यत् किञ्चिच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९६ ॥

अयमर्थः कोऽपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ९७ ॥

व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेऽपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥ ९८ ॥

वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात् सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोऽप्यपरो हेतुर्न स्यात्किं वा बतेति चेत् ॥ ९९ ॥

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद् द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ १०० ॥

बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारिमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेऽपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ १०१ ॥

बद्धः स्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोऽप्यबद्धयोः ।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥ १०२ ॥

कठिन हो जाता है ॥ ९५ ॥ इस लिये सिद्ध हुआ कि चैतन्य और जड़ रूप जो भी पदार्थ हैं वे सब अपने स्वरूप आदि से अन्य रूप नहीं हो जाते हैं ॥ ९६ ॥ आशय यह है कि कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के एक देशमात्र को भी नहीं प्राप्त होता है, क्यों कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जिसकी जो मर्यादा है वह उसका उल्लंघन नहीं करता ॥ ९७ ॥ जब कि जीव के परिणमन और पुद्गल में व्याप्य व्यापक भाव (कर्त्ताकर्मभाव) नहीं है तो फिर केवल मूर्त द्रव्य ही जीव की वैभाविक परणतिका कारण क्यों होता है अन्य क्यों नहीं होता ॥ ९८ ॥ यदि कहा जाय कि सम्बन्ध विशेष के कारण मूर्त कर्म ही वैभाविक भावका कारण होता है तो हम पूछते हैं कि वहीं पर रहनेवाला अन्य द्रव्य भी उसका कारण क्यों नहीं होता ॥ ९९ ॥

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि जीव द्रव्य और मूर्त द्रव्य बद्ध और अबद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। ये अपने सम्बन्धियों से बद्ध होते हैं और परसम्बन्धियों से अबद्ध होते हैं ॥ १०० ॥ यद्यपि जीव और पुद्गल भिन्न जाति के हैं तथापि इनमें कार्य कारण शक्ति होने से बद्धत्व और अबद्धत्व में वास्तविक भेद हो जाता है ॥१०१॥ बंधे हुए दो पदार्थों की अवस्था विशेष बद्ध कहलाती है और नहीं बंधे हुए दो पदार्थों की स्वतन्त्र अवस्था अबद्ध कहलाती है क्यों कि बन्ध का कारण अनुकूलता है, प्रतिकूल दो पदार्थों में बन्ध नहीं होता है ॥ १०२ ॥

विशेषार्थ—यहाँ यह शंका उठाई गई है कि जब कि जीव भिन्न पदार्थ है और पुद्गल भिन्न पदार्थ है तब फिर जीव का कर्म निमित्तक परिणमन कैसे हो सकता है, क्योंकि जैसे ये पदार्थ स्वतः सिद्ध हैं वैसे परिणमन भी स्वतः सिद्ध है। जहां कर्ता कर्मभाव होता है वहीं विवक्षित परिणमन को, जिस द्रव्य का वह परिणमन होता है, उसका कहा जाता है पर यहां कर्मका जीव की परिणति के साथ जब कर्ता कर्मभाव नहीं है तब फिर इस परिणति को कर्म निमित्तक कैसे माना जा सकता है। नियम यह है

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम् ।
प्रत्येकं तद्‌द्वयं यावत् तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥ १०३ ॥
जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः ।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥ १०४ ॥
तद्‌गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः ।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ १०५ ॥
अर्थोऽयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोऽयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥ १०६ ॥
तथादर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥ १०७ ॥
अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
[आत्मना बध्यते नित्यं भित्तौ क्षिप्तकनकादिवत्] ॥१०८॥

कि जिस पदार्थका जो द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव होता है उसीके अनुसार उसका परिणमन होता है अन्य हेतुक उसका परिणमन कभी भी नहीं बन सकता, इसलिये जीव की अशुद्ध दशाका कारण कर्म को नहीं मानना चाहिये। इतने पर भी यदि इस परिणति का कारण कर्म माना जाता है तो अन्य पदार्थ भी उसका कारण क्यों नहीं हो जाता। यही इसका कारण है अन्य नहीं इसका क्या नियामक है ? इस शंका का जो समाधान किया गया है उसका यह भाव है कि कर्म में ऐसी योग्यता जीव से उसके बद्ध होने से आती है। यद्यपि अन्य पदार्थ वहाँ पर हैं पर वे जीव से बद्ध न होने के कारण जीव की परिणतिविशेष के होने में कारण नहीं पड़ते। माना कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन अपने उपादान के अनुकूल ही होता है। पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का उल्लंघन नहीं करता पर प्रत्येक परिणमन में निमित्त का अपना स्थान अवश्य है। जहाँ एक द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता नहीं होता यह निर्देश किया जाता है वहां उसका यही आशय लेना चाहिये कि निमित्तानुसार परिणमन नहीं होता किन्तु जैसा परिणमन होता है वैसा ही निमित्त मिलता है। फिर भी कहीं कहीं निमित्तानुसार परिणमन का भी निर्देश किया जाता है सो यह निर्देश निमित्त के अस्तित्वमात्र का ही सूचक है और कोई बात नहीं। ६४–१०२ ॥

वास्तव में बन्ध तीन प्रकार का है इसलिये इनके तीनों लक्षण कहने चाहिये। इनमें से दो बन्ध प्रत्येक हैं। अब तीसरे का लक्षण कहते हैं ॥ १०३ ॥ जीव और कर्म इन दोनों का परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा को लिये हुए बन्ध होता है क्योंकि जीव कर्म से बंधा हुआ है और कर्म जीव से बंधा हुआ है ॥ १०४ ॥ जीव का अपने गुणों का निमित्तवश संक्रमण ही वैभाविक भाव है और इस वैभाविक भाव के निमित्त से कर्म बंधता है जो ऐसी सामर्थ्य का कारण है ॥ १०५ ॥ आशय यह है कि जिस कर्म का यह वैभाविक भाव कार्य है उस कर्म का यह कारण भी है। एक भाव बन्ध और एक कर्म यह बन्ध द्वन्द्वज माना गया है ॥ १०६ ॥ जिस प्रकार दर्पण में चक्षु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। सो चक्षु के आकाररूप से संक्रान्त हुआ वह प्रतिबिम्ब कार्य भी है और स्वयं अन्य का कारण भी है। इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ १०७ ॥ इनमें से कर्म यह अचेतन, मूर्त और पौद्गलिक होता है। जो भित्ती पर फेंके गये रजःकण के समान आत्मा से बँध जाता

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद् द्रव्यकर्म तत् ।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥
चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥
तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्था अप्यबद्धवत् ॥ १११ ॥
तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वैतात् स्वतोऽन्यतः ॥ ११२ ॥
तत्राद्वैतेऽपि यद्द्वैतं तद् द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत् सोपाधि द्वितीयकम् ॥ ११३

है ॥ १०८ ॥ जिस प्रकार दो आदमी एक दूसरे का उपकार करते हैं उसी प्रकार द्रव्य कर्म जीव के भावों के विकार का कारण है और जीव के विकारी भाव द्रव्य कर्म का कारण है ॥ १०९ ॥

चैतन्यका विकाररूप परिणमन उसका वैभाविक भाव माना गया है। और इसके निमित्त से बन्ध को प्राप्त हुआ पृथग्भूत पदार्थ (द्रव्यकर्म) भी इसका निमित्त होता है ॥ ११० ॥ परन्तु यह निमित्त-नैमित्तिक परंपरा उभयबन्ध के बाहर नहीं है अर्थात् उभयबन्धरूप ही है, क्योंकि जो विस्रसोपचय चिरकालसे सम्बद्ध हैं और एक क्षेत्रमें स्थित हैं वे निमित्तनैमित्तिक परस्पराके बहिर्वर्ती हैं इसलिये वे अबद्ध परमाणुओंके समान इसके हेतु नहीं होते ॥ १११ ॥

विशेषार्थ—यहां बन्धके भेद और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। बन्धके तीन भेद हैं—द्रव्यबन्ध, भावबन्ध और उभयबन्ध। प्रारम्भके दो प्रत्येक हैं और अन्तका उभयरूप। जीव और कर्मका अनादिकालीन सम्बन्ध है जो परस्पर सापेक्ष है। जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर कर्म बंधते हैं और बंधे हुए कर्मोंके निमित्तसे जीवके अशुद्ध भाव होते हैं। इस प्रकार इनकी परम्परा चलती है। इनमें से जीव प्रदेश और कर्म परमाणुओंका परस्पर बन्ध द्रव्यबन्ध कहलाता है, क्योंकि इसमें प्रदेशोंका बन्ध विवक्षित है। भावबन्धसे राग द्वेष आदि रूप परिणाम लिये गये हैं, क्योंकि ये परिणाम द्रव्यबन्धके कारण हैं और द्रव्यबन्ध सापेक्ष जीवकी अशुद्ध परिणति यह सब मिलकर उभय बन्ध कहलाता है, क्योंकि इसमें द्रव्य बन्ध और जीवकी अशुद्ध परिणति इन दोनोंका संयोग विवक्षित है। इस प्रकार बन्धके ये तीन भेद हैं जो सयुक्तिक हैं। इसकी पुष्टि दर्पणाक्रान्त प्रतिबिम्बसे होती है। द्रव्यबन्ध और भावबन्ध इन दोनोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे ही ये कार्य-कारी हैं, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ—विस्रसोपचय एक क्षेत्रावगाही भी होते हैं और जीवसे सम्बद्ध भी होते हैं तो भी ये अबद्ध परमाणुओंकी तरह जीवकी अशुद्धतामें निमित्त नहीं होते ॥ १०३-१११ ॥

अशुद्धता तथा निरुपाधि और सोपाधि अवस्थाका विचार—

जिस समय बन्ध होता है उसी समय बद्धतासे अविनाभूत अशुद्धता भी आ जाती है। अन्यके निमित्तसे स्वतः अद्वैतसे द्वैतरूप हो जाना यही अशुद्धताका लक्षण है ॥ ११२ ॥ उस अद्वैतमें भी जो द्वैत है वह दो प्रकार का है जो कि औपचारिक है। उनमेंसे अपने अपने अंशोंकी कल्पना करना प्रथम द्वैत है और उपाधिसहित मानना दूसरा द्वैत है ॥ ११३ ॥

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेऽपि सोपाधि निरुपाधि कुतोऽर्थतः ॥ ११४ ॥
अपि चाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥ ११५ ॥
नैवं यतो विशेषोऽस्ति सद्विशेषेऽपि वस्तुतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥ ११६ ॥
तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगाद्धि वारिवत् ॥ ११७ ॥
नासिद्धोऽसौ दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्वतः ॥ ११८ ॥
व्यतिरेकोऽस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद् यन्नैवं शुद्धमेव तत् ॥ ११९ ॥
तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वादबद्धं निरुपाधितः ॥ १२० ॥
क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात् कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥
न स्याच्छुद्धं तथाशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥

शंका—सामान्य की अपेक्षा सत् एक है और विशेष की अपेक्षा वही सत् दो प्रकार का है। इस प्रकार सत्में विशेषताके होने पर भी उसके निरुपाधि और सोपाधि ये दो प्रकार किस कारणसे हैं ॥ ११४ ॥ इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि रस और रूपका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान न तो रस ही है और न रूप ही है किन्तु वास्तवमें वह ज्ञान ज्ञान ही है ॥ ११५ ॥ इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सत्में विशेषता पाई जाती है इसलिये उक्त कथन अपनी विशेषता रखता है जिसकी सिद्धि अन्वय और व्यतिरेक इन दोनोंसे होती है ॥ ११६ ॥ जिस प्रकार शीत अग्निके संयोगसे जलके समान उष्ण हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान पर निमित्तसे अज्ञानरूप हो जाता है यह प्रकृतमें अन्वयरूप दृष्टान्त है ॥ ११७ ॥ यह दृष्टान्त असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानके अज्ञानरूप हो जानेसे उसकी वास्तविक ज्ञानपनेसे भिन्न अवस्था हो जाती है ॥ ११८ ॥ व्यतिरेक दृष्टान्त इस प्रकार है कि आत्मज्ञान यथायोग्य पर निमित्तसे मिथ्यात्व अवस्था सहित हो जाता है और जो ज्ञान परनिमित्तसे रहित है वह शुद्ध ही है ॥ ११९ ॥ जैसे जो क्षायिक ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ विषय करता है वह स्वाभाविक होनेसे शुद्ध है और उपाधि रहित होनेसे अबद्ध है ॥ १२० ॥ तथा जो क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मोंके सद्भावमें होता है वह अपने स्वरूपसे च्युत होनेके कारण युगपत् बद्ध और अशुद्ध है ॥ १२१ ॥ ज्ञान सर्वथा न शुद्ध ही है और न अशुद्ध ही है यदि ऐसा कहो तो बन्धका कारण सम्भव न होने से न बन्ध ही बनता है और न उसका फल ही बनता है ॥ १२२ ॥

अथ चेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ १२३ ॥
माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥ १२४ ॥
अस्ति चित् सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥ १२५ ॥
बद्धः सर्वोऽपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥ १२६ ॥
सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥ १२७ ॥

यदि बिना कारण के बन्ध माना जाता है तो जो बन्ध है वह बन्ध ही रहेगा उसका अभाव नहीं बनेगा। तब जितने भी जीव हैं उनमें कोई भेद नहीं रहने से अर्थात् सबके संसारी हो जाने से अबन्ध को प्राप्त होनेवाला कोई शेष नहीं रहेगा ॥ १२३ ॥ अथवा सिद्ध जीवों के अबन्ध की प्रसिद्धि होने से किसी भी हालत में बन्ध नहीं बनेगा। किन्तु बन्ध कार्य की उपलब्धि होती है इस लिये सर्वथा अबन्ध मानना भी इष्ट नहीं है ॥ १२४ ॥ वास्तव में जीव की बद्ध और अबद्ध ऐसी दो अवस्थाएं पाई जाती हैं। इनमें से अबद्ध अवस्था का उदाहरण क्षायिक ज्ञान है जो सब पदार्थों को साक्षात् जानता है, विकार रहित है, अविनाशी है और बन्ध रहित होने से अबद्ध है ॥ १२५ ॥ तथा बन्ध अवस्था का उदाहरण क्षायोपशमिक ज्ञान है यतः संसार के सब कार्य विपरीत होते हैं इससे सिद्ध हुआ कि सब संसारी जीव बद्ध होते हैं। यतः बन्ध का कारण अन्यथा बन नहीं सकता, इससे सोपाधि ज्ञान की सिद्धि होती है ॥ १२६ ॥ इस प्रकार इतने कथन से सोपाधि और निरुपाधि दोनों प्रकार का ज्ञान सिद्ध होता है। इनमें से जो ज्ञान अशुद्ध होता है वह सोपाधि होता है और जो ज्ञान शुद्ध होता है वह निरुपाधि होता है ॥ १२७ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में अशुद्धता का स्वरूप निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने जो कुछ लिखा है वह मार्मिक है। वस्तुतः वस्तु निर्विकल्प और अखण्ड है। हम ही उसमें बुद्धि से खण्डकल्पना करते हैं। यह खण्डकल्पना दो प्रकार से की जाती है। एक तो वस्तुगत अवस्थाओं, गुणों और प्रदेशों के विश्लेषण द्वारा और दूसरी विविध निमित्तों की प्रधानता से। हैं तो ये दोनों ही कल्पनाएं औपचारिक पर दूसरी कल्पना मुख्यतः अशुद्धता की प्रयोजक मानी गई है। जीव का संसार अवस्था में प्रति समय जो परिणमन हो रहा है, वह होता तो है प्रत्येक जीव की अपनी अपनी योग्यतानुसार ही पर इस परिणमन के प्रति समय के जुदे जुदे निमित्त होते हैं इस लिये वह निमित्त सापेक्ष होने से पर है और इसीका नाम अशुद्धता है। यह जीवकी अपनी कमजोरी है जो उसे प्रति समय के परिणमन में जुदे जुदे निमित्तों की सहायता लेनी पड़ती है। स्वतन्त्रतेच्छु जीव का सारा प्रयत्न इसी कमजोरी को दूर करने के लिये होता है। यह जीवन में अनादि काल से आई हुई है जो अपनी मूल स्थिति का विचार करने से और तदनुकूल अपनी प्रवृत्ति करने से सुतरा दूर हो जाती है और साथ ही इसके निमित्तों से भी छुटकारा मिल जाता है। फिर जीव की स्वाभाविक परिणति का उदय होता है। जिसकी धारा सदाकाल एक सी चलती रहती है। उस धारा के लिये प्रति समय अलग अलग निमित्तों की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु इनके बिना ही उसका उदय होता है। इससे प्रकट है कि जीवकी अशुद्धता सोपाधि है और शुद्धता निरुपाधि है। मूलमें ज्ञानके दृष्टान्त द्वारा इसी बात को समझाया गया है ॥ ११२-१२७ ॥

ननु कस्को विशेषोऽस्ति बद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः ॥ १२८ ॥
नैवं यतो विशेषोऽस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥ १२९ ॥
बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥ १३० ॥
बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः ।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥ १३१ ॥
कार्यरूपः स बन्धोऽस्ति कर्मणां पाकसम्भवात् ।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥ १३२ ॥

बद्धता और अशुद्धता में अन्तर का निर्देश—

शंका—बद्धत्व और अशुद्धत्व इन दोनोंमें क्या भेद है, क्यों कि इन दोनोंमें एकता पाई जाती है इस लिये इनमें कोई भेद नहीं है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि हेतु हेतुमद्भाव अथवा कार्यकारण भावके भेदसे इन दोनोंमें भेद है। इन दोनोंका लक्षण इस प्रकार है—परगुणाकार जो पारिणामकी क्रिया होती है उसी का नाम बन्ध है। और इस क्रिया के होने पर उन दोनों का अपने अपने गुणों से च्युत हो जाना ही अशुद्धता है ॥१२९-१३०॥ हमारा ऐसा निर्णय है कि अशुद्धता बन्ध का कारण भी है और बन्ध का कार्य भी है, क्योंकि अशुद्धता बन्ध के बिना कभी नहीं हो सकती है॥ १३१ ॥ बन्ध कार्यरूप है क्योंकि वह कर्मों के उदय से होता है। और अशुद्धता उसका कारण है, क्योंकि इससे न्यूतन कर्म का बन्ध होता है ॥ १३२ ॥

विशेषार्थ—यहां बद्धता और अशुद्धता के स्वरूप का विचार किया गया है। अभिप्राय यह है कि जीव में बंधने की योग्यता है और पुद्गल में भी बंधने की योग्यता है। यह योग्यता इनकी पारिणामिकी है। उसके रहते हुए जो इनकी परगुणाकार अर्थात् परतन्त्र होनेरूप क्रिया होती है इसी का नाम बन्ध है और स्वभाव च्युति का नाम अशुद्धता है। यहां परगुणाकार परिणमन और स्वभावच्युति ये सापेक्ष शब्द हैं। स्वभावच्युति का यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि जीव के गुण धर्म बदल कर पुद्गलरूप हो जाते हैं और पुद्गल के गुण धर्म बदल कर जीव रूप हो जाते हैं। किन्तु इसका इतना ही अभिप्राय है कि जीव की प्रति समय की परिणति स्वतंत्र न हो कर पुद्गल निमित्तक होती है और पुद्गल की भी परिणति स्वतन्त्र न हो कर जीव के परिणामानुसार विविध प्रकार के कर्म रूप से होती है। इसी का नाम परतन्त्रता है। इस तरह जीव पुद्गल के आधीन है और पुद्गल जीव के आधीन। किन्तु यहां जीव की परतन्त्रता का ही विचार करना है, क्योंकि पुद्गल जड़ है और जीव चेतन है, इस लिये जीव अपनी परतन्त्रता अनुभव कर सकता है पुद्गल नहीं। पुद्गल चाहे जिस अवस्था में रहा आवे उसका किसी भी अवस्था में रहना एकसा है। परतन्त्रता से हानि तो जीव की है, क्योंकि इससे संयोग निमित्तक अनेक सुख दुख भोगने पड़ते हैं और नाना प्रकार की पर्यायों में से होकर गुजरना पड़ता है। इसलिये सर्वत्र जीव की स्वभावच्युति और परतन्त्रता का ही निर्देश किया जाता है। किन्तु यह परतंत्रता जीव की निज उपार्जित वस्तु है। जीव में स्वयं ऐसी योग्यता है जिससे वह सदा से परतन्त्र है। जीव सदा से अपने

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोऽपि तत्त्वतः ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोऽपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ १३३ ॥
एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः ।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥ १३४ ॥
वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः ।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥ १३५ ॥
ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः ।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥ १३६ ॥
सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः ।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥ १३७ ॥
तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः ।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥ १३८ ॥
किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पदसंज्ञकाः ।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥ १३९ ॥
नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नवपदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥ १४० ॥

स्वभाव से च्युत है जिससे वह विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन करता आ रहा है और इस कारण वह पुनः पुनः स्वभाव से च्युत होता रहता है। इस प्रकार जीव की स्वभावच्युति कर्म का कारण भी है और कार्य भी यह निर्णय होता है ॥ १२८—१३२ ॥

निश्चय और व्यवहार नय की अपेक्षा जीवादिक पदार्थों का विचार और व्यवहार नय के स्वीकार करने की सार्थकता—

शुद्धनय की अपेक्षा जीव वास्तव में शुद्ध है और बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा अशुद्ध है यह बात भी असिद्ध नहीं है ॥ १३३ ॥ शुद्ध नय एक है, परिपूर्ण है, निर्द्वन्द्व है और निर्विकल्प है। तथा व्यवहार नय अनेक है, सद्वन्द्व है और सविकल्प है ॥ १३४ ॥ एक शुद्ध चैतन्य जीव इस शुद्ध नय का विषय है और जीवादिक नौ पदार्थ अशुद्ध नय के विषय जानना चाहिये ॥ १३५ ॥

शंका—शुद्ध नय साक्षात् सम्यक्त्व का विषय है अतः उसीका कथन करना चाहिये। इससे अतिरिक्त व्यवहार नय के कथन करने से क्या लाभ है ?

समाधान--यह कहना ठीक है कि शुद्ध नय ही उपादेय है दूसरा व्यवहार नय उपादेय नहीं है। किन्तु न्याय बल से व्यवहार नय भी उपादेय के समान माना गया है ॥ १३७ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि एक ही जीव जब अनादि सन्तान बन्ध पर्याय की अपेक्षा विवक्षित होता है तब वह जीव, अजीव आदि इन नौ भागों में बट जाता है ॥ १३८ ॥ ये नौ पदार्थ यद्यपि पर्यायधर्म हैं तथापि ये केवल जीव के ही पर्याय नहीं हैं किन्तु यह सब उपरक्तिरूप उपाधि है ॥ १३९ ॥ यहां यह उपराग रूप उपाधि असिद्ध नहीं है किन्तु यह अनादि काल से है। वह नौ पदार्थों में व्याप्त हो कर भी जीव की सब पर्यायों में अव्याप्त

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोऽनुभूयते ॥ १४१ ॥

ननूपरक्तिरस्तीति किं वा नास्तीति तत्त्वतः ।
उभयं नोभयं किं वा तत् क्रमेणाक्रमेण किम् ॥ १४२ ॥

है ॥ १४० ॥ यदि सोपरक्ति को उपाधि मान कर आदर नहीं किया जाता है तो ये नौ पदार्थ कैसे बनेंगे। तब एक शुद्ध जीव अनुभव में आना चाहिये ॥ १४१ ॥

विशेषार्थ—नय दो हैं—निश्चयनय और व्यवहार नय। निमित्त के बिना मूल वस्तु के स्वरूप पर दृष्टि रखनेवाला नय निश्चय नय है और निमित्त सापेक्ष वस्तु का विचार करनेवाला नय व्यवहार नय है। जब निश्चय नय की अपेक्षा विचार करते हैं तो अशेष विकारों और भेद प्रभेदों से रहित एक शुद्ध जीव अनुभव में आता है किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा विचार करने पर वह नर नारकादि अनेक दशाओं विशिष्ट अनुभव में आता है। यह वस्तुस्थिति है। इसके रहते हुए प्रश्न यह है कि जिस प्रकार जो मनुष्य सोना चाहता है वह सर्वत्र एक सोने को ही देखता है। अन्य निमित्त से सोने की जो विविध दशाएं होती हैं उस ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती है। वह उन सबको हेय मानता है। उसी प्रकार शुद्ध जीवको अनुभव करनेवाला एक निश्चय नय ही उपादेय है व्यवहार नय नहीं, अतः व्यवहार नय का कथन करना उचित नहीं है। इस शंका का जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि व्यवहार नय का विषय अनुपादेय भले ही हो पर उसे जाने बिना उपरक्ति के त्याग के लिये प्रयत्न नहीं किया जा सकता है। एक जीव पुद्गल के संयोग से नौ पदार्थ रूप हो रहा है। जिसे मिथ्या मान कर भुलाया नहीं जा सकता है। किन्तु इसे और इसके कारणों को भले प्रकार से समझ कर ही इसके त्याग के लिये प्रयत्न किया जा सकता है, अतः व्यवहार नय का कथन करना उचित ही है। यह तो माना ही नहीं जा सकता है कि सांख्य के पुरुष की तरह जीव सर्वदा शुद्ध ही रहता है वह कभी विकारी होता ही नहीं। जो कुछ भी हमें विकार दिखाई देता है वह सब प्रकृति का ही परिणाम है। एक प्रकृति ही बंधती है और वही मुक्त होती है। नौ पदार्थरूप अवस्था प्रकृतिकी होती है पुरुष की नहीं। पुरुष तो सदा टंकोत्कीर्ण की तरह निर्लेप और अपरिणामी है, क्यों कि ऐसा मानना अनुभव में नहीं आता है। जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सब परिणामी नित्य हैं। यह कैसे हो सकता है कि एक पदार्थ परिणमन करे और दूसरा अपरिणामी ही बना रहे। जो स्थिति प्रकृति की है वही पुरुष की भी होनी चाहिये। इसलिये तर्क और अनुभव से यही निश्चित होता है कि प्रकृति के समान पुरुष भी परिणामी है और बन्ध मोक्ष दशा दोनों की होती है। न केवल पुरुष की होती है और न केवल प्रकृति की ही। प्रकृति और पुरुष के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से होनेवाली इसी दशा को उपरक्ति कहते हैं। नौ पदार्थ इसी के फल हैं, अतः इनके त्याग करने के लिये इनका जानना जरूरी है। यही सबब है कि शास्त्रकारों ने इनका निर्देश किया है ॥ १३३–१४१ ॥

उपरक्ति का विचार—

शंका—क्या वास्तव में उपरक्ति है अथवा नहीं है? या क्या यह उपरक्ति उभयरूप है या अनुभयरूप है? या क्या यह उपरक्ति क्रम से होती है या अक्रम से होती है ॥ १४२ ॥ यदि है तब फिर

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः ।
नास्तीति चेदसत्त्वेऽस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥ १४३ ॥
सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै ।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥ १४४ ॥
असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च ।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात् ॥ १४५ ॥
उभयं चेत् क्रमेणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥
यौगपद्येऽपि तद् द्वैतं न समीहितसिद्धये ।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत् परं यतः ॥ १४७ ॥
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः ।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद् द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥ १४८ ॥
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोऽपि वाच्यः शुद्धनयोऽपि सः ॥ १४९ ॥
नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेऽप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ १५० ॥
नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः ।
यद्विशेषेऽपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥ १५१ ॥

इसमें अनादर कैसे हो सकता है ? यदि नहीं है तो फिर इसके असद्भाव में किसी भी नय से अनादर सिद्ध नहीं होता है ॥१४३॥ दूसरे उपरक्ति का सद्भाव मान लेने पर भी नौ पदार्थ ग्राह्य नहीं ठहरते, क्यों कि शुद्ध पदार्थ के सिवा अन्यत्र सब जगह नयका कोई अधिकार नहीं है ॥ १४४॥ अथवा उपरक्ति के नहीं रहने पर ये नौ पदार्थ नहीं बनते हैं, क्यों कि हेतु के अभाव में उससे अविनाभूत कार्य का भी अभाव देखा जाता है ॥ १४५ ॥ यदि उभय को मान कर न्यायानुसार उसकी क्रम से विवक्षा की जाती है तो शुद्ध मात्र ही उपादेय ठहरता है और शुद्ध से भिन्न अशुद्ध त्याज्य ठहरता है ॥ १४६ ॥ यदि उभय को युगपत् माना जाता है तो भी इन दोनों से समीहित की सिद्धि नहीं होती है, क्यों कि तब भी केवल शुद्ध वस्तु आदेय ठहरती है और इसके सिवा अशुद्ध वस्तु आदेय नहीं ठहरती है ॥ १४७ । तथा एक पदार्थ के एक स्थान में दो क्रियाएं या दो कर्म नहीं बनते, इसलिये युगपत् पक्ष असिद्ध ही है फिर द्वैत और अद्वैत की कथा करने से क्या प्रयोजन है ॥ १४८ ॥ इसलिये अन्य कोई चारा न होने से न्यायानुसार एक समीचीन शुद्ध पदार्थ ही मानना चाहिये और इसका वाचक जो कोई भी शुद्ध नय है उसका ही कथन करना चाहिये ॥ १४९ ॥

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता इन दोनों को माने बिना इनकी सिद्धि नहीं हो सकती । यद्यपि इन दोनों में विरोध प्रतीत होता है तो भी ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये कोई विरोध नहीं है ॥ १५० ॥ अन्यथा इनकी सिद्धि नहीं होती यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि ये दोनों एक ही वस्तु हैं । इसका भी कारण यह है कि अपने अवान्तर भेदों में सामान्य एक ही

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १५२ ॥

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद् द्रव्यान्तरं पृथक् ।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेऽपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १५५ ॥

नासम्भवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

प्रतीत होता है ॥ १५१ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि नौ पदार्थ केवल जीव और पुद्गल ही हैं, क्योंकि अपने अपने द्रव्य आदि से वस्तुतः कर्ता और कर्म अभिन्न होते हैं ॥ १५२ ॥ जीव और पुद्गल के सिवा ये नौ पदार्थ कुछ अलग से स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं। इसी प्रकार शुद्ध जीव या शुद्ध पुद्गल के भी ये भेद नहीं हैं ॥ १५३ ॥ किन्तु परस्पर में सम्बन्ध को प्राप्त हुए जीव और पुद्गल इन दोनों के ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से ये नौ पदार्थ होते हैं ॥ १५४ ॥ इसलिये वास्तव में देखा जाय तो एक जीव ही नौ पदार्थरूप विराज रहा है। यद्यपि यह जीव नौ पदार्थरूप हो रहा है तथापि इन नौ दशाओं की विवक्षा के बिना वह अत्यन्त शुद्ध है ॥ १५५ ॥ नौ पदार्थों में एक जीव ही विराज रहा है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि इन सब में जीव का अन्वय पाया जाता है। किन्तु सोपरक्ति अभूतार्थ है इसलिये उसका नहीं दिखना न्यायसिद्ध है ॥ १५६ ॥

विशेषार्थ—यहाँ शंका द्वारा उपरक्ति के विषय में विविध प्रश्न करके और अन्त में उसे स्वीकार करके भी यह कहा गया है कि यदि उपरक्ति है भी तो भी नौ पदार्थों को विषय करनेवाला व्यवहार नय उपादेय नहीं ठहरता किन्तु एक शुद्ध नय ही स्वीकार करना चाहिये क्योंकि वही उपादेय है। परन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि जब कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही वस्तुभूत हैं तब दोनों ही नयों का कथन करना आवश्यक है। यद्यपि कहा जा सकता है कि शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों परस्पर में विरोधी हैं अतः दोनों का सद्भाव कैसे बन सकता है। परन्तु विचार करने पर दोनों का सद्भाव सिद्ध होता है। यदि ये दोनों स्वतंत्र पदार्थ होते और फिर इनका अभेद स्वीकार किया जाता तब तो इनका सद्भाव मानने में विरोध आता किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि ये दोनों अवस्थाएँ हैं जो कि क्रमिक हैं अतः दोनों का सद्भाव सिद्ध होता है। यतः दोनों अवस्थाएँ सद्भावरूप हैं अतः नौ पदार्थ सिद्ध होते हैं। किन्तु ये अवस्थाएँ पुद्गल और जीव के सम्बन्ध से होती हैं अतः नौ पदार्थ उभयरूप सिद्ध होते हैं। किन्तु इसका यह भी अभिप्राय निकलता है कि एक जीव पदार्थ नौ रूप हो रहा है अतः निश्चयनय के समान व्यवहार नयका भी कथन करना चाहिये—यह सिद्ध होता है ॥ १४२-१५६ ॥

सन्त्यनेकेऽत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलानलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥ १५७ ॥
एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १५८ ॥
न चाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत् सत्त्वं न कुतोऽपि वा ॥ १५९ ॥
नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥ १६० ॥
न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥ १६१ ॥
यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥ १६२ ॥
ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेऽपि वस्तुतः ॥ १६३ ॥
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥ १६४ ॥

अनेक दृष्टान्तों द्वारा उक्त कथन की पुष्टि—

नौ पदार्थों में एक जीव विराज रहा है इस विषय के पोषक सुवर्ण, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक पत्थर, ज्ञान, समुद्र और नमक इस प्रकार अनेक दृष्टान्त हैं ॥ १५७ ॥ अब सर्व प्रथम सुवर्ण के दृष्टान्त द्वारा इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

जैसे एक सोना परनिमित्त से अनेक रंगवाला हो जाता है। किन्तु परनिमित्त नहीं है ऐसा मान कर यदि उसकी उपेक्षा करके देखा जाय तो केवल एक सोना ही प्रतीत होता है ॥ १५८ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि जब यहाँ परवस्तु का संयोग है तब इतने जल्दी उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ उसका सद्भाव किस प्रमाण से सिद्ध है अर्थात् किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है ॥ १५९ ॥ अथवा कोई ऐसा माने कि सोपरक्ति के कारण सोना उपाधिसहित है इसलिये वह त्याज्य है सो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका त्याग करने पर सर्वशून्य आदि अनेक दोष प्राप्त होते हैं ॥ १६० ॥ यह कथन भी परीक्षा के योग्य नहीं है कि जिस समय सोना शुद्ध है उस समय वह शुद्ध ही है, क्योंकि ऐसा मानने से जब शुद्ध सोने की उपलब्धि नहीं होती है तब उसकी प्राप्ति के हेतु का भी अभाव मानना पड़ेगा ॥ १६१ ॥ इसलिये परोपाधि से प्राप्त हुए अनेक रंगों में जब केवल सोना दिखाई देता है परोपाधि नहीं दिखाई देती है तब प्रत्यक्ष से दिखनेवाला अपना इष्ट पदार्थ वह सोना ही है ऐसा मानना चाहिये ॥ १६२ ॥ इसलिये सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार उस वर्णमाला में अन्य वस्तु का संयोग रहने पर भी वस्तुतः परसंयोग के बिना सोना पृथक् ही है उसी प्रकार नौ पदार्थों में जीव का भी अस्तित्व सिद्ध है ॥ १६३ ॥ इस प्रकार यह प्रक्रिया साध्यभूत अर्थ की यथायोग्य सिद्धि करनेवाले सब दृष्टान्तों में अविरोध से घटित कर लेनी चाहिये ॥ १६४ ॥

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥ १६५ ॥
सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥ १६६ ॥
अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १६७ ॥
प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १६८ ॥
जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोऽपि विकारश्चावास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥ १६९ ॥
ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोऽयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥ १७० ॥
वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थादैक्यं तदात्वेऽपि पारावारसमीरयोः ॥ १७१ ॥
सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः ॥ १७२ ॥
इति दृष्टान्तमनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥ १७३ ॥

जिस प्रकार कमल का पत्ता जलमग्न है तो भी वहाँ वह वैसा नहीं है, क्योंकि उसका स्वभाव जल से अस्पृश्य रहने का है इसलिये पत्ते की अपेक्षा वह जल से अस्पृष्ट न सही तो भी वास्तव में वह जल से भिन्न ही है ॥ १६५ ॥ या जिस प्रकार जो जल कीचड़ सहित है उसमें यदि जल को देखो और कीचड़ को न देखो तो जल के कीचड़ मिश्रित रहते हुए भी कीचड़ रहित शुद्ध जल दिखाई देता है ॥ १६६ ॥ या जिस प्रकार जो अग्नि तिनके को जला रही है वह उपचार से तृणाग्नि कहलाती है। परन्तु अग्नि तिनका नहीं है और तिनका अग्नि नहीं है। अग्नि अग्नि है और तिनका तिनका है ॥ १६७ ॥ या जिस प्रकार मयूर के सम्बन्ध से दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है तो भी ऐसी अवस्था में भी वहाँ मयूर का पाया जाना कैसे सम्भव है अर्थात् तब दर्पण में मयूर नहीं पाया जाता है ॥ १६८ ॥ या जिस प्रकार जपा-कुसुम के सम्पर्क से स्फटिकमणि में विकार दिखाई देता है। तथापि वह विकार वहाँ वास्तविक नहीं होता है ॥ १६९ ॥ या जिस प्रकार ज्ञान घटको जानते समय घटज्ञान कहलाता है तो भी वास्तव में ज्ञान घटरूप नहीं हो जाता है। किन्तु ज्ञान ज्ञान है और घट घट है ॥ १७० ॥ या जिस प्रकार यद्यपि वायु की प्रेरणा से समुद्र में तरंगे उठती हैं तथापि ऐसी अवस्था में भी समुद्र और वायु ये वास्तव में एक नहीं हैं ॥ १७१ ॥ या जिस प्रकार नमक की डली वास्तव में स्वयं एक रसवाली होती है इसलिये उत्तम नाना प्रकार के व्यंजनों में मिलाने पर भी वह अनेक रसवाली नहीं हो जाती है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये ॥ १७२ ॥ इस प्रकार इन दृष्टान्तों से समर्थित प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना यह अभिमत सिद्ध हो जाता है कि इन नौ पदार्थों का नियम से कथन करना चाहिये ॥ १७३ ॥

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न ।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥ १७४ ॥
तदसत् सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥
नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत् सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १७६ ॥
नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥
न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥
ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्झगात् ॥ १८० ॥

विशेषार्थ—प्रकृत में अनेक दृष्टान्तों द्वारा यह बतलाया गया है कि निमित्तवश विकारी भावों के आ जाने पर भी मूल वस्तु का विघात नहीं होता। फिर भी मूल वस्तु को समझने के लिये विकारों का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है अतः उनका कथन करना चाहिये। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इसमें हेय क्या है और उपादेय क्या है ? यही सबब है कि प्रकृत में नौ पदार्थों का विवेचन किया गया है ॥ १५७–१७३ ॥

प्रयोजनभूत नौ तत्त्वों का कथन करना आवश्यक है इस बात का निर्देश—

मोह वश कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि ये नौ पदार्थ नहीं कहने चाहिये, क्यों कि ये हेय हैं और इनसे शुद्ध वस्तु सब प्रकार से भिन्न है ॥ १७४ ॥ परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्यों कि उनका सर्वथा प्रकार से त्याग करना प्रमाण से असिद्ध है। हम देखते हैं कि उनसे भिन्न शुद्ध वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है ॥ १७५ ॥ माना कि जो वस्तु सब प्रकार से हेय है उसका कथन करना आवश्यक है ऐसा सिद्ध नहीं होता, फिर भी जिसने अन्धकार में प्रवेश नहीं किया है उसे उसका थोड़ा भी अनुभव नहीं हो सकता है इसी प्रकार हेय वस्तु को जानने के लिये उसका कथन करना आवश्यक है ॥ १७६ ॥ यदि कोई कहे कि ये नौ तत्त्व अकिंचित्कर हैं इस लिये इनका कथन करना उचित नहीं है सो यह बात भी नहीं है, क्यों कि ये प्रयोजनभूत हैं अतः इन का अवश्य कथन करना चाहिये ॥ १७७ ॥ इन नौ पदार्थों से सर्वतः अतिरिक्त शुद्ध वस्तु की सिद्धि करना अशक्य है, क्यों कि साधन का अभाव होने से उसकी उपलब्धि नहीं होती है ॥ १७८ ॥

शंका—जीव का निज रूप उन नौ पदार्थों से भिन्न है। जो शुद्ध है, सम्यक्त्व का विषय है, निरन्तर प्रकाशमान है और आधि व्याधि से रहित है ॥ १७९ ॥ उस शुद्ध रूप को जगत् तब तक नहीं देखता है जब तक वह मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से व्याप्त हो रहा है। किन्तु जब इसका मिथ्यात्व रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है तब यह जगत् बहुत ही शीघ्र जीव के शुद्ध स्वरूप को देखने लगता है ?

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेऽर्थतः ॥ १८१ ॥
अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥
अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसम्भवः ॥ १८३ ॥
ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदानन्यगतिस्तेन भावेनात्मास्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥
तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥ १८५ ॥
ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किञ्चिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥ १८६ ॥
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १८७ ॥

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि शुद्धत्व और अशुद्धत्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं। वास्तव में एक द्रव्य की एक काल में शुद्ध और अशुद्ध ये दो अवस्थाएँ नहीं बन सकती हैं ॥१८१॥ जब जीव की शुद्ध अवस्था होती है तब अशुद्ध अवस्था कैसे हो सकती है। यदि तब भी अशुद्ध अवस्था होती है ऐसा माना जाय तो वह नित्य क्यों न हो जायगी ॥ १८२ ॥ ऐसा नियम है कि जब अशुद्धता रहती है तब बन्ध अवश्य होता है उसका अभाव मानना विरोध को प्राप्त होता है। किन्तु उस अशुद्धता को यदि नित्य माना जाता है तो फिर मुक्ति का प्राप्त होना असम्भव हो जायगा ॥ १८३ ॥ इससे सिद्ध होता है कि जिस समय आत्मा जिस भाव से युक्त होता है उस समय दूसरा कोई चारा नहीं होने से आत्मा उस भाव से तन्मय होता है ॥ १८४ ॥ इस लिये शुभ भावों के समय शुभ रूप होता है, अशुभ भावों के समय अशुभ रूप होता है और शुद्ध भावों के समय शुद्ध रूप होता है। क्यों कि जिस समय जो भाव होता है उस समय उस रूप होता है ॥ १८५ ॥ अतः शुद्ध तत्त्व कुछ उन नौ पदार्थों से सर्वथा भिन्न नहीं है। किन्तु केवल उस विकार के दूर हो जाने पर नौ पदार्थ ही शुद्ध रूप हैं ऐसा यहां जानना चाहिये ॥ १८६ ॥ इसी से तत्त्वार्थ सूत्र में जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। वे पदार्थ जीवादिक के भेद से नौ प्रकार के हैं जिनका क्रम से निर्देश करते हैं—

विशेषार्थ—यहां यह शंका की गई है कि नौ पदार्थ नैमित्तिक भाव होने से हेय हैं उपादेय भूत शुद्ध जीव उनसे भिन्न है अतः इन तत्त्वों का कथन करना उचित नहीं है। इस शंका का जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि जीव को नौ तत्त्वों से सर्वथा जुदा मानना उचित नहीं है। जीव की एक काल में एक ही अवस्था होती है। शुद्ध भाव के समय शुद्ध अवस्था होती है और अशुद्ध भाव के समय अशुद्ध अवस्था होती है। दोनों अवस्थाओं का एक साथ होना सम्भव नहीं है, इस लिये जीव के अशुद्ध अवस्था विशिष्ट होने पर उसका त्याग करने के लिये और अपनी शुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिये हेय भूत नौ तत्त्वों का ज्ञान कराना भी आवश्यक है। इससे जीव इन्हें नैमित्तिक जान कर इनके त्याग

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ १९० ॥

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥ १९१ ॥

के लिये भीतर से प्रयत्न करता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि एक ज्ञायक स्वभाव आत्मा पर ही रहती है पर वह वर्त्तमान में प्राप्त अवस्थाओं को भुला नहीं देता है। वह मानता है कि ये अवस्थाएं नैमित्तिक होकर भी मेरी हैं अतः इनका त्याग करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये तभी तो स्वाभाविक निज स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है। माना कि निजस्वरूप कहीं गया नहीं है वह वहीं है पर उसका जो विपरिणाम हो रहा है वह न हो यही निज स्वरूप की उपलब्धि है। इस लिये उपादेय रूप से जैसे निजस्वरूप को जानना आवश्यक है उसी प्रकार हेय रूप से उसके विपरिणाम को जानना भी आवश्यक है। इसी से ये नौ तत्त्व प्रयोजन भूत कहे गये हैं। हम जगत् के अन्य तत्त्वों को जानें चाहे न जानें पर इन्हें अवश्य जानें। क्यों कि इनके जानने से ही आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है। यही सबब है कि शास्त्रकारों ने इनका विशद रूप से निर्देश किया है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये इनका श्रद्धान करना आवश्यक बतलाया है ॥ १७४-१८७ ॥

नौ पदार्थों का निर्देश—

उनका निर्देश इस प्रकार है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं ॥ १८८ ॥ इनमें पुण्य और पाप इन दो के मिला देने पर नौ पदार्थ होते हैं। जो कि भूतार्थ के आश्रय से होते हैं अत एव सम्यग्दर्शन के विषय हैं ॥ १८६ ॥

विशेषार्थ—एक जीव तत्त्व नैमित्तिक अपनी अवस्थाओं के कारण जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन रूप हो रहा है, इस लिये शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये इनका श्रद्धान करना आवश्यक माना गया है। इनके श्रद्धान से यह विवेक जागृत होता है कि आत्मा की कौन अवस्थाएं नैमित्तिक हैं और कौन अवस्थाएं स्वभावभूत हैं। इसी से यहां सम्यग्दर्शन के विषय रूप से नौ पदार्थों के निर्देश की प्रतिज्ञा की गई है ॥ १८८-१८९ ॥

जीव तत्त्व का विचार--

पूर्वापर का विचार करने में चतुर कविवर अब उन नौ पदार्थों में से सर्व प्रथम जीवका व्याख्यान करते हैं ॥ १९० ॥ यद्यपि पहले जीव की सिद्धि की जा चुकी है। इस समय उसकी सिद्धि करली चाहिये और आगे करेंगे तथापि साक्षात् उसकी प्राप्ति के लिये इस समय उसका प्रसिद्ध लक्षण कहते हैं—

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात् सदेकधा ।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात् सा नाक्रमादिह ॥ १९२ ॥
एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः ।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धात्मकर्मजा ॥ १९३ ॥
एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वाऽज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ १९४ ॥
अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात् फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥
अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥ १९६ ॥

जीव का स्वरूप चेतना है। वह सत्सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार की है और सद्विशेष की अपेक्षा से दो प्रकार की है। इसके ये भेद क्रमसे हैं युगपत् नहीं ॥ १९२ ॥ एक शुद्ध चेतना और दूसरी अशुद्ध चेतना ये चेतना के दो भेद हैं। शुद्ध चेतना आत्मा का स्वरूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्म के सम्बन्ध से होती है ॥ १९३ ॥

विशेषार्थ—यहां जीव तत्त्व का विचार करते हुए उसका स्वरूप चेतना बतलाया गया है क्योंकि इसकी व्याप्ति जीव के सिवा अन्यत्र नहीं देखी जाती अन्य आस्तिक दर्शनकारों का भी यही मत है किन्तु उनकी मान्यता में और जैन मान्यता में मौलिक अन्तर है। नैयायिकों ने चेतना को जीव का लक्षण मान कर भी उससे जीवका समवायसम्बन्ध माना है तथा सांख्यों ने चेतना को आत्मा का स्वरूप मान कर भी उसे निराकार माना है। किन्तु जैनदर्शन में चेतना को इस प्रकार का न मान कर इससे भिन्न प्रकार का माना है। जैन दर्शन मानता है कि चेतना आत्मा का स्वरूप है अतएव आत्मा से वह तादात्म्य को प्राप्त है। साथ ही वह ज्ञानसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीव स्वयं चेतन स्वभाव है उसके सिवा जीव स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु संसारी जीव के साथ कर्म का अनादिकालीन सम्बन्ध है जिसके कारण यह अशुद्ध हो रही है। यही सबब है कि प्रकृत में चेतना के दो भेद कर दिये गये हैं—एक शुद्ध चेतना और दूसरी अशुद्ध चेतना। शुद्ध चेतना मुक्त जीव के होती है क्योंकि उसके कर्मका सम्बन्ध नहीं पाया जाता और अशुद्ध चेतना संसारी जीवके होती है क्योंकि वह कर्म लिप्त होता है ॥ १९०-१९३ ॥

शुद्ध और अशुद्ध चेतना का स्वरूप तथा उनके भेद—

शुद्ध वस्तु एक प्रकार की होती है इसलिये शुद्ध चेतना एक प्रकार की है। शुद्ध रूप उपलब्धि होने से यह शुद्ध मानी गई है और ज्ञानरूप होने के कारण यह ज्ञानचेतना कहलाती है ॥ १९४ ॥ अशुद्ध चेतना दो प्रकार की है—एक कर्मचेतना है और दूसरी कर्मफल के चेतनरूप होने से कर्मफल चेतना है ॥ १९५ ॥

ज्ञानचेतना का व्युत्पत्त्यर्थ—

यहाँ पर ज्ञान शब्द से आत्मा लिया गया है, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है। ज्ञानचेतना के द्वारा आत्मा शुद्धरूप से अनुभव में आता है इसलिये ज्ञानचेतना शुद्ध मानी गई है ॥ १९६ ॥ आशय

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा ।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥ १९७ ॥

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥ १९८ ॥

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत् ।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥ १९९ ॥

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः ।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोऽन्यत्र तत्क्षतिः ॥ २०० ॥

यह है कि जिस समय ज्ञान गुण समीचीन भिन्न अवस्था को प्राप्त करके मात्र आत्मा की उपलब्धि रूप होता है उस समय वह ज्ञानचेतना कहलाता है ॥ १९७ ॥

विशेषार्थ—संसारी जीव कर्म बन्धन से बद्ध हैं जिससे उनके कर्म निमित्तक राग, द्वेष, मोह आदि अनेक प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। फिर भी जिन्होंने आत्मस्वरूप को जान लिया है वे इन भावों को पर जान कर अपने अपने आत्मा को इनसे भिन्न रूप से अनुभव करते हैं। किन्तु जिन्हें आत्मा की पहचान नहीं हुई वे उक्त राग, द्वेष, मोह आदि भावों में और उनके निमित्त से होनेवाली नाना प्रकार की अवस्थाओं में भूले रहते हैं। इसी से आचार्यों ने चेतना के दो भेद किये हैं—एक ज्ञान-चेतना और दूसरी अज्ञान चेतना। ज्ञानचेतना का अर्थ है अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करना। अर्थात् राग, द्वेष आदि और इनके निमित्त से होनेवाली नर नारकादि पर्यायें मेरी नहीं हैं। मैं तो एकमात्र ज्ञायक स्वभाव हूँ ऐसा अनुभव करना ज्ञान चेतना है। यह सम्यग्दृष्टि के होती है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होती। मिथ्यादृष्टि के तो अज्ञान चेतना होती है, क्योंकि वह आत्मा को ज्ञायक स्वभाव न मानकर नाना प्रकार के राग, द्वेष आदि कर्मरूप और उनके फलरूप मानता है। इसी से अज्ञान चेतना के दो भेद किये हैं—कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। कर्मचेतना का अर्थ है ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय भावों का कर्त्ता अपने को मानना और कर्मफल चेतना का अर्थ है ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय भावों में तल्लीन हो रहना निरन्तर उन्हीं का अनुभव करते रहना। ये दोनों चेतनाएँ संसार की वेल को बढ़ानेवाली हैं इसलिये इनके त्याग के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १९५-१९७ ॥

ज्ञान चेतना का स्वामी—

यह ज्ञानचेतना नियम से सम्यग्दृष्टि जीव के होती है मिथ्यादृष्टि जीव के किसी भी हालत में नहीं होती, क्योंकि मिथ्यात्व रूप अवस्था के रहते हुए ज्ञान चेतना का होना असम्भव है ॥ १९८ ॥ यद्यपि मिथ्यादृष्टि के भी ग्यारह अंगोंका ज्ञान होता है परन्तु मिथ्यात्व कर्म का उदय होने से इसके आत्मोपलब्धि नहीं होती है ॥ १९९ ॥

शंका—वास्तव में उपलब्धि शब्द का अर्थ 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है इसलिये स्वीय ज्ञानावरण कर्म के सिवा अन्य कर्म से उसकी क्षति कैसे मानी जा सकती है ?

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः ।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥ २०१ ॥

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥ २०२ ॥

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥ २०३ ॥

किं चोपलब्धिशब्दोऽपि स्यादनेकार्थवाचकः ।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥ २०४ ॥

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम् ।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ॥ २०५ ॥

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥ २०६ ॥

यद्वा क्रुद्धोऽयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद् द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चैतत् सुखादिवत् ॥ २०७ ॥

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात् सवेदकः ।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि जिस प्रकार ज्ञानावरणका तीव्र उदय आत्मोपलब्धि न होने का मूल कारण है उसी प्रकार वह ज्ञानावरण का तीव्र उदय दूसरे कर्म के उदय के साथ मिलकर ही कार्यकारी होता है यह भी असिद्ध नहीं है ॥ २०१ ॥ यथा—जिस प्रकार जो मत्यादि ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के उदय के अभाव से होते हैं उसी प्रकार वे वीर्यान्तराय कर्म के अनुदय से भी होते हैं ॥ २०२ ॥ इसलिये यहाँ ऐसा मानना चाहिये कि जिस प्रकार मत्यादि ज्ञानों को आवरण करनेवाले कर्म के अनुदय से आत्मा की शुद्ध उपलब्धि होती है उसी प्रकार वह दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के अभाव से भी होती है अर्थात् इन दोनों कर्मों का उदयाभाव शुद्ध उपलब्धि का कारण है एक का नहीं यह उक्त कथन का भाव है ॥ २०३ ॥ दूसरे उपलब्धि शब्द भी अनेक अर्थों का वाचक है इसलिये कहीं अशुद्धता का अभाव दिखलाने के लिये भी शुद्ध उपलब्धि शब्द कहा गया है ॥ २०४ ॥

अशुद्धोपलब्धि का स्वामी

अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टि जीवों के होती है और सम्यग्दृष्टि जीवों के गौण रूप से होती है। अथवा कभी होती ही नहीं है ॥ २०५ ॥ खुलासा इस प्रकार है—सुख दुःखादि रूप से आत्मा तन्मय हो रहा है और ऐसी अवस्था में जग अपने को सब प्रकार से 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं' ऐसा मान रहा है ॥ २०६ ॥ अथवा कभी कभी ऐसा विचार करता है कि यह क्रोधी है मैं इस शत्रु को अवश्य मारूंगा, और अपने मित्र को नहीं मारूंगा। इससे यह सिद्ध होता है कि यह जग सुख दुःखादिवाला हो रहा है ॥ २०७ ॥ प्रकृत में ऐसा बुद्धिमान पुरुष ही संवेद्य है जो स्वयं सुख दुःख का वेदन कर रहा है क्योंकि

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात् स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥ २०९ ॥

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥ २१० ॥

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥ २११ ॥

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
अस्ति साधारणी वृत्तिर्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥ २१४ ॥

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥ २१५ ॥

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन ।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ २१६ ॥

वह उपलब्धि स्मृति ज्ञान नहीं है किन्तु उससे भिन्न है ॥२०८॥ यह जग स्वयं सुख दुःख के स्वाद का संवेदन करता है इस लिये इसके उन की उपलब्धि होती है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि संस्कार के बिना ही इसके अन्यादेश देखा जाता है ॥२०९॥ यदि ऐसा कहा जाय कि उपलब्धि का यह लक्षण प्रत्यभिज्ञान में या सर्वज्ञ के ज्ञान में भी घटित होता है, इस लिये अतिव्याप्ति दोष आता है सो यह बात भी नहीं है क्योंकि ये दोनों ज्ञान संवेदनरूप न होकर सिर्फ ज्ञानमात्र हैं, अतः इनमें उपलब्धि का लक्षण घटित नहीं होता ॥ २१० ॥ व्याप्यव्यापक भाव जिस पदार्थ का उसी में होता है उससे भिन्न दूसरे में नहीं होता, क्योंकि यह व्याप्यव्यापकपना सर्वत्र पदार्थों में स्वभावतः इसी प्रकार घटित होता है ॥ २११ ॥ यह अशुद्ध उपलब्धि परिणाम क्रियास्वरूप होती है। यह वास्तव में कर्मों के उदय से होती है इसलिये निरन्तर बन्ध फलवाली मानी गई है ॥ २१२ ॥ इसमें यद्यपि चैतन्य का अन्वय पाया जाता है तो भी मिथ्याज्ञानरूप होने के कारण अशुद्धोपलब्धि कहलाती है, इसलिये इसे ज्ञानचेतना नहीं कह सकते। किन्तु वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप होती है ॥ २१३ ॥ यह अशुद्धोपलब्धि सामान्यतया सब संसारी जीवों के समानरूप से पाई जाती है। यह सम्यक्त्व का कारण नहीं है ॥ २१४ ॥ तात्पर्य यह है कि आत्मोपलब्धि मात्र सम्यग्दर्शन का चिह्न नहीं है। किन्तु यदि वह शुद्ध हो तो हो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है और यदि वह शुद्ध न हो तो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है ॥ २१५ ॥

शंका—यह आत्मोपलब्धि क्या सर्वथा अशुद्ध होती है या कथंचित् अशुद्ध होती है ? और क्या यह नित्य बन्धफलवाली है या किसी अवस्था विशेष में बन्धफलवाली नहीं भी है ?

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना ।
असत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥ २१७ ॥

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः ।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ २१८ ॥

यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै सा चेच्छुद्धा कुतो नव ॥ २१९ ॥

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वेधाभावसद्भावतः पृथक् ॥ २२० ॥

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादुसद्विदाम् ॥ २२१ ॥

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेऽप्यनीदृशम् ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृङ्मोहदोषतः ॥ २२२ ॥

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥ २२३ ॥

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम् ।
व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥ २२४ ॥

समाधान—यह कहना ठीक है, उत्तर इस प्रकार है कि आत्मोपलब्धि सम्यक्त्व के सद्भाव में शुद्ध है और सम्यक्त्वके बिना वही अशुद्ध है, अतः सम्यक्त्व के सद्भाव में वह बन्ध फलवाली नहीं है किन्तु सम्यक्त्व के अभाव में वह बन्धफलवाली अवश्य है ॥ २१७ ॥

शंका—माना कि सम्यग्दर्शन शुद्ध है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध है पर इनका विषय एक होने से उसके शुद्ध और अशुद्ध ऐसे भेद कैसे हो सकते हैं ? अथवा सम्यग्दृष्टि के नौ पदार्थों में से केवल आत्मा की उपलब्धि होती है और यदि वह शुद्ध है तो 'सम्यग्दर्शन के विषय' नौ पदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के सदा ही वस्तु में स्वभावतः स्वादुभेद पाया जाता है। कारण कि उनके स्वादुभेदके अभिव्यंजक जुदे जुदे दो प्रकार के होते हैं। मिथ्यादृष्टि के ऐसे भाव होते हैं जिससे उन्हें भिन्न प्रकार का स्वाद आता है और सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव होते हैं जिससे उन्हें भिन्न प्रकार का स्वाद आता है ॥ २२० ॥

सामान्यरूप से वस्तु शुद्ध होती है और अपने भेदों की अपेक्षा से वह अशुद्ध होती है। यही सबब है कि सम्यग्दृष्टियों को सामान्य रूप से ही वस्तु का स्वाद आता है ॥ २२१ ॥ किन्तु मिथ्यादृष्टियों को ऐसी सामान्य वस्तु का स्वाद नहीं आता जो विशेष अवस्था के होने पर एक सा बना रहता है, क्योंकि उनका सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय के उदय से दूषित रहता है इसलिये उनके ज्ञान चेतना का ग्रहण नहीं होता है ॥ २२२ ॥ अथवा मिथ्यादृष्टियों को विशेषरूप से वस्तु का स्वाद आता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टियों की चेतना निश्चय से कर्मफल में या कर्म में ही होती है ॥ २२३ ॥ उदाहरणार्थ भोजन में नमक

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा ।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥ २२५ ॥

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥ २२६ ॥

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥ २२७ ॥

एकः सम्यग्दगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह ।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥ २२८ ॥

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ २२९ ॥

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया ।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥ २३० ॥

की डली मिला देने पर भोजन के लोलुपी अज्ञानी जनों को भोजन ही खारा लगता है ॥ २२४ ॥ किन्तु ज्ञानी पुरुषों को भोजन में मिली हुई या भोजन में नहीं मिली हुई केवल एक नमक की डली ही खारी लगती है। वे खारापन एक नमक का ही स्वाद मानते हैं ॥ २२५ ॥ इस प्रकार सिद्ध होता है कि मिथ्या-दृष्टियों के एक अज्ञान चेतना ही होती है, क्यों कि उनके सब भाव केवल अज्ञानजन्य होते हैं। अज्ञान के बाहर उनके कोई भाव नहीं पाया जाता ॥ २२६ ॥ इसलिये इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जब तक आत्मा की शुद्धोपलब्धि होती है तब तक ही सम्यक्त्व रहता है और ज्ञानचेतना भी तभी तक पाई जाती है ॥ २२७ ॥

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञान चेतना और अज्ञानचेतना के स्वामी का निर्देश किया है। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि आत्मस्वरूप के विवेक से युक्त होती है इसलिये वह मुख्यतया ज्ञानचेतनाका स्वामी है। किन्तु मिथ्यादृष्टि को आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती इसलिये उसके अज्ञानचेतना होती है। यद्यपि अज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि के भी कही गई है पर यह कथन गौण भाव से ही किया गया है। मुख्यतया सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना ही होती है ॥ १९८—२२७ ॥

ज्ञानी और अज्ञानी में भेद—

इस संसार में केवल एक सम्यग्दृष्टि आत्मा ही ज्ञानी है इसलिये जितने भी मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे सदा अज्ञानी माने गये हैं ॥ २२८ ॥

ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया के फल में भेद—

ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया यद्यपि एक समान होती है तथापि अज्ञानी की क्रिया बन्धका कारण है किन्तु ज्ञानी की क्रिया कहीं भी बन्धका कारण नहीं है ॥ २२९ ॥ ज्ञानियों की कर्म जन्य क्रिया बन्धका कारण नहीं है यह तो सुनिश्चित है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥ २३१ ॥

वैराग्यं परमोपेक्षा ज्ञानं स्वानुभवः स्वयम् ।
तद् द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥ २३२ ॥

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥ २३३ ॥

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥ २३४ ॥

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसंगं व्योमवत् सदा ॥ २३५ ॥

उनकी क्रिया पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जराका भी कारण है ॥ २३० ॥ ऐसा होने का कारण यह है कि ज्ञानियों के जितने भी भाव होते हैं वे ज्ञाननिमित्तक ही होते हैं इसलिये वे ज्ञानमय ही होते हैं। सम्यग्दृष्टियों के अज्ञानमय भावों के पाये जाने के लिये थोड़ा भी अवकाश नहीं है ॥ २३१ ॥

विशेषार्थ—ज्ञानी का अर्थ सम्यग्दृष्टि और अज्ञानी का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। ऐसी हालत में ज्ञानी की क्रियामात्र बन्धका कारण न होकर एकमात्र निर्जरा का कारण है यह विषय अवश्य विचारणीय है, क्योंकि आगम में बतलाया है कि कर्मबन्ध दसवें गुणस्थान तक तो बराबर होता है। इसके आगे योग निमित्तक साता वेदनीय का आस्रव होता है जो तेरहवें गुणस्थान तक चालू रहता है, इसलिये ज्ञानी की क्रिया बन्धकी प्रयोजक न होकर वह केवल निर्जरा की प्रयोजक होती है यह कैसे बन सकता है। यदि यह बात नहीं बनती है तो फिर पंचाध्यायीकार ने ज्ञानी की क्रिया का फल उक्त प्रकार से कैसे बतलाया है यह एक मार्मिक और गम्भीर प्रश्न है जिसका समाधान होना आवश्यक है। बात यह है कि प्रकृत में ज्ञानी का अर्थ सम्यग्दृष्टि और अज्ञानी का अर्थ मिथ्यादृष्टि है इसलिये ज्ञानी के मिथ्यात्व निमित्तक क्रिया के वशीभूत होकर बंधनेवाले कर्मों का रंचमात्र भी बन्ध नहीं होता है इसके विपरीत मिथ्यात्व का अभाव हो जाने से उसके पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती रहती है। तथा अज्ञानी के मिथ्यात्व का सद्भाव होने से निरन्तर तन्निमित्तक बन्ध होता रहता है ऐसा यहाँ खुलासा समझना चाहिये। इससे दोनों विषयों की संगति भी बैठ जाती है और कोई विरोध भी नहीं आता है ॥ २२८—२३१ ॥

ज्ञानी का चिह्न—

परम उपेक्षारूप वैराग्य और स्वयं स्वानुभवरूप ज्ञान ये दो ही ज्ञानी के लक्षण हैं। जिसके ये लक्षण पाये जाते हैं वही जीवन्मुक्त है ॥ २३२ ॥ यह एकमात्र ज्ञानका पात्र होने से ज्ञानी है और आत्मवित् है इसलिये अपने आत्मा को देखता है। तथा बद्ध और स्पृष्ट आदि भाव भी इसके स्वरूप नहीं होने से यह इनका भी स्थान नहीं है ॥ २३३ ॥ इसलिये जैसा उसके अनुभव में आता है तदनुसार वह अपने को अविशिष्ट, संयोग रहित, नियत और अन्य से भिन्न पाता है ॥ २३४ ॥

ज्ञानी ज्ञान की ही एक मूर्ति है वह अपनी आत्मा को इस प्रकार देखता है कि वह बन्ध से रहित है, अस्पृष्ट है, शुद्ध है, सिद्धों के समान है, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है, आकाश के समान

इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥ २३६ ॥

पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसङ्गादपरं चैच्छेदर्थात् सार्थं कृतार्थवत् ॥ २३७ ॥

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥२४० ॥

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥ २४१ ॥

निःसंग है, अतिन्द्रिय अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य की मूर्ति है, तथा अतीन्द्रिय सुख और अनन्त स्वाभाविक गुणों से युक्त है। यद्यपि वह अपने को ऐसा अनुभव करता है तो भी वह प्रसंगवश कृतकृत्यके समान परम उपेक्षा भाव से अन्य पदार्थ को भी चाहता है ॥ २३५–२३७ ॥

विशेषार्थ—यद्यपि परम उपेक्षारूप संयम की प्राप्ति वीतराग के होती है फिर भी यहां इसे ज्ञानी के चिह्न बतलाने का कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि के अन्य सब पदार्थों में उपेक्षा भाव हो जाता है। वह स्वालम्बन के महत्त्व को अच्छी तरह से जानने लगता है। माना कि वह अन्यका सहारा लेता है पर रागद्वेषरूप अन्तरंग परिणति के कारण उसे ऐसा करना पड़ता है। तत्त्वतः वह उससे अपने स्वरूप को अलिप्त अनुभव करता है। वह यह अच्छी तरह से जानता है कि कर्मनिमित्तक जितने भी भाव हैं वे मेरे नहीं हैं। मैं उनसे अबद्ध, अस्पृष्ट और असंयुक्त हूँ। मेरा आत्मा तो सदा काल ज्ञान दर्शन स्वभाव है। यही सबब है कि ज्ञानी के जीवन में परम उपेक्षारूप संयम और स्वानुभव की प्रधानता बतलाई है ॥ २३२—२३७ ॥

ऐहिक सुख सुख नहीं दुख ही है इस बात का निर्देश—

जो ऐहिक सुख है वह सब वैषयिक माना गया है। वह सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है। निश्चय से वह दुःख ही है ॥ २३८ ॥ इसलिये यह सुखाभास होने से छोड़ने योग्य है, क्योंकि यह स्वयं दुःखरूप है और इसका फल भी दुःख है। तथा वह कर्म भी सब प्रकार से छोड़ने योग्य है जो इस अनिष्ट-कारी सुखाभास का कारण है ॥ २३९ ॥ यह सब कर्म सर्वतः पौद्गलिक है और वह आठ प्रकार का है। विपरीतता के कारण उदय को प्राप्त हुए उसका फल सब प्रकार का दुःख ही है ॥ २४० ॥ यह चार गतिरूप संसार चक्र कर्मोदय के कारण होता है। इसमें कोई भी जीव अपने पद में स्थित नहीं है किन्तु कर्म पद में स्थित है। आशय यह है कि जो इस संसार चक्र में घूम रहा है वह अपने स्वरूप से च्युत

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥ २४२ ॥

ननु किञ्चिच्छुभं कर्म किञ्चित् कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत् किं दुःखं परं नृणाम् ॥ २४३ ॥

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाशुभम् ॥ २४४ ॥

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥ २४५ ॥

उक्तं च—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदएहि लद्धं तं सुखं दुक्खमेव तहा ॥

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात् ।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥ २४६ ॥

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद् ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥ २४७ ॥

है और कर्मोदय निमित्तक अवस्थाओं को अपनी मान रहा है ॥ २४१ ॥ इस प्रकार नाना दुखों से व्याप्त इस संसार में घूमता हुआ यह जीव अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। अर्थात् कभी भी इसने अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं किया है ॥ २४२ ॥

शंका—कोई कर्म शुभ है और कोई कर्म अशुभ है, इसलिये कहीं पर सुख और कहीं पर दुःख होता है। तो फिर जीवों को कर्मों के कारण केवल दुःख ही क्यों बतलाया गया है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। सुख वह है जहां दुख नहीं है। धर्म वह है जहां अधर्म नहीं है और शुभ वह है जहां अशुभ नहीं है ॥ २४४ ॥ यह सुख पराधीन है, बाधाओं से घिरा हुआ है, सान्त है, बन्ध का कारण है और विषम है, इसलिये यह सुख वास्तव में दुःख ही है ॥ २४५ ॥

कहा भी है—

'जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है, सान्त है, बन्ध का कारण है और विषम है। इसलिये वह दुःख ही है ॥'

पूर्वोक्त कथन का यह अभिप्राय है कि इस संसार में सब कर्मों का उदय प्रतिक्षण दुर्वार वज्राघात की तरह आत्मा को पीस रहा है ॥ २४६ ॥ जिस प्रकार अग्नि के संसर्ग से जल गरम होता है क्योंकि ऐसे ही स्पर्श की उपलब्धि होती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों के उदय से अपने सब प्रदेशों में नियम से व्याकुल हो रहा है ॥ २४७ ॥ साता और असाता के उदय से दुःख होता है यह कथन तो रहने दो, क्यों कि यह कथन स्थूल उपलक्षण मात्र है। वास्तव में सब कर्मों के उदय का

सर्वतासातोदयाद्दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात् ।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥ २४८ ॥

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः ।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीडयन्ते ननु सन्धयः ॥ २४९ ॥

न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात् सुखावहः ।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ २५० ॥

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥ २५१ ॥

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः ।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः ॥ २५२ ॥

आघात ही जीवात्माके ऊपर वज्र की चोट के समान सबसे बड़ा आघात है ॥ २४८ ॥ कर्मोदय के कारण जीव के सब प्रदेशों में घात हो रहा है क्यों कि इसके समर्थन में दृष्टान्त पाया जाता है। हम देखते हैं कि वातव्याधि के कारण शरीर की सब सन्धियां दुखती रहती हैं इसलिये यह कथन तो रहने दो वास्तव में ऐसा कोई भी कर्मोदय नहीं है जो इस जीव को सुख प्राप्त करानेवाला हो सब कर्मों का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है जिससे यह जीव सदा दुःखी ही रहता है ॥ २४९-२५० ॥

विशेषार्थ—तृष्णा का बीज आकुलता है। यह आकुलता संसारी जीव के सदा काल पाई जाती है। जो संज्ञी पर्याप्त हैं उनके तो इसका स्पष्ट रूप से सद्भाव अनुभव में आता है किन्तु जो असंज्ञी हैं उनके भी यह है, क्यों कि आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएं किसी न किसी रूप में उनके भी पाई जाती हैं। इसलिये कोई भी संसारी जीव सुखी है यह नहीं माना जा सकता है। कारण यह है कि संसारी जीव कर्म बन्धन से बद्ध हैं अत एव परतन्त्र हैं और परतन्त्रता में सुख मानना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। माना कि संसारी जीव के साता आदि के उदय में सुख माना जाता है पर वह सुख वास्तविक नहीं है। तत्त्वतः वह दुःख ही है। भला जो सुख पर वस्तु के आधीन हो, क्षणिक हो, अनुकूलता की अपेक्षा करे वह वास्तव में सुख कैसे कहा जा सकता है। सुख की सही व्याख्या तो निराकुलता है। संसार अवस्था में जिसे संसारी जन सुख मानते हैं वह निराकुल रूप कहां है। प्रातःकाल उठते ही शौच आदि की आकुलता होती है। इस आकुलता के उपशम होने में देर नहीं लगती कि दूसरी आकुलता अपना स्थान जमा लेती है। अतः सांसारिक सुखको वास्तविक सुख मानना उचित नहीं है। यह तो मृगमरीचिका है। अतः कर्मनिमित्तक जानकर इसके त्याग के लिये ही प्रयत्नशील रहना चाहिये यह उक्त कथन का भाव है ॥ २३८—२५० ॥

सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोदय जन्य सुखको दुःख ही मानता है वह उसमें अभिलाषा सहित नहीं होता इस बात का खुलासा—

उस कर्म के मन्द उदय से कितने ही जीव संज्ञी होते हैं जो उसके वेग को न सहकर विषयों में रमण करने लगते हैं ॥ २५१ ॥ तथा कितने ही जीव कर्म के तीव्र उदय के कारण निस्तेज इन्द्रियवाले असंज्ञी होते हैं। ये केवल दुःख के वेग से पीड़ित रहते हैं इसलिये विषयों को भी नहीं भोग सकते हैं

यद्दुःखं लौकिकी रूढिर्निर्णीतेस्तत्र का कथा।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तत्सुखं दुःखमर्थतः ॥ २५३ ॥

कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥ २५४ ॥

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥ २५५ ॥

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात्।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २५६ ॥

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥ २५७ ॥

उक्तं च—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुःखं च जाण साहावं।
जदि तं णत्थि साहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम्।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥ २५८ ॥

॥ २५२ ॥ जो लोक में दुःख के नाम से रूढ़ है वह तो दुःख है ही, अतः उसके निर्णय की चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि जो लोक में सुख के नाम से रूढ़ है वह भी वास्तव में दुःख ही है ॥२५३॥ इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होने पर तृष्णारूपी रोग की बहुलता देखी जाती है इससे मालूम पड़ता है कि वह दुःख कभी कभी न होकर प्रवाह रूपसे निरन्तर होता रहता है ॥ २५४ ॥ जो प्राणी इन्द्रियों के विषयों में लोलुपी हैं उनको अत्यन्त दारुण अन्तर्दाह होता रहता है क्योंकि इसके बिना उनकी विषयों में रति कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती है ॥ २५५ ॥ जैसे जलौकों के अशुद्ध खून के चूसने से तृषणा की बीजभूत उसमें रति देखी जाती है वैसे ही संसारी जीवों के ये विषय हमारे हितकारी हैं ऐसा अनुभव करने से तृष्णाकी बीजभूत उनमें रति देखी जाती है ॥ २५६ ॥ जो शक्र और चक्रधर आदि केवल पुण्यशाली हैं उनके भी जब इन विषयों में तृष्णामूलक रति देखी जाती है तब फिर इनसे सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है अर्थात कभी नहीं हो सकती ॥ २५७ ॥

कहा भी है—

'जिनकी विषयों में रति होती है उनके स्वाभाविक दुःख जानना चाहिये। यदि उनके वह दुःख स्वाभाविक नहीं होता तो उनकी विषयों के लिये प्रवृत्ति भी नहीं होती ॥'

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि जिसे यह जग सुख कहता है वह दुःख ही है। और दुःख आत्मा का धर्म नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषों की उसके विषय में अभिलाषा नहीं होती है ॥ २५८ ॥

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वादस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥ २५९ ॥

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि ॥ २६० ॥

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥ २६१ ॥

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति ।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित्परिणामः सहेतुकः ॥ २६२ ॥

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागाभावस्य दर्शनात् ॥ २६३ ॥

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः ।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥ २६४ ॥

यथा कश्चित् परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम् ।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥ २६५ ॥

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम् ।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान् ॥ २६६ ॥

सम्यग्दृष्टियों का वैषयिक सुख में रागभाव नहीं होता है, क्योंकि राग अज्ञानभाव है। वह मिथ्यादृष्टि के नियम से होता है ॥ २५९ ॥ सम्यग्दृष्टि के तो सम्यग्दर्शन होता है जो आत्मा की अत्यन्त भिन्न अवस्था है, अतः उसकी सामान्य मनुष्यों की तरह क्रिया मात्र में अभिलाषा नहीं होती ॥ २६० ॥ जिस प्रकार प्राणी मात्र के अनुभूत रोग में उपेक्षा भाव होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के सब प्रकार के भोगों में उपेक्षा भाव होता है। उसके अवस्था का ऐसा परिणमन स्वभाव से होता है ॥ २६१ ॥ ज्ञानी पुरुष हेय पदार्थ को जानकर तदनन्तर इसका त्याग करता है, भले ही ऐसी रूढ़ि होओ। परन्तु सच तो यह है कि अवस्था विशेष से सम्बन्ध रखनेवाला कोई ऐसा स्वभाव ही इसमें कारण है जिससे उसकी हेय पदार्थ में स्वभावतः प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥ २६२ ॥ जब कि हम लोगों के एक देश राग का अभाव देखा जाता है तो इससे किसी जीव के अभिलाषा का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है ॥ २६३ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि जब किसी को ज्ञान हो जाता है कि यह मेरा नहीं है किन्तु अन्यका है तब पर वस्तु में तृप्त होकर भी कोई तृप्त नहीं होता है वह उसकी अभिलाषा त्याग देता है ॥ २६४ ॥ जिस प्रकार कोई पराधीन पुरुष अभिलाषा के बिना अनुचित क्रिया को करते हुए भी उस क्रियाका कर्ता नहीं होता है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ २६५ ॥

शंका—जब सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है और उनमें जो इष्ट होता है वह उसे रुचता भी है तब फिर वह अभिलाषा रहित कैसे हो सकता है ?

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥ २६७ ॥

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात् ।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोऽस्त्यतीन्द्रियः ॥ २६८ ॥

दृङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः ।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥ २६९ ॥

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोऽनिच्छतोऽप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७० ॥

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ २७१ ॥

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

नासिद्धोऽनिच्छतस्तस्य कर्म तस्यामयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥ २७३ ॥

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यतः ॥ २७४ ॥

समाधान—यह कहना ठीक है, क्योंकि जब तक वह जघन्य पद में रहता है तब तक यह अवस्था होती है। और इस जघन्य पदका कारण चारित्रावरण कर्म है॥ २६७॥ ऐसा नियम है कि यह जीव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों में रत होता है। किन्तु चारित्र मोहनीय के बिना यह सर्वथा शुद्ध, वीतराग और अतीन्द्रिय हो जाता है॥ २६८॥ यद्यपि दर्शन मोहनीय का क्षय हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीव भोगों की इच्छा नहीं करता तथापि हेतुका सद्भाव रहने से इसके भोग क्रिया अवश्य होती है॥ २६९॥ यदि कहा जाय कि इसके क्रिया देखी जाती है इसलिये वीतरागता असिद्ध है सो भी बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बिना चाहे जगको दारिद्र और मरण आदि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के बिना इच्छा के विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है ॥ २७०॥ जिस प्रकार रोग से पीड़ित हुआ कोई मनुष्य रोगका प्रतीकार करता है और उस अवस्था के प्राप्त होने पर रोगी भी नहीं रहना चाहता है। तो फिर दुबारा रोग के उत्पन्न होने की कथा ही कैसे की जा सकती है ॥ २७१॥ उसी प्रकार कर्म से पीड़ित हुआ ज्ञानी पुरुष कर्म जन्य क्रिया को करता हुआ भी किसी कर्मपद को नहीं चाहता तो फिर वह उसमें अभिलाषा सहित किस न्याय से हो सकता है, अर्थात नहीं हो सकता है॥ २७२॥ और कर्म को नहीं चाहनेवाले उसके वेदना का प्रतीकार असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि जब वह रोगी है तो वेदना का प्रतीकार अवश्य होगा। हाँ इतनी बात अवश्य है कि वह नूतन रोगादि का कारण नहीं होगा॥ २७३॥ सम्यग्दृष्टि जीव भोगों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं होता, क्योंकि रागरहित जीव का अनिच्छा से किया गया कर्म राग का

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित् कर्मचेतना ।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७५ ॥

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात् सा ज्ञानचेतना ॥ २७६ ॥

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ २७७ ॥

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद् दुःखमनर्थवत् ॥ २७८ ॥

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः ।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥ २७९ ॥

कारण नहीं होता ॥ २७४ ॥ यद्यपि किसी सम्यग्दृष्टि के कर्मचेतना और कर्मफल चेतना होती है। पर वास्तव में वह ज्ञानचेतना ही है ॥ २७५ ॥ कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका फल बन्ध माना गया है। पर इस सम्यग्दृष्टि के राग का अभाव हो जाने से बन्ध नहीं होता, इसलिये वह ज्ञानचेतना ही है ॥२७६॥

विशेषार्थ:—यहाँ सम्यग्दृष्टि विषय को सेवन करता हुआ भी उसमें साभिलाप नहीं होता इसका निर्देश किया गया है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा और उसके अधिकार को भले प्रकार जान लेता है। वह जानता है कि पर पदार्थ के संयोग से कुछ होनेवाला नहीं। जैसे कुत्ता हड्डी को चूसता है पर उसे स्वाद उसके खूनका ही आता है। कुत्ता केवल मूर्खतावश उस स्वाद को हड्डीका मानता है वैसे ही यह अज्ञानी प्राणी पर वस्तु में लिप्सा करता तो है पर उसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह विषय के सेवन से नहीं प्राप्त होता है किन्तु विषय के निमित्त उत्पन्न हुई इच्छाके अभाव के कारण प्राप्त होता है। फिर भी यह अज्ञानी जीव उसे विषयजन्य मानता है और इसलिये विषयों के जुटाने में लगा रहता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव इस मर्यादा को अच्छी तरह से जान लेता है इसलिये वह विषय प्राप्ति में कभी भी अभिलाषा नहीं करता। यही सबब है कि यहां यह बतलाया गया है कि सम्यग्दृष्टि विषय को भोगता हुआ भी उसमें साभिलाप नहीं होता। भोग क्रिया यह राग द्वेष का परिपाक है किन्तु सम्यग्दृष्टि इसे वैभाविक मानता है इसलिये वह अपने स्वरूपको सदाकाल जुदा अनुभव करता है यह उक्त कथन का भाव है। यही सबब है कि सम्यग्दृष्टि के एकमात्र ज्ञान चेतना बतलाई है और यह कथन है भी सही क्योंकि सम्यग्दृष्टि के कर्म और कर्म के फल में यह भाव नहीं रहता इसलिये उसके कर्म चेतना और कर्मफल चेतना नहीं होती ॥ २५१-२७६ ॥

सुखके समान दो प्रकार के ज्ञानों का निर्देश करके इन्द्रिय जन्य ज्ञान किस प्रकार सदोष है इस बात का निर्देश—

जिस प्रकार इन्द्रियजन्य सुख और अतीन्द्रिय सुख होता है उसी प्रकार ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। इसमें से प्रारम्भ के दो हेय हैं और अन्त के दो उपादेय हैं, अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख और इन्द्रिय जन्य ज्ञान हेय है और अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है ॥ २७७ ॥

जो ज्ञान पर के निमित्त से होता है, प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है, व्याकुल है और मोहयुक्त है वह वास्तव में दुःखरूप और अनर्थकारी ही है ॥ २७८ ॥ व्याकुलता पाई जाने के कारण यह

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।
उपयोगी सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥ २८० ॥
प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥ २८१ ॥
परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र सम्भवात् ॥ २८२ ॥
विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ २८३ ॥
मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ २८४ ॥
अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसस्थितिम् ॥ २८५ ॥
दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥ २८६ ॥
सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥ २८७ ॥

ज्ञान दुःखरूप है यह बात अच्छी तरह से सिद्ध होती है। तथा जाने हुए पदार्थों के सिवा बहुत से पदार्थ शेष रहते हैं जिनके जानने की उत्कट इच्छा आदि देखी जाती है, इसलिये यह ज्ञान व्याकुलतामय है यह भी सिद्ध होता है ॥ २७९ ॥ ज्ञात से शेष पदार्थों को जानने की इच्छा रखनेवाले का मन उनको न जान सकने के कारण व्याकुल रहे इसमें विशेष आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो इसमें है कि जो इन्द्रिय ज्ञान योग्य सन्निकर्ष में अवस्थित पदार्थों में उपयुक्त है वह भी दुःखजनक है ॥ २८० ॥ यह ज्ञान मोह-युक्त है इस लिये प्रमादी है, अपनी उत्पत्ति में बहुत कारणों की अपेक्षा रखता है इस लिये निकृष्ट है, क्रमवर्ती है इस लिये व्युच्छिन्न है और ईहादि के क्रमसे होता है इसलिये कृच्छ्र है ॥ २८१ ॥ पराधीन है इसलिये परोक्ष है, इन्द्रियों से उत्पन्न होता है इसलिये आक्ष्य है और इसमें संशय आदि दोषों का पाया जाना सम्भव है इसलिये सदोष है ॥ २८२ ॥ बन्ध का कारण है इसलिये विरुद्ध है, बन्धका कार्य है इसलिये कर्मज है, आत्मा का धर्म नहीं है इसलिये अश्रेय है और कलुषित है इसलिये स्वभावतः अशुचि है ॥ २८३ ॥ यतः मृगी रोग के वेग के समान यह क्षण में बढ़ता है, क्षणमें घटता है और क्षणमें दिखाई नहीं देता है अतः मूर्च्छित है ॥ २८४ ॥ इस ज्ञानको आवरण करनेवाला कर्म यद्यपि थोड़े समयके लिये शान्त हो गया है परन्तु सत्तामें रहने के कारण अपने फल कालको अवश्य प्राप्त होगा इसलिये यह अशरण है ॥ २८५ ॥ यह ज्ञान छः द्रव्यों में से मूर्त पदार्थ को ही किंचिन्मात्र विषय करता है। उसमें भी सूक्ष्म पदार्थों में इसकी प्रवृत्ति न हो कर किन्हीं स्थूल पदार्थों में ही इसकी प्रवृत्ति होती है ॥ २८६ ॥ स्थूल पदार्थों में भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य पदार्थों में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं उनमें इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। ग्राह्य पदार्थों में भी

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ।। २८८ ।।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ।। २८९ ।।

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः ।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ।। २९० ।।

तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोऽथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ।। २९१ ।।

तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः ।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ।। २९२ ।।

अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते ।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ।। २९३ ।।

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा ।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्म स्यान्मानसं तथा ।। २९४ ।।

दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित् कस्यचित् क्वचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात् संक्रमणादि चेत् ।। २९५ ।।

जो वर्तमानकालीन हैं उनमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है, अतीत और भविष्यत् कालीन पदार्थों में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती ।। २८७ ।। वर्तमान कालीन पदार्थों में भी जो सन्निकट हैं और योग्य सन्निकर्ष को प्राप्त हैं उनमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है । उसमें भी अवग्रह और ईहा आदि के होने पर ही इस ज्ञान का अस्तित्व देखा जाता है ।। २८८ ।। इस प्रकार इन समस्त कारणों के रहने पर उत्तरोत्तर शुद्धि के होने से ही कदाचित् यह ज्ञान उत्पन्न होता है । यदि ये कारण अलग अलग रहें तो यह ज्ञान नहीं उत्पन्न होता ।। २८६ ।।

उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के असंख्यात भेद हैं और उनकी अनन्त शक्तियां हैं ।। २६० ।। तथा इनके भेद और शक्तियां जितनी हैं उतने ही इनके आवरण करनेवाले कर्म हैं, क्योंकि ये अपनी अपनी सन्तान को उल्लंघन नहीं करते ।। २६१ ।। उनमें से कर्मके जिस भेद के जिस अंश का स्वतः अवस्थान्तर अर्थात् क्षयोपशम होता है उतना क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है ।।२६२।। और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम लब्धि कहलाता है उस समय इसका भी वही भेद और वही शक्त्यंश उदित होता है ।। २६३ ।। इसके सिवा इस ज्ञान के उपयुक्त होने में पांच इन्द्रिय नामकर्म और मानस नामकर्म भी हेतु है ।। २६४ ।। ये कर्म दैववश किसी जीव के किसी अवस्था में किसी प्रकार बन्ध को प्राप्त होते हैं । उसमें भी यदि संक्रमण आदि नहीं हो गया हो तो जीव के इनका उदय होता है ।।२६५।। इस

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥ २९६ ॥

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनोदेहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ २९७ ॥

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥ २९८ ॥

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारंपर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्ज्ञानसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ ३०० ॥

अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्येन हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात् ।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ ३०२ ॥

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥ ३०३ ॥

खण्डितं खण्डशस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥ ३०४ ॥

कर्म का उदय होनेपर इन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति में एक दूसरा हेतु और है जो पर्याप्त नामकर्म है। उक्त कर्मों के साथ इसका उदय होने से इन्द्रियज्ञान अवश्य होता है ॥ २६६ ॥ इस पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर स्वयं सिद्ध नोकर्मवर्गणाएं उस पर्याप्त नामकर्म के निमित्त से मन, शरीर और इन्द्रियों के आकाररूप से परिणत हो जाती हैं ॥ २६७ ॥ यदि दैववश उन मन, शरीर और इन्द्रियों की पूर्णता हो जाय तो जड़ इन्द्रियां लब्धि के अपने विषय के प्रति उपयुक्त होने में बाह्य कारण हो जाती हैं ॥ २६८ ॥ इतने पर भी सूर्य और दीपक का प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार और परंपरावलोकन ये भी ज्ञान की उत्पत्तिमें कारण हैं ॥ २६६ । इतने हेतुओं के रहने पर ही समीचीन ज्ञान होना सम्भव है। यदि इनमें से एक भी कारण कम हो जाय तो वह ज्ञान पदार्थों को नहीं जान सकता है ॥ ३०० ॥ इसमें भी इतनी विशेषता है कि बाह्य कारण के बिना ज्ञान पदार्थों को नहीं जानता तब केवल लब्धिज्ञान देखा जाता है ॥ ३०१ ॥ यहां यदि देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के स्पर्धकों का उदय रहने से क्षायोपशमिक अवस्था नहीं होती है तो लब्धि ज्ञान नहीं होता। ३०२ ॥ इसलिये प्रकृत अर्थ यही है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान दिङ्मात्र है, क्योंकि यह अपने विषयभूत सब पदार्थों के एकदेश को ही जानता है ॥ ३०३ ॥ उन सब विषयों में से एक एक अर्थ के एक एक खण्ड को यह ज्ञान ग्रहण करता है इसलिये यह खण्डित है। तथा पदार्थों के पृथक् पृथक् रहने पर यह ज्ञान क्रम से नियत पदार्थ को ही ग्रहण करता है इसलिये प्रत्येक है ॥ ३०४ ॥

आस्तामित्यादिदोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ।। ३०५ ।।

निष्क्रियस्यात्मनः काचिद् यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना ।। ३०६ ।।

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ।। ३०७ ।।

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन ।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ।। ३०८ ।।

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः ।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत् सर्वप्रदेशजम् ।। ३०९ ।।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात् साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः ।। ३१० ।।

यह इन्द्रिय ज्ञान व्याकुलता आदि अनेक दोषों के प्राप्त होने का स्थान तो है ही। साथ ही वह आत्म प्रदेशों की चंचलता रूप भी है ।। ३०५ ।। निष्क्रिय आत्मा की जब तक कोई औदयिक क्रिया होती है तभी तक वह आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द होता है, क्योंकि उदय रूप उपाधि के बिना प्रदेश परिस्पन्द नहीं होता ।। ३०६ ।। उदयरूप उपाधि दुःखरूप है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह कर्म का फल है और कर्म का जो फल है वह दुःखरूप है यह बात परमागम से सिद्ध है ।। ३०७ ।।

विशेषार्थ—यहाँ इन्द्रिय निमित्तक ज्ञान में दोष बतला कर वह दुःख रूप कैसे है यह बतलाया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि इन्द्रिय ज्ञान स्वभावोत्थ न होकर विविध कारण कलापों के मिलने पर ही होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिये वह व्याकुलता का कारण होने से दुःख रूप है। अधिकतर देखा तो यहाँ तक जाता है कि मिथ्यात्व के सद्भाव में जीव की जो नाना प्रकार से दुर्दशा होती है उसमें इसका बड़ा हाथ रहता है। संसारी जीव पहले विषयों को ज्ञान द्वारा जानता है और तब उसमें राग द्वेष करता है। इसलिये अनर्थ परम्परा की जड़ यह इन्द्रिय ज्ञान ही है। अतः यह भी हेय है। बुद्धिमान् इसका कभी भी आदर नहीं करता। किन्तु वह अविनाशी, निश्चल, परनिरपेक्ष ज्ञान के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है ।। २७७-३०७ ।।

अबुद्धि पूर्वक दुःख की सिद्धि के साथ अनाकुलता लक्षण सुख की सिद्धि—

बुद्धिपूर्व दुःखों के विषय में कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं। किन्तु अबुद्धिपूर्वक दुःख केवल ज्ञानगम्य है। उसके विषय में एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता ।।३०८।। क्यों कि कर्मों से गाढ़ बंधे हुए इस आत्माके सब प्रदेशों में होनेवाला महादुःख सदा काल है। किन्तु मन के निमित्त से होनेवाला दुःख कदाचित् ही होता है ।। ३०९ ।। आत्मा का जो बुद्धिपूर्वक दुःख है वह अपने अनुमान का विषय होने से सिद्ध है। उसके साधन करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसकी सिद्धि के लिये व्यर्थ का श्रम वर्ज-

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥

सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥ ३१४ ॥

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

नासौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥ ३१६ ॥

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्च्छितस्यैव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ ३१७ ॥

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ ३१८ ॥

नीय है ॥ ३१० ॥ किन्तु इसमें अन्तर्निहित जो अबुद्धिपूर्वक दुःख है उसकी सिद्धि अवश्य करनी चाहिये। या तो कार्यानुमान के अनुसार उसकी सिद्धि में हेतु कहना चाहिये या परमागम से उसका कथन करना चाहिये ॥ ३११ ॥ कहीं-कहीं कार्य को देखकर उससे कारण का अनुमान हो जाता है। जैसे नदी के पूरको देखने से यह अनुमान हो जाता है कि ऊपर कहीं पर मेघ बरसा है ॥३१२॥ स्वतःसिद्ध और अविनाशीक एक सुख नाम का गुण है जो घातिया कर्मों के द्वारा घातित हो रहा है, इसलिये असत् पदार्थ के समान वह प्रकट दिखाई नहीं देता ॥३१३॥ इस प्रकार इस सुखका अदर्शन ही अबुद्धि पूर्वक दुःख की सिद्धि में अन्य हेतुओं के समान कार्य हेतु है। वह उसके विपक्षभूत दुःख का कारण है जिससे उसका अनुमान होता है ॥ ३१४ ॥ इससे हम यह अनुमान करते हैं कि सब संसारी जीवों के अबुद्धिपूर्वक दुःख है, क्योंकि उनके नैसर्गिक सुख का अभाव देखा जाता है ॥ ३१५ ॥ यदि कहा जाय कि यह सुख का अदर्शन रूप हेतु असिद्ध है सो भी बात नहीं है, क्यों कि इसके पोषक प्रसिद्ध दृष्टान्त के पाये जाने से और दुःखके सद्भाव के साथ सुख के अदर्शन की व्याप्ति होने से यह हेतु सिद्ध है। अन्यथा अबुद्धि पूर्वक दुःख की उपपत्ति नहीं बन सकती है ॥ ३१६ ॥ यहां जो दुःख के सद्भाव के साथ सुख के अदर्शन की व्याप्ति बतलाई है सो वह इस प्रकार घटित होती है कि जिस प्रकार चेष्टा रहित किसी मूर्च्छित पुरुष को देखकर हम यह जान लेते हैं कि इसका कारण मदिरा आदि का पान है। मदिरा आदि का पान यद्यपि अदृश्य है तो भी मूर्च्छित अवस्थारूप कार्य को देख कर जैसे इसके मदिरा पानरूप कारण का ज्ञान हो जाता है ॥ ३१७ ॥ उसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि संसारी जीव के अबुद्धिपूर्वक दुःख है, क्यों कि उसके सुख नहीं दिखाई देता। यदि उसके अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं माना जाय तो उसके आत्मीक सुखका सर्वथा

ततोऽनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ ३१९ ॥

नावाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधने ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥ ३२० ॥

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्च्छितं कर्मभिर्बलात् ॥ ३२१ ॥

अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥ ३२२ ॥

मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं नाबुद्धिजम् ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥ ३२३ ॥

साध्ये वाबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धौ व्याप्तेरसम्भवात् ॥ ३२४ ॥

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात् कुतोऽन्यथा ॥ ३२५ ॥

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाविरुद्धयोः ।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत् क्षारद्रवत्वयोः ॥ ३२६ ॥

अदर्शन कैसे बन सकता है ॥ ३१८ ॥ इसलिये कर्मबद्ध संसारी जीव के निरन्तर कर्मोंका उदय आदि होने के कारण अबुद्धिपूर्वक दुःख नियम से है ऐसा अनुमान होता है ॥ ३१९ ॥ यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त दुःखजात के सिद्ध करने में अवाच्यता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि अबुद्धिपूर्वक जितना भी दुःख होता है उसका मूल कारण कर्मका उदय है इसलिये वह सिद्ध ही है ॥ ३२० ॥

शंका—जो सुख अपनी आत्मा का स्वरूप है कर्मों से बलपूर्वक मूर्च्छित हो रहा है, इस लिये वह बद्ध जीवके नहीं पाया जाता ॥ ३२१ ॥ माना कि आत्मा को अनिष्ट अर्थ के संयोग से शारीरिक दुःख होता है पर उसकी जगमें इन्द्रियजनित बुद्धिपूर्वक दुःख रूपसे प्रसिद्धि है ॥ ३२२ ॥ यदि कोई कहे कि अबुद्धि पूर्वक होनेवाला दुःख मन, देह और इन्द्रिय आदिक से भिन्न है सो यह बात भी नहीं है, क्यों कि आकाश फूल के समान इसका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता ॥ ३२३ ॥ अतः अबुद्धि पूर्वक दुःख की सिद्धि में जो आत्म सुख का अभाव रूप हेतु दिया जाता है वह हेत्वाभास है, क्यों कि व्याप्य के असिद्ध होने पर उसके साथ सुखाभाव की व्याप्ति ही घटित नहीं होती ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्यों कि सुख के विपक्षभूत दुःख के सिद्ध करने में अबुद्धि पूर्वक होनेवाले दुःखके साथ सुखाभाव की व्याप्ति है। यदि ऐसा नहीं है तो फिर कर्म सुख के विपक्षी हैं यह बात किस युक्ति से सिद्ध होगी ? अर्थात् जब कि कर्ममात्र के सद्भाव में सुखका अभाव माना गया है तब इसी से सिद्ध हो जाता है कि सुखाभाव की अबुद्धि पूर्वक दुःख के साथ व्याप्ति अवश्य है ॥ ३२५ ॥ ऐसा नियम है कि परस्पर विरुद्धभूत दो धर्मों में ही विपक्षपना पाया जाता है अविरोधी धर्मों में नहीं, क्यों

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी ।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥ ३२७ ॥

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।
अन्यथात्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥ ३२८ ॥

नयात् सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥ ३२९ ॥

देशतोऽस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥ ३३० ॥

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥ ३३१ ॥

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता ।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोऽर्थतः । ३३२ ॥

न चैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत् ।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥ ३३३ ॥

कि हम देखते हैं कि परस्पर विरोधी शीत और उष्ण इन दो धर्मों में ही वैर होता है, क्षारत्व और द्रवत्व इन दो धर्मों में नहीं। यतः सुख दुःख का विपक्षी है अतः दुःख की सुखाभाव के साथ व्याप्ति मानने में कोई बाधा नहीं यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३२६ ॥

निराकुलता का नाम सुख है जो जीव की अनुजीवी शक्ति है और इसके विरुद्ध जो आकुलता है वह सुख का घात करनेवाले कर्मों की शक्ति है ॥ ३२७ ॥ आकुलता सुख गुण के घातक कर्मों की शक्ति है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्म का फल ऐसा ही देखा जाता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह कर्म आत्मशक्ति का बाधक कैसे हो सकता है ॥ ३२८ ॥ इस लिए कर्मों से बंधे हुए आत्मा के जब तक कर्मों का रसोदय रहता है तब तक उसके सब प्रदेशों में कम्प पैदा करनेवाला दुःख होता है यह बात युक्ति से सिद्ध हो गई ॥ ३२९ ॥ इस विषयका एकदेश दृष्टान्त यह है कि वायु से ताडित हुआ समुद्र स्वाधिकार में प्रमत्त होने के कारण व्याकुल देखा जाता है। किन्तु वही समुद्र जब स्वस्थ होता है तब अव्याकुल देखा जाता है ॥ ३३० ॥ यदि कोई कहे कि चाहे आत्मा बद्ध हो, चाहे अबद्ध हो किन्तु सुख सदा विद्यमान रहता है, क्योंकि वह आत्मा की शक्ति है, इसलिये उसका अभाव कभी नहीं हो सकता, सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष आते हैं जिनकी पोषक युक्ति पहले ही दिखला आये हैं। वास्तव में जीव स्वस्थ है उसके व्याकुलता कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। इससे ज्ञात होता है कि संसारी जीवके सुखका अभाव ही है। ॥ ३३१-३३२ ॥ यदि कहा जाय कि एक ही आत्मा के एक अपेक्षा से सुखगुण की अभिव्यक्ति और एक अपेक्षा से दुःख ये दोनों बन जायगे, क्यों कि अनेकान्त वादियों के मत में एक ही आधार से दोनों की सिद्धि मानने में कोई बाधा नहीं आती, सो यह कहना भी ठीक नही

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात् सुखदुःखयोः
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद् द्रव्यतः क्वचित् ॥ ३३५ ॥

बहुप्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः ।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतःसिद्धो यथाक्रमः ॥ ३३६ ॥

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः ।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥ ३३७ ॥

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः ।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनो मताः ॥ ३३८ ॥

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥ ३३९ ॥

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः ।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नासंज्ञिनामिति ॥ ३४० ॥

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चासंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथा मतम् ॥ ३४१ ॥

है, क्योंकि एक ही वस्तु में यद्यपि अनेकान्त प्रमाण माना गया है पर वह गुण और पर्याय इन दोनों में गौण और मुख्य व्यवस्था की अपेक्षा से ही प्रमाण माना गया है ॥ ३३३-३३४ ॥ किन्तु सुख और दुःख इन दोनों की अभिव्यक्ति पर्याय रूप से होती है, इसलिये पर्यायरूप से इनका द्वैत नहीं बन सकता। यदि किसी आत्मा में इनका द्वैत माना भी जाता है तो वह शक्ति की अपेक्षा से ही माना जा सकता है ॥३३५॥ अब इस विषय में और अधिक कथन करने से क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि एक तो प्रमाण से इष्ट साध्य की सिद्धि ही की जा चुकी है। दूसरे जैनागम से भी इसकी सिद्धि हो जाती है। और आगम स्वतः सिद्ध है इसलिये उसके सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं ॥३३६॥ सर्वज्ञ की जो आज्ञा है वही उनका आगम है और सर्वज्ञ का वचन यह है कि फल देने के सन्मुख हुआ उदयागत जितना भी कर्मफल है वह सब दुःख ही है ॥ ३३७ ॥ इस विषय में यह उदाहरण है कि एकेन्द्रियों से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जितने भी कार्मणकायवाले या अन्य कायवाले जीव हैं वे सब ही दुखी माने गये हैं ॥३३८॥ घाति कर्मों के उदय के आघातसे जो जीव के प्रदेशों का घात हो रहा है वास्तव में वही अबुद्धिजन्य दुःख शब्द का वाच्य है और जिसका अभिव्यंजक रागादि भाव माना गया है ॥३३९॥ यदि ऐसा नहीं माना जाय तो अनेक दोष प्राप्त होते हैं जिससे ऐसा माने बिना काम ही नहीं चलता। उदाहरणार्थ—यदि कर्मों के फलमात्र को दुःख न माना जाय तो संज्ञियों के ही केवल दुःख प्राप्त होता है वह असंज्ञियों के नहीं प्राप्त होता ॥ ३४० ॥ यदि कहा जाय कि संज्ञी जीवों को बहुत दुःख होता है और असंज्ञी जीवों को थोड़ा दुःख होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि नीच पद से उच्च पद

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥ ३४२ ॥
अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ३४३ ॥
अस्ति चेत् कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥
अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम्।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

सदा श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३४१ ॥ यदि कहा जाय कि सूक्ष्म जीवों के भी शरीर और स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ होती हैं अतः उनके फलस्वरूप उन जीवों के भी दुःख सिद्ध हो जायगा सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जब वे जीव कार्मण अवस्था में अवस्थित रहते हैं तब उनके दुःख नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि तब यह जीव शरीर और इन्द्रिय आदि की नोकर्म वर्गणाओं से रहित देखा जाता है ॥ ३४२-३४३ ॥ यदि कहा जाय कि वहाँ भी कर्मों का समुदायरूप कार्मण शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीर हेतुक दुःख वहाँ पर भी है तो इससे अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि सुतरां हो जाती है ॥ ३४४ ॥ तथा इस कथन से अनाकुल लक्षणवाला सुख भी सिद्ध हो जाता है जो कि कर्मों के समान नोकर्मों का त्याग होने पर जीव को प्राप्त होता है ॥ ३४५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्ध करते हुए अनाकुलतारूप सहज सुख की भी सिद्धि की गई है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब हम किसी पदार्थ को चाहते हैं और वह प्राप्त नहीं होता तो जीवन में आकुलता उत्पन्न होती है, अतः बुद्धिपूर्वक दुःख सबके अनुभव का विषय है। अब देखना यह है कि क्या सभी संसारी जीव दुःख से मूर्छित हैं या किन्हीं किन्हीं के ही ऐसा दुःख पाया जाता है? जहाँ तक इस विषय का विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि एक अबुद्धिपूर्वक दुःख और है जिससे सब संसारी प्राणी मूर्छित हो रहे हैं और इसकी सिद्धि अनुमान और आगम दोनों से होती है। आगम में बतलाया है कि कर्मोदय मात्र सुख गुण का विरोधी है और वह दुःखरूप है, अतः सब संसारी जीवों के अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है यह बात आगम से जानी ही जाती है साथ ही वह युक्ति से भी जानी जाती है। यह कौन नहीं जानता कि प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। कोई रोजगार करता है तो इसलिये कि उससे सुख प्राप्त होगा। दूसरा कोई और कुछ करता है तो वह भी सुख के लिये ही करता है। इससे सिद्ध है कि सुख आत्मा का धर्म है। पर वह रोजगार आदि से नहीं प्राप्त होता। भ्रमवश ही इस जीव ने विषय में सुख मान लिया है। भला सोचिये तो कि अन्य की प्राप्ति कहीं अन्य में हो सकती है। जो वस्तु आत्मा में उत्पन्न होनेवाली है वह भोग में कहाँ से मिल सकती है। यह ऐसी प्रबल युक्ति है जिससे सिद्ध है कि जब तक कर्म का उदय है तब तक यह जीव दुखी ही है। कर्म का उदयमात्र दुःख है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सच्चा सुख तो वह है जो उसके सर्वथा अभाव में होता है और वह है निराकुलता। यह निराकुलता कषाय के अभाव में प्राप्त होती है इसलिये कषाय का अभाव सुख का कारण है ऐसा यहाँ जानना चाहिये ॥ ३०८-३४५ ॥

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ॥ ३४६ ॥

न यद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ॥ ३४८ ॥

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥ ३४९ ॥

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किञ्चिद्देहेन्द्रियं विना ॥ ३५० ॥

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥ ३५१ ॥

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥ ३५२ ॥

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः ॥ ३५३ ॥

शंका—जब कि परमात्मा के देह और इन्द्रियों का अभाव प्रसिद्ध है तब फिर उनके देह और इन्द्रियों के अभाव में सुख और ज्ञान कैसे माने जा सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनिन्द्रिय और अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी के ज्ञान और सुख की सिद्धि में प्रमाण पाया जाता है जिसकी सिद्धि हेतु से होती है ॥ ३४६-३४७ ॥ यतः शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख इन दोनों का एकदेश स्वाद हम लोगों के भी पाया जाता है इससे ज्ञात होता है कि किसी के शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख पूरी तरह से होता है ॥ ३४८ ॥ ज्ञान और आनन्द ये दोनों आत्मा के धर्म हैं जो नित्य और द्रव्योपजीवी हैं अतः देह और इन्द्रियों का अभाव हो जाने पर भी इनका अभाव नहीं होता ॥ ३४९ ॥ यतः सिद्ध अवस्था में भी देह और इन्द्रियों के बिना ये पाये जाते हैं अतः आनन्द और ज्ञान में गुण का लक्षण घटित होने से इनमें गुणपना सिद्ध होता है ॥ ३५० ॥ मतिज्ञान आदि के समय एक आत्मा ही उनका उपादान कारण है। देह, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय तो केवल बाह्य कारण हैं, इसलिये वे अहेतुके ही समान हैं ॥ ३५१ ॥ जीव संसार तथा मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञानादि लक्षणवाला होता है, अतः यह आत्मा ही स्वयं ज्ञानमय है और यह आत्मा ही स्वयं सुखमय है ॥ ३५२ ॥ मतिज्ञानादि के समय स्पर्शादि विषयों को प्राप्त होकर यह जीव ही स्वयं ज्ञानमय और सुखमय हो जाता है। यहाँ स्पर्शादि अर्थ क्या कर सकते हैं, क्योंकि वे जड़ हैं इसलिये कुछ भी नहीं कर

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत् किं नोत्पादयन्ति ते ॥ ३५४ ॥

अथ चेत् चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखं प्रति ॥ ३५६ ॥

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ॥ ३५७ ॥

नैवं यतोऽन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यञ्जकः कोऽपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत् ।
न स्याद्विनागुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ३५९ ॥

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः क्वचित् ।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥ ३६० ॥

नाप्युपादानशून्येऽपि स्यादभिव्यञ्जकात् सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥ ३६१ ॥

सकते ॥ ३५३ ॥ यदि स्पर्शादिक विषय ही स्वतंत्ररूप से ज्ञान उत्पन्न करते हैं ऐसा माना जाय तो हम पूछते हैं कि जो घटादिक ज्ञानशून्य पदार्थ हैं उनमें वे ज्ञान को क्यों नहीं उत्पन्न कर देते हैं ॥ ३५४ ॥ यदि कहा जाय कि ये स्पर्शादिक चेतन द्रव्य में ही ज्ञान को पैदा करते हैं ? तो जब कि आत्मा स्वयं चेतन है तब फिर उन्होंने वहां क्या पैदा किया, अर्थात् कुछ भी पैदा नहीं किया ॥ ३५५ ॥ इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि शरीर और अपने अपने विषय के साथ पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान और सुख को उत्पन्न करने में अकिंचित्कर हैं ॥ ३५६ ॥

शंका—देह, इन्द्रिय और विषयों के रहने पर मनुष्यों के ज्ञान और सुख होते हैं तथा इनके नहीं रहने पर ज्ञान और सुख नहीं होते अतः ये ज्ञान और सुख के प्रति अकिंचित्कर कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अभिव्यंजक में जो कारणता देखी जाती है वह अन्वय का साहाय्य मिलने पर ही देखी जाती है, क्योंकि अन्वय के बिना कोई भी साधन कार्य का अभिव्यंजक नहीं हो सकता ॥ ३५७-३५८ ॥ उदाहरणार्थ अग्नि अगुरु के गंध का व्यंजक होता है, परन्तु अगुरु द्रव्य के बिना वह गन्ध उस अग्नि का नहीं हो सकता ॥३५९॥ इसी प्रकार देह, इन्द्रिय और विषय ये कहीं पर ज्ञान और सुखके अभिव्यंजक होते हैं, परन्तु ये स्वयं ज्ञान और सुखरूप नहीं हैं ॥ ३६० ॥ दूसरे उपादान शून्य वस्तुमें केवल अभिव्यंजक मात्रसे ज्ञान और सुख नहीं हो सकते, अन्यथा वहां और सर्वत्र हेतुशून्य दोषका प्रसंग प्राप्त होता है ॥ ३६१ ॥ इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान और सुख ये जीवके गुण हैं, क्योंकि इन गुणोंका संसार और मुक्त दोनों ही

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य का पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

किञ्च सावरणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः ।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः ।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥ ३६५ ॥

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद् भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात् परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात् कार्तस्वरेऽस्ति चेत् ॥ ३६७ ॥

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः ।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम् ।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषंगतः ॥ ३६९ ॥

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥ ३७० ॥

अवस्थाओंमें अतिक्रमण नहीं पाया जाता ॥ ३६२ ॥ तथापि संसार अवस्थामें आदिके ये ज्ञान और सुख सावरण होते हैं और मुक्ति होने पर उसी आत्माके वे ज्ञान और सुख निरावरण होते हैं ॥ ३६३ ॥ कर्मोंका क्षय हो जाने पर आत्माके गुणोंका नाश नहीं होता किन्तु इसके विपरीत कीचड़के दूर होने पर जल आदिके समान उनमें अतीव निर्मलता पैदा होती है ॥ ३६४ ॥ ऐसा नियम है कि कर्ममलके दूर होते ही आत्मामेंसे विकारका भी अभाव हो जाता है, क्योंकि विकार कर्मजन्य भाव है इसलिये वह कादाचित्क है और पर्यायरूप है ॥ ३६५ ॥ अशुद्ध पर्यायके नाश होने पर गुणोंके नाशकी भ्रान्ति करना उचित नहीं है, क्योंकि गुण नित्य होते हैं इसलिये परमात्मामें ज्ञान और आनन्द भले प्रकार पाये जाते हैं ॥ ३६६ ॥ उदाहरणार्थ यदि सोना है तो अग्निके संयोगसे पत्थर आदि मलका अभाव होने पर भी उसके पीतत्व आदि गुणोंका नाश नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये ॥ ३६७ ॥ इक्कीस प्रकार के दुःखोंका अभाव होना ही मोक्ष है ऐसा किन्हीं का मत है किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि इससे जीव और गुण दोनों का अभाव प्राप्त होता है ॥ ३६८ ॥ आत्माके अपने गुणों की अभिव्यक्ति दुःख का कारण है यह तो माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सुख का समूल नाश होनेसे अति दुःख का प्रसंग प्राप्त होता है ॥ ३६९ ॥ इसलिये यह बात निश्चित हुई कि ज्ञान और सुखरूप परमात्माके देह और इन्द्रियोंके बिना भी ज्ञान और आनन्द होते हैं ॥ ३७० ॥

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ।। ३७१ ।।
ननूल्लेखः किमेतावनस्ति किं वा परोऽप्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाश्रितः पुमान् ।। ३७२ ।।

विशेषार्थ—यहां जीवके ज्ञान और सुख गुणकी सिद्धि करते हुए वे सावरण अवस्था में अपूर्ण और विकृत तथा निरावरण अवस्था में परिपूर्ण और स्वाभाविक होते हैं यह बतलाया गया है। यह तो तर्क सिद्ध बात है कि जितने भी पदार्थ हैं वे निश्चित स्वभाववाले होते हैं। न तो नये पदार्थ का निर्माण ही होता है और न स्वभावातिक्रमण ही होता है, इसलिये देखना यह है कि ज्ञान और सुखवाला पदार्थ क्या है। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि घट पट आदि पदार्थों में ज्ञान और सुख नहीं पाया जाता, इसलिये ये जड़ पदार्थ के धर्म तो हो नहीं सकते। हम यह भी देखते हैं कि जीते हुए शरीरमें घट पट आदि से विलक्षण अवस्था होती है। वह स्वयं क्रिया करता है, खाता पीता है, जानता देखता है, रोता विलपता है श्वासोच्छ्वास लेता है, कभी सुखानुभव करता है और कभी दुःखानुभव करता है, अच्छी बुरी बात भी सोचता है और जो इष्ट होती है उसे प्रिय मानकर ग्रहण करता है और जो अनिष्ट होती है उसे अप्रिय मानकर त्याग देता है। कभी अहंकार करता है और कभी क्षमा भी सो ये सब बातें जड़में तो हो नहीं सकतीं क्यों कि जड़ में इनका अन्वय नहीं देखा जाता पर होती अवश्य हैं इससे मालूम पड़ता है कि जीते हुए शरीर में जड़ से विलक्षण स्वभाववाला कोई दूसरा पदार्थ अवश्य ही मौजूद है। इस प्रकार जो यह विलक्षण पदार्थ सिद्ध होता है उसे ही जैन दर्शन में 'जीव' कहा गया है। इस प्रकार यद्यपि जीव तत्त्वकी सिद्धि तो हो जाती है पर उसके स्वतन्त्र गुण धर्म क्या हैं यह भी देखना है। जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि ज्ञान और सुख का अन्वय जड़ में नहीं देखा जाता पर ये जीते हुए शरीर में अवश्य पाये जाते हैं इससे मालूम पड़ता है कि ज्ञान और सुख तथा इसी तरह के अन्य गुण धर्म ये जीवके स्वभाव हैं। जीव इन गुण धर्मोंवाला है। अब प्रश्न यह है कि यदि ज्ञान और सुख ये जीव के स्वभाव हैं तो फिर इनकी उत्पत्ति इन्द्रिय आदि से क्यों होती है ये स्वतन्त्र रूप से जीव में क्यों नहीं पाये जाते सो इस प्रश्न का यह समाधान है कि यद्यपि हैं तो ये जीव के ही स्वभाव पर जिस प्रकार घटादि कार्यों की उत्पत्तिमें कुम्भकार निमित्त होता है उसी प्रकार ये भी निमित्त सापेक्ष होते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जबतक निमित्त नहीं मिलता तबतक वे जीव में रहते ही नहीं। रहते तो वे सदा ही हैं पर उनकी कार्य रूप दशा निमित्त के मिलने पर होती है। जिसप्रकार मिट्टी स्वतंत्रभाव से सदा विद्यमान है पर कुम्भकार निमित्तके मिलने पर वह घटदशा को प्राप्त हो जाती है, अन्यथा नहीं उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। फिर भी इतना विशेष जानना चाहिये कि जब तक जीव की अशुद्ध दशा है तभी तक ज्ञान और सुख को उपयोग दशा में आने के लिये जुदे जुदे निमित्त लगते हैं। जीव की अशुद्ध दशा के दूर होते ही इन निमित्तों के बिना भी उनका परिणमन होने लगता है जो स्वभाव परिणमन कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान और सुख ये जीव के अनुजीवी गुण हैं यह सिद्ध होता है ।। ३४६-३७० ।।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण—

इस प्रकार स्वात्मदर्शी जो सम्यग्दृष्टि तत्त्वों को जान लेता है वह वैषयिक सुख और ज्ञान-सम्बन्धी राग द्वेष का त्याग कर देता है ।। ३७१ ।।

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि के विषय में इतना ही कथन है या और भी है? क्या ऐसा कोई लक्षण है जिस लक्षण से युक्त यह जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है?

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैः संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ३७४ ॥

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्या स्वादुरूपमनादितः ॥ ३७७ ॥

दैवात् कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३७८ ॥

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३७९ ॥

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ ३८० ॥

समाधान—सम्यग्दृष्टि आत्मा के और भी लक्षण हैं। सम्यक्त्व के अविनाभावी जिन लक्षणों के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित किया जाता है ॥ ३७२-३७३ ॥ यथा पहले इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान का कथन कर आये हैं जो सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये उपादेय नहीं माना गया है। इसी प्रकार उसके लिये सम्पूर्ण कर्म भी उपादेय नहीं माना गया है। और यह बात प्रत्यक्ष से भी दिखाई देती है कि सम्यग्दृष्टि की इन सबमें हेय बुद्धि हो जाती है ॥ ३७४ ॥ वास्तव में सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है जो या तो केवलज्ञान का विषय है या अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का विषय है ॥ ३७५ ॥ यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों का किंचित् भी विषय नहीं है। साथ ही यह देशावधिज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों के द्वारा सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती ॥ ३७६ ॥ आत्मा का निर्विकल्प सम्यक्त्व नाम का एक गुण है। जो दर्शनमोहनीय के उदय से अनादि काल से मिथ्या स्वादरूप हो रहा है ॥ ३७७ ॥

योग्यतावश कालादिलब्धियों के प्राप्त होने पर जब संसार समुद्र निकट रह जाता है और भव्य भावका परिपाक होता है तब यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥ ३७८ ॥ उक्त कारण सामग्री के मिलते ही इस जीव के बिना किसी प्रयत्न के एक अन्तर्मुहूर्त के लिये दर्शन मोहनीय के उपशम होता है और तब गुणश्रेणी निर्जरा भी होती है ॥ ३७९ ॥ दर्शनमोहनीयके उपशम से जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह जीवकी मिथ्यात्व अवस्था से सर्वथा भिन्न दूसरी अवस्था रूप है जिसका चैतन्य के विकल्प

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३८१ ॥

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३८२ ॥

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८३ ॥

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्छितः ॥ ३८४ ॥

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

में आकार नहीं आता ॥ ३८० ॥ सम्यग्दर्शन सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से निर्विकल्प है, सत्त्वरूप है और केवल आत्मा के प्रदेशों में परिणमन करनेवाला है ॥ ३८१ ॥ जैसे सूर्य किरणों के द्वारा अन्धकार का नाश हो जाने पर दिशाएं सब तरफ से निर्मल होकर प्रसन्नता को प्राप्त होती हैं वैसे ही दर्शनमोहनीय का उपशम होने पर सम्यग्दृष्टि के भी वही दशा होती है। इसके जो सम्यग्दर्शन होता है वह सब प्रदेशों में शुद्ध होता है और तीन प्रकार के बन्धको दूर करनेवाला होता है ॥ ३८२—३८३ ॥ अथवा जिस प्रकार मदिरा और धतूरे के परिपाक होनेपर यह जीव मूर्छित होता है और इनका नशा दूर हो जाने पर यह जीव मूर्छारहित होकर प्रसन्न हो जाता है ॥ ३८४ ॥ उसी प्रकार दर्शनमोहनीय के उदय से इस जीव के मूर्छा वैचित्य या भ्रम देखा जाता है और दर्शनमोहनीय कर्म के उपशान्त हो जाने पर मूर्छा का नाश हो जाने से यह जीव निरामय देखा जाता है ॥ ३८५ ॥

विशेषार्थ—यहां सम्यक्त्व किस ज्ञान का विषय है इस बात का निर्देश करके सम्यक्त्व आत्मा का गुण है यह बतलाया गया है और साथ ही उसकी उत्पत्ति की सामग्री पर भी प्रकाश डाला गया है। सम्यक्त्व अमूर्त आत्मा का गुण है इसलिये इसका प्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञानके सिवा अन्य ज्ञानों द्वारा सम्भव नहीं है। फिर भी यहां वह अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान का भी विषय बतलाया गया है सो इसका कारण भिन्न है। बात यह है कि परमावधि और सर्वावधि का विषय कर्म तो है ही इसलिये इन ज्ञानों द्वारा कर्म के उपशम आदि को जान कर अवधिज्ञानी यह जान लेता है कि इस आत्मा में सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार कर्म के निमित्त से होनेवाली पर्याय मनःपर्यय ज्ञानका विषय होने से मनःपर्ययज्ञान भी सम्यक्त्व को जान लेता है। पर शेष ज्ञान सम्यक्त्व को नहीं जान सकते, क्योंकि वे स्थूल मूर्त पर्यायों को ही जानते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व किस ज्ञानका विषय है यह तो स्पष्ट हो जाता है। अब सम्यक्त्व की उत्पत्ति की सामग्री के सम्बन्ध में विचार करना है। बात यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल के शेष रहने पर ही होती है। उसमें भी इस काल के भीतर जब सम्यक्त्व की उत्पत्ति की योग्यता होती है तभी यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के विषय में ऐसा नियम है कि सर्व प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है जो अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण पूर्वक होता है। उसमें भी मिथ्यात्व का अन्तर करण उपशम होता है और अनन्तानुबन्धीचतुष्क का अनुदयरूप उपशम होता है। इस सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल है। इसके होने पर जीवकी ऐसी अवस्था प्रकट होती है जिससे उसका चित्त संसार

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मन : ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ३८६ ॥

अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थात्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद् बाह्यलक्षणम् ॥ ३८७ ॥

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वाङ्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ३८९ ॥

नैवं यतोऽनिभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयो : ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ३९० ॥

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२ ॥

और संसारके कारणों से स्वभावतः हट जाता है। यों तो सम्यक्त्वकी उत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में बहुत कुछ वक्तव्य है पर यहां संक्षेप में उसका संकेतमात्र किया है ॥ ३७१-३८५ ॥

श्रद्धान आदि गुण सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण हैं और वह अनाकार है इसका विचार—

सम्यग्दृष्टि आत्मा के यद्यपि श्रद्धान आदि गुण होते हैं पर वे उसके बाह्य लक्षण हैं। सम्यक्त्व तद्रूप नहीं है, क्यों कि वे ज्ञान की पर्याय हैं ॥ ३८६ ॥ तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्यों कि वह ज्ञान की पर्याय है। वास्तव में वह आत्मानुभूति ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं। यदि उसे सम्यक्त्व माना भी जाय तो वह उसका बाह्य लक्षण है ॥ ३८७ ॥ आशय यह है कि जिस प्रकार स्वास्थ्यलाभ जन्य हर्षका ज्ञान करना कठिन है परन्तु वचन, मन और शरीर की चेष्टाओं के उत्साह आदि गुणरूप स्थूल लक्षणों से उसका ज्ञान कर लिया जाता है उसी प्रकार अतिसूक्ष्म और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन का ज्ञान करना कठिन है तो भी श्रद्धान आदि बाह्य लक्षणों के द्वारा उसका ज्ञान कर लिया जाता है ॥ ३८८ ॥

शंका—वास्तव में आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है, क्यों कि मिथ्यादृष्टि के इसका कभी भी पाया जाना असम्भव है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्यों कि सत्सामान्य और सद्विशेष का तथा अनाकार और साकार के चिन्हों का तुम्हें कुछ ज्ञान ही नहीं है। जो इस प्रकार है—ज्ञानमें अर्थ का विकल्प होना आकार कहलाता है और अर्थ स्व परके भेदसे दो प्रकार का है। अथवा सोपयोग अवस्था का होना ही विकल्प है जो कि ज्ञान का लक्षण है ॥ ३८९-३९१ ॥ आकार का नहीं होना ही अनाकार है। उसीका नाम वास्तव में निर्विकल्पता है। यह निर्विकल्पता ज्ञान के सिवा शेष अनन्त गुणों का लक्षण है ॥ ३९२ ॥

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत् सामान्यं विशेषवत् ।
तत् किं किञ्चिदनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥ ३९३ ॥

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ३९४ ॥

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ ३९५ ॥

ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ३९६ ॥

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ३९७ ॥

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थः स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥ ३९८ ॥

शंका—जब कि सत्सामान्य और सद्विशेष यह सब वास्तविक हैं तब फिर कुछ अनाकार है और कुछ साकार है ऐसा क्यों ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि ज्ञान वास्तव में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का होता है। उनमें से जो सामान्य ज्ञान है वह अनाकार होता है और जो विशेष ज्ञान है वह साकार होता है ॥ ३९३-३९४ ॥ तथा ज्ञान के सिवा सत् लक्षणवाले सामान्य या विशेषरूप और जितने भी गुण कहे गये हैं वे सब वास्तव में अनाकार ही होते हैं ॥ ३९५ ॥

इसलिये निर्विकल्प वस्तुका कथन करना शक्य नहीं होने से जहां भी उसका उल्लेख किया जाता है वह ज्ञानद्वारा ही किया जाता है ॥ ३९६ ॥

विशेषार्थ—यहां श्रद्धान आदि धर्म सम्यक्त्वके स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार वह अनाकार है यह बतलाया गया है। बात यह है कि आत्मश्रद्धान, आत्मरुचि, आत्म प्रत्यय और आत्मानुभव आदि शब्दों द्वारा सम्यक्त्व का निर्देश किया जाता है यह सही है पर ये श्रद्धान आदि धर्म स्वयं सम्यक्त्व नहीं हैं, क्यों कि ये ज्ञान की पर्याय हैं। अतः ये सम्यक्त्व के अनात्मभूत लक्षण जानने चाहिये। सम्यक्त्व ही क्या ज्ञान के सिवा आत्मा के और जितने भी धर्म हैं वे सब विकल्परूप अवस्था को नहीं प्राप्त होते। एक ज्ञान ही ऐसा धर्म है जो विकल्प रूप अवस्था को प्राप्त होता है, अतः सम्यक्त्व निर्विकल्प है। इसका ऐसा माहात्म्य है जिसके होने पर आत्मा पर से भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव करता है और नैमित्तिक भावों को हेय मानता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३८६-३९६ ॥

ज्ञान अन्य पदार्थों को जानता हुआ भी तद्रूप नहीं होता इसका खुलासा—

यद्यपि स्व और अपूर्व दोनों प्रकार के पदार्थों को ज्ञान युगपत् ग्रहण करता है तथापि ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं हो सकता है। किन्तु ज्ञान ज्ञान है और पर पर है ॥ ३९७ ॥ यतः चित् शक्ति ज्ञानमात्र मानी गई है अतः केवलज्ञान ही उसका स्वार्थ है और स्वार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले शेष सुखादि गुण

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ३९९ ॥

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥ ४०० ॥

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत् परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥ ४०३ ॥

उसके परार्थ हैं ॥ ३९८ ॥ आशय यह है कि सुख दुःखादि भाव यद्यपि जीव के निज गुण हैं और ज्ञान उनका वेदक है तथापि वास्तव में ज्ञान सुखादिरूप नहीं है ॥ ३९९ ॥

विशेषार्थ—यहां यह शंका होती है कि जब कि श्रद्धानादि ज्ञानरूप हैं और ज्ञान आत्मा का धर्म है तब फिर सम्यक्त्वको श्रद्धान आदि रूप मानने में क्या आपत्ति है। आगे इस शंका को मन में रख कर उसका समाधान किया गया है। ऐसा नियम है कि जगत् के जितने पदार्थ हैं वे अपने अपने गुणधर्म को कभी नहीं छोड़ते। एक पदार्थ दूसरे रूप नहीं होता। जो जड़ हैं वे सदा काल जड़ ही बने रहते हैं और जो चेतन हैं वे सदा काल चेतन ही बने रहते हैं। इसी प्रकार एक चेतन तत्त्व दूसरे चेतनरूप भी नहीं होता। इतना ही नहीं नियम तो यहां तक है कि किसी भी वस्तु का एक गुण या पर्याय उसी वस्तु के अन्य गुण या पर्याय रूप नहीं होते। जो जिसरूप है वह उसी रूप बना रहता है। यही सबब है कि ज्ञान अन्य पदार्थों को जानता तो है और उसमें उनका विकल्प भी आता है पर वह अन्य पदार्थ रूप कभी भी नहीं होता। उदाहारणार्थ ज्ञान अग्नि को जानता तो है और उसमें अग्नि का विकल्प भी आता है पर वह अग्नि रूप कभी भी नहीं होता। ज्ञान ज्ञान रहता है और अग्नि अग्नि। इसी से यहाँ यह बतलाया गया है कि ज्ञान में सुखादिक का विकल्प तो आता है पर ज्ञान भिन्न है और सुख भिन्न। यद्यपि ज्ञान और सुख ये आत्मा के निज गुण हैं पर ज्ञान की अपेक्षा उसका स्व ज्ञान ही है सुख नहीं। सुख तो पर है। जगत् की वस्तु व्यवस्था इसी प्रकार की है ऐसा यहां जानना चाहिये। यही कारण है कि यहां श्रद्धान आदि को सम्यक्त्व रूप नहीं बतलाया है ॥ ३९७-३९९ ॥

यद्यपि स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण है फिर भी इसकी सम्यक्त्व के साथ विषम व्याप्ति है इसका खुलासा—

सम्यग्दर्शन वास्तव में सूक्ष्म है और वचनों का अविषय है, इस लिये कोई भी जीव विधिरूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है ॥ ४०० ॥ एक ज्ञान ही ऐसा प्रसिद्ध गुण है जिससे आत्मा की सिद्धि होती है और जो स्वात्मानुभूतिका कारण है इस लिये वह सर्वोत्कृष्ट है ॥४०१॥ उसमें भी वह आत्मानुभूति आत्मा का ज्ञान विशेष है और उसका सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अविनाभाव पाया जाता है ॥ ४०२ ॥ चूंकि सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति इनकी व्याप्ति पाई जाती है इस लिये स्वात्मानुभूतिरूप से सम्यग्दर्शन कहने योग्य हो जाता है। तब

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ ४०४ ॥

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ४०५ ॥

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः ॥ ४०६ ॥

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥ ४०७ ॥

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८ ॥

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥ ४०९ ॥

यह कहा जाता है कि स्वात्मानुभूति ही सम्यक्त्व है। किन्तु तब उस स्वात्मानुभूति का शुद्ध नयरूप होना आवश्यक है ॥ ४०३ ॥ इतनी विशेषता है कि सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति इनकी विषम व्याप्ति है, क्योंकि उपयोगरूप अवस्था के रहते हुए इनकी समव्याप्ति नहीं पाई जाती। यदि पाई भी जाती है तो वह लब्धिरूप अवस्था के रहते हुए ही पाई जाती है ॥ ४०४ ॥ खुलासा इस प्रकार है—जब स्वानुभव होता है या स्वानुभव का काल रहता है तब आत्मा में सम्यक्त्व अवश्य पाया जाता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के विना स्वानुभूति नहीं हो सकती ॥ ४०५ ॥ अथवा सम्यक्त्व के होने पर आत्मा उपयोगवाला होता भी है और नहीं भी होता। किन्तु इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व के होने पर शुद्ध आत्मा का अनुभव लब्धिरूप अवश्य रहता है ॥ ४०६ ॥ इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय स्वानुभूति ज्ञानावरण का क्षयोपशम स्वयमेव नियम से हो जाता है ॥ ४०७ ॥ क्योंकि छद्मस्थ का उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है और केवली का ज्ञान नित्य होता है। साथ ही छद्मस्थ का भी लब्धिरूप ज्ञान नित्य होता है ॥ ४०८ ॥ तथा अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा किये विना सामान्यरूप से सम्यक्त्व नित्य है, इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव इन दोनों की विषम व्याप्ति सिद्ध होती है ॥ ४०९ ॥

विशेषार्थ—यह तो पहले ही बतला आये हैं कि सम्यक्त्व अनिर्वचनीय और निर्विकल्प है वह सीधे अपने अस्तित्व को नहीं सूचित करता। हाँ ज्ञान द्वारा उसका अस्तित्व अवश्य जाना जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व के होने पर जीव को 'मैं ज्ञानादि लक्षणवाला हूँ' ऐसी दृढ प्रतीति होने लगती है। इसलिये स्वानुभव द्वारा उसका अस्तित्व जाना जाता है। यही सबब है कि यहाँ स्वानुभव और सम्यक्त्व की व्याप्ति बतलाई है। पर यह व्याप्ति समरूप न होकर विषमरूप ही होती है। कारण यह है कि छद्मस्थ जीव कदाचित् अपने आत्मानुभव में सोपयुक्त होता है और कदाचित् अन्य घटादि पदार्थों में। जब वह अन्य पदार्थों में उपयुक्त होता है तब उसके उपयोगरूप स्वानुभव नहीं पाया जाता। उस समय उसके अन्य पदार्थों का उपयोग रहता है। यही सबब है कि प्रकृत में स्वानुभव और सम्यक्त्व की विषम व्याप्ति बतलाई है। पर इतना अवश्य है कि ऐसा जीव जब अन्य पदार्थ को

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ४११ ॥

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात् स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ४१३ ॥

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ४१४ ॥

स्वानुभूति मनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ४१५ ॥

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ ४१६ ॥

जानता है तब भी इसके स्वानुभव का प्रयोजक लब्धि ज्ञान तो पाया ही जाता है इसलिये इस दृष्टि से यदि विचार किया जाता है तो सम्यक्त्व और लब्धिरूप स्वानुभव की समव्याप्ति भी बन जाती है। इस प्रकार स्वानुभव ज्ञान सम्यक्त्व का सहचारी हो कर भी वह छद्मस्थ के सदा काल उपयुक्त नहीं रहता यह सिद्ध होता है ॥ ४००-४०९ ॥

श्रद्धा आदि गुणों का निर्देश करके वे सम्यक्त्व के सहचारी कब हैं इसका खुलासा—

यतः सम्यक् श्रद्धान आदि के भेद से और भी बहुत से गुण हैं, इसलिये यहाँ अब उनका उद्देश, लक्षण और परीक्षा कहते हैं ॥ ४१० ॥ उनमें से उद्देश इस प्रकार हैं। जैसे कि आम्नाय के अनुसार जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण को सम्यक्त्व कहना उद्देश है ॥ ४११ ॥ इनमें से जीवादि पदार्थों के सन्मुख बुद्धि का होना श्रद्धा है। बुद्धि का तन्मय हो जाना रुचि है। 'ऐसा ही है' इस प्रकार स्वीकार करना प्रतीति है और अनुकूल क्रिया करना चरण है ॥ ४१२ ॥ इनमें से आदि के तीन वास्तव में ज्ञान ही हैं, क्योंकि श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ये ज्ञान की ही पर्याय हैं। तथा चरण यह चारित्रगुण की पर्याय है, क्योंकि शुभ कार्यों में जो वचन, काय और मन का व्यापार होता है उसे चरण कहते हैं ॥ ४१३ ॥ ये श्रद्धा आदि चारों पृथक् पृथक् रूप से अथवा समस्त रूप से सम्यग्दृष्टि के लक्षण भी हैं और नहीं भी हैं, क्योंकि ये सपक्ष और विपक्ष दोनों ही अवस्थाओं में पाये जाते हैं और नहीं भी पाये जाते हैं ॥ ४१४ ॥ यदि स्वानुभूति के साथ होते हैं तो श्रद्धादिक गुण हैं और स्वानुभूति के बिना वे वास्तव में गुण नहीं हैं किन्तु गुणाभास हैं ॥ ४१५ ॥ इसलिये यह निष्कर्ष निकला कि श्रद्धा आदिक सभी गुण स्वानुभूति के साथ समीचीन हैं और सम्यक्त्व के बिना मिथ्या श्रद्धा आदिरूप

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ।। ४१७ ।।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो ततः ।। ४१८ ।।

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः ।। ४१९ ।।

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ।। ४२० ।।

विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ।। ४२१ ।।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ।। ४२२ ।।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ।। ४२३ ।।

होने के कारण वे तदाभास हैं ।। ४१६ ।। सम्यक् और मिथ्या विशेषण के बिना जब केवल श्रद्धा आदिक विवक्षित होते हैं तब उनकी सपक्ष के समान विपक्ष में वृत्ति देखी जाती है अतः वे व्यभिचारी हैं ।।४१७।। यतः सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा आदिक ही वास्तव में श्रद्धा आदिक हैं अतः मिथ्यादृष्टि के श्रद्धा आदिक को मिथ्या जानना चाहिये। वे वास्तव में श्रद्धा आदिक नहीं हैं ।। ४१८ ।।

शंका—जब कि तत्त्व रुचि का नाम श्रद्धा है क्योंकि उसका श्रद्धा यही एकमात्र लक्षण है। तब फिर वह वास्तव में सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसी दो भेदवाली कैसे हो जाती है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनों में समव्याप्ति है, इसलिये अनुपलब्ध पदार्थ में गधे के सींग के समान श्रद्धा हो ही नहीं सकती ।। ४२० ।। स्वानुभूति के बिना केवल श्रुत के आधार से जो श्रद्धा होती है वह यद्यपि तत्त्वार्थानुगत है तो भी तत्त्वार्थ की उपलब्धि नहीं होने से वह वास्तव श्रद्धा नहीं है ।। ४२१ ।। सत् और असत् की विशेषता न करके उन्मत्त पुरुष के समान पदार्थों की जो उपलब्धि होती है वह वास्तव में उपलब्धि नहीं है किन्तु उन पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की अनुपलब्धि के समान वह अनुपलब्धि ही है ।। ४२२ ।। इसलिये यौगिक रूढ़ि के आधार से श्रद्धा सम्यक्त्व का लक्षण है यह कहना वास्तव में तब अविरुद्ध हो सकता है जब उसे स्वानुभूति से युक्त मान लिया जाय ।। ४२३ ।।

विशेषार्थ—श्रद्धा, रुचि प्रतीति और चरण ये गुण यद्यपि सम्यक्त्व के लक्षण के समय प्रयुक्त किये जाते हैं पर तत्त्वतः ये सम्यक्त्व के लक्षण नहीं हैं, क्योंकि श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ये ज्ञान की अवस्था विशेष हैं और चरण यह चारित्र का पर्यायवाची है अतः इन्हें सम्यक्त्व का स्वरूप नहीं समझना चाहिये। ये तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के होते हैं। किसी पदार्थ की

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ४२४ ॥

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ४२५ ॥

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोऽशतः ॥ ४२८ ॥

श्रद्धा कर लेने से उसमें जीवन लग गया ऐसा नहीं होता। सम्यक्त्व तो वह पर्याय धर्म है जिसके होने पर व्यक्ति के जीवन की धारा ही बदल जाती है। तब उसे और कुछ भी नहीं सुहाता। उसकी दृष्टि केवल अपने लक्ष्य की ओर सतत जागरूक रहती है। वह ज्ञानादि लक्षणवाले अपने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव कर उसे अन्य पदार्थों के प्रभाव से बचाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहता है। जैसे कोई मुनीम मालिक का अनिच्छा से काम करता है। उसके करने में उसके आत्मा का विशेष लगाव नहीं होता। वह सोचता है कि नफा नुकसान का धनी तो मालिक है। मेरा इसमें क्या प्रयोजन है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की अत्यन्त विलक्षण परिणति हो जाती है। वह बोलता और दिखाता कम है। अधिकतर आचरण में लाने का प्रयत्न करता है। इसलिये इसकी श्रद्धा विशेष प्रकार की होती है। वह स्वानुभव मूलक होती है। यही सबब है कि श्रद्धामात्र को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा है। किन्तु उसे दोनों प्रकार का बतलाया है। यदि स्वानुभव के साथ श्रद्धा आदि होते हैं तो वे सम्यक्त्व के चिन्ह हैं और इसके बिना होते हैं तो वे मिथ्यात्व के प्रयोजक हैं। केवल शास्त्र का पढ़ लेना सम्यक्त्व के लिये कार्यकारी नहीं है। इसके लिये तो अपने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के अनुभव के साथ जीवन की धारा को स्वावलम्बन की ओर ले जाना विशेष प्रयोजक है ॥ ४१०–४२३ ॥

प्रशमादिक भी सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण हैं—

सम्यग्दृष्टि जीव के जो प्रशमादिक अन्य गुण प्रसिद्ध हैं बाह्यदृष्टि से वे भी यथायोग्य सम्यक्त्व के लक्षण हैं ॥ ४२४ ॥ उनमें से पहला प्रशम गुण है, दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है। अब क्रमसे इनका लक्षण कहते हैं—

प्रशम गुण का विशेष खुलासा—

पंचेन्द्रियों के विषयों में और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मनका शिथिल होना प्रशम भाव है ॥ ४२६ ॥ अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव है ॥ ४२७ ॥ इस प्रशम भाव के होने में अनन्तानुबन्धियों का उदयाभाव और शेष कषायों का अंशरूप से मन्दोदय कारण है ॥४२८॥

आरम्भादिक्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तःशुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ४२९ ॥

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ४३० ॥

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ४३३ ॥

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

यद्यपि प्रशम भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव दैववश बिना इच्छा के आरम्भ आदि क्रिया करता है तथापि अन्तरंग में शुद्धता होने से वह क्रिया उसके प्रशम गुण के नाश का कारण नहीं हो सकती ॥ ४२९ ॥ सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला जो प्रशम भाव है वह परम गुण है और सम्यक्त्व के अभाव में जो प्रशम भाव होता है वह प्रशमभाव न हो कर प्रशमाभास है ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ४३० ॥

विशेषार्थ—कषाय और विषयाभिलाषा ही जीवन में व्याकुलता का कारण है और जहां व्याकुलता है वहां प्रशम भाव का होना अत्यन्त कठिन है। यही सबब है कि प्रशम गुण के लक्षण का निर्देश करते हुए उसे क्रोधादि कषाय और विषयों में मन की शिथिलतारूप बतलाया है। किन्तु इस प्रकार की मनकी शिथिलता कदाचित् सम्यकत्व के अभाव में भी देखी जाती है। यही सबब है कि प्रशम गुण सम्यक्त्व का सहचारी नहीं माना गया है। किन्तु जो प्रशम गुण अनन्तानुबन्धी के उदयाभाव में होता है वह अवश्य ही सम्यक्त्व का सहचारी है, क्यों कि सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय नहीं पाया जाता। यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषायका उदयाभाव तीसरे गुणस्थान में भी होता है पर यह इसका अपवाद है इतना यहां विशष समझना चाहिये ॥ ४२९-४३० ॥

संवेग गुण और इसके पर्यायवाची निर्वेद गुण का विशेष खुलासा—

धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना या समान धर्मवालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग है ॥ ४३१ ॥ सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है ॥ ४३२ ॥ समान धर्मवालों में और पाँच परमेष्ठियों में जो अनुराग हो वह उनके गुणों में अनुराग बुद्धि से ही होना चाहिये। किन्तु जो समान धर्मवालों या पाँच परमेष्ठियों के गुणों से रहित हैं उनमें इन समान होने की लिप्साके बिना भी अनुराग नहीं होना चाहिये ॥ ४३३ ॥ प्रकृत में अनुराग शब्द का अर्थ अभिलाषा नहीं कहा गया है। किन्तु अधर्म और अधर्म के फल से निवृत्ति हो कर जो शेष रहता है वही अनुराग शब्द का अर्थ है

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४३५ ॥

न चाशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ ४३६ ॥

अर्थात्सर्वोऽभिलापः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

मिथ्या सर्वोऽभिलापः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलापस्याभावेऽपि[1] स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ ४३९ ॥

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलापेऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

जरामृत्युदरिद्रादि न हि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशाद् द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ४४२ ॥

॥ ४३४ ॥ अथवा जिस समय अनुराग शब्द का अर्थ विधिरूप से कहा जाता है उस समय उसका अर्थ प्राप्ति और उपलब्धि होता है, क्योंकि अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं ॥ ४३५ ॥ ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि अभिलापा केवल भोगों में ही निषिद्ध मानी गई है। किन्तु जैसे भोगों की अभिलाषा निषिद्ध है वैसे ही शुद्धोपलब्धि की अभिलाषा भी निषिद्ध मानी गई है ॥ ४३६ ॥ वास्तव में जितनी भी अभिलाषा है वह सब सम्यग्दर्शन के अभाव में होती है इसलिये वह अज्ञानरूप ही है, क्योंकि जिसे तत्त्वार्थ की प्राप्ति नहीं हुई है वही प्राप्त करना चाहता है। जिसने प्राप्त कर लिया है वह नहीं ॥४३७॥ वास्तत में जितनी भी अभिलापाएँ हैं वे सब केवल मिथ्या कर्म के उदय से होती हैं इसलिये मिथ्या ही हैं, क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष से देखते हैं कि कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट क्रिया की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है ॥४३८॥ उदाहरणार्थ कहीं पर अभिलाषा के होने पर भी कारण सामग्री के नहीं मिलने से इष्ट सिद्धि नहीं होती है और कहीं पर अभिलाषा के नहीं होने पर भी कारण सामग्री के मिल जाने से इष्ट सिद्धि हो जाती है ॥४३९॥ यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुत्र और मित्र आदि की चाह करता है तथापि पुण्योदय के बिना केवल चाह मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती[2] ॥ ४४० ॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् जरा, मृत्यु और दरिद्रता आदि की चाह नहीं करता है तथापि यदि जीव के अशुभ का उदय है तो चाह के बिना भी जबर्दस्ती उनका संयोग हो जाता है ॥ ४४१ ॥ संवेग विधिरूप

(१) 'अभिलाषस्याप्यसद्भावे' इत्यपि पाठः ।

(२) यहाँ पर यश, पुत्र और स्त्री आदि की प्राप्ति को पुण्य का फल बतलाया है पर यह उपचार कथन है। ये पुण्योदय के बाह्य निमित्त हैं इसलिये उपचार से इन्हें पुण्य का फल कह दिया है।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा।
स संवेगोऽथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात् क्वचिदरागवान्।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। विवक्षा वश से ही ये दो हैं वास्तव में इन दोनों में कोई भेद नहीं है ॥ ४४२ ॥ सब प्रकार की अभिलाषाओं का त्याग ही निर्वेद है, क्योंकि इसका यही लक्षण है। अथवा वह निर्वेद संवेगरूप धर्म प्राप्त होता है, क्योंकि जो अभिलाषा सहित होता है उसके संवेगधर्म नहीं हो सकता ॥ ४४३ ॥ यदि क्रियामात्रको धर्म कहा जाय सो भी बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के निरन्तर रागादि पाये जाते हैं इसलिये वह वास्तव में अधर्म ही है ॥ ४४४ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर रागी होता है वह रागरहित कभी भी नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर रागरहित होता है अथवा उसके सदा काल राग नहीं पाया जाता ॥ ४४५ ॥

विशेषार्थ—संसार और संसार के कारणों से भीरुता तब होती है जब इनके विपक्षभूत साधनों में इस जीव का अनुराग होता है। यही सबब है कि प्रकृत में संवेग का अर्थ धर्म और धर्म के फल में परम उत्साह का होना तथा धर्मवाले और पांच परमेष्ठियों में प्रीति का होना बतलाया गया है। संसारी जीवका यही तो प्रयत्न है कि मैं स्वतंत्र हो जाऊँ। किन्तु उसका प्रयत्न अज्ञान दिशा में चालू रहने से यह जीव स्वतन्त्र नहीं हो पाता। वस्तुतः इसे धर्म क्या है और धर्म का फल क्या है इसका ही पता नहीं है। अधिकतर सभी लोग क्रियाकाण्ड को धर्म समझते हैं। कोई शूद्र जल का त्याग करता फिरता है तो कोई गेहूँ और चावल के शोधन में अपना समय लगाता है। आरम्भ से साधु को दूर रहना चाहिये पर पूजा व मन्दिर आदि के निर्माण में वे जितना हिस्सा बटाते हैं आत्मचिन्तन में कठिनाई से उनका उतना ध्यान जाता हो। ये धर्म पक्ष के लोग हैं इन्हें सहायता करो ये उस पक्ष के नहीं हैं इन्हें एक कौड़ी भी नहीं देनी चाहिये ऐसा उपदेश करना तो साधुओं का रोज का काम है। यदि किसी ने उन्हें नमस्कार नहीं कर पाया तो आग बबूला हो जाते हैं। खान पान में जितना अधिक धर्म मान लिया है आत्म संशोधन की ओर उसका शतांश भी ध्यान नहीं जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि लोगों का ध्यान जिस ओर जाना चाहिये था उस ओर रंचमात्र भी नहीं जाता है। वे विषय और कषाय के त्याग की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते हैं। केवल बाह्य प्रवृत्ति में जुटे रहते हैं। फिर उनके आत्मधर्म में रुचि कैसे हो सकती है और भोगाभिलाष की भावना भी कैसे लुप्त हो सकती है। भोग एक प्रकार का थोड़े ही है। चालू भोगोपभोग का त्याग कर देने पर भी उसकी अभिलाषा अन्य प्रकार से प्रस्फुटित होती रहती है। कोई यश की अभिलाषा लिये डोलता है तो कोई देशाटन में आनन्द मनाता है। कोई कोई सीधी शरीर पुष्टि की बातें करते हुए भी पाया जाता है। केवल सुबह शाम जाप कर ली फिर आवश्यक क्रियाओं की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते। दुपहर की सामायिक में निद्रा न आवे तो गनीमत समझिये। यह वर्तमान कालीन साधुओं की स्थिति है। गृहस्थ भी इनका अन्धानुसरण करते हुए दिखाई देते हैं। जो आलोचक हैं वे भी इसी दर्जे के हैं। इससे जो हानि हो रही है वह वचनातीत है। आवश्यकता थी जीवन संशोधन की लौकी पर उसका सर्वथा अभाव दिखाई देता है। वास्तव में जो मुक्तिमार्ग के पथिक हैं उन्हें संसार और

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥ ४४७ ॥

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ४४८ ॥

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥ ४४९ ॥

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ४५० ॥

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ ४५१ ॥

संसार के कारणों की अभिलाषा का तो त्याग करना ही चाहिये साथ ही साथ मुक्ति की भी अभिलाषा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अभिलाषामात्र हेय है। यह जब तक रहती है तब तक यह सच्ची स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकता। यही सबब है कि संवेग गुण में इसके त्याग पर अधिक जोर दिया है। इस गुणके हो जाने पर परम उपेक्षाभाव जागृत होता है जो जीवन में समता तत्त्व की प्रस्थापना करता है। राग के साथ तो इस गुण का विरोध ही समझिये। माना कि सम्यग्दृष्टि के रागभाव देखा जाता है पर वह उसे उपादेय नहीं मानता और उसके होने पर अपनी हानि समझता है। इसी से वह राग करते हुए भी रागरहित माना गया है। निर्वेद संवेग का पर्याय नाम है संवेग में जो बात विधिमुखेन कही गई है निर्वेद में वही बात निषेध द्वारा कही गई है। भीतर से इस गुण का प्रकाश सम्यक्त्व के सद्भाव में होता है इसलिये यह भी सम्यक्त्व का लक्षण माना गया है ॥ ४३२-४४५ ॥

अनुकम्पा गुण का विशेष खुलासा—

अनुकम्पा का अर्थ कृपा है। या सब जीवों का अनुग्रह करना अनुकम्पा है। या मैत्रीभाव का नाम अनुकम्पा है। या मध्यस्थ भावका रखना अनुकम्पा है। या शत्रुता का त्याग कर देने से शल्य रहित हो जाना अनुकम्पा है॥ ४४६ ॥ इसका कारण केवल दर्शन मोहनीय का अनुदय है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान के बिना किसी जीव में वैर भाव नहीं होता है॥ ४४७ ॥ परके निमित्त से अपने लिये या अपने निमित्त से अन्य प्राणियों के लिये थोड़े भी सुख, दुःखादि या मरण और जीवन की चाह करना मिथ्या ज्ञान है॥ ४४८ ॥ और जिसके यह अज्ञान होता है वही मिथ्यादृष्टि है और वह शल्यवाला है। वह अज्ञानवश दूसरे को मारना चाहता है पर मार नहीं सकता॥ ४४९ ॥ सब प्राणियों में जो समभाव धारण किया जाता है वह परानुकम्पा है और कांटे के समान शल्य का त्याग कर देना वास्तव में स्वानुकम्पा है॥ ४५० ॥ रागादि अशुद्ध भावों के सद्भाव में बन्ध ही होता है और उनके अभाव में बन्ध नहीं होता, इस लिये अपने ऊपर ऐसी कृपा करनी चाहिये जिससे रागादि भाव न हों॥ ४५१ ॥

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतःसिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ॥ ४५२ ॥
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोऽप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ४५३ ॥
अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ४५४ ॥
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ४५५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ अनुकम्पा की जो व्याख्या दी गई है वह हृदयग्राही है। हम केवल दया को ही अनुकम्पा समझते हैं। पर दया में एक प्रकार का अहंकार छिपा रहता है और वह अहंकार जीव में कहीं कहीं प्रस्फुटित भी हो उठता है। यही सबब है कि ग्रन्थकार अनुकम्पा की व्याख्या करते हुए धीरे धीरे बहुत भीतर चले गये हैं। उन्होंने जो अन्तिम परिणाम निकाला है उसका भाव यह है कि यह मान लेना चाहिये कि कोई किसी का इष्टानिष्ट नहीं कर सकता इस लिये मैं इसका इष्ट या अनिष्ट कर सकता हूँ ऐसे भावका न होना ही अनुकम्पा है। ऐसी अनुकम्पा सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही प्राप्त होती है इसलिये यह भी सम्यक्त्व का गुण माना गया है। व्यवहार से यह अनुकम्पा दो प्रकार की मानी जाती है। एक स्वानुकम्पा और दूसरी परानुकम्पा। स्वानुकम्पा की प्राप्ति मिथ्यात्व रूपी शल्य के त्याग से होती है और इससे सब प्राणियों में जो समभाव जागृत होता है वह परानुकम्पा है। ये दोनों प्रकार की अनुकम्पाएँ आधारभेद से दो कही गई हैं तत्त्वतः वे हैं एक ही। अधिकतर लोगों का ध्यान बाहर की ओर विशेषरूप से रहता है। वे जाति कुल का जितना विचार करते हैं उतना आत्मपरिणति का नहीं करते। हमने अज्ञानवश यह मान लिया है कि यह ऊँच है और यह नीच है। पर वास्तव में देखा जाय तो यह हमारे राग द्वेष का ही विपाक है। तत्त्वतः न कोई ऊँच होता है और न कोई नीच! यों तो जो कर्मपद में स्थित हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं वे सब नीच हैं और जो आत्मपद में स्थित हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं वे सब ऊँच हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जाति कुल आवश्यक नहीं। मिथ्यात्व का अभाव आवश्यक है। सो मिथ्यात्व का अभाव तो किसी भी जाति और किसी भी क्षेत्र में हो सकता है। जाति और कुल तो कल्पित हैं इनके आश्रय से किसी में मोक्ष की प्राप्ति की योग्यता मानना और किसी में ऐसी योग्यता का न मानना मिथ्यात्व है। जिसने ऐसे मिथ्यात्व का त्याग कर दिया है वही सच्चा अनुकम्पा गुण का धारी है ऐसा यहां समझना चाहिये ॥ ४४६-४५१ ॥

आस्तिक्य गुण का विशेष खुलासा—

स्वतःसिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदिरूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है ॥ ४५२ ॥ जो स्वतःसिद्ध है, अमूर्त है और चेतन है वह आत्मा है। इसका दूसरा नाम जीव है। तथा इसके सिवा जितना भी अचेतन पदार्थ है वह सब अजीव है ॥ ४५३ ॥ आत्मा अनादि काल से कार्मण वर्गणारूप कर्मों से बँधा हुआ है। और अपने को उन्हीं का कर्ता व भोक्ता मान रहा है। जब इनका क्षय कर देता है तब मुक्त हो जाता है ॥ ४५४ ॥ उस संसारी जीव के पुण्य, पाप, इनका कारण, इनका फल और आस्रव आदि सदैव बने

अस्त्येव पर्ययादेशाद् बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥ ४५६ ॥

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ ४५७ ॥

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४५८ ॥

सम्यक्त्वेनाविनाभूतं स्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक् तत् मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥४५९॥

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ ४६० ॥

यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ ४६१ ॥

मत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ ४६२ ॥

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥ ४६३ ॥

रहते हैं ॥ ४५५ ॥ इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा बन्ध भी है, मोक्ष भी है और उनका फल भी है। किन्तु शुद्ध नयकी अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं ॥ ४५६ ॥ उनमें एक जीव ही ऐसा है जो स्वसंवेद्य, चिदात्मक और 'सोऽहम्' प्रत्ययवेद्य होने से उपादेय है। बाकी जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब हेय हैं, क्यों कि वे पौद्गलिक हैं ॥ ४५७ ॥ इस प्रकार अनादि काल से चला आया समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार नयसे जो जैसा माना गया है वह वैसा ही है ऐसी बुद्धिका होना आस्तिक्य है ॥ ४५८ ॥

जो सम्यक्त्व का अविनाभावी है और जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है वह सम्यक् आस्तिक्य है और इससे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य है ॥ ४५९ ॥

शंका—वास्तव में एक केवल ज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकी के चारों ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हैं ॥ ४६० ॥ अथवा अपने आत्मा के सुखादिक की तरह इन्द्रियजन्य ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं इसलिये आस्तिक्य भाव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि आदि के दो ज्ञान पर पदार्थों का ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष है तथापि दर्शन मोहनीय के उपशम आदि के कारण स्वानुभव के समय वे प्रत्यक्ष ही हैं ॥ ४६२ ॥ प्रकृत में अपने आत्मा की अनुभूति ही आस्तिक्य नाम का परम गुण माना गया है। फिर

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ ४६४ ॥
न तथास्ति प्रतीतिर्वा [तस्मिन्] मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ४६५ ॥
ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥ ४६६ ॥

उक्तञ्च—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥
उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

चाहे पर द्रव्य का ज्ञान हो चाहे मत हो, क्योंकि पर पदार्थ पर है ॥ ४६३ ॥ दूसरे यद्यपि जीवादि पर पदार्थ परोक्ष हैं तथापि इस सम्यग्दृष्टि जीव को जैसी उनकी गाढ़ प्रतीति होती है ॥ ४६४ ॥ वैसी उनकी स्पष्ट प्रतीति मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होती, क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय से उसके निरन्तर भ्रान्ति बनी रहती है ॥ ४६५ ॥ इसलिये युक्ति, स्वानुभव और आगम से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला आस्तिक्य नाम का महान् गुण है ॥ ४६६ ॥ कहा भी है 'संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं ॥' उक्त गाथा सूत्र में भी प्रशम आदि चारों ही कहे गये हैं अधिक नहीं क्यों कि इस गाथा सूत्र में लक्षण के उपलक्षण की विवक्षा है ॥ ४६७ ॥

विशेषार्थ—आस्तिक्य गुण सम्यक्त्वका किस प्रकार लक्षण है यहां यह बतलाया गया है। यह तो मानी हुई बात है कि जिस दिशा में मनुष्य बढ़ना चाहता है उसके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना वह आगे नहीं बढ़ सकता। जिस प्रकार धनार्थी पुरुष धनवान्, धन और धन प्राप्ति के साधन इन सबके अस्तित्व को मान कर ही धन की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हो सकता है। उसी प्रकार जो मोक्षाभिलाषी है उसे सर्व प्रथम आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का विश्वास करना होगा। इसके बाद किस कारण से वह बद्ध है यह देखना होगा और फिर मुक्ति के साधनों की ओर भी ध्यान देना होगा। तभी वह मुक्ति के लिये प्रयत्नशील हो सकता है। अन्यथा वह जो कुछ भी कार्य करेगा वह सब संसार को बढ़ानेवाला ही होगा। इस लिये अस्तिक्य गुण का यही माहात्म्य है कि इस जीव की प्रयोजनभूत जीवादि सात पदार्थों के सद्भाव में परम दृढ़ प्रतीति हो जाती है। कुछ लोगों ने लोक में आस्तिक और नास्तिक शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया है। वैदिकों का मत है कि जो वेद को नहीं मानते हैं वे नास्तिक हैं और वेद को माननेवाले आस्तिक हैं। इसके आगे ईश्वर की कल्पना प्रमुख रूप से रूढ़ होने पर यह माना जाने लगा कि ईश्वर को माननेवाले आस्तिक हैं और न माननेवाले नास्तिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि आस्तिक शब्द का प्रयोग अनेक प्रकार से हुआ है पर यहां पर जो स्व को माननेवाला है उसी को ध्यान में रख कर आस्तिक शब्द का प्रयोग किया गया है। ईश्वर और वेद पर हैं। उनसे जीवात्मा का कोई प्रयोजन नहीं। मुख्य प्रयोजन तो स्वात्मतत्त्व के

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ ४६८ ॥

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥ ४६९ ॥

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ४७० ॥

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात् संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

स्वीकार से है। यदि कोई यह मानता है कि ईश्वर नहीं है तो उससे क्या बिगड़नेवाला है। मुख्य बिगाड़ तो अपने अस्तित्व को न मानने से ही होगा। इसी प्रकार वेद स्वात्मतत्त्व का निरूपण तो करते नहीं इस लिये उन्हें धर्मपुस्तक के रूप में यदि न स्वीकार किया जाय तो भी क्या हानि है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं। मुख्य हानि तो आत्मतत्त्व के प्ररूपक शास्त्र का आदर न करने में है। यही सबब है कि यहां ऐसा आस्तिक्य गुण ही सम्यक्त्व का प्रयोजक माना गया है जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके चलता है। ऐसा आस्तिक्य गुण सम्यग्दृष्टि के ही होता है अतः यह सम्यक्त्व का लक्षण है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ४५२-४६३ ॥

उपलक्षण का स्वरूप निर्देश करके भक्ति और वात्सल्य ये दोनों संवेग के लक्षण किस प्रकार हैं इसका खुलासा—

जो *लक्षण का भी लक्षण है वह उपलक्षण कहलाता है। क्योंकि जो आगे के लक्ष्य का लक्षण है* वही प्रथम लक्ष्य का उपलक्षण है ॥ ४६८ ॥ सम्यक्त्व भाव का संवेग गुण लक्षण है, इसलिये सम्यक्त्व भाव अरहन्तों की भक्ति और वात्सल्य से उपलक्षित हो जाता है। आशय यह है कि सम्यक्त्व का संवेग गुण लक्षण है और अरहंतों की भक्ति और वात्सल्य ये दोनों गुण संवेग गुण के लक्षण हैं, इसलिये ये दोनों सम्यक्त्व के उपलक्षण प्राप्त होते हैं ॥ ४६९ ॥ कर्मों का उपशम हो जाने से वचन, शरीर और चित्त का उद्धत न होना ही भक्ति है और सम्यक्त्व के गुणों का उत्कर्ष करने के लिये मन का तत्पर रहना ही वात्सल्य है ॥ ४७० ॥ भक्ति और वात्सल्य ये संवेग के बिना नहीं होते, इसलिये संवेग सम्यग्दर्शन का लक्षण है और ये दोनों उसके उपलक्षण हैं ॥ ४७१ ॥

विशेषार्थ—पिछली उद्धृत गाथा में सम्यक्त्व के आठ गुण बतलाये गये हैं। उनमें से संवेग, उपशम और अनुकम्पा ये तीन तो वे हैं जिनका निर्देश पहले कर आये हैं। एक आस्तिक्य छूट गया है। अब निर्वेद, निन्दा, गर्हा, भक्ति और वात्सल्य ये पांच गुण रह जाते हैं सो यद्यपि गाथाकार ने इनकी स्वतन्त्र परिगणना की है और इसलिये उन्होंने सम्यक्त्व के आठ गुण बतलाये हैं पर पंचाध्यायीकार निर्वेद के सिवा शेष चार को सम्यक्त्व के मूल गुण नहीं मानते। उनका मत है कि निर्वेद तो संवेग का पर्यायवाची है इसलिये यह इस रूप में सम्यक्त्व के मूल गुणों में सम्मिलित हो जाता है पर शेष चार सम्यक्त्व के लक्षण के लक्षण हैं अतः उन्हें उपलक्षण मानना चाहिये। प्रकृत में भक्ति और वात्सल्य ये किस प्रकार सम्यक्त्व के लक्षण के लक्षण हैं इस बात का खुलासा किया गया है। जैसा कि ग्रन्थकार पहले बतला आये हैं प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार सम्यक्त्व के लक्षण हैं और इनमें से संवेग गुण की अभिव्यक्ति भक्ति और वात्सल्य से होती है या जहां संवेग गुण होता है वहां भक्ति और वात्सल्य

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नापेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥ ४७३ ॥
गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥
अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥ ४७५ ॥
शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ ४७६ ॥

अवश्य होते हैं, इसलिये ये सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं। अपने लक्ष्य के प्रति नम्र वर्तन का नाम भक्ति है और मन का झुकाव सदा उस ओर रहना वात्सल्य है। ये दोनों गुण संवेग के बिना नहीं हो सकते इसलिये ये मूल में संवेग के लक्षण माने गये हैं और यह बात बहुत कुछ अंश में ठीक भी है क्योंकि धर्म, धर्म का फल और परमेष्ठी इनमें प्रीति के होने पर उनमें भक्ति और वत्सलता न हो यह कैसे हो सकता है? यद्यपि वर्तमान में भक्ति और वात्सल्य स्वार्थमूलक भी देखे जाते हैं। अधिकतर लोग महावीर जी और पद्मपुरी अन्य अन्य कारणों से जाते हैं। कोई धन की अभिलाषा से वहां जाते हैं तो कोई पुत्रकामना को लेकर ही पहुँचते हैं इसलिये ये संवेग के लक्षण हैं यह तो माना नहीं जा सकता। यदि कोई ऐसी आशंका करे तो उसका यह समाधान है कि यहां ऐसे भक्ति और वात्सल्य से मतलब है जो जीवन संशोधन की दृष्टि से होते हैं। ऐसे भक्ति और वात्सल्य वास्तव में संवेग के ही प्रयोजक हैं अतः इन्हें संवेग का लक्षण और सम्यक्त्व का उपलक्षण कहा है॥ ४६८—४७१ ॥

निन्दा और गर्हा ये प्रशम गुण के लक्षण कैसे हैं इसका खुलासा—

दर्शनमोहनीय के उदयाभाव से प्रशम गुण होता है और उसके निन्दा और गर्हा ये बाह्य रूप से अभिव्यंजक हैं॥ ४७२ ॥ वारण करने के लिये कठिन ऐसे रागादि दुष्ट कर्म के सद्भाव में बन्ध अवश्य होता है जो न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षित भी है इस प्रकार पश्चाताप करना निन्दन है ॥ ४७३ ॥ और प्रमाद रहित होकर शक्त्यनुसार कर्मों का नाश करने के लिये पांच गुरु और अपनी साक्षी पूर्वक रागादि भावों का त्याग करना गर्हा है ॥ ४७४ ॥ यतः प्रशम गुण के समान इन दोनों गुणों में कषायों के अनुद्रेक की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है अतः ये दोनों वास्तव में सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं यह जो पहले कहा है सो बहुत ही अच्छा कहा है ॥ ४७५ ॥ इस प्रकार पहले सम्यक्त्व के जिन गुणों का वर्णन कर आये हैं उनके सिवा शेष कथन आम्नाय के अनुसार परमागम से जान लेना चाहिये, क्यों कि आगमरूपी समुद्र के उस पार जाने के लिये हम सरीखे जन कैसे समर्थ हो सकते हैं॥ ४७६ ॥

विशेषार्थ—प्रशम गुण के प्रकट होने में मुख्यतया अनन्तानुबन्धी का अभाव प्रयोजक है। निन्दा और गर्हा ये गुण भी कषाय के अभाव से होते हैं इसी से इन्हें प्रशम गुण का लक्षण और सम्यक्त्व का उपलक्षण बतलाया है। अपनी कर्म निमित्तक वर्तमान दुरवस्था पर पश्चाताप करना निन्दा है और

ननु सद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४७८ ॥

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥ ४७९ ॥

उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥ ४८० ॥

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥ ४८१ ॥

अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ ४८२ ॥

रागादि भावों के त्याग के लिये प्रयत्नशील होना गर्हा है। इनसे प्रशम गुण की अभिव्यक्ति होकर सम्यक्त्व पुष्ट होता है इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि लोक में अन्य कारण से भी लोग निन्दा और गर्हा करते हुए पाये जाते हैं पर ऐसी निन्दा और गर्हा संसारकी प्रयोजक होने से उपादेय नहीं मानी गई है। यहां तो ऐसी निन्दा और गर्हा प्रयोजक मानी गई है जो जीवन के संशोधन में उपयोगी हो॥ ४७२-४७६ ॥

प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन का लक्षणनिर्देश—

शंका—लक्ष्यभूत सम्यग्दर्शन का क्या यही पूरा लक्षण है या दूसरा भी कोई लक्षण है। यदि है तो इस समय हमारे लिये वह कहिये ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं यह बात तीन लोक में प्रसिद्ध है तथा लक्षण, गुण और अंग ये शब्द एकार्थ वाचक हैं॥ ४७७-४७८ ॥

वे आठ अंग निम्न प्रकार हैं—

पहला निःशंकित अंग है। उसके बाद दूसरा निष्कांक्षित अंग है। तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है। चौथा अमूढदृष्टि अंग है। पांचवां उपबृंहण अंग है। छठा सुस्थितीकरण अंग है। सातवां वात्सल्य अंग है और आठवां आम्नाय के अनुसार प्रभावना अंग है॥ ४७९-४८० ॥

निःशंकित अंग का स्वरूप निर्देश—

शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थवाचक हैं। इस भय के निकल जाने से जो भाव पैदा होता है वह वास्तव में निःशंकित अंग है॥ ४८१ ॥ प्रकरण वश इसका यह भी अभिप्राय है कि इस गुण के कारण मनीषी पुरुषों को जिनागम में शंका नहीं होती है, क्यों कि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ उनके आस्तिक्य गुण के विषय रहते हैं। अर्थात् वे जिनागम के अनुसार इन पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं इसलिये उन्हें इन पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले जिनागम में किसी भी

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥ ४८३ ॥

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ४८४ ॥

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात् सतः ॥ ४८५ ॥

न चाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥ ४८६ ॥

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ४८७ ॥

नासम्भवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥ ४८८ ॥

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ ४८९ ॥

यत्रानुभूयमानेऽपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ ४९० ॥

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ४९१ ॥

प्रकार की शंका नहीं होती ॥ ४८२ ॥ इन तीन प्रकार के पदार्थों में धर्मादिक द्रव्य कालाणु और पुद्गल परमाणु ये सूक्ष्म पदार्थ हैं, क्यों कि इन्द्रियों द्वारा इनके साधक साधन का ज्ञान नहीं होता इस लिये ये सूक्ष्म माने गये हैं ॥ ४८३ ॥ द्वीप, समुद्र और भूत काल में हुए तथा भविष्यत् काल में होने वाले राम, रावण और चक्रवर्ती दूरवर्ती पदार्थ हैं ॥ ४८४ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव के इन पदार्थों का निःशंसय ज्ञान कभी भी नहीं होता, क्यों कि उसके संशय का मूल कारण दर्शनमोहनीयका उदय पाया जाता है ॥ ४८५ ॥ वे सूक्ष्म आदि पदार्थ परोक्ष हैं और उनके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं है इस लिये वे सम्यग्दृष्टि के विषय कैसे हो सकते हैं यदि कोई ऐसी आशंका करे सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्यों कि इस विषय में भी सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व का बड़ा भारी माहात्म्य है जिससे उनके इस जगका आस्तिकता को लिये हुए ज्ञान होता है ॥ ४८६–४८७ ॥ और यह बात असंभव भी नहीं है, क्यों कि स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता। जैसे योगियों की योगशक्ति वचन अगोचर है वैसे यह सब अतिशय भी वचन अगोचर है ॥ ४८८ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नाम का ज्ञान होता है जो सिद्धों के समान शुद्ध होता है ॥ ४८९ ॥ यद्यपि वृद्ध जनों से लेकर बालक तक सबको आत्मा का अनुभव होता है तथापि मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीवों को इसकी अनुभूति नहीं होती ॥ ४९० ॥ सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जो वस्तु का स्वाद आता है उसमें भेद है किन्तु वस्तु में वास्तविक भेद

अत्र तात्पर्यमेवैतत् तत्त्वैकतत्त्वेऽपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सा तु मिथ्योपजीविनी ॥ ४९२ ॥

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९३ ॥

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः ।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥ ४९४ ॥

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी ।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ ४९५ ॥

ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः । ४९६ ॥

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थ्यस्य स्वाधिकारत्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥ ४९७ ॥

ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् ॥ ४९८ ॥

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ ४९९ ॥

नहीं है क्योंकि वस्तु सीमा का उल्लंघन कभी नहीं होता ॥४९१॥ इसका यही तात्पर्य है कि दोनों के विषय-भूत पदार्थ के एक होने पर भी जो भ्रम होता है वह शंका का अपराध है और वह शंका मिथ्यात्व के उदय के साथ होनेवाली है ॥ ४९२ ॥

शंका—मनुष्यों को जो मिथ्या अनुभव होता है वह यदि शंकाकृत दोष है तो वह शंका भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है यह किस युक्ति से जाना जाता है ?

समाधान—इसका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टि है वह सात भय सहित है और जो सम्यग्दृष्टि है वह सात भयों से थोड़ा भी स्पृष्ट नहीं है ॥ ४९३—४९४ ॥ भय उन्हीं को होता है जो पर में आत्मत्व का अनुभव करते हैं। इसके बिना भय कैसे हो सकता है। वास्तव में जो पर्यायबुद्धि जीव हैं उन्हीं को भय होता है, जिनका चित्त केवल आत्मतत्त्व में लगा हुआ है उन्हें भय नहीं होता ॥ ४९५ ॥ इसलिये भय के सद्भाव से मिथ्याभाव का अनुमान किया जाता है और वह भय स्वानुभव के विनाश का अवश्य हेतु है यह जिनागम से जाना जाता है ॥ ४९६ ॥ यह बात सिद्ध है कि जो पराधीन है वह भय सहित है और आत्मानुभव से च्युत है, क्योंकि स्वस्थ पुरुष स्वाधिकारी होता है इसलिये उसके भय का पाया जाना असंभव है ॥ ४९७ ॥

शंका—सम्यग्दृष्टियों में से किसी किसी सम्यग्दृष्टि के चारों ही संज्ञाएं होती हैं, क्योंकि जिन गुणस्थानों में इनकी व्युच्छित्ति होती है उससे पहले इनका अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव सब प्रकार से निर्भीक होता है यह कैसे सम्भव है। दूसरे अनिष्ट अर्थ का संयोग होने पर

सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ।। ५०० ।।
सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ।। ५०१ ।।
एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात् ।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसम्भवात् ।। ५०२ ।।

उससे बचने के लिये वह प्रयत्न भी करता है यह बात भी हम प्रत्यक्ष से देखते हैं, इसलिये भी वह भय रहित है यह बात कैसे सम्भव है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तो भी वह अपने को उनका स्वामी आदि नहीं मानता, इसलिये भय सहित होकर भी वह निर्भय है। जैसे चक्षु रूपी पदार्थ को देखता हुआ भी नहीं देखता है वैसे यह भी भय सहित होकर भी निर्भय ही है ।। ४९८—५०० ।। संसारी जीवों के सत्ता में स्थित कर्म सदा ही उदय में आते रहते हैं जिससे यह जीव उनमें मोह, राग और द्वेष करता हुआ उनके फल को भोगने के लिये बाध्य होता है ।। ५०१ ।। इस कारण से ज्ञात होता है कि ज्ञानी जीव निःशंक है क्योंकि इसके शंका का कारण एकदेश भी मूर्च्छा नहीं पाई जाती है ।। ५०२ ।।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन के हो जाने पर आत्मा में जिन विशेषताओं का उदय होता है उनका निर्देश आचार्यों ने आठ अंगों के रूप में किया है उनमें से पहला निःशंकित अंग है। शंका के दो अर्थ हैं—एक भय और दूसरा प्रगाढ़ श्रद्धा का अभाव। सम्यग्दृष्टि इन दोनों दोषों से मुक्त हो जाता है। वह जानता है कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन अपने आधीन है, कोई किसी का न कर्त्ता है, न हर्त्ता है, न भर्त्ता है और न धर्त्ता है। माना कि विश्व के पदार्थों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध देखा जाता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि किसी भी वस्तु का परिणमन निमित्ताधीन होता है। यदि विवक्षित वस्तु का परिणमन निमित्ताधीन मान लिया जाय तो निमित्त का परिणमन अन्य निमित्त के आधीन मानना पड़ेगा जिससे अनवस्था दोष प्राप्त होगा इसलिये उचित यही है कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन अपने अपने आधीन मान लेना चाहिये। यही सबब है कि सम्यग्दृष्टि सदा काल निर्भय रहता है। वह अपने उत्थान और पतन का जबावदार अपने आप को मानता है। वह अपनी कमजोरी और उन्नति के बीज भी अपने में ही देखता है। इससे वह कमजोरी को भीतर से हटाने का प्रयत्न करता है और उन्नति के पथ पर अग्रेसर होता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि आत्मा के भय के निमित्त पाये जाते हैं और वह उन उपायों से बचने का भी प्रयत्न करता है जो हानिकर प्रतीत होते हैं फिर भी उसकी भीतर से यही श्रद्धा रहती है कि मेरी जो शुभाशुभ गति होनेवाली है उसका वारण कोई नहीं कर सकता, इसलिये भय के कारण उपस्थित होने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह तब भी आत्मनिधि की रक्षा करने में जुटा रहता है। यह प्रथम वृत्ति है जो सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से जागृत होती है। दूसरी वृत्ति जो उनके प्रकट होती है वह है प्रगाढ़ श्रद्धा। कदाचित् पर्वत डिग सकता है, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ सकता है पर सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा रंचमात्र भी नहीं डिगने पाती वह तलवार पर चढ़ाये गये पानी के समान अकम्प बनी रहती है। वह मानता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य के अग्रदूत वीतराग प्रभु ने विश्व और उसमें स्थित तत्त्वों के विषय में जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है। मेरा आत्मा उनके द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चलने से ही बन्धन मुक्त होकर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो सकता है। पूर्ण और अविनाशी स्वतंत्रता का अनुभव तभी आ सकता है जब मैं

स्वात्मसञ्चेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ ५०४ ॥

भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो मा भून्मा भून्मेऽनिष्टसङ्गमः ॥ ५०६ ॥

स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्मा भूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवादृगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ५०८ ॥

उनके द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चल कर पूर्ण स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करूंगा। इसलिये वह सूक्ष्म, दूरवर्ती और व्यवहित सभी पदार्थों के अस्तित्व को उसी प्रकार मानता है जैसा जिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादन किया है। ये दो ऐसी महान् वृत्तियाँ हैं जो सम्यग्दृष्टि के जीवन में स्वभावतः उद्भूत होती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह अन्धानुसर्त्ता होता है। वास्तव में होता तो है वह परम विवेकी और सदा अपने विशाल अनुभव से ही काम लेनेवाला उसके बाहर वह कभी भी नहीं जाता। पर अनुभव और पदार्थ-व्यवस्था का सामंजस्य अन्य प्रकार से बैठता नहीं, इसलिये उसकी सूक्ष्म और विवेकशालिनी बुद्धि तत्त्वव्यवस्था को उक्त प्रकार से स्वीकार करती है। इस प्रकार यह सम्यक्त्व का प्रथम गुण है जो निःशंकित रूप में प्रस्फुटित होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ४८१—५०२ ॥

भय के सात भेद—

सम्यग्दृष्टि के अपने आत्मा का अनुभव कैसा होता है अब इसका विचार करते हैं जिससे कर्म को करता हुआ भी वह कर्म से अर्थात् कर्म जन्य पर्याय में उपयुक्त नहीं होता ॥ ५०३ ॥ पहला इह लोक भय, दूसरा पर लोक भय, तीसरा वेदना भय, चौथा अत्राण भय, पांचवां अगुप्ति भय, छठा मृत्यु भय और सातवां आकस्मिक भय इस प्रकार क्रम से ये सात भय कहे गये जानना चाहिये ॥ ५०४–५०५ ॥

इस लोक के भय का निर्देश करके वह सम्यग्दृष्टि के क्यों नहीं होता इस बात का विचार—

इस जन्म में मेरे इष्ट पदार्थ का वियोग न हो जाय और अनिष्ट पदार्थ का संयोग न हो जाय ऐसा विलाप करना इह लोक भय है ॥ ५०६ ॥ न जाने यह धन स्थिर रहेगा या नहीं, दैव योग से कहीं दरिद्रता प्राप्त न हो जाय इत्यादि रूप से मानसिक व्यथारूपी चिता मिथ्यादृष्टि को जलाने के लिये सदैव जलती रहती है ५०७ ॥ तात्पर्य यह है कि भय अज्ञानी जीव के ही होता है ज्ञानी जीव के कभी भी भय नहीं होता, क्यों कि यह बात परिशेष न्याय से ज्ञात होती है कि ज्ञानी और अज्ञानी जीव में बड़ा

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ५०९ ॥

विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ५१० ॥

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसम्भवात् ।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ ५११ ॥

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ ५१२ ॥

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति सः ॥ ५१३ ॥

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योऽस्ति सोऽर्थतः ।
नापरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥ ५१४ ॥

स्वात्मसञ्चेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ५१५ ॥

अन्तर है ॥ ५०८ ॥ यतः अज्ञानी जीव कर्म, नोकर्म और भावकर्ममय है अतः वह इस सबको मोहवश अद्वैतवाद के समान अपने से अभिन्न मानता है ॥ ५०९ ॥ वह आत्मघाती विश्व से भिन्न होकर भी अपने आत्मा को विश्वमय मान बैठा है और इस प्रकार विश्वमय होकर लोक में कभी भी भय से मुक्त नहीं हो पाता ॥ ५१० ॥ तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरादि सर्वथा अनित्य हैं तो भी वह मिथ्यात्व कर्म के उदय से इन में नित्य बुद्धि रख कर भ्रान्त हो रहा है जिससे वह भय को प्राप्त होता है ॥ ५११ ॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपने आत्मा में एकत्व का अनुभव करता है। वह उसे सब कर्मों से भिन्न, शुद्ध और चिन्मय मानता है ॥ ५१२ ॥ वह शरीर, सुख, दुःख, पुत्र और पौत्र आदिक को अनित्य मानता है और कर्म जन्य होने से इन्हें आत्मा का स्वरूप नहीं मानता। ५१३ ॥ वह ऐसा विचार करता है कि यह चैतन्य लोक ही मेरा लोक है। वह वास्तव में नित्य है। इससे भिन्न अलौकिक लोक नहीं है इस लिये मुझे भय कैसे हो सकता है ॥ ५१४ ॥ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा का अनुभव होने के कारण ज्ञानानन्द में लीन रहता है। जिससे वह इस लोक सम्बन्धी भय से सदा मुक्त रहता है और इसके कारण-भूत कर्म बन्धन से भी अपने को मुक्त अनुभव करता है, ॥ ५१५ ॥

विशेषार्थ- यहां इस लोक सम्बन्धी भय का निर्देश करके सम्यग्दृष्टि के वह नहीं होता यह बतलाया गया है। उक्त कथन का सार यह है कि सम्यग्दृष्टि को यह वास्तविक ज्ञान हो जाता है कि जब ये शरीर, स्त्री, पुत्रादि भिन्न हैं और मैं भिन्न हूं तब मुझसे इनका वियोग होना निश्चित है। मैं क्यों इनके संयोग वियोग में हर्ष विषाद करूं या दुखी होऊं या इनके वियोग की कल्पना से भयभीत होऊं। यही सबब है कि वह इस लोक सम्बन्धी भय से सदा मुक्त रहता है ॥ ५०६-५१५ ॥

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥ ५१६ ॥

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ५१७ ॥

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥ ५१८ ॥

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ५१९ ॥

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ५२० ॥

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसम्भवात् ॥ ५२१ ॥

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद् द्रवत्यधीः ॥ ५२२ ॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात्
स विभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥ ५२३ ॥

पर लोक के भय का निर्देश करके वह सम्यग्दृष्टि के क्यों नहीं होता इसका विचार—

आगामी जन्मान्तर को प्राप्त होने वाले पर भव सम्बन्धी आत्मा का नाम ही पर लोक है। इस के कारण जीव को कम्प के समान दुःख होता है इस लिये ऐसे भय को पर लोक भय कहते हैं ॥ ५१६ ॥ यदि इस लोक में जन्म हो तो अच्छा है, दुर्गति में मेरा जन्म मत होवे इत्यादि रूप से चित्त का आकुलित होना ही परलोक भय है ॥ ५१७ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसा भय अवश्य पाया जाता है, क्यों कि इसका कारण एकमात्र मिथ्याभाव है। किन्तु इससे विपरीत सम्यग्दृष्टि के यह भय नहीं पाया जाता है क्यों कि इसके मिथ्याभाव का अभाव हो गया है ॥ ५१८ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्मा को नहीं पहिचानता है, क्यों कि वह एकमात्र मिथ्या भूमि में स्थित है। वह मूर्ख अपनी आत्मा को कर्म और कर्म फल रूप ही अनुभव करता है ॥ ५१९ ॥ इस लिये भ्रमिष्ठ पुरुष के समान वह निरन्तर ही भयाक्रान्त रहता है। ठीक ही है क्यों कि अज्ञानी जीव मृग तृष्णा में ही जल समझ बैठता है ॥ ५२० ॥ किन्तु जो अन्तरात्मा है वह निर्भय पद को प्राप्त होने के कारण सदा ही निर्भीक है, क्यों कि भय की कारणभूत भ्रान्ति इसके नियम से नहीं पाई जाती है ॥ ५२१ ॥ जो अन्य पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है वह मिथ्या भ्रान्ति कहलाती है। जैसे कि अज्ञानी जीव अन्धकार के कारण रस्सी में सर्प का निश्चय हो जाने से डर कर भागता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी मिथ्यात्व के कारण कर्म और कर्म फल में आत्मा का निश्चय कर लेने से डरता रहता है ॥ ५२२ ॥ किन्तु जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूपी ज्योति को अपने से अभिन्न जानता है वह कैसे डर सकता है, क्यों कि उसे ज्ञात रहता है कि कोई भी कार्य अन्यथा नहीं हो सकता है ॥५२३॥

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ५२४ ॥

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ५२५ ॥

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥ ५२६ ॥

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ ५२७ ॥

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ ५२८ ॥

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्त्यथान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२९ ॥

विशेषार्थ--मिथ्यादृष्टि जीव को कभी भी अपने स्वरूप का भान नहीं होता वह मिथ्यात्ववश कर्म निमित्तक विविध अवस्थाओं को ही अपनी मानता रहता है इस लिये वह देवादि पर्यायों को अच्छा और नरकादि पर्यायों को बुरा मान कर दुर्गति से सदा ही भय खाता रहता है। वह यह विचार तो नहीं करता कि जिन कारणों से संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है उन्हें दूर किया जाय किन्तु उनके वशीभूत होकर यही विचार करता रहता है कि मुझे दुर्गति की प्राप्ति न होकर सदा ही सुगति की प्राप्ति होती रहे। ऐसे विचार के कारण प्राप्ति होनेवाले भय का नाम ही परलोक भय है। यह भय सम्यग्दृष्टि के कभी नहीं होता क्यों कि वह सदा बहिर्लोक से मुक्त होकर अन्तर्लोक में विचरता रहता है, इस लिये वह कर्म और कर्म के निमित्त से होने वाले कार्यों को अपना नहीं मानता यह उक्त कथन का सार है ॥५१६-५२३॥

वेदना भय का निर्देश करके वह सम्यग्दृष्टि के नहीं होता इसका खुलासा—

शरीर में वातादि मलों के कुपित होने से जो बाधा उत्पन्न होती है वह वेदना कहलाती है। इस वेदना के पहले ही शरीर में कम्प होने लगता है। अथवा मोहवश यह जीव विलाप करने लगता है। इसी का नाम वेदना भय है ॥ ५२४ ॥ मैं नीरोग हो जाऊं, मुझे वेदना कभी भी न हो इस प्रकार की मूर्च्छा का होना या इस प्रकार बार बार चिन्तवन करना ही वेदना भय है ॥ ५२५ ॥ वह वेदना भय मिथ्यादर्शन के कारण नीरोग आत्मा का ज्ञान न होने से मिथ्यादृष्टि जीव के नियम से होताहै। किन्तु ज्ञानी जीव के वह कभी भी नहीं पाया जाता ॥ ५२६ ॥ ज्ञानी जीव विचार करता है कि आत्मा चैतन्यमात्र का स्थान है जो पुद्गल से भिन्न है इस लिये जब कि मुझे व्याधि ही नहीं तब भय कैसे हो सकता है। जितनी भी व्याधियाँ हैं वे सब शरीर में ही होती हैं अमूर्त आत्मा में नहीं ॥ ५२७ ॥ जैसे प्रदीप्त हुई अग्नि झोपड़ी को जलाती है किन्तु झोपड़ी के आकार रूप से स्थित हुए आकाश को नहीं जलाती यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसे ही व्याधि शरीर में होती है आत्मा में नहीं यह भी अनुभव सिद्ध है ॥ ५२८ ॥ जिसका स्पर्शन आदि इन्द्रियों के वर्तमान कालीन और भविष्यत् कालीन विषयों में आदर नहीं है वह

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धोऽनादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशिनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥ ५३१ ॥

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोऽन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५३३ ॥

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥ ५३४ ॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ॥ ५३५ ॥

वास्तव में वेदना भय से निर्भीक है ॥ ५२९ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव के व्याधियों के आधारभूत इन इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त अनादर भाव का पया जाना असिद्ध नहीं है, क्यों कि वे स्वयं बाधा की कारण हैं इस लिये उनमें रोग से कोई भेद नहीं ॥ ५३० ॥

विशेषार्थ—शरीर में वातादि रोग या रोग के कारण देख कर डरना वेदना भय है। यह भय उसी के होता है जिसके शरीर में अहंकार भाव होता है। सम्यग्दृष्टि के यह भय कभी नहीं होता, क्यों कि वह शरीर और शरीराश्रित क्रियाओं से अपने आत्मा को भिन्न अनुभव करता है। वह जानता है कि शरीर जड़ है और मैं चेतन हूँ, शरीर मूर्त है और मैं अमूर्त हूं, शरीर सदा काल अनेक रोगों का घर है और मैं नीरोग हूं फिर मुझे किस बात का भय करना चाहिये। मुझे तो सदा ही निर्भय रहना चाहिये। यही कारण है कि वह सदा वेदना भय से भी मुक्त रहता है। कदाचित् रागवश वह शरीर की रक्षा में प्रवृत्त भी होता है और उसे विविध अनिष्टों से बचाता भी है तो भी वह उसके हानि लाभ में व्याकुलित नहीं होता। उसकी दशा तो उस डाक्टर के समान होती है जो किसी रोगी की चीर फाड़ भी करता है और उसकी रक्षा के विविध उपाय भी करता है फिर भी यदि उसकी रक्षा नहीं कर सकता है तो उसमें दुखी नहीं होता ॥ ५२४-५३० ॥

अत्राणभयका निर्देश करके सम्यग्दृष्टि के यह भय नहीं होता इसका विचार—

जिस प्रकार क्षणिकैकान्त पक्ष में चित्तक्षण आदि की रक्षा नहीं की जा सकती उसी प्रकार नाश से पूर्व ही अंशी के नाशकी रक्षा करने में अपनी असमर्थता मानना अत्राणभय है ॥ ५३१ ॥ पर्याय के नष्ट होने के पहले ही अन्वयरूप से अंशी के नाशका होना अत्राण भय है। इसका कारण मिथ्याभाव है इस लिये यह मिथ्यादृष्टि के नियम से होता है ॥ ५३२ ॥ यद्यपि पर्याय निरन्तर नष्ट होती रहती है तथापि अन्वयरूप से एक सत् ही शरणभूत है। किन्तु मिथ्यादृष्टि इसे स्वीकार नहीं करता इस लिये वह अत्राणभय से त्रस्त हो रहा है ॥ ५३३ ॥ यद्यपि चैतन्य आत्मा का अपनी चैतन्यरूप पर्यायों की अपेक्षा प्रति समय नाश हो रहा है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव इस अपेक्षा से आत्मा का नाश मानता हुआ भी अत्राणभय से निडर है ॥ ५३४ ॥ यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु थोड़ी भी

दृङ्मोहस्योदयाद् बुद्धिः यस्य चैकान्तवादिनी ।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५३६ ॥

असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ५३७ ॥

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसम्भवात् ॥ ५३८ ॥

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ५३९ ॥

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ५४० ॥

अरक्षित नहीं है अतः महात्माओं को अत्राण भय कैसे हो सकता है ॥ ५३५ ॥

विशेषार्थ—वस्तु स्वभाव से उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाववाली है ऐसा सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है अतः वह क्षण क्षण में एक एक पर्याय का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं मानता। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय बुद्धि होता है। जिस प्रकार बौद्ध लोग चित्तक्षण का निरन्वय विनाश मानते हैं उसी प्रकार वह भी पर्याय के नाश में आत्मा के नाश की कल्पना से सदा काल त्रस्त रहता है। यही सबब है कि मिथ्यादृष्टि के अत्राण भय होता है पर सम्यग्दृष्टि के यह भय कभी नहीं होता ॥ ५३१-५३५ ॥

अगुप्तिभय का निर्देश करके वह सम्यग्दृष्टि के नहीं होता इसका खुलासा—

दर्शनमोहनीय के उदय से जिसकी बुद्धि एकान्तवाद से मूढ़ है उसीके निश्चय से अगुप्तिभय होता है किन्तु अन्य के (सम्यग्दृष्टि के) ऐसा भय कभी भी नहीं होता ॥ ५३६ ॥ जो प्राणी असत् का जन्म और सत् का नाश मानता है वह अगुप्ति भय से भले ही छुटकारा चाहता हो पर उसे उससे छुटकारा कैसे मिल सकता है ॥ ५३७ ॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुके स्वरूपको सदैव सुगुप्त मानता है इस लिये उसके भय का कारण न रहने से वह अगुप्तिभय से निर्भय है ॥ ५३८ ॥

विशेषार्थ— वस्तु सदा सुगुप्त है। उसमें अन्य वस्तु का कभी भी प्रवेश सम्भव नहीं है ऐसा न मान कर वस्तुको अगुप्त मानना अगुप्तिभय है। यह भय मिथ्यादृष्टि के होता है क्योंकि वस्तु के स्थायित्व में उसका विश्वास न होने से वह सदा उसे अगुप्त मानता रहता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि समझता है कि न तो कभी सत् का विनाश होता है और न ही असत् का उत्पाद होता है। वह जानता है कि जिसका जो स्वरूप है वह सदा काल अवस्थित है अतः वह अगुप्तिभय से कभी भीत नहीं होता यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ५३६-५३८ ॥

मृत्युभय का विचार करके वह सम्यग्दृष्टि के नहीं होता इसका कथन—

प्राणों का वियुक्त होना ही मृत्यु है। विस्तार से प्राण काय, वचन, पांच इन्द्रियां, मन, श्वासोच्छ्वास और आयु ऐसे दस प्रकार के होते हैं ॥ ५३९ ॥ मेरा जीवन कायम रहे, मेरा मरण कभी न हो, दैववश भी मैं मृत्यु को नहीं प्राप्त होऊँ इस प्रकार अपने शरीर के नाश के विषय में मानसिक

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ५४१ ॥

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ५४२ ॥

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३ ॥

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं मा भूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोऽप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ५४६ ॥

चिन्ता का होना मरणभय है ॥ ५४० ॥ तत्त्वको नहीं पहिचाननेवाले मिथ्यादृष्टियों को सदा ही इस प्रकार का मृत्युभय बना रहता है किन्तु जिनकी वृत्ति अन्तस्तत्त्व में लीन है ऐसे ज्ञानियों को मृत्युभय कैसे हो सकता है ॥ ५४१ ॥ जीव के चेतना ही प्राण हैं और वह चेतना आत्मा का उपजीवी गुण है। वास्तव में मृत्यु होती ही नहीं अतः इस प्रकार का जो अनुभव करता है उसे मृत्युभय कैसे हो सकता है ॥ ५४२ ॥

विशेषार्थ—संसार अवस्था में जीव का शरीर और शरीराश्रित प्राणों के साथ संयोग हो रहा है जो मर्यादित काल तक रहता है। इसके बाद वे सब नवीन प्राप्त होते हैं। यह इन के संयोग वियोग की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को न जान कर जो इनके वर्तमान त्याग को ही अपना मरण मानता है वह सदा काल यह माला जपा करता है कि मेरे शरीर और तदाश्रित प्राणों का नाश कभी मत हो। और जब उसे ऐसा अनुभव में आता है कि वर्तमान शरीर व प्राण अब अधिक दिन तक टिकनेवाले नहीं हैं तब वह उनके वियोग की कल्पना से घबड़ाता है। इसी का नाम मरण भय है। यह भय मिथ्यादृष्टि के ही होता है सम्यग्दृष्टि के कभी नहीं होता क्योंकि मिथ्यादृष्टि इन प्राणों में ही अपनत्व मान बैठा है इसलिये वह उनके विनाश में अपना नाश मानता है पर सम्यग्दृष्टि इनसे अपने आत्मा को जुदा अनुभव करता है अतः वह इनके विनष्ट होने पर भी अपने आत्मा को सदा काल स्थिर मानता है। यही सबब है कि सम्यग्दृष्टि जीव सदा काल मरण भय से रहित होता है ॥ ५३९-५४२ ॥

आकस्मिक भय का निर्देश करके सम्यग्दृष्टि के वह नहीं होता इसका कथन—

जो भय अकस्मात् उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय माना गया है। जैसे कि बिजली आदि के गिरने से प्राणियों का मरण हो जाता है ऐसे समय में आकस्मिक भय होता है ॥ ५४३ ॥ मैं सदा स्वस्थ रहूं अस्वस्थ कभी न होऊँ इस प्रकार व्याकुल चित्तवाले के जो मानसिक चिन्ता होती है वह आकस्मिक भय है ॥ ५४४ ॥ वास्तव में आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टियों के ही होता है। ऐसा जीव निर्भय पद से च्युत रहता है इसलिये इसे आकस्मिक भय से मुक्ति कैसे मिल सकती है ॥ ५४५ ॥ वास्तव में यह जीव निर्भीक पदमें स्थित है, आदि और अन्त से रहित है। उसे किसी भी प्रकार का

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ५४८ ॥

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेऽप्यरतिं विना।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५५१ ॥

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

आकस्मिक भय नहीं है। जब यह बात है तब इस पदको चाहनेवाले को आकस्मिक भय कैसे हो सकता है ॥ ५४६ ॥

विशेषार्थ—विश्व के सभी कार्य नियत धारा में हो रहे हैं। कोई भी कार्य अपनी नियत धारा को छोड़ कर अकस्मात् कभी नहीं होता यह वस्तुस्थिति है फिर भी जिसकी दृष्टि सदा निमित्तों पर रहती है और जो वस्तु की कार्यकारिणी नियत योग्यता का विचार नहीं करता वह सोचता है कि यह कार्य इस निमित्त से हुआ है। यदि ऐसा निमित्त नहीं मिलता तो यह कार्य नहीं होता और इस लिये वह किसी भी बड़ी घटना को आकस्मिक मान कर घबड़ाता रहता है। इसीका नाम आकस्मिक भय है। वास्तव में यह भय मिथ्यादृष्टि के ही होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि तत्त्वव्यवस्था और उसकी कार्यकारिणी नियत योग्यता से अनभिज्ञ रहता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि प्रत्येक पदार्थ को इस मर्यादा को भली प्रकार जानता है इस लिये वह ऐसे भयका शिकार कभी नहीं होता। वह तो सदा ही निर्भीक पद में स्थित रहता है ॥ ५४३-५४६ ॥

निःकांक्षित अंगका विचार—

व्रतादिक क्रियाओं को करते हुए उनसे पर भव के लिये भोगों की अभिलाषा करना, कर्म और कर्मके फल [illegible]त्मीय भाव रखना और अन्यदृष्टि की प्रशंसा करना कांक्षा है ॥ ५४७ ॥ इन्द्रियों के लिये अरु[illegible]में जो तीव्र उद्वेग होता है वह भोगाभिलाषा का चिह्न है, क्योंकि अपने लिए इष्ट पदार्थों [illegible]ने से ही ऐसा होता है ॥ ५४८ ॥ जैसे स्वपक्ष में जो रति होती है वह भी विपक्ष में अर[illegible]नहीं होती वैसे ही स्वपक्ष में जो अरति होती है वह भी उसके विपक्ष में रति हुए बिना न[illegible] ५४९ ॥ जैसे कि शीत स्पर्श से द्वेष करनेवाला व्यक्ति ही उष्णस्पर्श को चाहता है, क्योंकि [illegible] को चाहता है वह शीत स्पर्श को नहीं चाहता है ॥ ५५० ॥ इस प्रकार का कांक्षारूप भाव जिसके [illegible]यम से मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है यह बात युक्ति अनुभव [illegible] से जानी जाती है ॥ ५५१ ॥ भोगाभिलाषा से परभव में इष्ट पदार्थों का संयोग होना तो दूर रह[illegible]ससे ऐहिक स्वार्थों की भी सिद्धि नहीं होती है ॥ ५५२ ॥ जैसे

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ।। ५३३ ।।

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ।। ५५४ ।।

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ।। ५५५ ।।

न चाशंक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेऽपि विरागवत् ।। ५५६ ।।

यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसम्भवात् ।। ५५७ ।।

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ।। ५५८ ।।

न च वाच्यं स्यात् सद्दृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ।। ५५९ ।।

यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ।। ५६० ।।

किसी उन्मत्त पुरुष के मनमें व्यर्थ ही नाना प्रकार के विकल्प उठा करते हैं या समुद्र में वायु के निमित्त से व्यर्थ ही नाना प्रकार की तरंगें उठा करती हैं वैसे ही इस जीव के मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह भोगाभिलाषा व्यर्थ ही उदित होती रहती है ।। ५५३ ।।

शंका—जब मन्द पुरुष भी कार्य का निश्चय किये बिना प्रवृत्ति नहीं करता है तब फिर ज्ञानी पुरुष भोगाकांक्षा के बिना व्रतों का आचरण कैसे कर सकता है ।।५५४।। क्रिया का फल एक मात्र बन्ध है यह बात भी असिद्ध नहीं है, क्यों कि शुभ क्रिया का फल शुभ है और अशुभ क्रिया का फल [illegible] है ।।५५५।। यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से वीतराग के स[illegible] सरागी के भी यह क्रिया बन्ध फलवाली नहीं होती है, सो ऐसी आशंका करना भी ठीक न[illegible]के यह बात प्रमाण से सिद्ध है कि क्रिया का फल बन्ध है, क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान के [illegible]न्ध का कारण नियम से पाया जाता है ।।५५६-५५७।। चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी हो दोनों [illegible]दयिकी ही होती है, इस लिये जब तक मोहनीय की किसी एक प्रकृति का उदय रहता है तब [illegible]या का फल नियम से बन्ध ही है ।। ५५८ ।। यह कहना भी ठीक नहीं है कि कोई भी सम्यग[illegible]ुद्धि के दोष से बन्ध फलवाली क्रिया को यह जान कर ही करता है कि उसका फल अबन्ध [illegible] इसके सम्यक् विशेषण प्रज्ञा का (स्वानुभूतिका) अविनाभावी है उसके बिना सम्यग्दर्शन में दि[illegible] आ सकती है ।।५५९-५६०।।

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छितः क्रिया ।
शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥ ५६२ ॥

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छितः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ५६३ ॥

नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥ ५६४ ॥

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥ ५६५ ॥

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् भूतार्थदर्शिनी ।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ५६६ ॥

न चासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५६७ ॥

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि यह पहले ही अच्छी तरह से सिद्ध कर आये हैं कि बिना इच्छा के ही सम्यग्दृष्टि के क्रिया होती है। फिर इसके शुभ क्रिया और अशुभ क्रिया की क्या विशेषता शेष रही अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ५६१ ॥

शंका—जो क्रिया अनिष्ट अर्थ का संयोग करानेवाली है वह तो नहीं चाहनेवाले के भी हो जाती है किन्तु जो विशिष्ट और इष्ट पदार्थ का संयोग रूप है वह नहीं चाहनेवाले के कैसे हो सकती है? उदाहरणार्थ व्रत रूप जो समीचीन क्रिया है वह वास्तव में बिना चाहनेवाले पुरुष के नहीं होती। उसके करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है इस लिये कोई उसका कर्ता है यह बात सिद्ध होती है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि कर्म के उदय रूप जो कुछ भी है वह सब अनिष्ट अर्थ है, इस लिये जितना कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है ॥ ५६३-५६४ ॥ और प्रयोजनवश हमें जो कोई पदार्थ इष्ट रूप और कोई पदार्थ अनिष्ट रूप प्रतीत होता है सो यह सब दृष्टि दोष से ही प्रतीत होता है। जैसे कोई दृष्टि से शुक्ल शंख को पीला देखता है वैसे ही दृष्टि दोष से पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना हुआ करती है ॥ ५६५ ॥ किन्तु दर्शनमोहनीय का नाश हो जाने पर जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप से साक्षात् देखनेवाली दृष्टि हो जाती है। फिर उसकी अनिष्ट रूप कर्मों के फल में अनिष्ट पदार्थ रूप ही बुद्धि होती है ॥ ५६६ ॥ कर्म और उसका फल अनिष्ट रूप है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्यों कि कर्म और कर्म का फल सर्वथा दुःख का कारण है इस लिये इनका अनिष्ट रूप होना

अनिष्टफलवत्त्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो यतः ॥ ५६९ ॥

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ५७१ ॥

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ५७२ ।

न चाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योऽपि जनः क्वचित ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥५७५॥

उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत् परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

युक्ति, अनुभव और आगम से सिद्ध है ॥ ५६७ ॥ जैसे जिस हेतु से दुष्ट कार्य की उत्पत्ति होती है वह दुष्ट ही कहा जाता है। वैसे ही व्रत क्रिया का फल अनिष्ट है इस लिये वह अनिष्टार्थ ही है ॥ ५६८ ॥ यतः क्रिया कर्म का फल है इस लिये उसे स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं है, क्यों कि कर्मोदय रूप हेतु के बिना क्रिया की उत्पत्ति होना असंभव है ॥ ५६९ ॥ चाहे अक्षीणमोह आत्मा हो और चाहे क्षीणमोह इन दोनों के जितनी भी क्रिया होती है वह सब औदायिकी ही मानी गई है ॥ ५७० ॥ जीव का पुरुषार्थ कर्मोदय के प्रति इच्छानुसार नहीं होता और वह केवल पुरुषार्थ की अपेक्षा से होता हो सो बात नहीं है किन्तु वह (क्रिया) अवश्य ही दैव की अपेक्षा से होता है ॥ ५७१ ॥ इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी पुरुष कर्मोदय जन्य क्रिया को करता हुआ भी कांक्षारहित है, क्यों कि विरागियों का बिना इच्छा के किया हुआ कार्य राग के लिये नहीं होता ॥ ५७२ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शन रूप अतिशय के बिना भी किसी अन्य कारण से सामान्य जन भी कहीं पर कांक्षा रहित हो जाता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि न्याय से यह बात सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन के बिना निःकांक्षित गुण नहीं हो सकता है। कारण कि जो अतीन्द्रिय सुख को नहीं चाहता उसकी इन्द्रियजन्य सुख में अनिच्छा नहीं हो सकती ॥५७३-५७४॥ उस अतीन्द्रिय सुख को मोह वश मिथ्या जीव नहीं चाहता, क्यों कि उसके दर्शन मोहनीय की पाकशक्ति सदैव उसी प्रकार की पाई जाती है ॥ ५७५ ॥ इस प्रकार निःकांक्षित भाव का निर्देश किया जो नियम से

सम्यग्दर्शनका गुण है। यदि यह सम्यग्दर्शन के पहले होता है ऐसा माना जाय तो ऐसा मानने में हमारी क्या हानि है, क्यों कि प्रत्येक बात परीक्षा करके ही मानी जाती है ॥ ५७६ ॥

विशेषार्थ— यहां सम्यक्त्व के निःकांक्षित गुण का स्वरूपनिर्देश किया गया है। कांक्षा का अर्थ चाह है। यह अनेक रूप में प्रस्फुटित होती है। प्रकृत में जिन कार्यों के करने से संसार की वृद्धि होती है ऐसी चाह ली गई है। सम्यग्दृष्टि के यह नहीं होती इसलिये वह निःकांक्षित गुण का धारी होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। माना कि सम्यग्दृष्टि देव पूजा, दान आदि शुभ क्रिया करता है और अशुभ क्रिया से बचता रहता है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टि भोगाभिलाषा से रहित कैसे माना जा सकता है पर अन्तर्दृष्टि होकर देखने पर ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टि की क्रियामात्र में इच्छा नहीं होती, वह तो इसे सदा काल हेय ही मानता है। किसी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्ति होना और बात है और रुचिपूर्वक उसे करना और बात है। सम्यग्दृष्टि की क्रिया में प्रवृत्ति तो देखी जाती है पर वह उसे रुचिपूर्वक नहीं करता। यद्यपि शास्त्रों में कहीं कहीं व्रताचरण का फल स्वर्गप्राप्ति बतलाया है पर यह उपचार कथन है। वास्तव में व्रताचरण के समय जो रागांश शेष रहता है उसका फल स्वर्ग प्राप्ति है त्यागांशका फल स्वर्ग प्राप्ति नहीं। फिर भी जो त्यागांशका फल स्वर्गप्राप्ति मानते हैं वे धर्म के रहस्य को ही नहीं जानते। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव बन्धका कारण होगा यह कैसे माना जा सकता है। यह ठीक है कि वर्तमान काल में धर्म की ठीक व्याख्या नहीं की जाती है और लोगों को धन, स्त्री, पुत्र आदि की प्राप्ति का प्रलोभन देकर दान आदि में लगाया जाता है। परिणाम यह होता है कि संसारी प्राणी आत्मसंशोधन की ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। वे सदाकाल कषाय की पूर्ति में लगे रहते हैं। वे पूजा, स्वाध्याय आदि जितने भी कार्य करते हैं केवल इस भावना से प्रेरित होकर ही करते हैं कि यदि इस लोक में किया है तो परलोक में अवश्य मिलेगा। सात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर जब तक यह स्थिति न बदली जायगी तब तक दूसरे प्रकार से मिथ्यात्व का ही पोषण होता रहेगा। जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसा मानना ही मिथ्यात्व है। पूजा, स्वाध्याय आदि कार्य इसलिये नहीं किये जाते हैं कि इनके करने से स्वर्ग मिलेगा। एक तो ऐसा है नहीं क्यों कि इन क्रियाओं की स्वर्ग प्राप्ति रूप फल के साथ कोई व्याप्ति नहीं देखी जाती। जो पूजा और स्वाध्याय आदि करता है वह स्वर्ग नहीं भी जाता है और जो पूजा, स्वाध्याय आदि नहीं करता है वह भी स्वर्ग चला जाता है। कदाचित् थोड़ी देर को ऐसा मान भी लिया जाय कि पूजा और स्वाध्याय आदि के करने से स्वर्ग मिलता है तो क्या आगम में इनका विधान इस हेतु से किया गया है ऐसा मान लिया जाय ? और यदि यही मान लिया जाय कि आगम में इनका विधान इसी हेतु से किया गया है तो क्या इन पूजा स्वाध्याय आदि को धर्म कोटि में रखा जा सकता है ? क्या इन्हें इस अभिप्राय से धर्म कोटि में रखने पर यह धर्म की विपरीत परिभाषा नहीं होगी ? धर्म तो स्वरूप प्राप्ति या स्वरूप प्राप्ति के साक्षात् साधनों का नाम है। इस तरह उक्त प्रकार से विचार करने पर ये पूजा स्वाध्याय आदि न तो आत्मा के स्वरूप ही ठहरते हैं और न उसकी प्राप्ति के साधन ही। इसलिये यही निष्कर्ष निकलता है कि जो लौकिक दृष्टि से पूजा स्वाध्याय आदि किये जाते हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि सदा हेय ही मानता है। वह तो ऐसे पूजा स्वाध्याय आदि को स्वीकार करता है जो आत्मपरक हों। यही सबब है कि सम्यग्दृष्टि के न तो भोगों की चाह पाई जाती है और न उनके साधनों की ही। किन्तु वह इस चाहसे मुक्त हो कर सदा काल एकमात्र आत्म-कार्य में ही तत्पर रहता है और इसी कारण सम्यक्त्व का निःकांक्षित नाम का दूसरा गुण माना गया है ॥ ५४७—५७६ ॥

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः ।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता मता ॥ ५७८ ॥

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ५७९ ॥

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ ५८० ॥

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ ५८१ ॥

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ ५८२ ॥

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ ५८३ ॥

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् ।
अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥ ५८४ ॥

निर्विचिकित्सा अंगका विचार—

अब निर्विचिकित्सा नाम का जो गुण है उसका लक्षण कहते हैं। यह युक्ति से भी सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट गुण सिद्ध होता है ॥ ५७७ ॥ अपने में अपने गुणों के उत्कर्ष की बुद्धि से अपनी प्रशंसा करना और दूसरों के अपकर्ष की बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है ॥५७८॥ जो इस प्रकार की विचिकित्सा से रहित है वह सम्यग्दर्शन का सर्वोत्तम निर्विचिकित्सक नामक गुण कहा गया है। अब इसका लक्षण कहते हैं ॥ ५७९ ॥ यथा—

जो पुरुष दुर्दैव के कारण दुखित हो रहा है और तीव्र असाताके कारण जो घृणास्पद है उसके विषय में असूया रूप चित्त का नहीं होना ही निर्विचिकित्सक गुण माना गया है ॥ ५८० ॥ मन में ऐसा अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सम्पतियों का घर हूँ और यह दीन गरीब विपत्तियों का घर है। यह हमारे समान नहीं हो सकता ॥ ५८१ ॥ किन्तु इसके विपरीत मनमें ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्म विपाक से जितने भी प्राणी त्रस और स्थावर योनि में हैं वे सब समान हैं ॥ ५८२ ॥ जैसे शूद्री के उदर से दो बालक पैदा हुए। वे दोनों वास्तव में शूद्र हैं। किन्तु भ्रमात्मा उनमें भेद करने लगता है। वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ५८३ ॥

जैसे जल में काई होती है ठीक वैसे ही जीव में जब तक अशुचि कर्म मौजूद है तब तक मैं और

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥ ५८५ ॥
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद् द्वयोरक्योपलब्धितः ॥ ५८६ ॥
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ ५८७ ॥
अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥ ५८८ ॥

वे सब संसारी जीव सामान्यरूप से कर्मों से मैले हो रहे हैं ॥ ५८४ ॥ यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शन का एक गुण है क्यों कि वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है उसके बिना और किसी के नहीं होता ॥ ५८५ ॥ किन्तु जो केवल कर्म की पर्यायों में अनुराग करता है उसके वह गुण कैसे हो सकता है, क्यों कि कर्म कृत पर्याय यद्यपि सत् से भिन्न है तो भी मिथ्यादृष्टि जीव मोहवश उन दोनों को एक समझ बैठा है ॥ ५८६ ॥ इस प्रकार युक्ति पूर्वक जो यह सम्यग्दर्शन का गुण कहा गया है उसकी यदि अविवक्षा कर दी जाय तो कोई दोष नहीं है और विवक्षित रहने पर कोई लाभ नहीं है ॥ ५८७ ॥

विशेषार्थ – अपने को उच्च और दूसरे को नीच मानना ही विचिकित्सा है। सम्यग्दृष्टि के ऐसा भाव नहीं होता इस लिये वह निर्विचिकित्सा गुण का धारी माना गया है। यद्यपि जगत् में अलग अलग पदार्थों की अलग अलग पर्यायें देखी जाती हैं। उदाहरणार्थ कोई जीव एकेन्द्रिय हैं तो कोई द्वीन्द्रिय आदि हैं। कोई तिर्यंच हैं तो कोई देव, नारकी या मनुष्य हैं और किन्हीं ने इन कर्म पदों का त्याग कर पूरी तरह से आत्मपद को प्राप्त कर लिया है। ऐसी हालत में सम्यग्दृष्टि इन सब में एक परम परमात्म स्वरूप आत्म तत्त्व का दर्शन करता है। वह एकेन्द्रिय आदि होने से किसी को नीच और देव या मनुष्य होने से किसी को ऊंच नहीं मानता। वह जानता है कि ये अवस्थाएं कर्म के निमित्त से प्राप्त हुई हैं अतः इनमें उच्चता और नीचता का विकल्प करना निरा अज्ञान है। वह अपनी विचार धारा को यहीं समाप्त नहीं कर देता है किन्तु इसी प्रकार की और भी जो विषमताएं दिखाई देती हैं उन्हें भी वह परमार्थ सत् नहीं मानता। उदाहरणार्थ लोक में जिनके पास बाह्य परिग्रह अधिक होता है वे बड़े पुरुष माने जाते हैं और जो गरीब होते हैं वे दीन हीन माने माते हैं। इसी प्रकार लौकिक रूढ़ि से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कर्म करनेवाले ऊंच माने जाते हैं और शूद्र कर्म करनेवाले नीच माने जाते हैं। पर सम्यग्दृष्टि इन कल्पनाओं को भी अज्ञान का माहात्म्य समझता है। अतएव वह ऐसे विकल्पों से अपने को सदा दूर रखता है। वह जानता है कि परिग्रह पर है उसके सम्पर्क से जीव की हानि ही होती है अतः भीतर से उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। इसी प्रकार वह यह भी जानता है कि आजीविका के साधन जुदे जुदे हो सकते हैं और परिस्थिति वश संसारी जीव उन्हें स्वीकार भी करता है पर इससे वे ऊंच नीच नहीं माने जा सकते और न इससे उनके धर्मपद के स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा ही आती है। इस लिये वह इन सब विकल्प जालों से जुदा रह कर विश्व में समत्व की प्रस्थापना में अग्रेसर होता है जिससे उसे किसी भी प्राणी में किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं होने पाती। इसी का नाम तो निर्विचिकित्सा गुण है जो सम्यग्दर्शन का अनिवार्य अंग है ॥ ५७७-५८७ ॥

अमूढदृष्टि अंग का विचार —

वह अमूढदृष्टि सम्यग्दर्शन से सुशोभित मानी गई है जिसके होने पर इस जीव के सम्यग्दर्शन

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ ५८९ ॥

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैः मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ५९० ॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ५९१ ॥

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथानिष्टफलप्रदा ॥ ५९३ ॥

अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ५९४ ॥

चमक उठता है ॥ ५८८ ॥ अतत्त्व में तत्त्व का श्रद्धान करना यह अपने लक्षण के अनुसार मूढदृष्टि है। यह जिस जीव के नहीं होती है वह अमूढदृष्टि कहलाता है ॥ ५८९ ॥ दूसरे दर्शनवालों ने मिथ्या हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्या पदार्थ की सिद्धि की है वह मिथ्या पदार्थ सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोहनीय का उदय नहीं रहने से मोह पैदा करने के लिये समर्थ नहीं होता ॥ ५९० ॥ मिथ्यादृष्टियों के द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों के दिखलाये जाने पर भी उनमें अल्पश्रुत ही जब मोहित नहीं होता तब जो बहुश्रुत है वह मोहित ही कैसे होगा ॥ ५९१ ॥ इस प्रकार इन सूक्ष्म आदि अर्थाभासों में भी जब सम्यग्दृष्टि के मूढता नहीं होती तब फिर स्थूल, समीपवर्ती और उपात्त मिथ्या अर्थों में इसे कैसे भ्रम हो सकता है ॥ ५९२ ॥

विशेषार्थ सम्यग्दृष्टि की दृष्टि निर्मल और तत्त्वस्पर्शनी होती है इस लिये अमूढदृष्टि सम्यग्दर्शन का एक गुण माना गया है। इसके अनुसार सम्यग्दृष्टि जीव जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप जिनागम में बतलाया है उसी के अनुसार श्रद्धा करता है इसके विपरीत वह त्रिकाल में भी श्रद्धा नहीं करता है। वह क्या सूक्ष्म और क्या स्थूल सभी प्रकार के पदार्थों के निर्णय करने में एक मात्र जिनागम को ही प्रमाण मानता है। उसकी दृष्टि कहीं भी व्यामोह को प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ लोक में जो विविध रूढियां प्रचलित हैं और जिनमें नाना अज्ञानी जीव फसते रहते हैं उन्हें तो वह प्रमाण मानता ही नहीं। साथ ही वह कुदेवादिक का भी श्रद्धान नहीं करता। वह तो स्वतन्त्र भाव से आत्मतत्त्व के संशोधन में जुटा रहता है और जो इस पथ के पथिक हुए हैं उन्हीं का अनुसरण करता है अन्य का नहीं। यह अमूढदृष्टि गुण का भाव है ॥ ५८८-५९२ ॥

लोकमूढता—

उदाहरणार्थ—लौकिकी रूढि नाना प्रकार की है, जिसे निःसार पुरुषों ने आश्रय दे रखा है, जिसका फल अनिष्ट है ॥ ५९३ ॥ जो निष्फल है, खोटे फलवाली है, जिसकी पुष्टि में कोई समुचित हेतु नहीं मिलता और जो निरर्थक है तो भी कितने ही पुरुष खोटे कर्म के उदय से उस लौकिकी रूढि को छोड़ने में कठिनता का अनुभव करते हैं ॥ ५९४ ॥

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ ५९५ ॥

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ५९६ ॥

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह ।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥ ५९७ ॥

अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ ५९८ ॥

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः ।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥ ५९९ ॥

विशेषार्थ—यहां संक्षेप में मिथ्यादृष्टि के किस प्रकार की लोकमूढता होती है उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसका विशेष खुलासा रत्नकरण्डक में किया है। वहां बतलाया है कि धर्म मान कर नदी या समुद्र में स्नान करना बालु या पत्थर का ढेर लगाना पहाड़ पर से गिरना और अग्नि में प्रवेश करना यह सब लोक मूढता है। वास्तव में धर्म जीवन संशोधन के हेतु राग, द्वेष और अज्ञान के कम करने से होता है। नदी में स्नान करने से कुछ राग द्वेष की कमी नहीं होती। इसी से ऐसी क्रियाओं को लोक मूढता कहा है। तात्त्विक दृष्टि से हमें और भीतर जाना होगा और देखना होगा कि जैन परम्परा में क्या ऐसी मूढता प्रवेश तो नहीं कर गई है। यदि हम भीतर घुस कर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रकारान्तर से यह मूढता तो हम में भी घर कर चुकी है। तेरा पन्थ और बीसपन्थ इसके उदाहरण हैं। धर्म न तेरा पन्थ है और न बीसपन्थ है। ये पन्थ तो जनता को तात्त्विक दृष्टि से हटाकर लौकिक रूढि में फसा कर रखते हैं। फिर भी अज्ञान वश इनका समर्थन किया जाता है। मुख्य प्रयोजन तो जिन प्रतिमा का आलम्बन लेकर राग द्वेष को कम करने का होना चाहिये उसमें पन्थ की ऐसी कोई बात ही नहीं। आत्मशुद्धिका सम्बन्ध न त पन्थ से है और न फल फूल आदि से है। वह तो मुख्यतया परिणामों पर अवलम्बित है, इस लिये कर्तव्य परिणामों की सम्हाल का होना चाहिये किसी पन्थ विशेष की सम्हाल का नहीं। ये तो जितने छूटते जांय उतना ही अच्छा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमूढ दृष्टि अंग उस तमाम लोकाचार का निषेध करता है जो मुख्यतया जीवन संशोधन में हेतु नहीं है ॥ ५९३-५९४ ॥

देवमूढता—

जीव के जो अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्म बुद्धि और अगुरु में गुरुबुद्धि होती है वह देवादिमूढता कही जाती है ॥ ५९५ ॥ मिथ्या दृष्टि जीव ऐहिक सुख के लिये कुदेव की आराधना करता है। यह झूठा लोकाचार है अतः लोक मूढता अकल्याणकारी मानी गई है ॥ ५९६ ॥ लोक मूढतावश किन्हीं पुरुषों का ऐसा श्रद्धान है कि अम्बिका की अच्छी तरह आराधना करने पर वह धन धान्य देती है ॥ ५९७ ॥ इसी तरह अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी अज्ञान वश सदोष देवों को भी निर्दोष देवों के समान इच्छानुसार मानते हैं ॥ ५९८ ॥ प्रसंगानुसार सुसंगत होते हुए भी उनका निर्देश यहां पर नहीं किया है, क्योंकि जिसे चार अक्षर का ज्ञान है वह निष्प्रयोजन ग्रन्थ का विस्तार नहीं करता ॥ ५९९ ॥ कुदेवों

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ ६०० ॥
कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ ६०१ ॥
अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोऽतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥ ६०२ ॥

की अराधना के लिये जितना भी उद्यम है वह और उनके द्वारा कहे गये धर्म में वचन, काय और मन की प्रवृति यह सब अधर्म है ॥ ६०० ॥

विशेषार्थ—देव शब्द मुख्यतया तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक देव गति है इसलिये उस गति के सब जीव देव कहलाते हैं। दूसरे अपने से बड़े पुरुषों के लिये भी देव शब्द का प्रयोग किया जाता है और तीसरे जिन को आदर्श मान कर जीवन निर्माण कार्य में लगते हैं उन्हें भी देव भी कहते हैं। प्रकृत में मुख्य प्रकरण जीवन निर्माण का है इसलिए यहां पर ऐसे व्यक्ति विशेष के लिये ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है जो जीवन निर्माण में हमारा आदर्श हो सके। इस दृष्टि से अरहन्त और सिद्ध ही देव माने जा सकते हैं। इनके सिवा दूसरों को देव मानना देव मूढता है। प्रकृत में ऐसी मूढ़ता की ही चर्चा की गई है। भीतर और बाहर यह मूढता सर्वत्र घर किये हुए है। जो आत्मधर्म के अनुयायी नहीं हैं वे तो इस मूढ़ता के वशीभूत हैं ही किन्तु जो अपने को आत्मधर्म के अनुयायी मानते हैं वे भी इसके पराधीन हो रहे हैं यह महान् आश्चर्य की बात है। जैन परम्परा में इस मूढता ने अनेक प्रकार से अपना अड्डा जमा लिया है। नवग्रह की पूजा यहां होने लगी है। शासन देवता की स्थापना और मान्यता यहां की जाती है। यदि सच कहा जाय तो वर्तमान में सर्वत्र सकाम पूजा का ही बोलबाला है और जिनकी ऐसी पूजा में श्रद्धा नहीं है या इसे मिथ्यात्व मानते हैं उनका परिहास किया जाने लगा है। जैन तत्त्वज्ञान का यह सार है कि अन्य अन्य का कर्ता नहीं। पर कर्तारूप से वीतराग देव की उपासना यहां की जाने लगी है। 'द्रोपदी को चीर बढ़ायो।' ऐसे कर्तावादी पूजापाठ या स्तुतियों को यहां उत्तरोत्तर प्रधानता मिलती चली जा रही है। पूजा के अन्त में विसर्जन किया जाने लगा है और जिनेन्द्र देव से प्रार्थना की जाती है कि हमने आपकी भक्तिभाव से पूजा की अब कृपा कर अपना पूजा का हिस्सा लेकर अपने स्थान पर पधारिये। और मजा यह कि यह सब धर्म समझ कर किया कराया जाने लगा है इसलिये यह तो कहा नहीं जा सकता है कि केवल विष्णु या महादेव जैसे सकामी देवों की पूजा करना ही देव मूढ़ता है। यह तो ठीक है कि चाहे विष्णु या महादेव हों या चाहे पद्मावती या भैरव, सकामी देवकी पूजा करना मात्र देव मूढता है। पर साथ ही वीतराग देव की पूजा अन्यथा प्रकार से करना भी तो देवमूढता मानी जानी चाहिये। इस मूढता की ओर हमारा कहां लक्ष्य है। मुख्यतया तो इस ओर ही लक्ष्य देना है। यदि हमने वीतराग देव को भी इष्टानिष्ट फल का दाता मान लिया या उन्हें पूजा को स्वीकार करनेवाला मान लिया तो वे वीतराग कहां रहे। उनमें भी तो वे दोष आ गये जो हम अन्य में देखते हैं। माना कि विष्णु और महादेव स्वयं सदोष हैं और जिन स्वयं सदोष नहीं हैं किन्तु इनके विषय में की गई हमारी कल्पना हीं सदोष है पर इससे फजितार्थ में कोई अन्तर नहीं आता, अतः अन्दर बाहर फैली हुई इस मूढता का विचार कर सम्यग्दृष्टि को ऐसी मूढता से बचने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५९५–६०० ॥

गुरुमूढता—

जिसका आचार कुत्सित है जो शल्य और परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, क्यों कि सद्गुरु सम्यक्त्व और व्रत इन दोनों से युक्त होता है ॥ ६०१ ॥ इस विषय में भी अत्यन्त विस्तार से लिखना

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं कर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ ६०३ ॥

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ ६०४ ॥

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्थाविशेषतः ।
संख्येया नामसन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ ६०५ ॥

एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः ।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद् द्विधा मतः ॥ ६०६ ॥

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः ।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यःसोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ ६०७ ॥

सर्वथा उचित नहीं है, क्यों कि जो विधि आदेय है वही यहाँ कही गई है और जो अनादेय है वह नहीं ही कही गई है ॥ ६०२ ॥

विशेषार्थ—एक तीसरी मूढ़ता और है जिसे गुरु मूढ़ता कहते हैं। जीवन का उद्देश्य स्वतन्त्र रह कर जीवन यापन करना है। किन्तु इस सिद्धान्त के पीछे एक महान् तत्त्व छिपा हुआ है। वह यह है कि जैसे एक व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक जीवन यापन कर सकता है उसी प्रकार जड़ चेतन अन्य व्यक्तियों को भी इसी प्रकार अपना जीवन यापन करने की स्वतंत्रता है। इस प्रकार इस तत्त्व को समझ लेने पर जीवन में स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। प्रत्येक व्यक्ति ने जो अधिक से अधिक अन्य वस्तुओं के परिग्रह का आग्रह कर रखा है उसका उसे त्याग करना आवश्यक हो जाता है। इसलिये स्वतंत्रता प्राप्ति का मार्ग अन्य वस्तु का त्याग है अन्य वस्तु का स्वीकार नहीं यह निश्चित होता है। यही कारण है कि जैन परम्परा में गुरु का स्वरूप बतलाते समय उसे भीतरी और बाहरी सब प्रकार के परिग्रह का त्यागी बतलाया है। किन्तु जो गुरु का स्वरूप उक्त प्रकार का नहीं मानते हैं वे इस महान् तत्त्वज्ञान के रहस्य को ही नहीं समझते हैं ऐसा मानना पड़ता है। यही कारण है कि यहां उनके ऐसे सदोष विचार को ही गुरुमूढ़ता कहा है। सम्यग्दृष्टि ऐसी मूढ़ता से रहित होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥६०१-६०२॥

देव का स्वरूप और उनके गुणों व भेदों की विशेष चर्चा—

रागादिका पाया जाना यह दोष है और ज्ञानावरणादि ये कर्म हैं जिनके इन दोनों का सर्वथा अभाव हो गया है वह देव कहा जाता है ॥ ६०३ ॥ उसके केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य यह सुविख्यात अनन्त चतुष्टय होता है ॥ ६०४ ॥ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वह देव एक है, अवस्था विशेषकी अपेक्षा दो प्रकार का है, संज्ञावाचक शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है और गुणों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है ॥ ६०५ ॥ शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से वह देव एक प्रकार का माना गया है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा से अरहन्त और सिद्ध इस तरह दो प्रकार का माना गया है ॥ ६०६ ॥ जो दिव्य औदारिक देह में स्थित है; चारों घातिया कर्मों से रहित है; ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से परिपूर्ण है और धर्म का उपदेश देने वाला है वह अरहन्त देव है ॥ ६०७ ॥

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥ ६०८ ॥

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥ ६०९ ॥

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन ।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥ ६१० ॥

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ ६११ ॥

चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥ ६१२ ॥

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ ६१३ ॥

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनन्तधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ ६१४ ॥

नामतो सर्वतो मुख्यसंख्यातस्यैव सम्भवात् ।
अधिकस्य ततो वाचाऽव्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ६१५ ॥

जो मूर्त शरीर से रहित है; सम्पूर्ण चर और अचर पदार्थों को युगपत् जानने और देखनेवाला है, लोक के अग्रभाग में स्थित है, ज्ञानादि आठ गुण सहित है और ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों से रहित है वह सिद्धदेव है ॥ ६०८ ॥

यह देव जगत्पूज्य है इसलिये अर्हत् कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओं का नाश कर दिया है इसलिये जिन कहलाता है, सब देव इससे नीचे हैं इसलिये महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है इसलिये शंकर कहलाता है, ज्ञान द्वारा कथंचित् सब पदार्थों में व्याप रहा है इसलिये विष्णु कहलाता है, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञाता है इसलिये ब्रह्मा कहलाता है और दुःखों का हरण करनेवाला है इसलिये हरि कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि उसके अनेक नाम हैं तथापि वह अपने लक्षण की अपेक्षा अनेक नहीं है, क्योंकि वह साधनों से भले प्रकार सिद्ध अनन्त गुणात्मक एक ही द्रव्य है। यद्यपि चौबीस तीर्थंकरों से लेकर अन्त तक विचार करने पर व्यक्तिरूप से देव अनन्त हैं तथापि यह देवों का बहुत्व दोषाधायक नहीं है, क्योंकि इन सबमें एक प्रकार का ही देवत्व पाया जाता है ॥ ६०९–६१२ ॥ जिस प्रकार दीपक अनेक हैं तो भी उस से प्रदीप सामान्य की हानि नहीं होती, क्योंकि जितने भी दीपक हैं वे सब एक ही प्रकार के पाये जाते हैं नाना प्रकार के नहीं। उसी प्रकार व्यक्तिरूप से देवों के अनेक होने पर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि देवत्व सामान्य की अपेक्षा सब देव एक हैं ॥ ६१३ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि नाम की अपेक्षा क्रम से देव के अनन्त भेद रहे आवें, क्योंकि न्यायानुसार एक एक गुण की अपेक्षा एक एक नाम रखा जा सकता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार नाम की अपेक्षा देव के मुख्य रूप से संख्यात भेद ही सम्भव हैं, क्योंकि वचन व्यवहार इससे

वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ ६१६ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ ६१७ ॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणाः स्वतः ।
अप्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्ट गुणाः स्मृताः ॥ ६१८ ॥
इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥ ६१९ ॥
अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः ।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ ६२० ॥

अधिक नहीं दिखाई देता है ॥ ६१४–६१५ ॥ इसी से पूर्वाचार्यों ने सूत्र में यह कहा है कि तत्त्व वचन के अगोचर है और बारह अंग तथा अंगबाह्यरूप श्रुत स्थूल अर्थ को विषय करता है ॥ ६१६ ॥ सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से सिद्ध के ये आठ गुण होते हैं क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख और आत्मा से उत्पन्न होने वाला वीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय होते हैं। इनके सिवा सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु ये चार गुण और होते हैं ॥ ६१७–६१८ ॥ इस प्रकार जो ज्ञानादि अनन्त धर्मों से युक्त है, आठ कर्मों से रहित है, मुक्त है और अठारह दोषों से रहित है वही देव सेवनीय है अन्य नहीं ॥ ६१९ ॥ वास्तव में वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्षमार्ग का उपदेशक है, वही भगवान् है और वही मोक्षमार्ग का सक्षात् नेता है ॥ ६२० ॥

विशेषार्थ—यहाँ प्रसंग से देव के स्वरूप पर प्रकाश डालकर उनके भेदों व गुणों की विशेषरूप से चर्चा की गई है। जो आत्मा अपने गुणों के द्वारा पूरी तरह से प्रकाशमान हो वह देव है। देव का यह लक्षण अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी में घटित होता है इसलिये ये दो ही देव माने गये हैं। यद्यपि यहाँ पर हमने देव के दो भेद कहे हैं पर ये दोनों भेद एक ही व्यक्ति के अवस्थाभेद कृत जानने चाहिये। चार घाति कर्मों के नाश होने पर अरहंत अवस्था प्राप्त होती है और वही जीव जब सब प्रकार के कर्म, नोकर्म और भावकर्म से रहित हो जाता है तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। अरहंत जीवन्मुक्त होते हैं और सिद्ध मुक्त होते हैं। अरहंतों के सभी अनुजीवी गुण प्रकट हो जाते हैं और सिद्धों के अनुजीवी प्रतिजीवी दोनों प्रकार के गुण प्रकट हो जाते हैं। मुख्य अनुजीवी गुण चार हैं—केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य। ये चार अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं। ये अरहंत के पूरी तरह से प्रकट हो जाते हैं। इनमें क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु इनके मिला देने पर सिद्धों के मुख्य आठ गुण होते हैं। यद्यपि आदिके सम्यक्त्व का पूर्ण प्रकाश अरहंतों के भी पाया जाता है पर इसकी परिगणना मुख्यतया सिद्धों के आठ विशेष गुणों में की जाती है। यों तो प्रत्येक आत्मा के अनन्त गुण होते हैं पर यहाँ विशेष गुणों की ही चर्चा की गई है।

ऐसा नियम है कि जब संसारी जीव अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिये अग्रसर होता है तब वह समस्त बाह्य आलम्बनों का क्रमशः त्याग करता जाता है और आत्मतत्व की दृढ़तर भावना के द्वारा क्रमशः अपने व्यक्तित्व को प्राप्त करने लगता है। अन्य पदार्थों के कारण

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः ।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ ६२२ ॥

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥ ६२३ ॥

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् ।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याऽप्यसम्भवात् ॥ ६२५ ॥

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ ६२६ ॥

जो उसका व्यक्तित्व ढका हुआ था वह उत्तरोत्तर अन्य पदार्थों का सम्पर्क दूर होते जाने से प्रकट होने लगता है। सर्वप्रथम वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व की श्रद्धा करता है। इसके बाद जिससे स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्राप्ति सम्भव हो ऐसा आचरण करता है और अन्त में इस आचरण द्वारा वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हम संसारी जनों को यह स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त व्यक्ति ही आदर्श हो सकता है इसी से ऐसे व्यक्ति को देव संज्ञा दी गई है।

इसके लोक में अनेक नाम प्रसिद्ध हैं। वे सब भिन्न भिन्न कार्यों में निमित्त होने की अपेक्षा से ही कहे गये हैं। उदाहरणार्थ शंकर यह नाम सुख प्राप्ति में निमित्त होने से या निमित्त व्यवहार होने से कहा गया है। इसी प्रकार अन्य नाम भी जानने चाहिये। ये सब नाम संख्यात से अधिक नहीं हो सकते क्योंकि शब्द व्यवहार संख्यात तक ही सीमित हैं ॥ ६०३–६२० ॥

गुरु का स्वरूप—

इन अरहंत और सिद्धों से नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्व को धारण करनेवाले हैं वे गुरु हैं, क्योंकि इनमें न्यायानुसार गुरु का लक्षण पाया जाता है। ये उनसे भिन्न और कोई दूसरी अवस्था को धारण करनेवाले नहीं हैं ॥ ६२१ ॥ इनमें अवस्था विशेष पाई जाती है यह बात युक्ति, अनुभव और आगम से सिद्ध है, क्योंकि उनमें शेष संसारी जीवों से कोई विशेष अतिशय देखा जाता है ॥ ६२२ ॥ भावि नैगमनय की अपेक्षा से जो होनेवाला है वह उस पर्याय से युक्त की तरह कहा जाता है, क्योंकि उसमें नियम से भाव की व्याप्ति पाई जाती है इसलिये ऐसा कहना युक्तियुक्त है ॥ ६२३ ॥ उनमें दर्शनमोहनीय कर्म की उपशान्ति (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) हो जाने से सम्यग्दर्शन भी पाया जाता है और चारित्रावरण कर्म का एकदेश क्षय (क्षयोपशम) हो जाने से सम्यक्चारित्र भी पाया जाता है ॥ ६२४ ॥ इसलिये उनमें स्वभाव से ही शुद्धता सिद्ध होती है और इसकी पुष्टि करनेवाला हेतु भी पाया जाता है। यतः उनके मोहनीय कर्म का उदय नहीं है अतः वहाँ मोहनीय कर्म का कार्य भी नहीं पाया जाता है ॥ ६२५ ॥ उनकी यह शुद्धता नियम से निर्जरा का कारण है, संवर का कारण है और क्रम से मोक्ष दिलानेवाली

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत् त्रयम् ॥ ६२७ ॥

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ ६२८ ॥

न्यायाद् गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ ६२९ ॥

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावनां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ ६३० ॥

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ ६३१ ॥

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात् ।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥ ६३३ ॥

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ ६३४ ॥

है यह बात सुप्रसिद्ध है ॥ ६२६ ॥ अथवा वह शुद्धता ही नियम से स्वयं निर्जरा आदि तीन रूप है, क्योंकि शुद्ध भावों से अविनाभाव रखनेवाला द्रव्य इन तीन रूप ही होता है ॥ ६२७ ॥ आशय यह है कि आत्मा का जो शुद्ध भाव निर्जरा आदि का कारण है वही परम पूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परम गुरु है ॥ ६२८ ॥ न्यायानुसार गुरुपने का कारण केवल दोषों का नाश हो जाना ही है। जो निर्दोष है वही जग का साक्षी है और वही मोक्षमार्ग का नेता है अन्य नहीं ॥ ६२९ ॥ मुनि की यह छद्मस्थता भी गुरुपने का नाश करने के लिये समर्थ नहीं है, क्योंकि रागादि अशुद्ध भावों का कारण एक मोह कर्म माना गया है ॥ ६३० ॥

शंका—छद्मस्थ गुरुओं में दोनों आवरण कर्म और वीर्य का नाश करनेवाला अन्तरायकर्म नियम से है इसलिये उनमें शुद्धता कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह बात ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मों का बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीय कर्म के साथ अविनाभावी है ॥ ६३१–६३२ ॥ खुलासा इस प्रकार है कि मोहनीय का बन्ध होने पर उसके साथ साथ ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है। मोहनीय का सत्त्व रहते हुए इनका सत्त्व रहता है, मोहनीय का पाक होते समय इनका पाक होता है और मोहनीय का क्षय होने पर इनका क्षय होता है ॥ ६३३ ॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने के पहले ही मोहनीय का क्षय हो जाता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मोहनीय का एकदेश क्षय होने से इनका एकदेश क्षय होता है और मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से इनका

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥ ६३५ ॥

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

भी सर्वथा क्षय हो जाता है ॥ ६३४ ॥ सम्यग्दृष्टि के समस्त कर्मों की निर्जरा होती है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय का अभाव होने पर वहां से लेकर वह उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी होने लगती है ॥ ६३५ ॥ इसलिये छद्मस्थ गुरुओं के यद्यपि वर्तमान में तीनों कर्मों का सद्भाव कहा गया है। तथापि राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने से उनमें गुरुपना माना गया है ॥ ६३६ ॥

विशेषार्थ—यहां देव के स्वरूप आदि का निर्देश करके गुरु के स्वरूप का विचार किया गया है। जो संसारी अवस्था से उठ रहा है किन्तु देवत्व को नहीं प्राप्त हुआ है उसकी गुरु संज्ञा है। यह संसारी जीव की देवत्व से कड़ी जोड़ता है इसलिये आदर्श के समान होने से गुरु इस संज्ञा को प्राप्त होता है। इसमें उन सब गुणों का विकाश प्रारंभिक अवस्था में प्रयोग रूप से देखा जाता है जो विशेष रूप से देव में पाये जाते हैं। वे गुण मुख्यतया दिगम्बरत्व, हितोपदेशित्व और वीतरागत्व हैं। यद्यपि इन गुणों का बीजारोपण सम्यग्दृष्टि के ही हो जाता है पर यह इनको प्रयोग में लाने लगता है। इसे देखकर यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि यह स्वातन्त्र्य पथ का अद्वितीय पथिक है। इसके इन गुणों के साथ समता शान्ति, क्षमा, ज्ञान, आत्मीक शक्ति, आत्मीक सुख आदि दूसरे गुणों का भी विकाश होने लगता है। क्योंकि इन गुणों का मुख्य प्रतिबन्धक कर्म मोहनीय माना गया है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इन दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जाता है अतः शेष कर्मों का भी अभाव होने लगता है जिससे इसके आत्मीक सभी गुणों का उदय होने लगता है। क्रम इस प्रकार है—

प्रथमतः यह जीव दर्शन मोहनीय का अभाव कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इसके बाद चारित्र मोहनीय के यथायोग्य क्षयोपशम होने से यह जीव या तो देशचारित्र को प्राप्त होता है या सकल चारित्र को प्राप्त होता है। जो व्रतों का अंशतः पालन करता है वह देश चारित्र को प्राप्त होता है और जो पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करता है वह सकल चारित्र को प्राप्त होता है। देश चारित्री के जीवन में कमजोरी का बहुभाग शेष रहता है इसलिये वह आदर्श नहीं माना गया है। हां जिसने पूर्ण चारित्र को धारण कर संसार से नाता तोड़ लिया है वह आदर्श की समान भूमिका का अधिकारी हो जाता है। जीव को गुरु संज्ञा यहीं से प्राप्त होती है और यह संज्ञा क्षीणमोह गुण स्थान तक रहती है। इस बीच यह राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, अदर्शन आदि सब प्रकार के विकारों पर विजय पा लेता है। पहले मोह पर विजय पाता है, फिर राग द्वेष पर और इसके बाद अज्ञान आदि पर। इसके लिये इसे प्रतिबन्धक निमित्त कारणों को दूर करना होता है। यह क्रिया दो प्रकार से की जाती है। एक तो नये प्रतिबन्धक कारणों का संग्रह न होने देना और दूसरे संगृहीत प्रतिबन्धक कारणों का अभाव करना। प्रथम की संवर संज्ञा है और दूसरे का निर्जरा संज्ञा है। जीव तत्त्वतः भीतर से विकारों का संवर और निर्जरा करता है इसलिये ये आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं। जिन्होंने इस प्रकार से अपने जीवन को सांचे में ढालना आरम्भ किया है वे ही हमारे सच्चे गुरु हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३२१–३३६ ॥

अथास्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात् त्रिधा गुरुः ।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ ६३७ ॥

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥ ६३८ ॥

एको हेतुः क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ ६३९ ॥

त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोऽप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥

परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥

मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥ ६४२ ॥

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ ६४३ ॥

किं वात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेशनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ६४४ ॥

गुरु के भेदों का निर्देश—

वह गुरु सामान्य रूप से एक प्रकार का और अवस्था विशेष की अपेक्षा से तीन प्रकार का माना गया है। जैसे अग्नि यद्यपि एक ही है तो भी वह तिनके की अग्नि, पत्ते की अग्नि और लकड़ी की अग्नि इस तरह तीन प्रकार की कही जाती है। वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ६३७ ॥ इनके ये भेद आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन हैं। ये तीनों ही मुनिकुंजर यद्यपि अपने अपने विशेष पद पर स्थित हैं ॥ ६३८ ॥ तथापि इनके मुनि होने का कारण एक है; क्रिया एक है; बाह्य वेष एकसा है; बारह प्रकार का तप एकसा है; पांच प्रकार का व्रत एकसा है; तेरह प्रकार का चारित्र एकसा है; समता एक सी है; मूल और उत्तर गुण भी एक से हैं; संयम भी एकसा है; परीषह और उपसर्गों का सहन करना भी एकसा है; आहार आदि की विधि भी एकसी है; चर्या, स्थान और आसन आदि भी एकसे हैं; मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्‌चारित्र रूप आत्मीक रत्नत्रय है वह भी उनके भीतर और बाहर समान है। इसी प्रकार ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार प्रकार की आराधनाएँ और क्रोधादिक का जीतना ये भी समान हैं ६३९-६४३ ॥ इस विषय में बहुत कहां तक कहें। उनका जो कुछ विशेष है वही कहना बाकी है, क्योंकि विशेष से जो भी शेष रह जाता है वह न्यायानुसार अविशेष (समान) कहलाता है ॥ ६४४ ॥

विशेषार्थ—गुरु के यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन भेद किये गये हैं पर इनका विधिविधान एकसा होता है इसलिये परमार्थ से उनमें कोई भेद नहीं ऐसा यहां समझना चाहिये ॥ ६३७-६४४ ॥

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ ६४५ ॥

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ ६४६ ॥

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ ६४७ ॥

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ ६४८ ॥

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥ ६४९ ॥

मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ ६५० ॥

न चाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ ६५१ ॥

नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः ॥ ६५२ ॥

आचार्यका स्वरूप और उनकी कार्यमर्यादा—

अनादिकालीन रूढि और निरुक्त्यर्थ इन दोनों की अपेक्षा से आचार्य शब्द का यह अर्थ लिया जाता है कि जो संयमी दूसरों से पाँच आचार का आचरण कराता है वह आचार्य है ॥ ६४५ ॥ तथा व्रतभंग होने पर फिर से उस व्रतको जोड़ने की इच्छा करनेवाले साधु को जो आदेश द्वारा प्रायश्चित देता है वह आचार्य है ॥ ६४६ ॥ उपदेशों से आदेश में पार्थक्य दिखलानेवाला यह अन्तर है कि आदेश में 'मैं गुरु के द्वारा दिये गये व्रतको स्वीकार करता हूं' यह विधि मुख्य रहती है किन्तु उपदेशों में यह विधि मुख्य नहीं रहती ॥ ६४७ ॥ व्रतधारी गृहस्थों के लिये भी आचार्य का आदेश करना निषिद्ध नहीं है, क्योंकि दीक्षाचार्य के द्वारा दी गई दीक्षा के समान ही वह आदेशविधि मानी गई है ॥ ६४८ ॥ किन्तु जो अव्रती हैं उनके लिये आगम की परिपाटी के अनुसार थोड़ा भी आदेश करना निषिद्ध है और इसी प्रकार कारणवश हिंसाकारी उपदेश करना भी उपयुक्त नहीं है ॥ ६४९ ॥ चाहे मुनिव्रतधारी हों और चाहे गृहस्थव्रतधारी हों इन दोनों के लिये हिंसा का अवलम्बन करनेवाला आदेश और उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ ६५० ॥ जो यह प्रसिद्ध है कि व्रतधारी मुनि मूर्तिमान् पदार्थों की समस्त शक्तियों को हस्तरेखा के समान दिखला देते हैं इस लिये उक्त उपदेश और आदेश उनका कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकता सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि पूर्वोक्त उपदेश विरागियों के लिये राग का कारण नहीं है तो भी जो रागी हैं उनके लिये वह राग का कारण अवश्य है इस लिये उसका निषेध किया गया है ॥ ६५१-६५२ ॥ किन्तु सत्पात्रों

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥

यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६५४ ॥

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ ६५५ ॥

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६५६ ॥

यद्वा मोहात् प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ ६५७ ॥

उक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ ६५८ ॥

के लिये दान और अरहंतों की पूजा इन कार्यों में न तो वह आदेश ही निषिद्ध है और न वह उपदेश ही निषिद्ध है ॥ ६५३ ॥ अथवा आदेश और उपदेश ये दोनों ही निर्दोष कार्यों के विषय में उचित माने गये हैं, क्योंकि जिस कार्य में सावद्य का लेशमात्र भी हो उस कार्य का आदेश करना कभी भी उचित नहीं है ॥ ६५४ ॥ कितने ही आचार्यों का मत है कि आचार्य असंयमी पुरुषों के साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रीति कर सकता है परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करनेवाला न तो आचार्य ही हो सकता है और न अरहन्त के मतका अनुयायी ही हो सकता है ॥ ६५५ ॥ जो संघका पालन पोषण करता है वह आचार्य है ऐसा किन्हीं अन्य लोगों ने ही अपनी मति से कहा है अतः यही निश्चय होता है कि धर्मका आदेश और उपदेश के सिवा आचार्य का और कोई दूसरा उपकार नहीं है ॥ ६५६ ॥ अथवा मोहवश या प्रमादवश हो कर जो लौकिकी क्रिया को करता है वह उतने काल तक आचार्य नहीं रहता इतना ही नहीं किन्तु तब वह अन्तरंग में व्रतों से च्युत हो जाता है ॥ ६५७ ॥ इस प्रकार पूर्वोक्त व्रत, तप, शील और संयम आदि को धारण करनेवाला आचार्य ही नमस्कार करने योग्य है और वही साक्षात् गुरु है। इस से भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला न तो गुरु ही हो सकता है और न आचार्य ही हो सकता है ॥ ६५८ ॥

विशेषार्थ—यहां आचार्य के स्वरूप का निर्देश करके उनके विशेष कर्त्तव्य बतलाये गये हैं। आचार्य होता तो है मुनि पर वह अन्य मुनियों से ज्ञानाचार आदि पांच आचारों का आचरण कराता है, उन्हें दीक्षा देता है व व्रतभंग होने पर प्रायश्चित देता है इसलिये उसे आचार्य कहते हैं। एक तरह से यह संघ का प्रमुख होता है। फिर भी यह आत्म कार्य में सावधान रहता है। इतना कार्य उसे कर्तव्यवश करना पड़ता है। भीतरी इच्छा इसकी इस कार्य से मुक्त होने की ही रहती है। यह आदेश और उपदेश दोनों कर सकता है। आदेश केवल व्रतियों को ही कर सकता है। आदेश तभी दिया जाता है जब कोई व्रती अपने आत्मीक कार्य में प्रमादी होने लगता है। उपदेश सबके लिये दिया जाता है। फिर भी यह हिंसाकारी उपदेश और आदेश कभी नहीं देता। यद्यपि कुछ आचार्यों का मत है कि यह दान, पूजा आदि का उपदेश दे सकता है पर यह गौण कार्य है। आचार्य का मुख्य काम तो प्राणी-मात्र को जीवन संशोधन की ओर ले जाना ही माना गया है इसलिये वह अपने को आस्रव के कारण

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ ६५९ ॥

कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ ६६० ॥

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ ६६१ ॥

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥६६२ ॥

तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ ६६३ ॥

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥ ६६४ ॥

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥ ६६५ ॥

भूत उपदेश से सदा बचाता रहता है। मुनि संघ में संघ के भरण पोषण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्यों कि मुनि जीवन यापन के भार से सर्वथा मुक्त रहते हैं। उनके सामने एक जीवन संशोधन का कार्य ही शेष रहता है। इसलिये आचार्य को केवल इतना कार्य ही देखना पड़ता है। यह आचार्य के जीवन की विशेषता है जिसका वह उत्तमता से पालन करता है ॥ ६४५–६५८ ॥

उपाध्याय का स्वरूप और उनके कार्य—

समाधान करने वाला, वाद करनेवाला, स्याद्वाद विद्या का जानकार, वाग्मी, वचन ब्रह्म में पारंगत, सिद्धान्त शास्त्र का पारगामी, वृत्ति तथा मुख्य सूत्रों का शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला होने से कवि, अर्थ की मधुरता का ज्ञान करनेवाला और वक्तृत्व कला में अग्रणी उपाध्याय होता है ॥ ६५९–६६० ॥ उपाध्याय होने में मुख्य कारण श्रुत का अभ्यास है। जो स्वयं पढ़ता है और शिष्यों को पढ़ाता है वह उपाध्याय है ॥ ६६१ ॥ उपाध्याय की व्रतादिक सम्बन्धी शेष सब विधि मुनियों के समान होती है। यह धर्म का उपदेश कर सकता है किन्तु आचार्य के समान किसी को आदेश नहीं कर सकता ॥ ६६२ ॥ शुद्ध बुद्धिवाला वह उन्हीं आचार्यों के आश्रम में रहता है। उन्हीं के संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पंचाचार का पालन करता है ॥ ६६३ ॥ वह चिरकाल तक शास्त्रोक्त विधिसे मूल गुणों और उत्तर गुणों का पालन करता है। परीषह और उपसर्गों को जीतनेवाला होता है तथा जितेन्द्रिय होता है ॥ ६६४ ॥ यहां पर अधिक विस्तार करना व्यर्थ है किन्तु इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से मुनि के शुद्ध वेष को धारण करने वाला, बुद्धिमान्, निर्ग्रन्थ और गण में प्रधान होता है ॥ ६६५ ॥

विशेषार्थ—पांच परमेष्ठियों में आचार्य के बाद दूसरा स्थान उपाध्याय का है। उपाध्याय का मुख्य काम अध्ययन अध्यापन है। इनमें आचार्य के और सब गुण पाये जाते हैं। केवल ये आदेश

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ ६६६ ॥

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरःसरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥

नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ६६८ ॥

आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवांनश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनि· ॥ ६६९ ॥

नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ ६७० ॥

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ ६७१ ॥

निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ ६७२ ॥

परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥

देने के अधिकारी नहीं हैं। किन्तु प्रमुखता से इनका स्वसमय और पर समय का ज्ञाता होना जरूरी है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ६५९–६६५ ॥

साधु का स्वरूप—

इस प्रकार अपने लक्षणों से प्रसिद्ध उपाध्याय का स्वरूप कहा। अब साधु के लक्षण का विचार करते हैं जो कि आगम में भली भांति सिद्ध है ॥ ६६६ ॥ मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र है। जो आत्मसिद्धि के लिये इसका साधन करता है वह साधु है। यह इसका सार्थक नाम है ॥ ६६७ ॥ यह साधु स्वस्थ रहता है इसलिये न तो कुछ कहता है, न हाथ पैर आदि से किसी प्रकार का इशारा करता है और न मन से ही कुछ विचार करता है ॥ ६६८ ॥ किन्तु वह मुनि केवल शुद्ध आत्मा में लीन रहता है, अन्तरंग और बहिरंग जल्प से रहित हो जाता है और तरंगरहित समुद्र के समान शान्त रहता है ॥ ६६९ ॥ वह स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का थोड़ा भी न तो आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है फिर विपक्ष का तो कर ही कैसे सकता है ॥ ६७० ॥ वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त, अधिक प्रभावान्, दिगम्बर जन्म के समय जैसा रूप होता है वैसे रूपको धारण करनेवाला, दयाशील, निर्ग्रन्थ, अन्तरंग और बहिरंग मोह की गांठ को खोलनेवाला, व्रतों को जीवन पर्यन्त पालनेवाला, गुणश्रेणिरूप से कर्मों की निर्जरा करनेवाला, तपरूपी किरणों को तपने से तपस्वी, परीषह और उपसर्ग आदि से अजेय, काम को जीतने वाला, शास्त्रोक्तविधि से आहार लेनेवाला

इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ ६७५ ॥

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
न्यायाद्वादेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥ ६७६ ॥

अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ ६७७ ॥

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः ।
बाह्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥ ६७८ ॥

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ ६७९ ॥

सन्ति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद् द्वयोः ॥६८०॥

और प्रत्याख्यान में तत्पर इत्यादि अनेक प्रकार के साधु के योग्य अनेक गुणों को धारण करनेवाला साधु होता है। ऐसा साधु कल्याण के लिये नियम से नमस्कार करने योग्य है इस से विपरीत कोई यदि विद्वानों में श्रेष्ठ भी हो तो वह नमस्कार करने योग्य नहीं है ॥ ६७१-६७४ ॥

विशेषार्थ—साधु सामान्य भूमिका है। यह सब उपाधियों से रहित होता है। इसका एकमात्र कार्य आत्म शुद्धि है। लोकख्यापन से यह सदा दूर रहता है। यद्यपि शरीर के हेतु इसे आहार व नीहार आदि के लिये समय देना पड़ता है पर तब भी यह अपने चित्त को आत्म कार्य में ही जुटाये रखता है। जिस महान् स्वावलम्बन की इसने दीक्षा ली है उसके अनुरूप वर्तन करना ही इसका सबसे बड़ा उद्देश्य रहता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ६६६-६७४ ॥

आचार्य, उपाध्याय और साधु में जो अन्तर है उसका निर्देश—

इस प्रकार यद्यपि श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठ इन तीन प्रकार के मुनियों का व्याख्यान किया। तथापि उनमें तरतमरूप कुछ विशेषता पाई जाती है ॥ ६७५ ॥ वह इस प्रकार है—

उन तीनों में जो दीक्षा और आदेश देता है वह गणका अग्रणी आचार्य है। यह अपनी आत्मा में लीन रहता है यह बात युक्ति आगम और अनुभव से सिद्ध है ॥ ६७६ ॥ इसके दर्शन मोहनीय का अनुदय होता है इसलिये यह वास्तव में अपनी आत्मा में अतत्पर नहीं है। किन्तु इसके उस से अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला शुद्ध आत्मा का अनुभव नियम से पाया जाता है ॥ ६७७ ॥ दूसरे इसके चारित्रमोहनीय का एकदेश क्षय भी पाया जाता है। क्योंकि चारित्र की हानि और लाभ केवल बाह्य पदार्थ के निमित्त से नहीं होता है ॥ ६७८ ॥ किन्तु उपादान कारण के बल से चारित्र की हानि या उसका लाभ होता है। तब भी अहेतु होने से बाह्य वस्तु उसका कारण नहीं है ॥ ६७९ ॥ वास्तव में संज्वलन कषाय के जो देशघाति स्पर्धक पाये जाते हैं उनका तीव्र और मन्द उदय ही क्रम से चारित्र की

संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥

अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥

तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥

किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४ ॥

तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६८५ ॥

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥

क्षति और अक्षति का कारण है ॥ ६८० ॥ संक्लेश नियम से चारित्र की क्षति का कारण है और विशुद्धि चारित्र की क्षति का कारण नहीं है और वह संक्लेश तथा विशुद्धि भी अपने तरतमरूप अंशों की अपेक्षा अनेक प्रकार की है ॥ और ये तरतमरूप अंश भी अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा अनेक प्रकार के हैं ॥ ६८१ ॥ अथवा कारणवश आचार्य के चारित्र में कदाचित् शिथिलता भी होवे और कदाचित् न भी होवे तो भी इतने मात्र से आचार्य अपनी आत्मा में अतत्पर हैं यह बात नहीं सिद्ध होती ॥६८२॥ उनके देशघाति स्पर्धकों के मन्द उदय होने से नियमसे विशुद्धता होती है और देशघाति स्पर्धकों के तीव्र उदय होने से संक्लेश होता है यह विधि नहीं मानी गई है ॥ ६८३ ॥ किन्तु दैववश उनके कहीं पर विशुद्ध्यंश भी होता है और दैववश कहीं पर संक्लेशांश भी होता है। यदि चारित्र की विशुद्धि है तो विशुद्ध्यंश होता है और फिर संक्लेशांश का उदय होता है ॥६८४॥ उन देशघाति स्पर्धकों का तीव्र उदय तो केवल इतना ही आचार्य के बाधक है कि यदि वह सर्वथा प्रकोप का कारण है ऐसा मान लिया जाय तो इस से बड़ा और कोई अपराध नहीं है ॥६८५॥ इस लिये यहाँ पर इतने मात्र से आचार्य के शुद्ध अनुभव की च्युति नहीं की जा सकती, क्योंकि इसका कारण कोई दूसरा है ॥ ६८६ ॥ मिथ्यात्व कर्म का अनुदय शुद्ध आत्मा के ज्ञान में कारण है और उसका तीव्र उदय उसमें बाधक है, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय होने पर शुद्ध आत्मा के ज्ञान का विनाश देखा जाता है ॥६८७॥ दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है इसलिये चारित्रावरण का किसी भी प्रकार का उदय उसका बाधक नहीं है ॥ ६८८ ॥ एतावता चारि-

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः ।
दृङ्मोहस्य कृतेनालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥ ६८९ ॥

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ ६९३ ॥

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६९४ ॥

नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति तयोस्तरतमो मिथः ।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ ६९५ ॥

लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥ ६९६ ॥

त्रावरण का उदय अकिंचित्कर है यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि वह दर्शनमोहनीय का कार्य करने में असमर्थ है तथापि वह अपना कार्य करने में अवश्य समर्थ है ॥ ६८९ ॥ चारित्रमोहनीय का कार्य आत्मा को चारित्र से च्युत करना है आत्मदृष्टि से च्युत करना उसका कार्य नहीं, क्योंकि न्याय से विचार करने पर इतर दृष्टियों के समान वह भी एक दृष्टि है ॥ ६९० ॥ जिस प्रकार दैवयोग से यदि किसी की एक आँख निर्मल है तो यह प्रत्यक्ष से देखते हैं कि दूसरी आंख में संताप के होने पर भी उसकी हानि नहीं होती। उसी प्रकार चारित्रमोह के उदय से चारित्रगुण में विकार के होने पर भी आत्मा के सम्यक्त्व गुण की हानि नहीं होती ॥ ६९१ ॥ जब तक कषायों का अनुदय है तभी तक चारित्र है और कषायों का उदय ही आत्मा का चारित्र से च्युत होना है ॥ ६९२ ॥ इसलिये चाहे कषायों का अनुदय हो चाहे उदय हो पर दर्शनमोहनीय के उदय के विना इतनेमात्र से सम्यग्दर्शन की कोई हानि नहीं होती ॥ ६९३ ॥

अन्तरंग कारण की अपेक्षा विचार करने पर आचार्य और उपाध्याय ये दोनों ही समान हैं, साधु हैं, साधु के समान आत्मज्ञ हैं, शुद्ध हैं और शुद्ध उपयोगवाले हैं ॥ ६९४ ॥ इन दोनों में परस्पर तरतमरूप कोई विशेषता नहीं है और न इन दोनों से साधु में भी अतिशयरूप से कोई भीतरी उत्कर्ष पाया जाता है ॥ ६९५ ॥ यदि इनमें परस्पर थोड़ी बहुत विशेषता है भी तो वह बाह्य क्रिया कृत ही है क्यों कि इन तीनों का मूल कारण अन्तरंग शुद्धि जब कि समान है तो बाह्य विशेषता से क्या हानि है

नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६९७ ॥

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥ ६९८ ॥

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥ ६९९ ॥

हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ ७०० ॥

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥ ७०१ ॥

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ ७०२ ॥

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥

अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है ॥ ६९६ ॥ इन आचार्य, उपाध्याय और साधु के कषायों का कोई भी मन्दादि उदय नियत नहीं है। युक्ति, स्वानुभव और आगम से तो यही ज्ञात होता है कि इनके कैसे भी अंशों का उदय होता है ॥ ६९७ ॥

आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद हैं जो पृथक् पृथक् एक एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भावों की अपेक्षा से प्राप्त होते हैं ॥ ६९८ ॥ कोई आचार्य कदाचित् उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर फिर मध्यम या जघन्य विशुद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६९९ ॥ नाना अविभाग प्रतिच्छेदों को लिये हुए प्रति समय उदय में आनेवाले संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धक ही इसका कारण हैं धर्म का आदेश या उपदेश आदि रूप बाह्य क्रिया इसका कारण नहीं है ॥ ७०० ॥ जिस परिपाटी से आचार्यों के भेद बतलाये हैं इसी परिपाटी से उपाध्याय और साधुओं के भेद भी घटित कर लेने चाहिये क्यों कि युक्ति से विचार करने पर आचार्य से इनमें अन्तरंग में और कोई विशेषता शेष नहीं रहती। वे तीनों समान हैं ॥ ७०१ ॥

शंका—धर्म का उपदेश आदि बाह्य कार्य आचार्य आदि की विशेषता का कारण रहा आवे, क्यों कि बाह्य हेतु कहीं पर अभ्यन्तर हेतु का बाह्य निमित्त होता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्यों कि समस्त बाह्य पदार्थ वास्तव में अकिंचित्कर हैं। अब यदि मोहवश कोई पर पदार्थ को निज मानता है तो उसके लिये ये आचार्य आदि पद अवश्य ही फलवाले हैं। अर्थात् इनसे वह सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि कर सकता है ॥ ७०२-७०३ ॥ किन्तु

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४ ॥

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५ ॥

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहा विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६ ॥

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥ ७०७ ॥

ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ ७०८ ॥

किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलात्पत्तिरञ्जसा ॥ ७०९ ॥

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात् सर्वार्थसाक्षिणा ।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

जो बाह्यरूप आचार्य पद और धर्म का आदेश तथा उपदेश आदि रूप उसके फल को सर्वथा नहीं चाहता है उस आचार्य का तो फिर कहना ही क्या है अर्थात् उसकी अन्तरंग परिणति में ये बाह्य कार्य बिल्कुल ही कारण नहीं हो सकते ॥ ७०४ ॥

धर्म के आदेश आदि कार्यों में आचार्य निरीह होते हैं यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि न्याय से इन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा ही ईहा मानी गई है अन्यत्र की गई इच्छा कभी भी ईहा नहीं मानी गई है ॥ ७०५ ॥

शंका—कहीं भी क्रिया के बिना इच्छा नहीं होती है और इच्छा के बिना क्रिया नहीं होती है इसलिये इन्द्रियों के विषय रहो या न रहो तथापि बिना इच्छा के क्रिया नहीं हो सकती ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह लक्षण क्षीणमोही और उनके समीपवर्ती गुणस्थानवालों में अतिव्याप्त हो जाता है और यदि यहाँ भी इच्छा पूर्वक क्रिया मानी जाती है तो बन्धको नित्यता की आपत्ति प्राप्त होने से मुक्ति असम्भव हो जाती है ॥ ७०६–७०७ ॥ इसलिये विशुद्धि के नाना अंशों की अपेक्षा से अन्तरंगकृत भेद है यह पक्ष सामान्य रूप से तीनों में माना जाना चाहिये। इसे बाह्य क्रिया की अपेक्षा से मानना उचित नहीं है ॥ ७०८ ॥ दूसरे परमागम में जो यह सार्थक रूढि प्रसिद्ध है कि साधु पद को प्राप्त किये बिना नियम से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है ॥७०९॥ सो इस विषय में समस्त पदार्थों को साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ देव ने यह ठीक ही कहा है कि श्रेणि पर चढ़े हुए जीव के वह साधु पद क्षणमात्र में स्वतः प्राप्त हो जाता है ॥ ७१० ॥ क्योंकि चाहे आचार्य हो या उपाध्याय श्रेणि पर चढ़ने के समय वह नियम से सम्पूर्ण चिन्ताओं के निरोध रूप ध्यान को धारण करता है ॥७११॥

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥ ७१२ ॥

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनां वरम् ।
प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् ।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ ७१५ ॥

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा ।
सद्दृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ ७१७ ॥

इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि आचार्य और उपाध्याय के श्रेणी आरोहण के समय साधुपद अनायास होता है क्यों कि वहां पर बाह्य उपयोग को कोई अवकाश नहीं है ॥७१२॥ किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापनारूप उत्तम चारित्र को ग्रहण करके पश्चात् साधुपद को धारण करता है ॥ ७१३ ॥ इस प्रकार यहां पर प्रसंगवश संक्षेप से गुरु का लक्षण कहा। उनका शेष स्वरूप विशेषरूपसे जिनागम से जानना चाहिये ॥ ७१४ ॥

विशेषार्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन परमेष्ठी अलग अलग माने गये हैं। पहले इन तीन का स्वरूप भी अलग अलग बतला आये हैं इसलिये यह शंका होती है कि क्या सचमुच में ये स्वतंत्र रूप से तीन पद हैं या बाह्य क्रिया की अपेक्षा से केवल ये तीन माने गये हैं। प्रकृत में इसी शंका का विस्तृतरूपसे विचार किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे ये बाहर से तीन पद स्वतंत्र दिखाई देते हैं वैसे अन्तरंग से तीन न होकर सबके सब साधु ही हैं। तीनों ही आत्मकार्य को साधना चाहते हैं। आदेश और उपदेश उनका मुख्य कार्य नहीं है। जो आचार्य और उपाध्याय कहलाते हैं वे यदि इन कार्यों को छोड़ देते हैं तो बने बनाये साधु हैं और जो साधु कहलाते हैं उन्हें यदि ये कार्य सौंप दिये जाते हैं तो वे आचार्य और उपाध्याय कहलाने लगते हैं, इसलिये तत्त्वतः सबके सब साधु हैं। आचार्य और उपाध्याय ये पद तो बाह्य क्रिया की अपेक्षा से ही व्यवहृत किये जाते हैं ॥ ६७५–७१४ ॥

धर्मका स्वरूप और उसके भेद—

जो धर्मात्मा पुरुष को नीच स्थान से उठाकर उच्च स्थान में धरता है वह धर्म है। यहाँ संसार नीच स्थान है और उसका नाशरूप मोक्ष उच्च स्थान है ॥ ७१५ ॥ वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनरूप है। उन तीनों में से सम्यग्दर्शन इन दोनों के समीचीनपने का एकमात्र कारण है ॥ ७१६ ॥ इसलिये गृहस्थ धर्म या मुनिधर्म जो भी धर्म है वह सम्यग्दर्शन पूर्वक होने से

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत् सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥ ७२१ ॥

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम्।
तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ ७२२ ॥

ही धर्म है। सम्यग्दर्श के विना कहीं भी धर्म नहीं ॥ ७१७ ॥ फिर भी रूढ़ि से शरीर और वचन की शुभ फल देनेवाली क्रियाको धर्म कहते हैं या शरीर और वचन की शुभ क्रिया के साथ जो अनुकूल मनकी प्रवृत्ति होती है उसे धर्म कहते हैं ॥ ७१८ ॥ संपूर्ण गृहस्थ और मुनियों के भेद से वह क्रिया दो प्रकार की है क्योंकि क्रिया के भेद से ही धर्म में भेद होता है ॥ ७१९ ॥ इन दोनों में से जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और समस्त परिग्रह इनसे एकदेश विरति है वह गृहस्थों का अणुव्रत कहा गया है ॥ ७२० ॥ और इन हिंसादिक का सर्वदेश त्याग महाव्रत कहा गया है। इस मुनिव्रत को गृहस्थ धारण नहीं कर सकते ॥ ७२१ ॥ जिस प्रकार गृहस्थों के मूलगुण और उत्तरगुण एकदेश होते हैं उस प्रकार मुनियों के नहीं होते। किन्तु उनके वे सर्वदेश होते हैं ॥ ७२२ ॥

विशेषार्थ—स्वभाव और धर्म एकार्थवाची हैं। जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। इसीसे आचार्यप्रवर कुन्दकुन्दने 'वत्थुसहावो धम्मो' कहा है। यतः जीवका स्वभाव क्षमा, मार्दव, ज्ञान, दर्शन आदि रूप है अतः जीव इस धर्मवाला प्राप्त होता है। किन्तु संसारी जीव अपने इस स्वभावरूप धर्म से च्युत है। इसलिये इसकी प्राप्ति के लिये वह जो भी आत्मीक पुरुषार्थ करता है वह भी धर्म कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन ऐसे हैं जो जीव के स्वभाव होकर भी जीवको विकारी अवस्था से हटाकर अविकारी अवस्थाकी प्राप्ति में साधनभूत हैं इसलिये मुख्यरूप से इन्हें ही धर्मसंज्ञा दी गई है। कार्यकारण के भेद से धर्म दो भागों में विभक्त हो जाता है—एक है साध्यधर्म और दूसरा साधनधर्म। साध्य वह कहलाता है जिसे प्रयत्न करके प्राप्त किया जाता है। जैसा कि पहले संकेत कर आये हैं आत्मा अपने स्वरूप को भूला हुआ है। वह कर्म और कर्मजनित पर्यायों को ही अपनी मान रहा है। उसे अपनी यह गलती सुधारनी है। उसे ऐसा प्रयत्न करना है जिससे वह अनादि काल से भूली हुई अपनी निधि को प्राप्त कर ले। संसारी जीव का यही साध्य है इसलिते इसे साध्यधर्म कहते हैं। किन्तु इसकी प्राप्ति का मुख्य साधन वही है। उसे अपनी दृष्टि, ज्ञान और चारित्र में ही संशोधन करना है। जिस क्षण वह ऐसा करने में समर्थ होगा उसी क्षण वह बन्धनमुक्त होकर स्वतन्त्र हो जायगा। यही कारण है कि आचार्यों ने साधनधर्म का निर्देश करते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप बतलाया है। इसप्रकार यद्यपि साध्यधर्म और साधनधर्म का निर्णय हो जाता है। उक्त विवेचन से हम यह जान लेते हैं कि स्वयं आत्मा साध्य है और स्वयं आत्मा साधन है फिर भी जब तक यह जीव विकार अवस्था में रहता है तब तक पर वस्तु के निमित्त से इसकी शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की क्रिया होती रहती है।

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधरणा इमे ॥ ७२३ ॥

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ ७२४ ॥

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥ ७२५ ॥

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ ७२६ ॥

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम्।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसी क्रियाम् ॥ ७२७ ॥

त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ ७२८ ॥

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ ७२९ ॥

यद्यपि यह क्रियामात्र निमित्तजन्य होने से पर है और स्वरूपोपलब्धि में बाधक है पर निमित्त की दृष्टि से अशुभ से शुभ क्रिया प्रशस्त मानी गई है। यही कारण है कि कहीं कहीं शुभ क्रिया को भी धर्म कहा जाता है। माना कि यह कथन उपचारमात्र है। पर कहीं कहीं उपचार कथन भी ग्राह्य होता है। कारण कि शुभ क्रियामें हिंसादि अशुभ क्रियाओं की निवृत्ति छिपी हुई है। बन्धन मुक्त होने के लिये जीव को यद्यपि अशुभ और शुभ दोनों प्रकार की क्रियाओं से निवृत्त होना है। किन्तु प्रागवस्था में अशुभ से निवृत्ति भी ग्राह्य मानी गई है। यही कारण है कि ग्रन्थकारने धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए हिंसा आदि अशुभ क्रियाओं के त्याग को भी धर्म कहा है। इस प्रकार मुख्य धर्म क्या है और उपचार धर्म क्या है इसका निर्णय हो जाता है ॥ ७१५–७२२ ॥

गृहस्थ धर्म—

उनमें से व्रतधारी गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं। कहीं कहीं ये अव्रतियों के भी होते हैं, क्योंकि ये सर्वसाधारण धर्म हैं ॥ ७२३ ॥ ये आठ मूलगुण स्वभाव से या कुलाम्नाय से पलते हुए चले आते हैं। इनके विना जीवों के न तो व्रत ही होता है और न सम्यक्त्व ही होता है ॥ ७२४ ॥ इनके विना जब यह जीव नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता है तब फिर वह पाक्षिक, गूढ़, नैष्ठिक और साधक कैसे हो सकता है ॥ ७२५ ॥ जिसने मद्य, मांस और मधु का त्याग कर दिया है और जिसने पांच उदम्बर फलों को छोड़ दिया है वह नाम से श्रावक कहलाता है। किन्तु जो मद्य, मांस आदि का त्यागी नहीं है वह नाम से भी गृहस्थ नहीं है ॥ ७२६ ॥ इसी प्रकार गृहस्थों को यथाशक्ति व्यसनों का त्याग करना चाहिये और कल्याणप्रद क्रियाओं को चाहनेवाले व्रती गृहस्थों को तो उनका अवश्य ही त्याग करना चाहिये ॥ ७२७ ॥ तथा गृहस्थों को आगम में इनके अतीचाररूप जो दोष कहे गये हैं उनका भी त्याग कर देना चाहिये। इसके विपरीत ऐसा कौन श्रावक है जो मद्य मांस आदि का सेवन करेगा अर्थात् कोई नहीं ॥ ७२८ ॥

उत्तम श्रावकों को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों के लिये पात्रबुद्धि और श्रद्धापूर्वक चार

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्धया निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ ७३० ॥

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ ७३१ ॥

पूजामप्यर्हतां कुर्याद् यद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ ७३२ ॥

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पदयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ ७३३ ॥

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ ७३४ ॥

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥ ७३५ ॥

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ ७३६ ॥

सिद्धानामर्हताश्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ॥ ७३७ ॥

अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात् सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ ७३८ ॥

प्रकार का दान देना चाहिये ॥ ७२९ ॥ कुपात्र और अपात्र के लिये भी यथायोग्य दान देना चाहिये । किन्तु इनके लिये पात्रबुद्धि से दान का देना निषिद्ध है कृपाबुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है ॥ ७३० ॥ इसीप्रकार दयासिन्धु श्रावकों को अशुभ कर्म के उदय से क्षुधा, तृषा, आदि से दुःखी शेष दीन प्राणियों को भी अभयदान आदि देना चाहिये ॥ ७३१ ॥ उत्तम बुद्धिवाला श्रावक अरहंतों की पूजन करे। अथवा अरहंत की बुद्धि से उनकी प्रतिमाओं की पूजन करे। और स्वर तथा व्यञ्जनों की स्थापना करके अर्थात् सिद्धचक्र यन्त्र बना कर सिद्धों की भी पूजन करे ॥ ७३२ ॥ तथा वह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के आगे पहले मन, वचन और काय की शुद्धि पूर्वक उनके चरणों की स्तुति करके फिर आठ प्रकार की पूजा करे ॥ ७३३ ॥ तथा वह व्रती या अव्रती सहधर्मी जनों का और विशेषरूप से ब्रह्मचारियों का यथाशक्ति सम्मान आदि करे ॥ ७३४ ॥ इसी प्रकार जो नारियाँ व्रतों से परिपूर्ण हैं उनका भी जिनागम में सन्मान आदिकरना निषिद्ध नहीं माना है। इसलिये लोकव्यवहार के अनुकूल उनका भी सन्मान आदि करे ॥ ७३५ ॥

गृहस्थ को अपनी सम्पत्ति के अनुसार जिनमन्दिर आदि के निर्माण में सावधानता रखनी चाहिये। यद्यपि इनके बनवाने में थोड़ा पाप लगता है पर वह निन्द्य नहीं है ॥ ७३६ ॥ इसी प्रकार ज्ञानी श्रावक चैत्यालयों में सिद्धों के और अरहंतो के यंत्र और मनोहर प्रतिमाओं की स्थापना करके उनकी शीघ्र ही प्रतिष्ठा करा ले ॥ ७३७ ॥ तथा तीर्थयात्रादिक में अपने मनको सदा उद्यत रखे। और वह श्रावक

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ ७३९ ॥

संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ ७४० ॥

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यमात् ॥ ७४१ ॥

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम् ॥ ७४२ ॥

वहां पर भी संयम की विराधना न करे ॥ ७३८ ॥ इसी प्रकार श्रावकको नित्य और नैमित्तिक जिनबिम्ब-महोत्सवों में शिथिलता नहीं करनी चाहिये। तथा तत्त्व के जानकार पुरुषों को विशेषरूप से शिथिलता नहीं करनी चाहिये ॥ ७३९ ॥

इसीप्रकार गृहस्थको दोनों प्रकार का संयम धारण करना चाहिये। या तो प्रतिमारूप व्रतों को धारण करना चाहिये। या अपनी शक्त्यनुसार प्रतिमाओं के विना व्रत को धारण करना चाहिये॥७४०॥ तप बारह प्रकार का है जो बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। अपनी शक्ति को न छिपा कर इन बारह प्रकार के तपों को करना चाहिये। या इनमें से किसी एक तप को करना चाहिये ॥७४१॥ इस प्रकार यहां प्रसंगवश संक्षेप में गृहस्थों का व्रत कहा है। विस्तार से इसका कथन उपासकाध्ययन के अनुसार सावकाश आगे करेंगे ॥ ७४२ ॥

विशेषार्थ—यहां गृहस्थधर्मके आचरणों में आने वाले सामान्य नियमों का निर्देश किया गया है। धर्म कोई भी हो, चाहे गृहस्थधर्म हो और चाहे यतिधर्म हो सबके मूल में अहिंसा मुख्य है। इस लिये गृहस्थ को उन क्रियाओं का पालन करना मुख्यरूप से बतलाया गया है जो अहिंसा की साधक मानी गई हैं। आठ मूलगुणों का धारण करना यह ऐसा व्रत है जिससे जीवन में अहिंसा की भावना पुष्ट होती है इसलिये ये गृहस्थ के मूलगुण कहे गये हैं। प्रारम्भ में इनका धारण करना आवश्यक है।

अब विचारणीय यह है कि क्या ऐसा नियम है कि जो आठ मूलगुणों को धारण करता है वह जैनी है या व्रती श्रावक को इनका धारण करना आवश्यक है ऐसा नियम है? मूल में किये गये विवेचन से तो पंचाध्यायीकारका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैन वही कहला सकता है जो आठ मूलगुणों को धारण करता है, इनको धारण किये बिना तो वह नाम से भी जैन नहीं है किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका ऐसा लिखना तात्कालिक परिस्थिति का परिणाम है। वस्तुतः जैन यह संज्ञा आठ मूलगुणों को धारण करने से नहीं मिलती है किन्तु जीवन में आये हुए विकारों पर विजय पाने की भावना के जागृत होने से मिलती है, इसलिये कोई आठ मूलगुणों का धारण करे या न करे जिसके जीवन में इसप्रकार की भावना जागृत हो गई है वह जैन है और जिसके जीवन में इस प्रकार की भावना जागृत नहीं हुई है वह जैन नहीं है। आठ मूलगुणों का धारण करना यह तो क्रियाधर्म है और क्रियाधर्म अनेक प्रकार से होता है। कोई कुलपरम्परा से क्रियाधर्म का पालन करते हैं, कोई अपना उच्चत्व प्रस्थापित करने के लिये क्रिया धर्म का पालन करते हैं, कोई आशावश क्रियाधर्म का पालन करते हैं, कोई स्नेहवश क्रियाधर्म का पालन करते हैं, कोई लाभवश क्रियाधर्म का पालन करते हैं और कोई भयवश या देखादेखी क्रियाधर्म का पालन करते हैं। पर इन कारणों से किसी ने आठ मूलगुणों

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ ७४३ ॥
सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ ७४४ ॥

उक्तञ्च—

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ ७४५ ॥

को स्वीकार भी किया है तो वह जैन कहलाने के योग्य तो नहीं हो सकता। जैनत्व यह आत्मा का परिणाम है और यह उसी के जीवन में आता है जो भीतर से अपनी परतन्त्रता से मुक्ति पाने की भावना से ओत-प्रोत होने लगता है। सम्यक्त्व का वास्तविक लक्षण भी यही है। इसी से जैनत्व की व्याप्ति सम्यक्त्व के साथ की जा सकती है क्रियाधर्म के साथ नहीं। क्रियाधर्म तो मिथ्यादृष्टियों के भी होता है। उसका जैनत्व के साथ अभिनाभाव होना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। इतना अवश्य है कि जो भीतर से जैन होता है उसके भीतर से राग परिणति जिस क्रम से कम हो जाती है, तदनुसार वह अपने को बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से मुक्त करता जाता है और इसलिये शास्त्रकारों ने व्रतों द्वारा इसी प्रक्रिया का निर्देश किया है। अतः प्रकृत में ऐसा समझना चाहिये कि जो भीतर से जैन या सम्यक्त्वी है उसका कर्त्तव्य है कि यदि वह यतिधर्म को नहीं स्वीकार कर सकता है तो कम से कम उसे गृहस्थ धर्म का पूरी तरह से पालन करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिये। गृहस्थ के प्रारम्भिक कर्तव्य क्या हैं इनका मूल में निर्देश किया ही है। वह आठ मूलगुणों को धारण करे, सात व्यसनों का त्याग करे, दान दे, पूजा करे व स्वाध्याय आदि करे। इससे त्याग की भावना पुष्ट होकर अन्त में वह सब प्रकार के पर पदार्थों का त्याग करने में समर्थ होता है ॥ ७२३-७४२ ॥

यतिधर्म—

यति के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। वे ऐसे हैं जैसे कि वृक्ष का मूल होता है। कभी भी इनमें से न तो कोई कम होता है और न अधिक ही होता है ॥ ७४३ ॥ समस्तरूप इन सब गुणों के द्वारा ही पूरा मुनिव्रत सिद्ध होता है व्यस्तरूप इन सब गुणों के द्वारा नहीं, क्योंकि एक अंश को ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा तो वह व्यस्तरूप ही सिद्ध होता है पूरा मुनिव्रत नहीं सिद्ध होता ॥ ७४४ ॥

कहा भी है—

'पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचों इंद्रियों का निरोध करना, केशलोच, छह आवश्यक, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, जमीन में सोना, दंतधावन नहीं करना, खड़े होकर आहार लेना और एक बार भोजन करना ये अट्ठाईस मूल गुण हैं ॥'

जैनशासनमें यतियों के ये मूलगुण कहे हैं उनके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं ॥ ७४५ ॥

विशेषार्थ—गृहस्थधर्म का विचार करके यहां यतिधर्म के सामान्य नियमों का निर्देश किया गया है। जो जीवनमें आये हुए विकारों पर विजय पाने के लिये पूरी तरह से कृतसंकल्प हो जाता है

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ ७४६ ॥
उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद् व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ ७४७ ॥
अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ ७४८ ॥
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः ।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ ७४९ ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥७५०॥
तस्याभावान्निवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साऽप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत् ॥७५१॥

और जीवन में परवस्तु की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं रखता है वह यतिधर्म का अधिकारी माना गया है। यद्यपि यति को कुछ ऐसी क्रियाएं करनी पड़ती हैं जो शरीर के लिए आवश्यक होती हैं पर इससे उसके स्वावलम्बन पूर्वक जीवनयापन में कोई बाधा नहीं आती। यदि उसे कदाचित् कोई बाधा प्रतीत होती है तो वह उसकी चिन्ता नहीं करता। मूल में यति के जिन अट्ठाईस गुणों का निर्देश किया गया है वे ऐसे ही धर्म है जो यति की उक्त भावना के पोषक हैं। इसी से यति को उनका धारण करना आवश्यक बतलाया गया है। वह इन गुणों को तो पूरी तरह से धारण करता ही है साथ ही इनके भेद प्रभेद रूप उत्तर गुणों को भी यथावत् पालता है। बन्धन मुक्त होने के लिये पांच महाव्रत आदि २८ गुणों का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये ये मूलगुण कहे गये हैं। इस प्रकार यति के २८ मूलगुण और ८४००००० उत्तरगुण होते हैं। जो इनका धारी है और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से युक्त है वह यति है। इसके मुनि, यति, अनगार, श्रमण आदि अनेक नाम हैं ॥ ७४३–७४५ ॥

व्रत का स्वरूप—

इस लिये जैसा सागारधर्म कहा गया है और जैसा मुनिधर्म कहा गया है उन दोनों में सामान्यरीति से प्राणियों का संरक्षण मूल है ॥ ७४६ ॥ इसी प्रकार विस्तार से क्रियारूप जितना भी व्रतों का समुदाय कहा गया है वह केवल एक सर्वसावद्ययोग की निवृत्ति के लिये ही कहा गया है ॥७४७॥ अर्थात् जिनमत का यही उपदेश है और यही आदेश है कि सर्वसावद्ययोग की निवृत्ति को ही व्रत कहते हैं ॥ ७४८ ॥

यहाँ पर सर्व शब्द से उसका यौगिक अर्थ अन्तरंग और बहिरंग वृत्ति लिया गया है तथ सावद्य शब्द का अर्थ प्राणों का छेद करना है और वही हिंसा कही गई है। इस हिंसा में जो बुद्धिपूर्वक उपयोग होता है वह योग है या जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है वह भी योग है ॥ ७४९–७५० ॥ तथा इस सर्वसावद्ययोग का अभाव होना ही उससे निवृत्ति है और वही वास्तव में व्रत माना गया है। यदि सर्वसावद्ययोग की निवृत्ति अंशरूप से होती है तो व्रत भी एकदेश होता है और यदि वह सब प्रकार से होती है तो व्रत भी सर्वदेश होता है ॥ ७५१ ॥

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तःकषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा ॥ ७५२ ॥

लोकसंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात् संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥ ७५३ ॥

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ ७५४ ॥

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृते नातः परत्र तत् ॥ ७५५ ॥

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥ ७५६ ॥

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥ ७५७ ॥

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हत् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥ ७५८ ॥

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥ ७५९ ॥

किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ ७६० ॥

इस प्रकार यह बात सब प्रकार से सिद्ध हो गई कि प्राणियों पर दया करना बाह्य व्रत है और कषायों का त्याग करना अन्तरंग व्रत है। अपनी आत्मा पर कृपा भी यही है ॥ ७५२ ॥ क्योंकि जब तक असंख्यात लोकप्रमाण वे रागादिक भाव रहते हैं तब तक ज्ञानदिक धर्मों की हिंसा होने से आत्मा की हिंसा होती रहती है ॥ ७५३ । आशय यह है कि वास्तव में रागादि भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रत से च्युत होना है और रागादिक का त्याग करना ही अहिंसा है, व्रत है अथवा धर्म है ॥ ७५४ ॥ आगम में जो अपने और दूसरे प्राणियों के शरीर की रक्षा का निर्देश किया गया है वह भी केवल आत्मरक्षा के लिये ही किया गया है पर के लिये नहीं ॥७५५॥ रागादि भावों के होने पर कर्मों का बन्ध नियम से होता है और उस बंधे हुए कर्म के उदय से आत्मा को दुःख होता है इसलिये रागादि भावों का होना आत्मबध है यह बात सिद्ध होती है ॥ ७५६ ॥ इस लिये मोहनीय कर्म के उदय के अभाव में जो शुद्धोपयोग होता है उसका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चय से उत्कृष्ट व्रत है ॥ ७५७॥ चारित्र सब प्रकार से अपनी अर्थक्रिया को करता हुआ भी निर्जरा का कारण है यह बात न्याय से भी अबाधित है इसलिये वह दीपक के समान सार्थक नामवाला है ॥ ७५८ ॥ यद्यपि रूढि से शुभोपयोग भी चारित्र इस नाम से प्रसिद्ध है परन्तु वह अपनी अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है इसलिये वह निश्चय से सार्थक नाम वाला नहीं है ॥ ७५९ ॥ किन्तु वह अशुभोपयोग के समान वास्तव में बन्ध का कारण है इस लिये यह श्रेष्ठ नहीं है । श्रेष्ठ वह है जो न तो उपकार ही करता है और न उपकार ही करता है ॥ ७६० ॥ अभोपयोग

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥ ७६१ ॥

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरञ्जसा ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥ ७६२ ॥

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥ ७६३ ॥

उक्तञ्च—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

विरुद्ध कार्य कारी है यह बात विचार करने पर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्त से बन्धका कारण होने से वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है ॥ ७६१ ॥ बुद्धिदोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एकदेश निर्जराका कारण है, क्यों कि न तो शुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है ॥ ७६२ ॥

विशेषार्थ—प्रसंग से यहाँ व्रत की चर्चा की गई है। व्रत क्या है ? अभिप्राय पूर्वक किये गये त्याग का नाम व्रत है। त्याग दो प्रकार का होता है। एक तो उन पदार्थों का त्याग जो हम से जुदे हैं। उदाहरणार्थ घर, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन आदि पदार्थों का त्याग प्रथम प्रकार का त्याग है। और दूसरे प्रकार के त्याग में बाहर की कोई वस्तु नहीं छोड़नी होती है किन्तु भीतर ही भीतर जो काम, क्रोध, मद, मोह आदि की धारा प्रवाहित हो रही है उसका त्याग करना होता है। पहले प्रकार के त्याग में जीवन में आये हुए विकार पर ध्यान दिया जाता है। यद्यपि व्रत शब्द इन दोनों प्रकार के त्याग में व्यवहृत होता है पर जीवनशोधन के लिये दूसरे प्रकार का त्याग आवश्यक माना गया है। इसके होने पर प्रथम प्रकार का त्याग स्वयमेव हो जाता है। इसलिये व्रत शब्द का सही अर्थ है जीवन में आये हुए विकार का संकल्प पूर्वक त्याग करना ! जहाँ घर, स्त्री आदि के त्याग की बात कही जाती है वहाँ भी इन विकार भावों का ही त्याग किया जाता है। घर, स्त्री आदि तो पहले से ही जुदे हैं अतः उनके त्याग की बात करना ही व्यर्थ है। त्याग तो उस भाव का करना होता है जो इन पृथग्भूत पदार्थों में ममकार भाव का कारण है। इस प्रकार व्रत की तात्त्विक प्रक्रिया को जान लेने पर भी उसके व्यावहारिक रूप का ठीक तरह से ज्ञान करना आवश्यक है इसलिये आगे उसी का विचार किया जाता है।

धर्म और चारित्र की एकता—

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है ॥ ७६३ ॥

कहा भी है—'निश्चय से चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसी को शम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही धर्म है ॥

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ ७६४ ॥

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥ ७६५ ॥

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७६६ ॥

अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाभूतपूर्वकम् ॥ ७६७ ॥

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ ७६८ ॥

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७६९ ॥

तेषामन्यतमोद्देशो नास्ति दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७७० ॥

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ ७७१ ॥

शंका— जब कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों के मिलने पर ही मोक्ष-मार्ग होता है एक एकके रहने पर नहीं तब फिर केवल चारित्र को मोक्षमार्ग कहने से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों मिल कर चारित्र में गर्भित हैं, क्यों कि तीनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे ये तीनों अखण्डित हैं ॥७६४-७६५॥ दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन यह ज्ञान और चारित्र इन दोनों में सम्यक् विशेषण का हेतु है। अथवा जो ज्ञान और चारित्र नूतन होते हैं उनमें सम्यक् विशेषण का एकमात्र यही हेतु ॥ ७६६ ॥ इसका यह अभिप्राय है कि पहले का जो ज्ञान और चारित्र होता है वह सम्यग्दर्शन के होने पर समीचीन हो जाता है। अथवा सम्यग्दर्शन यह अभूतपूर्व ज्ञान और चारित्र को जन्म देता है ॥ ७६७ ॥ शुद्ध आत्मा के जानने की शक्ति जो कि ज्ञान में अतिशय लाने वाली लब्धिरूप है वह सम्यक्त्व के होने पर ही होती है। अथवा शुद्ध भाव भी सम्यक्त्वके होने पर ही होता है ॥ ७६८ ॥और जो द्रव्यचारित्र और श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शन के विना होता है तो वह न ज्ञान है और न चारित्र है। यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला है ॥७६९॥ इस लिये इन तीनों में से किसी एकका कथन करना कभी भी दोषाधायक नहीं है, क्यों कि मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों उसके साधक माने गये हैं ॥७७०॥

प्रश्न के अभिप्राय को जाननेवाले पुरुषों को संक्षेप में बन्ध और मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये कि रागांशरूप परिणामों से बन्ध होता है और रागांशरूप परिणामों के नहीं रहने से कभी भी बन्ध नहीं होता ॥७७१॥ कहा भी है—

उक्तञ्च—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्संगतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७२ ॥

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ ७७३ ॥

सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥ ७७४ ॥

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ ७७५ ॥

'जिस अंशसे यह सम्यग्दृष्टि है उस अंश से इसके बन्ध नहीं होता है। किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंश से इसके बन्ध अवश्य होता है ॥'

इस प्रकार प्रसंगवश संक्षेप से युक्तियुक्त धर्मका स्वरूप कहा। कवि यथावकाश उसका विस्तार से कथन आगे करेगा ॥७७२॥

विशेषार्थ—पहले धर्म के स्वरूप का निर्देश कर आये हैं। यहां चरित्र का निर्देश करते हुए धर्म से उसकी अभेदता सिद्ध की गई है। धर्म का अर्थ है जीवन में आये हुए विकार का त्याग करना या स्वरूप प्राप्ति। ये दोनों ही अर्थ चारित्र में अच्छी तरह से घटित होते हैं इसी से यहां चारित्र को धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों सम्यक्चारित्र के अविनाभावी हैं इसलिये एकका कथन करने से शेष दो का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है। इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है। इसी बात को दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र ये दोनों ही व्यर्थ हैं इसलिये इन दोनों की समीचीनता का मूल कारण एक मात्र सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है, इसलिये यहां उसे सम्यकचारित्र का कारण कहा है। ये तीनों मिल कर मोक्षके प्रयोजक तो हैं ही साथ ही आत्मा की स्वरूप परिणतिरूप भी है इसलिये धर्म इनसे भिन्न कोई जुदी वस्तु नहीं यह सिद्ध होता है ॥

अमूढदृष्टि अंगका उपसंहार—

समस्त कथन का सार यह है कि देव, गुरु और धर्म में यथार्थता को देखनेवाली दृष्टि ही अमूढदृष्टि कही गई है और इससे विपरीत दृष्टि ही मूढदृष्टि है ॥७७३॥ यह भी सम्यक्त्व का गुण है। यह किसी प्रकार भी दोषकारक नहीं है, क्यों कि जो सम्यग्दृष्टि है वह नियम से अमूढदृष्टि होता है और जो सम्यग्दृष्टि नहीं है वह अमूढदृष्टि कभी नहीं होता ॥७७४॥

उपबृंहणगुण

सम्यग्दृष्टि जीव का उपबृंहण नाम का भी एक गुण है। आत्मीक शक्तियों की नियम से वृद्धि

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद् दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत् ॥ ७७६ ॥

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।
तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ ७७७ ॥

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान्
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ ७७८ ॥

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः ।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥ ७७९ ॥

रसेन्द्रं सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं न वाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघताम्रुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥ ७८० ॥

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ ७८१ ॥

अवश्यम्भाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८२

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८३ ॥

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८४ ॥

करना यह इसका लक्षण है ॥ ७७५ ॥ आत्मा की शुद्धि में दुर्बलता न आने देना या उसकी पुष्टि करना उपबृंहण है । अर्थात् आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप भाव से च्युत नहीं होने देना ही उपबृंहण है ॥ ७७६ ॥ यह जीव जानता हुआ भी आत्मसाक्षात्कार के विषय में पूरी तरह से पुरुषार्थ नहीं कर पाता । तथापि पुरुषार्थ की प्रेरणा देता हुआ ही मानो इस विषय में प्रयत्नवान् रहता है ॥ ७७७ ॥ यह शुद्धोपलब्धि में रंचमात्र भी प्रमादी नहीं होता है किन्तु प्रमाद रहित होकर आदर से आत्मीक कार्यों में लगा रहता है ॥ ७७८ ॥ अथवा शुद्धोपलब्धि के लिये यह उस आत्मीक कार्य में उपयोगी पड़ने वाली किन्हीं बाहरी सत्क्रियाओं का भी अभ्यास करता है ॥ ७७९ ॥ जैसे पारद भस्म को सेवन करता हुआ भी कोई पुरुष पथ्य करता है और कोई पुरुष पथ्य नहीं भी करता है । जो पथ्य करता है वह अपने रोग से मुक्ति पा लेता है और जो पथ्य नहीं करता है वह अपनी नीरोगता को भी खो बैठता है । वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ७८० ॥ अथवा सम्यग्दृष्टि के बिना ही प्रयत्न के स्वभाव से उपबृंहण गुण होता है, क्योंकि इसके ऊपर गुणश्रेणी निर्जरा पाई जाती है ॥ ७८१ ॥ इसके समस्त कर्मों की प्रति समय असंख्यातगुण क्रम से निर्जरा अवश्य होती रहती है ॥ ७८२ ॥ इस लिये यह बात युक्ति से प्राप्त हुई कि इसके जितने रूप में कर्मों का क्षय होता है उतनी शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है । इस प्रकार वृद्धि के बाद वृद्धि बराबर होती जाती है ॥ ७८३ ॥ इसके जैसे जैसे विशुद्धि की

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८५ ॥

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८६ ॥

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥ ७८७ ॥

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ ७८८ ॥

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत् ॥ ७८९ ॥

भीतर प्रकाश देनेवाली वृद्धि होती है वैसे वैसे इन्द्रियों के विषय में भी इसके उपेक्षा होती जाती है ॥ ७८४ ॥ इसलिये बड़े भारी क्रियाकाण्ड में वह सम्यग्दृष्टि अपनी शक्ति को न छिपावे। किन्तु प्रयत्न से भी अपनी शक्ति को बढ़ावे ॥ ७८५ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का जो उपबृंहण नाम का गुण है वह भी गुणों की गणना में आ जाता है। वह दोषाधायक नहीं है ॥ ७८६ ॥

विशेषार्थ—उपबृंहण का अर्थ बढ़ाना है। यह वृद्धि दो प्रकार से की जाती है। प्रथम तो जीवन में जिन गुणों को प्राप्त किया है उनकी उत्तरोत्तर उन्नति करने से और दूसरे आत्मा अभी तक जिन दुर्गुणों का अधिष्ठान है उनका त्याग करने से। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन ऐसे गुण हैं जिनकी वृद्धि में आत्मा के सब गुणों की उन्नति समाई हुई है अतः निरन्तर इनकी उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहना उपबृंहण गुण है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि न तो किसी गुण की वृद्धि ही होती है और न किसी गुण की हानि ही इसलिये उपबृंहण गुण नहीं बन सकता किन्तु यह कहना सर्वथा युक्त नहीं है, क्योंकि पर्यायरूप से प्रत्येक गुण की हानि वृद्धि देखी जाती है। इस गुण का दूसरा नाम उपगूहन भी मिलता है। इसका यह अभिप्राय है कि दूसरे मनुष्य में किसी प्रकार की कमजोरी देखकर दुर्भावनावश उसे प्रकाशित नहीं करना उपगूहन है। यह कमजोरी चारित्र या सम्यक्त्व इनमें से किसी के सम्बन्ध में हो सकती है। सम्यग्दृष्टि जीव कमजोरी को प्रकट करने की अपेक्षा पुनः-स्थिर करने का प्रयत्न करता है और ऐसा करते हुए वह चालू रूढि की अपेक्षा शास्त्रीय मर्यादा का अधिक ध्यान रखता है ॥ ७७६-७८७ ॥

स्थितीकरण

सम्यग्दृष्टिका एक स्थितीकरण नामका गुण है। जो धर्म से च्युत हो गया है उसका धर्ममें स्थित करना स्थितीकरण है। किन्तु अधर्म से च्युत हुए जीवको अधर्म में स्थित करना स्थितीकरण नहीं है ॥७८७॥ कितने ही अल्पज्ञानी भावी धर्मकी आशा से सावद्य का उपदेश देते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुषों ने धर्म के लिए अधर्म का सेवन करना प्रमाण नहीं माना है ॥७८८॥ 'अधर्म के सेवन करने से परम्परा धर्म होता है' इस पक्ष को यहां थोड़ा भी अवकाश नहीं है, क्योंकि मूर्ख को छोड़कर कोई भी प्राणी मोहवश

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् ।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ ७९० ॥

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९१ ॥

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ ७९२ ॥

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९३ ॥

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९४ ॥

अथ क्वचिद्यथाहेतु दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोऽधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९५ ॥

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ ७९६ ॥

यद्वा बहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेऽपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ७९७ ॥

शीत के लिये अग्नि में प्रवेश नहीं करता है ॥७८९॥ पहले अधर्म का सेवन करना यह धर्म का पूर्व रूप नहीं हो सकता, क्यों कि ऐसा मानने पर व्याप्ति पक्षधर्म से रहित हो जाती है और हेतु व्यभिचारी हो जाता है ॥७९०॥ प्रति समय जब तक कर्मोंका उदयरूप हेतु मौजूद है तब तक स्वतः धर्म भी हो सकता है और अधर्म भी हो सकता है यह सर्वत्र नियम है ॥७९१॥

स्थितिकरण के भेद—

यह प्रत्यक्षसे प्रतीत होता है कि वह स्थितीकरण स्व और परके भेद से दो प्रकार का है। अपनी आत्मा को अपने आत्मतत्त्वमें स्थित करना यह स्वस्थितीकरण है और अन्यको आत्मा को उसके आत्मतत्त्व में स्थित करना यह परस्थितीकरण है ॥७९२॥

स्वस्थितीकरण का स्वरूपनिर्देश

मोह के उदय की तीव्रतावश आत्मस्थिति से डिगे हुए आत्मा को फिर से अपनी आत्मा में स्थित करना स्वस्थितीकरण है ॥७९३॥ आशय यह है कि कभी दैववश वह जीव सम्यग्दर्शन से नीचे गिरजाता है। और कभी दैववश सम्यग्दर्शन को पाकर ऊपर चढ़ता है ॥७९४॥ अथवा कभी अनुकूल कारण सामग्री के मिलने पर सम्यग्दर्शन से नहीं गिरता हुआ भी भावों की शुद्धि को नीचे नीचे के अंशों से ऊपर ऊपर को बढ़ाता है ॥७९५॥ कभी यह जीव बाह्य शुभाचार को स्वीकार करके भी छोड़ देता है और कदाचित् नहीं भी छोड़ता है। या कदाचित् छोड़ कर पुनः ग्रहण कर लेता है ॥७९६॥ अथवा बाह्य क्रियाचार में अवस्थानुसार स्थित रहता हुआ भी कदाचित् अन्तरंग भावों से देदीप्यमान होता

नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ७९८ ॥
अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ७९९ ॥
सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ८०० ॥
धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०१ ॥

उक्तञ्च—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ८०२ ॥

हुआ स्थित रहता है ॥ ७९७॥ और यह बात असम्भव भी नहीं है, क्योंकि इसके अपने तरतमरूप अंशों के कारण हीनाधिक अवस्था को प्राप्त होने वाला चारित्र मोहनीय का उदय पाया जाता है ॥७९८॥ यहां इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितीकरण होता है। इसमें कोई अन्य कारण नहीं है। यदि किसी नीतिवश इसमें किसी अन्य कारण की कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है ॥७९९॥

परस्थितीकरण—

अपने पदसे भ्रष्ट हुए अन्य जीवों को सदनुग्रहभाव से उसी पद में फिर से स्थापित कर देना यह परस्थितीकरण है ॥ ८०० ॥ धर्म के आदेश और उपदेश द्वारा ही दूसरे का अनुग्रह करना चाहिये। किन्तु अपने व्रत को छोड़कर दूसरे जीवों की रक्षा करने में तत्पर होना उचित नहीं है ॥ ८०१ ॥

कहा भी है—

'सर्व प्रथम आत्महित करना चाहिये। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये। किन्तु आत्महित और परहित इन दोनों में से आत्महित भले प्रकार करना चाहिये।'

इस प्रकार संक्षेप से यहाँ पर स्थितीकरण गुण कहा जो कि सम्यग्दृष्टि जीव के गुणश्रेणी निर्जरा में भलीप्रकार प्रसिद्ध है ॥ ८०२ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन का एक स्थितीकरण गुण है। स्थितीकरण का अर्थ है स्थित करना। संसारी जीव सदा काल से कर्म मल से लिप्त होने के कारण आत्मस्वरूप से च्युत हो रहा है। कदाचित् इसे स्वरूप मान होता भी है तो भी वह उस स्थिति में सदा काल स्थिर नहीं रह पाता है कभी गिरता है तो कभी चढ़ता है। जीव में ऐसा ही चढ़ाव उतार हुआ करता है। किन्तु इस स्थिति से इसका कोई लाभ नहीं होता, इस लिये आवश्यकता इस बात की है कि धर्म के जिस सुन्दरतम पाद को इसने प्राप्त किया है उसे दृढ़रूप से पकड़कर स्थिर हो जाय। अपने को पतन के गर्त में जाने से बचावे और यदि दूसरा कोई गिर रहा हो तो उसका भी स्थितीकरण करे। माना कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन होना

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥८०३॥

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ ८०४ ॥

यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ८०५ ॥

उसके अधीन है पर अच्छे काम में निमित्त होने की भावना करना और तदनुकूल प्रयत्न करना योग्य-तम कार्य माना गया है। तीर्थंकर होना इसी भावना और कर्तव्य का फल है। जीवन में इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। जगत् का समस्त व्यवहार इसी आधार पर चल रहा है। दीपक, सूर्य, जल, पृथिवी, हवा, भोजन आदि की उपयोगिता इसी आधार से मानी गई है। ये जड़तत्त्व जब अन्य का उपकार करते हैं तब फिर जो चेतन हैं उनका तो यह कर्तव्य ही हो जाता है कि वे स्व पर के कल्याण में सदा काल तत्पर रहें। माना कि आचार्यों ने पर हित की अपेक्षा आत्म हित करने पर अधिक जोर दिया है पर उसका यह मतलब है कि जो आत्महित की ओर ध्यान नहीं देता वह परहित करने में असमर्थ रहता है। जिसने अपनी ओर ध्यान दिया है वही वास्तव में दूसरे का हितसाधन कर सकता है। हितसाधन का कार्य सम्पन्न करना साधारण काम नहीं है। इसके लिये दृढ़ अध्यवसाय की आवश्यकता है। स्थितीकरण अंगमें यही कर्तव्य का भाग छिपा हुआ है इसी से उसे सम्यक्त्व का एक आवश्यक अंग बतलाया है। सम्यग्दृष्टि इस गुण को प्राप्त करता है ऐसा नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ इस गुण का उदय नियम से होता है ऐसा है। यद्यपि आजकल अधिकतर लोग जातिवाद को विशेष महत्त्व देने लगे हैं और इसलिये वे जाति की श्रेष्ठता के कल्पित अभिमान वश अपने कर्तव्य से भ्रष्ट रहते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि के लिये ऐसा अहंकार कभी भी उपादेय नहीं माना गया है। वह तो केवलमात्र इतना देखता है कि यह मनुष्य है, संज्ञी पंचेन्द्रिय है, उपदेश को ग्रहण कर सकता है। वह यह नहीं देखता कि यह किस जातिका है, इसका कौनसा वेष है, क्योंकि जाति और वेष कल्पित हैं। ये मोक्षमार्ग में बाधक साधक कुछ भी नहीं है। इस लिये सम्यग्दृष्टि की सतत यही भावना रहती है कि जो भी दर्शन या चारित्र से च्युत हो रहा है या हो गया है उसे पुनः अपने पद में स्थित करने का प्रयत्न किया जाय। वह अपने विषय में भी ऐसा ही सोचता है और अन्य के विषय में भी ऐसाही सोचता है। वह पक्षपात रहित होकर इस कार्य में लगा रहता है। इसके लिये वह रूढ़ि पर कभी भी ध्यान नहीं देता और न स्नेह आदि के कारण कर्तव्य मार्ग से विमुख ही होता है। यह कार्य है तो कठिन पर सम्यग्दृष्टि इस कर्तव्य मार्ग में स्वभाव से ही सदा तत्पर रहता है यह उक्त कथन का सार है ॥ ७८७-८०२ ॥

जिस प्रकार उत्तम सेवक स्वामी के कार्य में दासभाव रखता है उसी प्रकार सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकार का संघ और शास्त्र इन सब में दासभाव रखना वात्सल्य अंग है ॥ ८०३ ॥ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त सिद्ध प्रतिमा आदि में से किसी एक पर घोर उपसर्ग आने पर वह सम्यग्दृष्टि जीव इसके दूर करने के लिये सदा तत्पर रहता है ॥८०४॥ अथवा यदि आत्मीक सामर्थ्य नहीं है तो जब तक मन्त्र, तलवार और धन है तब तक वह उन सिद्ध प्रतिमा आदि पर आई हुई

तदुद्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥ ८०६ ॥

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ ८०७ ॥

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ॥ ८०८ ॥

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ ८०९ ॥

बाधा को न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है ॥ ८०५ ॥ स्व और पर के भेद से वह वात्सल्य दो प्रकार का है। इनमें से अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य प्रधान है और अन्य आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य गौण है ॥ ८०६ ॥ परीषह और उपसर्ग आदि से कहीं पर पीड़ित होकर भी शुभाचार में, ज्ञान में और ध्यान में शिथिलता न लाना यह पहला स्ववात्सल्य है ॥ ८०७ ॥ दूसरा पर वात्सल्य इस ग्रन्थ में पहले कह आये हैं। वह भी सम्यग्दृष्टि का प्रकट गुण है क्यों कि शुद्ध ज्ञान के बल से ही बाधा दूर की जा सकती है ॥ ८०८ ॥

विशेषार्थ—धर्म और धर्म के साधनों के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का नाम वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन के साथ इस गुण की अभिव्यक्ति होती है इसलिये यह सम्यग्दर्शन का एक अंग माना गया है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव प्राणी मात्र के जीवन में आई हुई कमजोरी और उसके कारण को अच्छी तरह जानता है और वह यह भी जानता है कि इस कमजोरी से मुक्ति पाने के क्या साधन हैं इसलिये प्राणी मात्र के जीवन में आई हुई कमजोरी के प्रति वह राग द्वेष नहीं करता है किन्तु समभाव रखता है। इसी का नाम वात्सल्य है। यह वात्सल्य प्राणियों की विविध अवस्थाओं की अपेक्षा विविध प्रकार से प्रस्फुटित होता है। कहीं मैत्री भाव के रूप में, कहीं अनुराग के रूप में और कहीं माध्यस्थ भाव के रूप में। हैं ये सब भाव एक समत्व के विविध रूप ही। वह कर्मनिमित्तिक विविध अवस्थाओं को आत्माकी न जान कर सब में समत्व के दर्शन करता है। वह जानता है कि पर्यायों के कारण किसी को छोटा बड़ा मानना उचित नहीं है क्यों कि जो वर्तमान में एकेन्द्रिय है वह कल मुक्त हो सकता है और जो वर्तमान में ऊँच माना जाता है कल वह निगोद का भी पात्र हो सकता है। इसलिये वह धर्म, धार्मिक और धर्म के साधनों के प्रति विशेष अनुराग रखता हुआ भी अन्य प्राणियों की उपेक्षा नहीं करता है और न जड़ पदार्थों के प्रभाव में ही आता है। इसीका नाम सच्चा वात्सल्य है ऐसा वात्सल्य गुण सम्यग्दृष्टि के ही प्रकट होता है। इस गुण के कारण उसकी परिणति बड़ी विलक्षण हो जाती है। वह अपने से भिन्न अन्य प्राणी मात्र की विशेषतः सहधर्मी भाई की उन्नति के लिये सदा ही सचेष्ट रहता है। इसके लिये वह आत्मबल का पूरा उपयोग करता है। कदाचित् बाह्य बल का भी अवलम्बन लेता है। किन्तु वह यह जानता है कि अन्य अन्य का कुछ भी बिगाड़ बनाव नहीं कर सकता। फिर भी राग वश उसकी ऐसी परिणति होती है। इसी का नाम वात्सल्य है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥८०३–८०८॥

प्रभावना

सम्यग्दर्शन का एक प्रभावना नामक गुण है। इसका लक्षण उत्कर्ष करना है। इसी से यह

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥ ८१० ॥

पूर्ववत्सोऽपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः ।
तत्राद्यो वरमादेयः समादेयः परोऽप्यतः ॥ ८११ ॥

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे ।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥ ८१२ ॥

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ८१३ ॥

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१४ ॥

बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः ।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ८१५ ॥

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ८१६ ॥

उक्तः प्रभावनाङ्गोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८१७ ॥

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः ।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८१८ ॥

जाना जाता है ॥ ८०९ ॥ हिंसा अतद्धर्म है इस लिये इस पक्ष का थोड़ा भी पोषण नहीं करना चाहिये क्यों कि अधर्म के उत्कर्षका पोषण करने से धर्म पक्ष की हानि होती है ॥८१०॥ पहले अंगों के समान यह अंग भी स्वात्मा और परात्मा के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से पहला अच्छी तरह से उपादेय है और इसके बाद दूसरा भी उपादेय है ॥ ८११ ॥ यतः धर्म को हानि पहुँचानेवाले असमीचीन कारणों के रहने पर अधिक बल लगा कर धर्म की वृद्धि करना ही उत्कर्ष है अतः ऐसा उत्कर्ष किसी भी हालत में दोष कारक नहीं है ॥ ८१२ ॥ कोई जीव मोहरूपी शत्रु का नाश होने से शुद्ध हो जाता है। कोई शुद्ध से शुद्धतर हो जाता है और कोई शुद्धतम हो जाता है। इस प्रकार अपना उत्कर्ष करना स्वात्मप्रभावना है ॥ ८१३ ॥ यह सब पौरुषाधीन नहीं है किन्तु स्वभाव से ही ऐसा होता है क्यों कि ऊपर ऊपर जैसे गुणश्रेणी निर्जरा बढ़ती जाती है तदनुसार आगे आगे उसकी सिद्धि होती है ॥८१४॥ विद्या और मन्त्र आदि बलके द्वारा तथा तप और दान आदि के द्वारा जैनधर्म का उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना अंग है ॥ ८१५ ॥ जो अन्य लोग मिथ्यात्व का उत्कर्ष चाहते हैं उनका अपकर्ष करने के लिये महा पुरुषों को कुछ ऐसे कार्य करने चाहिये जो चमत्कार पैदा करनेवाले हों ॥ ८१६ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का प्रभावना नाम का गुण कहा। जिसके कारण सम्यग्दर्शन के आठों गुण पूर्णता को प्राप्त होते हैं ॥ ८१७ ॥ इन आठ गुणों के सिवा सम्यग्दृष्टि के और भी बहुत से गुण हैं। किन्तु उनका विचार करना छोड़ कर प्रकृत में जो विवक्षित है उसका कथन करते हैं ॥ ८१८ ॥

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८१९ ॥

श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२० ॥

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद् व्यवहारतः ॥ ८२१ ॥

व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥ ८२२ ॥

विशेषार्थ—ऐसे कार्य जिनके करने से धर्म के प्रति प्रकृष्ट भावना जागृत होती है प्रभावना है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य संसार और संसार के कारणों की ओर नहीं रहता। वह जीवन संशोधन के कार्यों में स्वयं जुटता है और दूसरों को जुटाता है। वह भीतर और बाहर ऐसे कार्य करता है जिससे जीवों की प्रवृत्ति असत् कार्यों से हट कर सत्कार्यों में होती है। इसीका नाम प्रभावना है। स्वात्मप्रभावना में स्वका उत्कर्ष लिया गया है। यहां 'स्व' का अर्थ आत्मा है। आत्मा की उन्नति करना अर्थात् आत्मा में आये हुए विकार को दूर करना स्वात्मप्रभावना है और अन्य जीवों को आत्म संशोधन के कार्य में लगाना परात्मप्रभावना है। यहां ग्रन्थकार ने परात्मप्रभावना के प्रसंगसे चमत्कार पूर्ण कार्यों का भी निर्देश किया है किन्तु यह सब कथन उपचारमात्र है। एक समय ऐसा अवश्य था जब आम जनता ऐसे कार्यों से प्रभावित हुआ करती थी। किन्तु अब समय बदल गया है। अब तो आवश्यकता जनता की भीतरी दृष्टि फेरने की है। ज्ञानो जनों को सतत ऐसे कार्य करते रहना चाहिये जिससे उनको आदर्श मान कर जनता मिथ्यात्व और विषय कषायका त्याग करने में प्रवृत्त हो। यही वास्तविक परात्मप्रभावना है। एक प्रकार के मिथ्यात्व का त्याग करा कर दूसरे प्रकार के मिथ्यात्व में लगाना इससे वास्तविक कल्याण होनेवाला नहीं है। भला कहीं कृत्रिम मोती को असली मोती का स्थान प्राप्त हो सकता है। इसलिये जहां कहीं भी विद्या मंत्र आदि के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करने का उपदेश दिया गया है वह केवल लौकिक रूढिमात्र है। इससे उसमें और अधिक स्वारस्य कुछ भी नहीं है ॥ ८०९–८१८ ॥

आत्मा का स्वरूप ज्ञान चेतना ही है—

प्रकृत बात यह है कि आत्मा का निज स्वरूप चेतना है और वह तीन प्रकार की है कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। उनमें से सम्यग्दृष्टि को ज्ञान चेतना उपादेय है ॥ ८१९ ॥ इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के जो श्रद्धान आदि गुण बतलाये हैं सो वे बाह्य कथन के छल से ही बतलाये हैं। वास्तव में उसका ज्ञान चेतना यही एक लक्षण है ॥ ८२० ॥

विशेषार्थ—सर्वप्रथम जीवादि पदार्थों का निश्चय आगममूलक या उपदेशमूलक होता है। इसके बाद ज्ञान के द्वारा आत्मा अनुभव में आने लगता है। इसी से ज्ञानचेतना को सम्यग्दर्शन का निज लक्षण और श्रद्धान आदि को उसका बाह्य लक्षण कहा है ॥ ८१९-८२० ॥

सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार या सराग और वीतराग ये भेद ठीक नहीं हैं इसका निर्देश—

सम्यग्दर्शन के विषय में ऐसी यौगिक व लौकिक रूढि है कि वह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है ॥ ८२१ ॥ उनमें से जो सराग और सविकल्प है वह व्यवहार सम्यक्त्व है। तथा जो वीतराग और निर्विकल्प है वह निश्चय सम्यक्त्व है ॥ ८२२ ॥ इस प्रकार किन्हीं

इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः ।
एकः कश्चित्सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ ८२४ ॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ८२५ ॥
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्याज्ज्ञानचेतना ॥ ८२६ ॥
इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ ८२७ ॥
अत्रोच्यते समाधानं सामवादेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ ८२८ ॥
सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक्
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकताम् ॥ ८२९ ॥
वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुपाशयाः ॥ ८३० ॥

मोही जीवों के वासनाजन्य संस्कार बना हुआ है। उनके मतमें वीतराग सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञानचेतना होती है ॥ ८२३ ॥ उन्होंने सम्यक्त्व के दो भेद करके तदनुसार स्वामी के भी दो भेद कर लिये हैं। एक सराग सम्यग्दृष्टि और दूसरा वीतराग सम्यग्दृष्टि ॥ ८२४ ॥ उनमें से जो निर्विकल्प वीतराग सम्यग्दृष्टि है उसी के ज्ञानचेतना होती है। दूसरे सराग सम्यग्दृष्टि के यह ज्ञानचेतना कभी नहीं होती ॥८२५॥ सविकल्प और सरागी व्यवहार सम्यग्दृष्टि के प्रतीतिमात्र ही होती है। उसके ज्ञानचेतना कैसे हो सकती है ॥ ८२६ ॥ बुद्धि के दोष से खोटे आशयवाले जो जीव ऐसा कहते हैं उनका जितना भी श्रुत का अभ्यास है वह केवल कायक्लेश के लिये ही है ॥ ८२७ ॥ अब यहां पर आचार्य शान्तिकारक वचनों के द्वारा इसका समाधान करते हैं, क्योंकि दूधमें उफानके आने पर उसमें निर्मल जल डालना ही ठीक है ॥ ८२८ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव हाथी के समान मय घास फूसके सब कुछ खा जाता है, इसलिये हे प्राज्ञ ! तू ऐसे अज्ञान को छोड़ छोड़ और विवेक से काम ले ॥ ८२९ ॥ जिस प्रकार मिले हुए अनेक पदार्थों में से अग्नि की उष्णता अलग की जा सकती है उसी प्रकार भो आत्मज्ञ ! तू अन्य पदार्थों से अपनी आत्मा को पृथक् कर सकता है, इस लिये आंख से देखकर भी अन्धा बनकर भ्रम में मत पड़ ॥ ८३० ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन एक है। सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व इन भेदों से सम्यक्त्व के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। सम्यक्त्व का धारक चाहे रागी हो और चाहे वीतराग, इससे उसके सम्यक्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। सरागता और वीतरागता यह सम्यक्त्व की विशेषता नहीं है। अतः जो कोई इस आधार से सम्यक्त्व के सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे भेद करते हैं वे सम्यक्त्व के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं ऐसा यहां समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि चाहे

विकल्पो योगसंक्रातिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः ।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थाद् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः ॥ ८३१ ॥

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवात् ।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसम्भवात् ॥ ८३२ ॥

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात् ॥ ८३३ ॥

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥ ८३४ ॥

विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥ ८३५ ॥

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित् ।
यतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ ८३६ ॥

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत् ।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ ८३७ ॥

इयं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया ।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतरा ॥ ८३८ ॥

सरागी हो या चाहे वीतरागी हो ज्ञानचेतना दोनों के होती है। इसके अभाव में किसी को सम्यग्दृष्टि मानना उचित नहीं है। आगे इसी विषय का विशेष खुलासा करते हैं ॥ ८२१-८३० ॥

विकल्प का विचार—

वास्तव में विकल्प योग संक्रान्ति का नाम है अर्थात् एक ज्ञेय से हट कर दूसरे ज्ञेय से सम्बन्ध रखनेवाली तदाकार जो ज्ञान की पर्याय होती है उसे विकल्प कहते हैं ॥ ८३१ ॥ यह क्षायोपशमिक है। वास्तव में यह इन्द्रिय और पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होता है, क्योंकि जो क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान है उसमें संक्रान्ति किसी भी हालत में सम्भव नहीं है ॥ ८३२ ॥

यद्यपि अपने लक्षण के अनुसार क्षायिक ज्ञान भी विकल्पात्मक है। परन्तु वह वास्तव में विकल्प के अर्थ से अर्थान्तराकार योग संक्रान्ति रूप लक्षण के अनुसार विकल्पात्मक नहीं है ॥ ८३३ ॥ क्षायिक ज्ञान में स्व और अपूर्व अर्थ को विशेषरूप से ग्रहण करना ही विकल्प का लक्षण है, क्योंकि उसका विषयभूत अर्थ एक है और उसके आकार का नाम ही सविकल्पता है ॥८३४॥ ऐसा विकल्प अर्थात् ज्ञान का स्वलक्षणरूप विकल्प इस अधिकार में थोड़ा भी नहीं लिया गया है। किन्तु योगसंक्रान्तिरूप जो विकल्प है वही यहां पर लिया गया है ॥ ८३५ ॥ इन्द्रियजन्य ज्ञान तो कहीं भी योगसंक्रान्ति के बिना नहीं होता है, क्योंकि इसकी प्रतिक्षण एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में संक्रान्ति होती रहती है ॥८३६॥ और यह ज्ञान क्रमवर्ती होता है अक्रमवर्ती नहीं होता, क्योंकि यह एक पदार्थ को छोड़ कर ही दूसरे पदार्थ को विषय करता है ॥ ८३७ ॥ यह इस ज्ञान की आवश्यक वृत्ति है क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान की इस वृत्ति के साथ समव्याप्ति होने से यह कथंचित् अभिन्न के समान है। यह वृत्ति इसी ज्ञान में होती है अन्य

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् ।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥ ८३९ ॥

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः ।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥ ८४० ॥

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४१ ॥

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥ ८४२ ॥

यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ ८४३ ॥

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा ।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४४ ॥

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ ८४५ ॥

ज्ञान में नहीं। इसे दूसरे शब्दो में यों कह सकते हैं कि इस ज्ञान में यही वृत्ति होती है अन्य नहीं ॥ ८३८ ॥ जो क्षायोपशमिक ज्ञान किसी एक विषय में निरन्तर रहता है वह यद्यपि ध्यान कहलाता है तथापि इसमें भी वास्तव में क्रम ही पाया जाता है अक्रम नहीं ॥ ८३९ ॥ वह ध्यानरूप एकाग्रता के कारण एकसा प्रतीत होता है पर है वास्तव में वह पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप और क्रमवर्ती ॥ ८४० ॥ इस क्षायोपशमिक ज्ञान में क्रमपने की सिद्धि करने में अर्थ से अर्थान्तराकार होना ही केवल हेतु नहीं है किन्तु उसी एक अर्थ में क्रम से पुनः पुनः प्रवृत्ति करना भी उसकी सिद्धि में हेतु है ॥ ८४१ ॥ ध्यानरूप ज्ञान का यह लक्षण क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान में अतिव्याप्त हो जाता है ऐसा तर्क भी यहाँ नहीं करना चाहिये, क्योंकि यद्यपि क्षायिक ज्ञान परिणामी है तथापि उसकी पुनः पुनः प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ॥ ८४२ ॥ इसलिये यह सिद्ध हुआ कि छद्मस्थ जीवों के चारों ही ज्ञान नियम से क्रमवर्ती हैं और इसलिये वे संक्रमण रूप हैं ॥८५३॥ जिसका मुख्य लक्षण संक्रान्ति कहा है ऐसी यह क्षायोपशमिक ज्ञानशक्ति किसी प्रकार भी दोष पैदा करने में समर्थ नहीं है। कारण कि यद्यपि यह वैभाविक है तथापि ज्ञानशक्ति के समान यह भी एक शक्ति है ॥ ८४४ ॥ वह क्षायोपशमिक ज्ञान ज्ञानचेतना का तो बाधक होगा ही यदि कोई ऐसा कहे सो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय ज्ञानरूप ही होती है इसलिये उसका भेद ज्ञानचेतना का शत्रु नहीं हो सकता ॥ ८४५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ विकल्प के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। विकल्प दो प्रकार का होता है। एक तो ज्ञेय के बदलने से ज्ञान में परिवर्तन होना। दूसरे ज्ञान में प्रति समय स्वभाव क्रम से परिवर्तन होते रहना। यह दूसरा विकल्प तो प्रकृत में बाधक है ही नहीं। रही प्रथम विकल्प की बात सो यह क्षायोपशमिक ज्ञान का धर्म है, अतः इस निमित्त से भी सम्यग्दर्शन को सविकल्प मानना उचित नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यद्यपि ज्ञान में यह स्थिति रही आती है तो भी इससे सम्यग्ज्ञान का कुछ भी बिगाड़ नहीं होता ॥ ८३३–८४५ ॥

नतु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसञ्चेतनान्तरम् ॥ ८४६ ॥
सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद् व्यभिचारता ।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥ ८४७ ॥
किञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८४८ ॥
हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसञ्चेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥ ८४९ ॥
कादाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ॥ ८५० ॥
अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ ८५१ ॥
अभावात्पयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्न चामुना ॥ ८५२ ॥
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥ ८५३ ॥
नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात् सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ॥ ८५४ ॥

ज्ञान आत्मा से अन्यत्र संक्रान्त नहीं होता—

शंका—ज्ञान की एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में संक्रान्ति होती है यदि यह प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थ में भी ज्ञानचेतना होती है ?

समाधान—यह कहना ठीक है कि हेतु के विपक्ष में रहने से व्यभिचार दोष आता है किन्तु यहाँ पर अन्यात्मा के सिवा केवल स्वात्मा में ही ज्ञानचेतना मानी गई है इसलिये व्यभिचार दोष नहीं आता। ज्ञानचेतना के विषय में ऐसा नियम है कि वह सब सम्यग्दृष्टि जीवों के धारा प्रवाह रूप से अथवा अखण्ड एक धारारूप से सदा पाई जाती है ॥८४६-८४८॥ इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व के साथ अन्वय होने के कारण समीचीन ज्ञानचेतनालब्धि अपने आवरण कर्म के अभाव से वहाँ सदा पाई जाती है ॥ ८४९ ॥ यह ज्ञानचेतना उपयोग सहित कदाचित् ही होती है, परन्तु उपयोग और लब्धि की समव्याप्ति नहीं होने से यह लब्धिरूप ज्ञानचेतना का विनाश करने में समर्थ नहीं है ॥८५०॥ यहाँ पर लब्धि और उपयोग में विषम व्याप्ति है, क्योंकि लब्धि की क्षति होने से उपयोग की क्षति नियम से हो जाती है ॥८५१॥ किन्तु उपयोग का अभाव होने से लब्धि की क्षति होती भी है और नहीं भी होती है, क्योंकि लब्धि की ही सम्यग्दर्शन के साथ व्याप्ति है उपयोग की नहीं ॥८५२॥ इसलिये जिनागम से यह बात सिद्ध हुई कि सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम अवश्य हो जाता है और सम्यक्त्व के अभाव में उसका क्षयोपशम नहीं होता ॥८५३॥ किन्तु तब कर्मफलचेतना

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा ।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ॥ ८५५ ॥

शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्याज्ज्ञानचेतना ।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसङ्गतेः ॥ ८५६ ॥

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्कश्चिद्बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः ॥ ८५७ ॥

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ ८५८ ॥

निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च ।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ ८५९ ॥

थ। कर्मचेतना होती है यह बात प्रमाण से सर्वथा सिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों में बलवान् है ॥८५४॥ इतना कहने से यह सिद्ध होता है कि उक्त लक्षणवाली जो लब्धि है वह उपयोगरूप नहीं होने के कारण स्वतः निर्विकल्प है ॥८५५॥ और शुद्ध स्वात्मोपयोगरूप जो ज्ञानचेतना है वह भी वास्तव में अर्थसंक्रान्ति से रहित होने के कारण स्वयं निर्विकल्प है ॥८५६॥

विशेषार्थ—यद्यपि उपयोग अन्य पदार्थ का भी होता है पर ज्ञान का अन्य पदार्थ में संक्रमण नहीं होता। जिस पदार्थ के जो गुण धर्म हैं वे उसी में रहते हैं ऐसा वस्तु स्वभाव है। और स्वभाव का अतिक्रम कभी नहीं होता, इसलिये ज्ञानचेतना आत्मा के सिवा अन्यत्र नहीं होती ऐसा यहाँ जानना चाहिये। जहां भी उपयोग के संक्रमण की बात कही गई है वहाँ वह आलम्बन के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता जाता है इसी अपेक्षा से कही गई है। ज्ञानचेतना यह ज्ञान की विशेष अवस्था है जो सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही होती है। सम्यग्दृष्टि के यह सदा पाई जाती है। किन्तु यह सदा काल सोपयुक्त नहीं रहती। कभी बीच बीच में सोपयुक्त होती है। अन्यथा लब्धिरूप रहती है। पर इसका सद्भाव नियम से होता है। ऐसा एक भी सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है जिसके इसका सद्भाव नहीं पाया जाता। इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व के अभाव में यह नहीं पाई जाती। तब कर्मचेतना या कर्मफल चेतना पाई जाती है। इनके सद्भाव में जीव अपने को पर से अभिन्न अनुभव करता है या स्व और पर के भेद से अनभिज्ञ रहता है। ज्ञानचेतना ही एक ऐसी माहात्म्यवाली है जो स्व को पर से भिन्न अनुभव कराती है इसे किसी भी हालत में सविकल्प नहीं मान सकते, क्योंकि इसमें अर्थ संक्रान्ति किसी भी हालत में सम्भव नहीं है ॥ ८४६-८५६ ॥

ज्ञानोपयोग की महिमा—

शंका—अब यहाँ पर केवल इतने ही प्रश्न को अवकाश मिलता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ में भी क्या उपयोग होता है ?

समाधान—ज्ञानोपयोग के स्वभाव की ऐसी महिमा है कि वह दीपक के समान स्व का, पर का और दोनों का प्रकाशक है ॥८५७-८५८॥ वह एक को जाने और दूसरे को न जाने ऐसा भेद किये बिना जिस प्रकार अपने स्वरूप को और ज्ञेय इन दोनों को जानता है उसी प्रकार वह अमूर्त और

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ॥ ८६० ॥

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः ।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥ ८६१ ॥

तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया ।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भोः ॥ ८६२ ॥

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया ।
न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ ८६३ ॥

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंऽशांशतोऽथवा ।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥ ८६४ ॥

व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्य हेयस्याप्यपकर्षणम् ॥ ८६५ ॥

उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्द्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥ ८६६ ॥

गुणः सम्यक्त्वसम्भूतिरुत्कर्षो वा सतोंशकैः ।
निर्जराभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक् ॥ ८६७ ॥

मूर्त धर्मादिक पदार्थों को भी जानता है ॥ ८५९ ॥ वह अपने स्वरूप में ही उपयुक्त होता है अथवा अपने स्वरूप में उपयुक्त नहीं भी होता है। इसी प्रकार वह कभी पर पदार्थ में ही उपयुक्त होता है अथवा पर पदार्थ में उपयुक्त नहीं भी होता है ॥८६०॥ जब वह अपने स्वरूप में ही उपयुक्त रहता है तब वह वास्तव में उत्कर्ष का कारण नहीं है और जब वह पर पदार्थ में उपयुक्त रहता है तब वह वास्तव में अपकर्ष का कारण नहीं है ॥८६१॥

इसलिये अपने स्वरूप में स्थित रहने के लिये अन्य पदार्थ से हटकर एकत्व जोड़ने की इच्छा से किसी अनर्थ में मत फस और भो महाप्राज्ञ ! प्रयोजनभूत अर्थ को जानने का ही प्रयत्न कर ॥८६२॥ प्रवृत्ति के अनुसार ही ज्ञान सब पदार्थों को विषय करता है लीला से नहीं। इसलिये प्रयोजनवश सदा ही उसका प्रत्येक पदार्थ को विषय करना न तो दोषकारक ही है और न गुणकारक ही ॥ ८६३ ॥

सर्वांशरूप से सम्यग्दर्शन की हानि होना, अथवा अंशरूप से उसकी हानि होना, संवर की अपेक्षा प्रधानभूत निर्जरा की कुछ हानि होना, अलग अलग इन दोनों की हानि होना, या मिलकर इन दोनों की हानि होना, सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा हेयरूप पुण्यबन्ध की हानि होना, या उसका घट जाना, पापबन्ध की उत्पत्ति होना या उसका बढ़ जाना या इन दोनों की कुछ उद्वेलना आदि होना ये सब दोष हैं ॥ ८६४-८६६ ॥

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, या उसका आंशिक उत्कर्ष, या कुछ नवीन निर्जरा का होना, या कुछ

उत्कर्षो वानयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा ।
श्रयोबन्धोऽथवोत्कर्षो यद्वा स्यादपकर्षणम् ॥ ८६८ ॥
गुणदोषद्वयोरेवं नोपयोगोऽस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८६९ ॥
सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद् दृङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ॥ ८७० ॥
दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम् ।
दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७१ ॥
सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि ।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥ ८७२ ॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निर्जरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ ८७३ ॥
सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम् ।
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥ ८७४ ॥

नवीन संवर का होना, या इन दोनों का या इनमें से किसी एक का अंशरूप से उत्कर्ष होना, पुण्यबन्ध होना या उसका उत्कर्ष होन या उसका अपकर्ष नहीं होना ये सब गुण हैं ॥८६७-८६८॥ इस प्रकार जितने भी गुण दोष बतलाये हैं उनका कारण उपयोग नहीं है और इनमें से किसी एक का भी कारण उपयोग नहीं है। तथा यह योगवाही भी नहीं है ॥ ८६९ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह जैसे स्व को जानता है वैसे ही पर को भी जानता है, पर इससे उसकी न तो हानि ही होती है और न लाभ ही होता है। हानि लाभ के कारण अन्य हैं, ज्ञानोपयोग नहीं इतना मात्र निश्चित है। सम्यग्ज्ञान योगवाही नहीं है इसका यह भाव है कि वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति इनमें से किसी का भी हेतु नहीं है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण अन्य हैं और अनुत्पत्ति के कारण अन्य हैं। उनका कारण ज्ञानोपयोग नहीं यह बात स्पष्ट है ॥८५८-८६९॥

उपयोग सम्यग्दर्शन आदि किसी की उत्पत्ति में हेतु नहीं है—

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से जीव का सम्यक्त्व भाव प्रकट होता है। इसका दर्शनमोहनीय के उपशमादिक के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि इन दोनों की व्याप्ति पाई जाती है ॥ ८७० ॥ दैववश दर्शन मोहनीय का अभाव (उपशमादि) होने पर तदनन्तर सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है और दैववश दर्शन मोहनीय का अभाव नहीं होने पर सम्यग्दर्शन गुण प्रकट भी नहीं होता है। इससे प्रतीत होता है कि यह उपयोग इनमें से किसी एक का भी योगवाही नहीं है ॥ ८७१ ॥ उस उपयोग के साथ दोनों की व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि उपयोग के बिना भी दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यक्त्व गुण प्रकट होता हुआ पाया जाता है ॥ ८७२ ॥ इसी प्रकार जिन निर्जरादिक का सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है उनकी उपयोग के साथ थोड़ी भी व्याप्ति नहीं है ॥ ८७३ ॥ उस समय चाहे उपयोग हो चाहे न हो किन्तु सम्यक्त्व के होने पर निर्जरादिक अवश्य होते

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात् परात्मनि ।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥ ८७५ ॥

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाश्रेयसोऽपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥ ८७६ ॥

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्य चाव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥ ८७७

नानेकत्वमसिद्धं स्यान्न स्याद् व्याप्तिर्मिथोऽनयोः ।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयोः ॥ ८७८ ॥

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा ॥ ८७९ ॥

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते ।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥ ८८० ॥

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम् ।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥ ८८१ ॥

किञ्च ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥ ८८२ ॥

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चिति स्फुटम् ।
रागादीनामभिवृद्धिर्न स्याद् व्याप्तेरसम्भवात् ॥ ८८३ ॥

हैं उनका अभाव नहीं किया जा सा सकता ॥ ८७४ ॥ ज्ञान चाहे आत्मा में उपयुक्त हो चाहे परात्मा में उपयुक्त हो। किन्तु तब सम्यक्त्व रूप भावों के होने पर वे निर्जरादिक होते ही हैं ॥ ८७५ ॥ इसी प्रकार जितना भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध है वह राग, द्वेष और मोह से होता है। वह उपयोग के आधीन नहीं है ॥ ८७६ ॥ बन्ध की व्याप्ति रागादिक के साथ है ज्ञान विकल्पों के समान रागादिक के साथ उसकी अव्याप्ति नहीं है। और ज्ञान विकल्पों के साथ बन्ध की अव्याप्ति है रागादिक के समान ज्ञान विकल्पों के साथ उसकी व्याप्ति नहीं है ॥ ८७७ ॥ राग और उपयोग ये भिन्न भिन्न हैं यह बात असिद्ध नहीं है और न इन दोनों की परस्पर में व्याप्ति ही है किन्तु इन दोनों में उपेक्षा है। अर्थात् इनमें से कोई एक किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता ॥ ८७८ ॥ इन दोनों में से रागादिक का अर्थ कलुषता है। यह औदयिक भाव है, क्योंकि यह चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय के उदय से होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥ ८७९ ॥ और जो क्षायोपशमिक ज्ञान है वह उपयोग कहलाता है, क्योंकि यह ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से होता है ॥ ८८० ॥ राग अपने हेतु से होता है और ज्ञान अपने हेतु से। स्वरूप भेद से जब कि ये पृथक् पृथक् हैं तब फिर ये एक कैसे हो सकते हैं ॥ ८८१ ॥ दूसरे जब ज्ञान होता है तब ज्ञान ही होता है अन्य नहीं। और जब रागादिक होते हैं तब रागादिक ही होवे हैं ज्ञान नहीं ॥ ८८२ ॥ इस विषय में उदाहरण यह है कि ज्ञान की वृद्धि होने पर रागादिक की वृद्धि नियम से नहीं होती है, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि के साथ रागादिक की वृद्धि का अविनाभाव नहीं पाया जाता ॥ ८८३ ॥ और

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित् ।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समा द्वयोः ॥ ८८४ ॥

ज्ञानेऽथ वर्धमानेऽपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोः मोहोदयात् सतः ॥ ८८५ ॥

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः ।
आत्मीयात्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ॥ ८८६ ॥

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनां तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥ ८८७ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् समा तथा व्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥ ८८८ ॥

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता ।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥ ८८९ ॥

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः ।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥ ८९० ॥

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात् ।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्यासम्भवादपि ॥ ८९१ ॥

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वास्य स्वहेतुतः ॥ ८९२ ॥

रागादिक की वृद्धि होने पर कहीं भी ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। अथवा अपनी अपनी सामग्री के मिलने पर इन दोनों की वृद्धि एक साथ होती है ॥ ८८४ ॥ ज्ञान के प्रतिपक्षी कर्म का क्षय होने से ज्ञान की वृद्धि होने पर भी मोहनीय कर्म का उदय रहने से रागादिक की हानि नहीं भी होती है ॥ ८८५ ॥ अथवा दैववश अपनी अपनी हानि के योग्य सामग्री के मिलने पर दोनों की जो एकसाथ हानि होती है वह अपने अपने कारणों से ही होती है एक दूसरे के कारणों से नहीं ॥ ८८६ ॥ अथवा उपयोग की द्रव्य मोहनीय कर्म के साथ व्याप्ति नहीं है। हाँ ज्ञानावरण के साथ रागादिक की व्याप्ति अवश्य है ॥ ८८७ ॥ किन्तु अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से इनकी विषम व्याप्ति ही है, किसी भी कारण से इनकी समव्याप्ति नहीं है ॥ ८८८ ॥ प्रकृत में व्याप्ति की असिद्धि साध्य है और व्यभिचारीपन हेतु है। और वह व्यभिचारीपना इस प्रकार घटित होता है कि एक के रहने पर दूसरा नहीं होता है। यदि होता है तो अपने अपने कारण से होता है। आशय यह है कि ज्ञान और राग में सम व्याप्ति नहीं बनती, क्योंकि ऐसा मानने पर व्यभिचार दोष आता है ॥ ८८९ ॥ परस्पर में साहचर्य सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है। जैसे जिसके होने पर जो होता ही है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं ही होता है ॥ ८९० ॥ राग के सद्भाव में बन्ध नियम से होता है और रागादिक के अभाव में बन्ध नहीं होता, इस लिये यहाँ पर समव्याप्ति नहीं है ॥ ८९१ ॥ किन्तु विषम व्याप्ति इस लिये है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के रहने पर भी रागभाव का अभाव पाया जाता है। यदि रागादि का सद्भाव पाया भी जाता है तो इसका अपने

अव्याप्तिश्चोपयोगेऽपि विद्यमानेऽष्टकर्मणाम् ।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥ ८९३ ॥

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान् ।
व्यतिरेकावकाशोऽपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥ ८९४ ॥

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै ।
हेतुः स्यान्नोपयोगोऽयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥ ८९५ ॥

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा ।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८९६ ॥

आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु ।
ज्ञानसञ्चेतनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा ॥ ८९७ ॥

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित् ।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥ ८९८ ॥

साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम् ।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥ ८९९ ॥

कारणों से ही सद्भाव पाया जाता है ॥ ८९२ । तथा उपयोग के रहने पर भी ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का या उनमें से किसी एक का बन्ध नहीं होता है और उपयोग के नहीं रहने पर भी उनका बन्ध रुकता नहीं । इससे ज्ञात होता है कि उपयोग के साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध की व्याप्ति नहीं है ॥ ८९३ ॥ अथवा सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही स्वोपयोग सहित है उपयोग से रहित किसी भी अवस्था में नहीं है, इसलिये वास्तव में यहां व्यतिरेक के लिये अवकाश ही नहीं है ॥ ८९४ ॥ इतने कथन से यहां पर सम्पूर्णतया यही सारांश सिद्ध होता है कि यह उपयोग न तो सम्यग्दर्शन का ही कारण है और न बन्ध मोक्ष का ही कारण है ॥ ८९५ ॥

शंका—इस प्रकार तो वही अर्थ फलित होता है जो पहले प्रकरण में आ चुका है। जैसे कि पहले यह कहा जा चुका है कि जो वीतराग सम्यग्दृष्टि है उसी के ज्ञानचेतना होती है, क्योंकि जब आत्मा के सिवा किन्हीं बाह्य पदार्थों में ज्ञानोपयोग होता है तब ज्ञानचेतना की क्षति नियम से सिद्ध होती है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि किसी जीव के ज्ञानचेतना का अभाव होने मात्र से आठ कर्मों की निर्जरा रूप साध्य की क्षति नहीं होती है। ज्ञानचेतना का कर्मनिर्जरा में भी कारण न होना यही उपयोग का स्वरूप है ॥ ८९७-८९८ ॥ प्रकृत में साध्य आठों कर्मों की निर्जरा है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। ऐसा स्वभाव है कि प्रत्येक शक्ति अपने कारण से होती है इसलिये उसका कारण ज्ञानचेतना नहीं है ॥ ८९९ ॥

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत् ।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥ ९०० ॥

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात् ।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ ९०१ ॥

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ ९०२ ॥

शंका—सम्यक्त्व और ज्ञान को जो विकल्पात्मक बतलाया है सो यह विकल्प आकाशफूल के समान आश्रयासिद्ध है। तब फिर यह बतलाइये कि सर्वज्ञदेव के आगमानुसार ऐसा कौन सा अबाधित हेतु सिद्ध है जिससे यह जाना जा सके कि सम्यक्त्व और ज्ञान विकल्पात्मक है ?

समाधान—यह कहना ठीक है तथापि ज्ञान अपने लक्षण के अनुसार विकल्परूप माना गया है। किन्तु सम्यक्त्व में जो विकल्प का व्यवहार होता है वह परीक्षा करने पर भी सिद्ध नहीं होता ॥ ९००-९०१ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान की महिमा का निर्देश करते समय यह बतला आये हैं कि सम्यग्दर्शन, राग, बन्ध, निर्जरा या संवर अपने अपने कारणों से होते हैं इनका कारण उपयोग नहीं है। यहाँ इसी विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है। सम्यग्दर्शन का कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपाशम है जो जीव के उसकी योग्यतानुसार प्रकट होता है। राग द्वेष का कारण भी उसकी आन्तरिक परिणति है। बन्ध का कारण राग द्वेष और मोह है। संवर का कारण मुख्यतया सम्यग्दर्शन या चारित्र है और निर्जरा के कारण भी यही हैं, क्योंकि इनकी उक्त कारणों के साथ व्याप्ति पाई जाती है पर उपयोग के साथ इनमें से किसी एक की व्याप्ति नहीं पाई जाती। उपयोग रहता है पर इनमें से कोई नहीं होता और उपयोग नहीं भी रहता है पर यथायोग्य ये पाये जाते हैं, इसलिये उपयोग को इनका कारण नहीं मानना चाहिये। यही कारण है कि ज्ञानचेतना का सद्भाव और अभाव राग के असद्भाव और सद्भाव पर अवलम्बित नहीं माना गया है। इसलिये सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ये भेद करना और मात्र वीतराग के ज्ञानचेतना कहना उचित नहीं है। जो आचार्य राग के आधार से इस प्रकार का विभागीकरण करते हैं मालूम होता है कि वे वास्तविकतासे कोसों दूर हैं। ज्ञान विकल्पात्मक होता है यह सही है पर इसका कारण रागभाव न होकर उसका स्वरूप है। फिर भी सम्यक्त्व को तो किसी भी हालत में सविकल्प नहीं माना जा सकता है। वह जीव की ऐसी अवस्था है जो सदा काल किसी भी प्रकार के विकल्प से परे है। वह छद्मस्थों के अनुभवगम्य और केवलज्ञानियों के प्रत्यक्षगम्य है। राग, उपयोग और सम्यग्दर्शन एक ही आत्मा में प्रकट होते हैं पर इनका सांकर्य करके एक के स्वभाव को दूसरे पर आरोपित करना उचित नहीं है। इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन के सविकल्प और निर्विकल्प ऐसे दो भेद करना या सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद करना उचित नहीं है। इसी प्रकार राग के कारण ज्ञान को भी सविकल्प मानना उचित नहीं है ॥ ८७८-९०१ ॥

सम्यक्त्व में विकल्प व्यवहार करने का कारण उपचार है—

किन्तु किन्हीं स्थूलदृष्टिवाले पुरुषों ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को उपचार से सविकल्प कहा है सो यहाँ उपचार का क्या कारण है इसी बात को अब आगे बतलाते हैं ॥ ९०२ ॥

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ ९०३ ॥

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद् द्विषद्यथा ॥ ९०४ ॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः ॥ ९०५ ॥

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद्रागभावः खपुष्पवत् ॥ ९०६ ॥

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥ ९०७ ॥

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्न वा ॥९०८॥

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः ।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥ ९०९ ॥

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम् ।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥ ९१० ॥

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ९११ ॥

क्षायोपशमिक ज्ञान एक एक पदार्थ के प्रति परिणमन करता है किन्तु यह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। इसका कारण रागक्रिया है ॥ ९०३ ॥ जितने भी पदार्थ हैं उनमें से एक एक अर्थ के प्रति ज्ञान परिणमन करता है इसका यह अभिप्राय है कि ज्ञान एक एक पदार्थ के प्रति मोह करता है, राग करता है और द्वेष करता है ॥ ९०४ ॥ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से यह बात सिद्ध है, कि रागी पुरुष के जैसा रागयुक्त ज्ञान अक्षान्त होता है वैसा वीतराग मुनि के नहीं होता ॥ ९०५ ॥ बुद्धिपूर्वक राग ज्ञान का अविनाभावी है यह स्पष्ट ही है, क्योंकि अज्ञात अर्थ में आकाशफूल के समान रागभाव नहीं पाया जाता है ॥ ९०६ ॥ इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाला जो राग है वह चारित्रमोहनीय के उदय से अप्रमत्त गुणस्थान के पहले पहल तक ही पाया जाता है। इससे आगे के गुणस्थानों में नहीं पाया जाता ॥ ९०७ ॥ और ऊपर के गुणस्थानों में जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग होता है वह क्षीणकषाय गुणस्थान से पहले पहले ही होता है। फिर भी विवक्षावश वह है भी और नहीं भी है ॥ ९०८ ॥ केवल इसी बात का विचार करके किन्हीं आचार्यों ने उपचरितासद्भूत व्यवहार नय से उक्त गुणस्थानों में रागसहित ज्ञान को देखकर सम्यक्त्व को भी वैसा कहा है ॥ ९०९ ॥ केवल इसी हेतु से स्थूलदृष्टिवाले जिन आचार्यों ने ऐसा स्मरण किया है कि प्रमत्तसंयत्त गुणस्थान तक सम्यक्त्व और ज्ञान सविकल्प हैं ॥ ९१० ॥ तथा इससे आगे के गुणस्थानों में सम्यक्त्व और ज्ञान निर्विकल्प हैं। वही शुक्ल ध्यान है और वहीं पर ज्ञान

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना ।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषाञ्चित्स न सन्निह ॥ ९१२ ॥

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणं चापि पराश्रितम् ॥ ९१३ ॥

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वानुदयात्मके ॥ ९१४ ॥

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः ।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसञ्चेतनामिमाम् ॥ ९१५ ॥

नाप्यूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोऽपि या
वन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ॥ ९१६ ॥

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्याद् दृगसंभवः ।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥ ९१७ ॥

चेतना होती है ॥ ९११ ॥ किन्तु प्रमत्त जीवों के विकल्प पाया जाता है इसलिये उनके वह शुद्धचेतना नहीं होती। उन आचार्यों के ऐसा वासनोन्मेष बना हुआ है पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरी वस्तु में रहनेवाला गुण और दोष किसी दूसरी वस्तु को नहीं प्राप्त होता और दूसरी वस्तु भी किसी दूसरी वस्तु में रहनेवाले गुण और दोष को नहीं प्राप्त होती ॥ ९१२-९१३ ॥ यतः रागभाव चरित्रमोहनीय के उदय से होने के कारण स्पष्टतः औदयिक है अतः वह अनुदयरूप सम्यक्त्व और ज्ञान में किस न्याय से हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता ॥ ९१४ ॥ जब कि यह बुद्धिपूर्वक राग सम्यकत्व का नाश नहीं करना तब फिर वह इस ज्ञानचेतना का नाश तो किसी भी हालतमें नहीं कर सकता है ॥ ९१५ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान का काम पदार्थ को जानना है छद्मस्थ अवस्था में कभी वह इस पदार्थ को जानता है तो कभी उस पदार्थ को जानता है। सदाकाल उसका विषय एक पदार्थ नहीं रहता। इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकार इसका कारण राग, द्वेष और मोह बतलाते हैं। संसार अवस्था में उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान के पूर्वतक यह जीव रागी और द्वेषी हो रहा है। प्रारम्भ में इसके मिथ्यात्व भी पाया जाता है। इस कारण से यह एक पदार्थ में चिरकाल तक उपयुक्त नहीं रह सकता इसलिये ज्ञान में योगसंक्रान्तिरूप विकल्प का मुख्य कारण राग, द्वेष और मोह है। यह ज्ञान की अवस्था नहीं। अतः इस कारण से ज्ञान और सम्यक्त्व को सविल्प मानना उचित नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ९०२–९१५ ॥

राग दर्शनमोहनीय के उदय आदि का कारण नहीं है—

यदि कोई ऐसा तर्क करे कि इस राग की यह शक्ति है कि वह दर्शनमोहनीय के बन्ध, उत्कर्ष, उदय और सत्त्व का कारण है सो उसका ऐसा तर्क करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। फिर तो सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना असम्भव हो जायगा, क्यों कि नाश की सामग्री रहने पर कार्य का नाश होना अवश्यंभावी है ॥ ९१६–९१७ ॥ सच तो यह

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ ९१८ ॥

यतश्चास्त्यागमात्सिद्धमेतद् दृङ्मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ ९१९ ॥

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२० ॥

न प्रतीमो वयं चैतद् दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याथवा मनाक् ॥ ९२१ ॥

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु ।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥ ९२२ ॥

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा ।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥ ९२३ ॥

अथ गत्यन्तरादोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः ॥ ९२४ ॥

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोऽस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोऽस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥ ९२५ ॥

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥ ९२६ ॥

है कि चारित्रावरण कर्म के उदय से सम्यक्त्व का नाश नहीं होता है, क्यों कि यह राग दर्शनमोहके विषय में अनधिकारी है ॥ ९१८ ॥ दूसरे आगम से भी यह बात सिद्ध है कि दर्शनमोहनीय कर्म के बन्ध आदि स्वोदय से ही होते हैं परोदय से नहीं होते ९१९ ॥

शंका—यदि ऐसा है तो आदि के दो सम्यक्त्वों में जो अनित्यपना है वह स्वतः मिथ्यात्व प्रकृति के उदयाभाव में बिना हेतु के कैसे बनेगा और हम यह विश्वास नहीं करते कि स्वयं दर्शनमोहनीय का उपशम दर्शनमोहनीय के उदय या उत्कर्षका थोड़ा बहुत हेतु होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कर्म की जो प्रकृति आदि रूप से नाना प्रकार की पुद्गल की अचिन्त्य शक्तियां है उनके विषय में तुम वस्तुतः अनभिज्ञ हो ॥ ९२०–९२२ ॥ जिस प्रकार अनादि काल से कर्मों का उदय स्वयं हो रहा है उसी प्रकार उनका उपशम भी स्वयं होता है। इस प्रकार मोक्ष होने के पहले पहले ये उदय और उपशम बराबर होते रहते हैं ॥ ९२३ ॥ यदि ऐसा न मान कर स्वयं दर्शनमोहनीय के उपशम द्वारा सम्यक्त्व का घात स्वीकार किया जाय तो असिद्ध दोष आता है, अनवस्था दोष आता है और अन्योन्याश्रय दोष आता है जो कि दुर्वार है ॥ ९२४ ॥ दर्शनमोहनीय का उदय यदि राग के आधीन माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि वह राग भी स्वाधीन है या दूसरे राग के आधीन है ॥ ९२५ ॥ राग चारित्रमोहनीय के उदय से स्वतः होता है इसलिये स्वाधीन है यदि ऐसा माना जाय तो जिस प्रकार राग स्वयं होता है उसी प्रकार यह दर्शनमोह भी स्वाधीन है ऐसा क्यों नहीं

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥ ९२७ ॥
नागमः कश्चिदस्तीदृग्घेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृतिः ॥ ९२८ ॥
तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा ।
उदयोऽनुदयो वाथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९२९ ॥
तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि ।
तद्यथावश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥ ९३० ॥

माना जाता, क्यों कि यह भी स्वतः अपने उदय से होता है ॥ ९२६ ॥ यदि कहा जाय कि इन दोनों की सिद्धि एक दूसरे के कारण होती है तो न्यायानुसार अन्योन्याश्रय दोष आता है जिससे किसी एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। दोनों असिद्ध दोष के भागी हो जाते हैं ॥ ९२७ ॥ और ऐसा तो आगम भी नहीं बतलाता कि दर्शनमोहनीय का कारण राग है और राग का कारण दर्शनमोहनीय कर्म है ॥ ९२८ ॥ इसलिये यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि चाहे दर्शनमोहनीय कर्म का उदय या अनुदय हो या चाहे अन्य कर्म का उदय या अनुदय हो, दूसरा कोई चारा न होने से होता है वह अपने आप ही ॥ ९२९ ॥ इसलिये सम्यक्त्व एक ही है। यह यों ही नहीं किन्तु वास्तव में अपने लक्षण के अनुसार भी वह एक ही है, अतः उसके सद्भाव में ज्ञान चेतना नियम से होती है ॥ ९३० ॥

विशेषार्थ—पहला प्रश्न यह है कि दर्शन मोहनीय का उदय किसी कारण से होता है और दूसरा प्रश्न यह है कि यदि दर्शनमोहनीय के उदय का कारण रागभाव नहीं है तो प्रथम दो सम्यक्त्व अनित्य कैसे बन सकते हैं, क्यों कि स्वयं दर्शनमोहनीय का उपशम या क्षयोपशम उसीके उदय का कारण नहीं हो सकता। इन दो प्रश्नों का ग्रन्थकार ने जो उत्तर दिया है वह वस्तुस्पर्शी और मार्मिक है। ग्रन्थकार के कहने का भाव यह है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं वे स्वतः होते हैं। जगत् का क्रम इसी आधार से चल रहा है। यदि अन्य को अन्य का कर्ता माना जाता है तो उसका भी कर्ता मानना होगा और इस तरह उत्तरोत्तर कारण परम्परा के स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आता है। यदि परस्पर एक दूसरे को एक दूसरे का कारण माना जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। और इस प्रकार कार्य की सिद्धि का कोई कारण न मिलने से असिद्ध दोष आता है, अतः यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि लोक में जितने भी कार्य हैं वे अपने अपने काल में स्वयमेव होते हैं। इस कथन से यदि कोई समझे कि निमित्त का अपलाप किया गया है सो भी बात नहीं है। यहाँ केवल यही बतलाया गया है कि कार्य काल के उपस्थित होने पर ही निमित्त की निमित्तता है। निमित्तवश उस काल में वह कार्य हुआ ऐसा नहीं है। इसलिये प्रकृत में दर्शनमोहनीय के उदयादि का कारण राग का मानना उचित नहीं है, क्यों कि राग को उसका कारण मानने पर कभी भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्यों कि मिथ्यादृष्टि के सदैव रागभाव पाया जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व की अनित्यता का कारण रागभाव को मानना उचित नहीं है। जो भी काम होता है वह अपने आप ही होता है। तात्पर्य इतना ही है कि जब जिस कार्य का काल आता है तब वह कार्य होता है और जो उसमें उस समय निमित्त होता है वह निमित्त कहलाता है। जगत् के कार्य कारण भाव की व्यवस्था इसी प्रकार चल रही है। इसमें न कभी व्यत्यय हुआ और न हो सकता है ॥ जहां कहीं यह कार्य इस निमित्त से हुआ ऐसा कहा जाता है वहां केवल निमित्त की प्रधानता विवक्षित होने से वैसा कथन किया जाता है ऐसा समझना चाहिये। वस्तुतः कोई भी कार्य

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥ ९३१ ॥
तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः ।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥ ९३२ ॥
प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः ।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥ ९३३ ॥
स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बन्धः स्याद्रससंज्ञिकः ।
शेषबन्धत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥ ९३४ ॥
ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते ।
ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥ ९३५ ॥

अपनी अपनी योग्यता से ही होता है और तभी अन्य में निमित्त व्यवहार होता है ॥ ९१६–९३० ॥

सम्यक्त्व के भेद और उनका कारण—

मिश्र (क्षायोपशमिक) औपशमिक और क्षायिक ये सम्यक्त्व के तीन भेद हैं। इनमें स्थिति-बन्धकृत ही भेद है रसबन्ध (अनुभागबन्ध) की अपेक्षा से भेद नहीं है ॥ ९३१ ॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से होता है, औपशमिक सम्यकत्व दर्शनमोहनीय के उपसम से होता है और क्षायिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के क्षय से होता है। दर्शनमोह-नीय का अनुदय इन तीनों ही सम्यक्त्वों में पाया जाता है। कहीं पर वह क्षयोपशमरूप से पाया जाता है, कहीं पर उपशमरूप से और कहीं पर क्षयरूप से, इतना निश्चित है कि दर्शनमोहनीय के उदय से एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये सम्यक्त्व के ये भेद दर्शनमोहनीय की फलदान शक्ति की अपेक्षा से नहीं किये गये हैं। इन भेदों का यदि थोड़ा बहुत कारण कहा जा सकता है तो स्थितिबन्ध ही कहा जा सकता है। यहां स्थितिबन्ध से तात्पर्य सत्ता से है। दर्शनमोहनीय की सत्ता के सद्भाव और असद्भाव के कारण ही ये तीन भेद होते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक् प्रकृति का उदय रहता है सही पर वह सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है, इसलिये अनुभाग शक्ति को तो किसी भी हालत में सम्यक्त्व के भेदों का कारण नहीं कहा जा सकता है ॥ ९३१ ॥

बन्धके चार भेद और उनका स्वरूप—

बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, और अनुभागबन्ध। ये भेद अनादिकाल से चले आ रहे हैं ॥ ९३२ ॥ जिसका जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। अवयवों के आधार से प्रदेश जानना चाहिये। रसको अनुभाग कहते हैं और काल का अवधारण करना स्थिति है ॥ ९३३ ॥ इन चारों में एकमात्र अनुभागबन्ध ही अपने कार्य के करने में समर्थ है। इसके सिवा शेष तीन प्रकार का बन्ध कार्य करने में समर्थ नहीं है ॥ ९३४ ॥ इसलिये इन सम्यग्दर्शनों में स्थितिवश दर्शन-मोहनीय की सत्ता रहने पर भी ज्ञानचेतना की थोड़ी भी क्षति नहीं होती ॥ ९३५ ॥

विशेषार्थ—आत्मा की राग, द्वेष रूप परिणतिवश प्रति समय कर्म वर्गणाओं का योग द्वारा ग्रहण होता रहता है। ये आत्मा से संश्लिष्ट होकर स्थित रहती हैं। इनमें उस उस समय के भावों के

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्‌गुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ ९३६ ॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ ९३७ ॥

अद्वैतेऽपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामाऽस्ति नान्यथा ॥ ९३८ ॥

अनुसार जिस जिस प्रकार के कार्य के होने में निमित्त बनने की योग्यता हो जाती है वही उनकी संज्ञा होती है । जैसे—ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि । इन सभी कर्मों की मुख्यतया चार अवस्थाएं होती हैं जिन्हें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश कहते हैं । कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है और योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है । ये कर्मबन्ध के चार भेद हैं । इनमें से जिस कर्म में जैसी फल दिलाने की शक्ति होती है उसके अनुसार वह कर्म जीवकी अवस्था के होने में निमित्त होता है । मुख्य कार्यकारी फलदानशक्ति ही मानी गई है । उदय काल में इसीके अनुसार फल मिलता है । प्रकृति, स्थिति और प्रदेश ये कार्यकारी नहीं होते । आशय यह है कि कर्म की प्रकृति कोई रही आवे, स्थिति भी कितनी ही रहे आवे और प्रदेश भी कितने ही रहे आवें पर अनुभाग शक्ति उदय काल में जितनी और जैसी होगी उसीके अनुसार फल मिलेगा । स्थित अधिक है; प्रदेश अधिक हैं इसलिये फल अधिक मिलेगा और स्थित कम है, प्रदेश कम हैं, इसलिये फल कम मिलेगा ऐसा नहीं है । फल की व्याप्ति अनुभाग के साथ है इनके साथ नहीं इसलिये मुख्य रूप से अनुभागबन्ध ही कार्यकारी माना गया है । प्रकृति, स्थिति और प्रदेश हैं पर अनुभाग बदल गया तो वह फल नहीं मिलता, अन्य फल मिलता है । पर स्थिति और प्रदेशों के घट बढ़ जाने पर ऐसा नहीं होता । सब बन्धों में अनुभागबन्ध मुख्य है । कर्मों के सत्त्वकाल में रहते तो चारों बन्ध हैं पर उनका उदय न होने से वे अपना कार्य नहीं करते । इसीसे सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना के होने में कर्मों को बाधक नहीं माना है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ९३२—९३५ ॥

सम्यक्त्व के सद्‌भाव में होनेवाले सद्‌गुण—

इस प्रकार ये निःशंकित आदि तथा अन्य जितने गुण हैं वे सब सद्‌गुण माने गये हैं । ये सम्यक्त्व के होने पर होते हैं और आगे भी सम्यग्दृष्टि के पाये जाते हैं ॥ ९३६ ॥ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्वानुभवज्ञान, वैराग्य और भेदविज्ञान इत्यादि वे गुण हैं जो सम्यग्दर्शन के होने पर नियम से होवे हैं । इस विषय में अधिक क्या कहें ॥ ९३७ ॥

विशेषार्थ—यहाँ सम्यग्दर्शन के ऐसे गुणों का निर्देश किया है जो उसके सद्भाव में नियम से होते हैं । पहले निःशंकित आदि गुण बतला आये हैं । यहाँ उनके सिवा कुछ अन्य आवश्यक गुणों का संकेत किया है । सम्यग्दृष्टि को आत्मानुभूति होने लगती है । वह संसार और संसार के कारणों को भी अच्छी तरह जान लेता है । वह यह भी जानने लगता है कि स्व क्या है और पर क्या है । इसलिये उसके जीवन में स्वानुभव प्रत्यक्ष और वैराग्य आदि गुणों का उदय होना स्वाभाविक है ॥ ९३६-९३७ ॥

तीन प्रकार की चेतना ही जीव का लक्षण है—

चेतना एक होकर भी आगम में वह तीन प्रकार की कही गई है । जिससे उपलक्षित होने के कारण ही जीव सार्थक नामवाला है अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९३८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ चेतना के तीन भेद निमित्त की मुख्यता से किये गये हैं । इनमें से कोई न कोई भेद जीव के अवश्य पाया जाता है । एकेन्द्रिय आदि के कर्मफल चेतना यह भेद पाया जाता है । संज्ञी आदि के कर्मचेतना यह भेद प्रमुखता से पाया जाता है और सम्यग्दृष्टि आदि के ज्ञानचेतना यह

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोऽपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥ ९३९ ॥

उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ ९४० ॥

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ९४१ ॥

तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥ ९४२ ॥

वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ ९४३ ॥

भेद मुख्यता से पाया जाता है। जीव यह नाम चेतना के कारण ही सार्थक है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ९३८ ॥

जीव में अन्य विशेष गुणों का निर्देश—

शंका—क्या सभी जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही हैं या उनमें चैतन्य आदि अन्य गुण भी पाये जाते हैं ?

समाधान—प्रत्येक जीव अनन्त धर्मवाला कहा गया है, क्योंकि जितना भी पदार्थसमूह है वह सब अनन्तगुणात्मक है ॥ ९३९-९४० ॥ यद्यपि आगे युक्ति, स्वानुभव और आगमसे साध्यभूत जीव का विचार करनेवाले हैं तथापि इसकी परीक्षा करनेवालों को विशेष चिन्ह द्वारा इसे जानना चाहिये ॥ ९४१ ॥ यथा-जीव के चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ये स्पष्टतः विशेष गुण हैं ॥ ९४२ ॥ और वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीव के सामान्य गुण हैं ॥ ९४३ ॥

विशेषार्थ—प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। कुछ तो वे होते हैं जो दूसरे द्रव्यों में न पाये जाकर केवल उसी में पाये जाते हैं। ये असाधारण गुण कहलाते हैं। इनकी दूसरी संज्ञा अनुजीवी भी है। और कुछ वे गुण होते हैं जो विवक्षित द्रव्य के सिवा अन्य द्रव्यों में भी यथासम्भव पाये जाते हैं। ये साधारण गुण कहलाते हैं इनकी दूसरी संज्ञा प्रतिजीवी भी है। ये दो प्रकार के गुण हैं जिनसे प्रत्येक द्रव्य अधिष्ठित होता है यहाँ जीव के ऐसे ही गुणों का उल्लेख किया गया है। जीव में चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ये विशेष गुण हैं। ये जीव के सिवा अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। यद्यपि क्रिया पुद्गल में भी देखी जाती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि चारित्र यह जीव का विशेष गुण नहीं हो सकता। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि चारित्र यह क्रिया का पर्याय-वाची नहीं लिया गया है। संसारी जीव में निमित्त भेद से राग द्वेष आदिरूप विकारी परिणति पाई जाती है। उसी का अभाव यहाँ चारित्र शब्द का वाच्य है। इसलिये चारित्र यह जीव का ही विशेष गुण समझना चाहिये। तथा वीर्यत्व, सूक्ष्मत्व आदि जीव के सामान्य गुण हैं, क्योंकि ये जीव में तो पाये ही जाते हैं किन्तु इसके सिवा जीव पुद्गल आदि द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार जीव दोनों प्रकार के गुणों का अधिकारी है यह सिद्ध होता है ॥ ९३९-९४३ ॥

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः ॥ ९४४ ॥

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रूयतामवधानतः ।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ ९४५ ॥

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥ ९४६ ॥

यथा वा स्वच्छतादर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः ।
तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोऽपि सा ॥ ९४७ ॥

वैकृतत्वेऽपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित् ।
प्रकृतौ यद्विकारत्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९४८ ॥

यथा हि वारुणीपानाद्बुद्धिर्नाबुद्धिरेव नुः ।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ ९४९ ॥

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत् ।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ ९५० ॥

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीव दुःखित्वात्सुखस्योन्मूलनादपि ॥ ९५१ ॥

सभी गुणों की स्वाभाविकता का स्वीकार और उनकी सिद्धि—

यद्यपि सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण निसर्गसिद्ध है। वे स्वभाव से प्राकृत है और टंकोत्कीर्ण की तरह सदा रहते हैं ॥ ९४४ ॥ तथापि उनका कुछ विचार करते हैं। उसे सावधानी से सुनना चाहिये, क्योंकि युक्ति से जिस प्रवाह का समर्थन किया जाता है उसे कौन रोक सकता है ॥ ९४५ ॥ उन गुणों में स्वतःसिद्ध एक वैभाविकी शक्ति है जो जीव के संसार अवस्था में अपने कारण से विकृत बनी रहती है ॥ ९४६ ॥ जैसे कि दर्पण में स्वच्छता निसर्ग सिद्ध होती है। स्वच्छता के लिये अन्य निमित्त नहीं लगता। और जैसे मुख के संयोग से इसमें विकृति पैदा हो जाती है वैसे ही वैभाविकी शक्तिके विषय में वास्तव में समझना चाहिये ॥ ९४७ ॥ यद्यपि पदार्थ में विकृति आ जाती है तो भी वह अन्यरूप नहीं हो जाता है। वास्तव में प्रकृति में जो विकारीपन आ जाता है उसे ही विकृति कहते हैं ॥ ४४८ ॥ जिस प्रकार मदिरा पीने से मनुष्य की बुद्धि अबुद्धि नहीं हो जाती है। किन्तु इससे बुद्धि में एक दूसरी अवस्था उपन्न हो जाती है। वही उसकी वास्तविक विकृति है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ ९४९ ॥ चाहे ज्ञान प्राकृत हो या विकृत, वह सभी ज्ञानमात्र ही है। जितना ज्ञान इन्द्रियाधीन है उसे विकृत ही जानना चाहिये ॥ ९५० ॥ ऐसा होने से जीव की नियम से हानि ही होती है। इससे वास्तव में लाभ कुछ भी नहीं है, क्योंकि इसके रहने पर जीव अत्यन्त दुखी बना रहता है और उसके

अपि द्रव्यनयादेशात् टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत् ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ ९५२ ॥

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोऽस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥ ९५३ ॥

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद्बाधितो बलात् ।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात् ॥ ९५४ ॥

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।
हठाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥ ९५५ ॥

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ ९५६ ॥

सर्वं विप्लवतेऽप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥ ९५७ ॥

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः ।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी ॥ ९५८ ॥

आत्मीय सुखका उन्मूलन हो जाता है ॥ ९५१ ॥ यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव टंकोत्कीर्ण होता है तो भी ऐसी अवस्था में कोई जीव आत्मसुख में स्थिर नहीं रहता प्रत्युत वह अतीव दुखी बना रहता है ॥ ९५२ ॥ यहाँ यह पक्ष भी नहीं अंगीकार करना चाहिये कि जिस प्रकार मणि चाहे बद्ध हो या अबद्ध हो वह सदा एकसा बना रहता है। उसी प्रकार यह जीव भी सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है ॥ ९५३ ॥ क्योंकि जीव की ऐसी स्थिति मानने पर यह पक्ष नियम से बाधित हो जाता है। तब न संसार रहता है और न मोक्ष ही ठहरता है। उन दोनों में अभेद हो जाता है ॥९५४॥ यदि जीव सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है ऐसा माना जाय तो संसार किस नय से बन सकेगा। यदि इसे हठ पूर्वक स्वीकार किया जाता है तो बिना हेतु के अनिष्ट का प्रसंग आता है ॥ ९५५ ॥ यदि जीव सब प्रकार से शुद्ध है ऐसा माना जाता है तो मोक्ष का कथन करना निरर्थक ठहरता है। यदि कहा जाय कि प्रकृत में ऐसा मान लेना इष्ट है सो भी बात नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो मोक्ष के लिये जो श्रम किया जाता है वह व्यर्थ ठहरता है ॥ ९५६ ॥ तथा ऐसा मानने पर सभी व्यवस्था बिगड़ जाती है। न प्रमाण बनता है, न उसका फल बनता है, साधन, साध्य, कारक और क्रिया ये कुछ भी नहीं बनते ॥ ९५७ ॥ इस तरह पूर्वोक्त कथन से यह बात सिद्ध होती है कि संसारी जीवोंके भावसन्तति विकृत है, दुःख की मूर्ति है और खोटे फलवाली है ॥ ९५८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ सामान्य और विशेष गुणों की चर्चा करते हुए जीव की अशुद्ध अवस्था और उसके कारण का मुख्यतया निर्देश किया है। जीव में एक वैभाविकी शक्ति है जिसका विभाव परिणमन ही उसकी विकृति या अशुद्धता है। दर्पण स्वभावतः स्वच्छ होता है। परन्तु उसे मुख आदि का निमित्त मिलने पर जैसे वह विकारी हो जाता है वैसे ही जीव स्वभावतः शुद्ध है पर उसे अनादि काल से कर्म और नोकर्म का निमित्त लगा हुआ है जिससे उसकी रागादिरूप परिणति होती रहती है। इसी का नाम विकृति है। इससे वस्तु का स्वभाव तो नहीं बदलता पर उसमें मलिनता आ जाती है। जैसे दारु के

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः ।
किं नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ९५९ ॥

शृणु साधो महाप्राज्ञ ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितम् ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ॥ ९६० ॥

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पञ्च यथोदिताः ॥ ९६१ ॥

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च ।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः ॥ ९६२ ॥

पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात् ।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः ॥ ९६३ ॥

पीने पर ज्ञान कुछ अज्ञान नहीं हो जाता। रहता तो ज्ञान सदा ज्ञान ही है। पर दारू के निमित से वह विकारी हो जाता है। उसी प्रकार वैभाविकी शक्ति के विभावरूप परिणमन के समय आत्मा की अवस्था विकारी बनी रहती है। किन्तु जो ऐसा न मान कर सर्वदा उसे शुद्ध मानते हैं वे वास्तव में वर्तमान अवस्था का ही अपलाप करते हैं। माना कि द्रव्यार्थिक नय मूल वस्तु को स्वीकार करता है वह निमित्तसापेक्ष पर्याय को नहीं देखता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी निमित्तसापेक्ष पर्याय है ही नहीं। निमित्त दो तरह के होते हैं। एक वे निमित्त हैं जो प्रत्येक पदार्थ के यथायोग्य गति स्थिति, अवगाहन और परिणमन में निमित्त होते रहते हैं। वस्तुतः इन निमत्तों से किसी में विकृति पैदा नहीं होती। विकृति के निमित्त अन्य हैं जो प्रति समय की विकृति में अलग अलग सहकारी होते रहते हैं। जीव में विकारी होने की योग्यता है जो निमित्तों के मिलने पर विकार को जन्म देती है। निमित्त कहीं ढूंढ़ने नहीं जाना है। जिस समय जैसी अवस्था प्रकट होती है उस समय वैसे अन्तरंग और बहिरंग निमित्त स्वयमेव मिलते रहते हैं। इसलिये यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि जीव द्रव्य यद्यपि अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता है फिर भी वह यथा निमित्त नाना अवस्थाओं में से होकर गुजर रहा है। जिस कारण वह सदा दुखी है ॥ ९४४-९५८ ॥

वैभाविक भावों का विशेष विवेचन—

शंका—वैभाविक भाव कितने हैं, कैसे हैं, क्या नामवाले हैं और कैसे जाने जाते हैं? हे वक्ताओं के शिरोमणि ! मुझे समझाओ ॥ ९५९ ॥

समाधान—हे साधो हे महाप्राज्ञ ! जो तुम्हें अभीष्ट है उसमें से बहुत कुछ तो मैं जैनागम के अभ्यास से कहता हूं, और कुछ स्वानुभव के बल से भी कहता हूँ, सुनो ॥ ९६० ॥ यद्यपि संक्षिप्त भावों को विस्तार से देखा जाय तो वे असंख्यात लोक प्रमाण प्राप्त होते हैं किन्तु उनकी जाति की विवक्षा करने पर वे पांच प्रकार के कहे गये हैं ॥ ९६१ ॥ उनमें से पहला औपशमिक भाव है, दूसरा क्षायिक भाव है, तीसरा क्षायोपशमिक भाव है, चौथा औदयिक भाव है और पांचवां पारिमाणिक भाव है, इस प्रकार क्रम से पांच भाव कहे गये हैं। और इनके उत्तर भेद त्रेपन कहे गये हैं ॥ ९६२-९६३ ॥

विशेषार्थ—यहाँ वैभाविक भावों की संख्या व उनके नामों का निर्देश किया गया है। यदि निमित्त सापेक्ष होनेवाले जीवों के भावों का वर्गीकरण किया जाय तो वे असंख्यात लोक प्रमाण प्राप्त होते हैं। किन्तु जाति की अपेक्षा उनकी कुल पांच जातियाँ ही प्राप्त होती हैं। वे पांच जातियाँ औपशमिक,

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ ९६४ ॥
यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥ ९६५ ॥
यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥ ९६६ ॥
कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ ।
नाम्नाप्यौदयिकान्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ ९६७ ॥
कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ ९६८ ॥

क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और परिणामिक ये पांच हैं। इन भावों को ये संज्ञाएँ निमित्तों की विविध अवस्थाओं की अपेक्षा से दी गई हैं। औपशमिक भावों के होने में कर्मों का उपशम निमित्त है। क्षायिक भावों के होने में कर्मों का क्षय निमित्त है। क्षायोपशमिक भावों के होने में कर्मों का क्षयोपशम निमित्त है। औदयिक भावों के होने में कर्मों का उदय निमित्त है और पारिणामिक भावों के होने में कर्म निमित्त नहीं है। ये पांचों भाव अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा त्रेपन प्रकार के होते हैं ॥ ९५९-९६३ ॥

पाँच भावों का स्वरूप—

विपक्षी कर्मों के पाक का स्वयं उपशम होने से प्राणियों के जो भाव होता है उसकी औपशमिक संज्ञा है ॥ ९६४ ॥ यथायोग्य विपक्षी कर्मों के सर्वथा क्षय होने से जो भाव उत्पन्न होता है वह जीव का शुद्ध और स्वाभाविक क्षायिक भाव है ॥ ९६५ ॥ जो भाव सर्वघाति स्पर्धकों के अनुदय से और देशघाति स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक भाव है ॥ ९६६ ॥ संसार में कर्मों के उदय से जीव का जो भाव होता है वह औदयिक भाव है। यह उसका अन्वर्थ नाम है और एक मात्र यही भाव बन्ध में अधिकारी माना गया है ॥ ९६७ ॥ सब कर्म की जो पहले चार अवस्थाएँ कही गई हैं उनकी अपेक्षा के बिना आत्म द्रव्य सापेक्ष जो भाव होता है वह पारिणामिक भाव है ॥ ९६८ ॥

विशेषार्थ—यहां औपशमिक आदि पांच भावों के स्वरूप का निर्देश किया गया है। कर्मों के सत्ता में रहते हुए अपना कार्य न करना उपशम है। इसके दो भेद हैं—अन्तरकरण उपशम और सदवस्था उपशम। औपशमिक भाव में अन्तरकरण उपशम ही विवक्षित है। अन्तरकरण में, जब उपशम भाव रहता है तब, विवक्षित कर्म का अन्तर हो जाता है। वह कर्म उपशम काल से आगे की स्थिति में रहता है और सदवस्था उपशम में विवक्षित कर्म का फल नहीं मिलता। वह प्रति समय सजातीय प्रकृति रूप से ही अपना काम करता है। जैसा उसका नाम है वैसा वह काम नहीं करता। उदाहरणार्थ अनन्तानुबन्धी का सदवस्था उपशम रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ भाव प्रकट नहीं होता। अन्तकरण उपशम दर्शन मोहनीय का और अनन्तानुबन्धी के सिवा शेष चरित्र मोहनीय का ही होता है शेष कर्मों का नहीं और सदवस्था उपशम यथा सम्भव घातिया कर्मों का होता है। जिस प्रकृति का आबाधाकाल पूरा होकर उदय और उदीरणा होना सम्भव है फिर भी जिसका उदय और उदीरणा न होकर अनुदय

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ ९६९ ॥

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ ९७० ॥

त्रीणि लिंगानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकं वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥ ९७१ ॥

लेश्याःषडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥९७२ ॥

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि ।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते ॥९७३ ॥

रहता है उसका सदवस्था उपशम होता है। सदवस्था उपशम इस शब्द का व्यवहार मुख्यतया क्षयोपशम भाव के समय ही किया जाता है। यहां उपशम भाव की व्याख्या करते समय ग्रन्थकार ने कर्म पाक का उपशम बतलाया है सो यह उपशम भाव की सामान्य व्याख्या है। औपशमिक भाव में तो अन्तरकरण उपशम की ही मुख्यता है और इसमें यथासम्भव प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों का उपशम होता है। इतनी विशेषता है कि दर्शनमोहनीय का संक्रमण होता रहता है। कहीं कहीं कर्म का अनुदय भी उपशम कहलाता है। उदाहरणार्थ औपशमिक सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का अनुदय रहता है फिर भी उसको उपशम संज्ञा दी गई है। क्षायोपशमिक भाव कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसमें सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उपशम तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय रहता है। क्षायिक और औदयिक भाव का अर्थ स्पष्ट है। पारिणामिक भाव में कर्म की निमित्तता नहीं होती। यह अवस्था विशेष है। जिस जीव का कर्म बन्ध अनादि सान्त होता है या ऐसी योग्यतावाला होता है वह भव्य कहलाता है। जिसका कर्म बन्ध अनादि अनन्त होता है वह अभव्य कहलाता है और जो प्राण धारण पर्याय से युक्त होता है वह जीव कहलाता है यह पारिणामिक भाव का मथितार्थ है। इस तरह जीव के वैभाविक भाव कुल पांच प्रकार के ही होते हैं। यद्यपि क्षायिक भाव जीव के स्वभाव रूप होते हैं। उन्हें विभाव मानना उचित नहीं फिर भी क्षायिक ऐसा व्यवहार निमित्त सापेक्ष होता है इस लिये क्षायिक भावों की परिगणना विभावों में की गई है। पारिणामिक भावों में तो कर्म निरपेक्षता ही मुख्य प्रयोजक है। वैसे वे विभाव तो हैं ही ॥९६४-९६८॥

भावों के विशेष निरूपण की प्रतिज्ञा—

इस प्रकार उन भावों का संक्षेप में अलग अलग लक्षण कहा है। अब आगे उनमें से प्रत्येक का विस्तार से स्वरूप कहते हैं ॥ ९६९ ॥

औदयिक भावों का स्वरूप और उनके कहने की प्रतिज्ञा—

सूत्र के अनुसार औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं। चार गतिं, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यात्व, एक अज्ञान, एक असंयतत्व, एक असिद्धता और कृष्णादिक छह लेश्यायें ये क्रम से इक्कीस भाव कहे गये हैं। अब न तो अति संक्षेप में और न अति विस्तार से उनका स्वरूप कहते हैं ॥ ९७०-९७२ ॥

चार गतियों का विचार—

नामकर्म के भेदों में एक प्रसिद्ध गति नामकर्म है। गतियां चार हैं, इस लिये उसके चार भेद

कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः ।
प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥ ९७४ ॥
यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ ९७५ ॥
एवं देवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ ९७६ ॥
ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद् घातिकर्मवत् ॥ ९७७ ॥
सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९७८ ॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽञ्जसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९७९ ॥
ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुःक्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ ९८० ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वं चाबुद्धिपूर्वं स्वलक्षणात् ॥ ९८१ ॥

कहे गये हैं ॥ ९७३ ॥ दैववश इस कर्म के विपाक से आत्मा किसी एक शरीर को प्राप्त कर उसके योग्य उदयरूप भावों को करता है ॥ ९७४ ॥ जैसे कि तिर्यंच अवस्था में तिर्यंचों के समान उस पर्याय का अनुसरण करनेवाली जो भाव परम्परा होती है वह वहीं होती है, अन्यत्र नहीं होती ॥ ९७५ ॥ इसी प्रकार देव, मनुष्य और नारक के शरीर में अपनी अपनी गति के योग्य भाव होते हैं जिनका अन्यत्र पाया जाना प्रायः असम्भव है ॥ ९७६ ॥

शंका—देवादि पर्याय केवल नामकर्म के उदय से होती हैं फिर यह नामकर्म घाति कर्मों के समान जीव के भावों का कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कहना ठीक है फिर भी जिस प्रकार चित्रकार चित्र बनाता है उसी प्रकार वह नामकर्म भी देवादि के शरीर आदि की रचना करता है। क्योंकि उसका लक्षण भी यही है ॥ ९७७-७७८ ॥ इतने पर भी वहाँ निरन्तर नियम से मोहनीय कर्म का उदय रहता है, इसलिये देवादि के शरीर की जैसी क्रिया होती है वैसा वहाँ औदयिक भाव होता है ॥ ९७९ ॥

शंका—जब कि मोह का उदय नियम से एक धारा में अपने ही आधीन है, वह शरीरादि के आधीन नहीं है तब फिर वह उस उस शरीर की क्रियारूप से नियत है यह किस युक्ति से बन सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि मोहनीय कर्म का जो उदय वैभव है और उसमें भी वह जो अपने लक्षण के अनुसार बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होता है इस विषय में तुम अनभिज्ञ हो ॥९८०-९८१॥

मोहनान्मोहकर्मैकं तद् द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८२ ॥

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ ९८३ ॥

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः ।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥ ९८४ ॥

अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः ।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम् ॥ ९८५ ॥

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति ।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ ९८६ ॥

विशेषार्थ—यहाँ औदयिक भावों के इक्कीस भेदों के प्रसंग से सर्व प्रथम चार गतियों के स्वरूप का निर्देश किया गया है। चार गति कर्म जीवविपाकी हैं। इनके उदय से इनमें से जहाँ जिस गति नामकर्म का उदय होता है वहाँ वैसे भाव होते हैं। गतिभेद से होनेवाले भाव प्रत्यक्षसिद्ध हैं। प्रश्न यह है कि नामकर्म अघाति है फिर वह जीव भावों के होने में निमित्त कैसे हो सकता है ? इसका जो समाधान किया है, उसका भाव यह है कि उस उस गतिनाम कर्म के उदय से वह पर्याय मिलती है और उसमें ममकार और अहंकार, या रति और अरति का कारण मोहनीय कर्म है। इस प्रकार एक गति से दूसरी गति में स्वभाव भेद का कारण गतिनाम कर्म है और उसमें अपनत्व या ममत्व का प्रयोजक मोहनीय कर्म है। कर्मों का कार्य मिला हुआ होता है। वे परस्पर में एक दूसरे के कार्य में निमित्त होते रहते हैं इसलिये यह सब बन जाता है ॥ ९७३-९८१ ॥

मोहनीय कर्म की व्युत्पत्ति और उसके भेद—

मोहनीय कर्म का स्वभाव मूर्च्छित करना है इसलिये वह एक प्रकार का है और वस्तुतः वह दो प्रकार का है क्योंकि उसके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं ॥ ९८२ ॥ मिथ्यात्व कर्म एक होकर भी तीन प्रकार का है इसलिये तीन ये और आदि के चार क्रोधादिक ये सात दर्शनमोहनीय हैं ॥ ९८३ ॥

विशेषार्थ—यहाँ दर्शनमोहनीय के सात भेद बतलाये हैं। इसका कारण यह है कि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय में सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता। तत्त्वतः ये चारों कषाय चारित्रमोहनीय के ही भेद हैं। यहाँ विवक्षावश ही इन्हें दर्शनमोहनीय कहा है ॥ ९८२-९८३ ॥

दर्शनमोहनीय का कार्य—

दर्शनमोहनीय के उदय से इस जीव के मिथ्यात्व भाव होता है। यह नियम से औदयिक है और सम्यक्त्व का घातक है। इसका वारण करना बड़ा कठिन है ॥ ९८४ ॥ इस दर्शनमोहनीय कर्म का ऐसा कुछ स्वभाव है जिससे वह जीव के शुद्ध सम्यक्त्व गुण को विकारी कर देता है ॥ ९८५ ॥ जिस प्रकार मदिरा आदि के पीने पर उसका जो परिपाक होता है उससे बुद्धि मूर्छित होती है और उस मूर्छावश जो शंख आदि वस्तु सफेद होती है उसे यह जीव पीला देखने लगता है ॥ ९८६ ॥ उसी प्रकार

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ।। ९८७ ।।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ।। ९८८ ।।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात् ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ।। ९८९ ।।

यथा धाराधराकारैर्गुण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात्सतोऽपि वा ।। ९९० ।।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ।। ९९१ ।।

अस्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ।। ९९२ ।।

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ।। ९९३ ।।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ।। ९९४ ।।

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ।। ९९५ ।।

दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादृष्टि जीव जितने भी अनात्मीय भाव हैं उन्हें आत्मीय मानता है ।। ९८७ ।। जिस प्रकार दर्शनमोहनीय का उदय सम्यक्त्व गुण का घात करता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का उदय आत्मा के ज्ञान गुण को रोकता है ।। ९८८ ।। जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञान का नाश होता है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के उदय से दर्शन गुण का घात होता है ।। ९८९ ।। जिस प्रकार मेघों के द्वारा सूर्य के ढक जाने पर सामान्य से उसके रहते हुए भी उसके प्रकाश का आविर्भाव नहीं होता उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ।। ९९० ।। और जो यहाँ रूढिवश ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है सो वह औदयिक नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक ही है ।। ९९१ ।। और जो केवलज्ञान केवलज्ञानावरण कर्म से आवृत है इसलिये वह मूर्छित प्राणी के समान स्व और अपूर्व अर्थ को जानने में समर्थ नहीं है ।। ९९२ ।। अथवा अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान अपने अपने आवरण कर्म से आवृत रहने पर अपना अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते ।। ९९३ ।। इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने अपने आवरण से आच्छादित हैं। उनका आवरणकर्म जितना उदयांशरूप से स्थित है उतना वह ज्ञान तिरोहित रहता है ।। ९९४ ।। किन्तु जो केवलज्ञान है वह व्यक्तरूपसे सब पदार्थों का प्रकाशक है। वह अपने सब आवरण करनेवाले कर्मों के क्षय से होता है इसलिये ज्ञानों में वही क्षायिक भाव है ।। ९९५ ।।

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक् ।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ ९९६ ॥

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥ ९९७ ॥

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥ ९९८ ॥

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघातिविवक्षया ।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत् ॥ ९९९ ॥

विशेषार्थ—यहाँ प्रसंग से दर्शनमोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के कार्यों का निर्देश किया गया है। दर्शनमोहनीय का काम मूर्छित करना है। इससे जीव को स्वपर का विवेक नहीं रहता। जैसे पीलिया रोगवाले को सफेद शंख पीला दिखाई देता है या पागल आदमी को माता और स्त्री में अन्तर नहीं दिखाई देता या कड़वी तूँबड़ी के संयोग से दूध कड़वा हो जाता है वैसे ही दर्शन मोहनीय के निमित्त से जीव का विवेक लुप्त हो जाता है। ऐसा जीव कदाचित् विशेष ज्ञान के होने पर ज्ञान के ओर से पदार्थ का विचार तो करता है पर वह यथार्थ निर्णय करने में असमर्थ रहता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये आवरण कर्म हैं। ये जीव के ज्ञान और दर्शन गुण को नहीं प्रकट होने देते हैं। जीव का स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन है। इन्हें प्रकट नहीं होने देना इनका काम है। मुख्यतया केवलज्ञानावरण केवलज्ञान को और केवलदर्शनावरण केवलदर्शन को रोकता है। फिर भी जीव के स्वभाव का सर्वथा घात नहीं हो सकता इसलिये इनके द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन का घात होने पर भी जीव का अति मन्द ज्ञान और दर्शन स्वभाव प्रकट रहता है जिसे मतिज्ञानावरण आदि और चक्षुदर्शनावरण आदि रोकते हैं। इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद और दर्शन के चार भेद हो जाते हैं। इसीलिये क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन पूरे ज्ञानावरण और पूरे दर्शनावरण के अभाव से ही होता है अन्यथा नहीं इतना यहाँ विशेष जानना चाहिये ॥ ९८४-९९५ ॥

कर्म और उनके भेद—

मूल रूप से कर्म आठ प्रसिद्ध हैं और उनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥ ९९६ ॥ उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा ये असंख्यात लोकप्रमाण हैं और शक्ति की अपेक्षा सब कर्म अनन्त हैं ॥ ९९७ ॥ इनमें चार घाति कर्म हैं। यह इनकी सार्थक संज्ञा है क्यों कि ये जीव के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, ऐसा आगम है ॥ ९९८ ॥ इनसे बचे हुए शेष चार कर्म अघाति कहलाते हैं। यद्यपि इनमें जीव के अनुजीवी गुणों को घातने की शक्ति नहीं है तो भी इनमें कर्म शक्ति पाई जाती है ॥ ९९९ ॥

विशेषार्थ—यहां कर्मों के भेद और उनकी घाति व अघाति संज्ञा की चर्चा की गई है। वर्गीकरण करके आगम में कर्मों के मूल भेद आठ व उनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस बतलाये हैं। जीवों के सब परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। इस अपेक्षा से वे सब कर्म असंख्यात लोकप्रमाण बतलाये हैं और इन कर्मों की अनुभाग शक्ति अनन्त प्रकार की होती है इस लिये इस अपेक्षा से उनके अनन्त भेद भी हो जाते हैं। ये सब कर्म घाति और अघाति इन दो भागों में बटे हुए हैं। जीव के अनुजीवी गुणों को घातने के कारण घाति संज्ञा है और इन गुणों को नहीं घातने की अपेक्षा अघाति संज्ञा है। यह कहना कि फिर अघाति कर्मों का कोई काम ही नहीं रहता सो यह बात भी नहीं है। वे जीव के

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः ।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥ १००० ॥

दर्शनावरणोऽप्येष क्रमो ज्ञेयोऽस्ति कर्मणि ।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणस्यानतिक्रमात् ॥ १००१ ॥

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः ।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥ १००२ ॥

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित् ।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००३ ॥

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः ।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥ १००४ ॥

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००५ ॥

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोऽस्त्येकः प्रमाणसात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥ १००६ ॥

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिवत् ।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १००७ ॥

प्रतिजीवी गुणों का घात करते हैं। इस प्रकार कुल कर्म कितने हैं और उन्हें घाति और अघाति संज्ञा कैसे प्राप्त हुई इसका विचार किया ॥ ९९६-९९९ ॥

ज्ञानावरणादि कर्मों का विचार—

इस प्रकार अर्थवश आत्मा के अनेक गुण हैं और दूसरा कोई चारा नहीं होने से एक चेतनावरण कर्म है ॥ १००० ॥ दर्शनावरण कर्म के विषय में भी यही क्रम जानना चाहिये, क्यों कि दर्शन भी आत्मा का एक गुण है इस लिये उसका आवरण करनेवाला एक कर्म है उसमें फरक नहीं पड़ सकता ॥ १००१ ॥ इसी प्रकार जीव का एक सम्यक्त्व गुण है। उसे जो कर्म सब प्रकार से मूर्च्छित करता है वह दर्शनमोहनीय कहलाता है ॥ १००२ ॥ यह कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण के समान नहीं है, इस लिये इसका किसी अन्य कर्म में अन्तर्भाव नहीं होता, क्यों कि यह उन दोनों आवरण कर्मों से भिन्न जाति का है ॥ १००३ ॥ इस लिये यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार जीवका स्वभावतः एक ज्ञान गुण है उसी प्रकार जीव का स्वभावतः एक दर्शन गुण है ॥ १००४ ॥ इसका नाम पृथक् है, लक्ष्य और लक्षण पृथक् है, और दर्शनमोहनीय कर्म पृथक् है फिर इस कर्म का किस युक्ति से अन्तर्भाव हो सकता है ॥ १००५ ॥ इसी प्रकार जीव का प्रमाण सिद्ध एक चारित्र गुण है। उसे जो कर्म मूर्च्छित करता है वह चारित्रमोहनीय कर्म है ॥ १००६ ॥ पहले गुणों के समान जीव का एक वीर्य नाम का गुण है। उसे जो अन्तरित करता है वह अन्तराय कर्म है ॥ १००७ ॥

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १००८ ॥
न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोऽपि नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १००९ ॥
किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीयशक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १०१० ॥
गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभिः ॥ १०११ ॥
यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥ १०१२ ॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ।
स्याद्यथालक्षिताद्भावात् स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥ १०१३ ॥

विशेषार्थ—यहां चार घाति कर्मों की सिद्धि की गई है। जीव के अनन्त गुण हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य आदि मुख्य हैं। इनमें से ज्ञान को आवृत करनेवाला ज्ञानावरण कर्म है, दर्शन को आवृत करनेवाला दर्शनावरण कर्म है, सम्यक्त्व और चारित्र को मूर्च्छित करनेवाला मोहनीय कर्म है और वीर्यादि को अन्तरित करनेवाला अन्तराय कर्म है। ये चार घाति कर्म हैं। इनके उदय से जीव के उक्त गुणों का प्रकाश नहीं होता ॥ १०००-१००७ ॥

अनन्त गुणों की सिद्धि—

यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार आत्मा का ज्ञान गुण है उसी प्रकार युक्ति, स्वानुभव और आगम से अनन्त गुण जानने चाहिये ॥ १००८ ॥ कोई भी गुण कहीं किसी दूसरे गुण में अन्तर्भूत नहीं होता। न एक गुण दूसरे गुण का आधार है, न आधेय है, न हेतु है और न हेतुमान् ही है ॥ १००९ ॥ किन्तु सभी गुण अपनी अपनी शक्ति के योग से स्वतन्त्र हैं और वे विविध प्रकार के अनेक होकर भी पदार्थ के साथ परस्पर में मिले हुए हैं ॥ १०१० ॥ इस प्रकार यद्यपि गुण अनन्त हैं तो भी पूर्वाचार्यों ने वचन व्यवहार के गौरव वश कुछ प्रसिद्ध गुणों का ही निर्देश किया है ॥ १०११ ॥

विशेषार्थ—यहां अनन्त गुणों की चर्चा करते हुए उनकी स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। गुण शक्ति विशेष का नाम है। उसमें दूसरी शक्ति वास नहीं करती और वह स्वतंत्र होती है। प्रत्येक द्रव्य में ऐसी शक्तियां अनन्त होती हैं ॥ १००८-१०११ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान—

जो कहीं किसी के अवधिज्ञान होता है वह अनेक प्रकार का है और मनःपर्ययज्ञान भी अनेक प्रकार का है। इन दोनों को समान समझना चाहिये ॥ १०१२ ॥ दोनों ही अपने अपने आवरण कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम से होते हैं और यथा लक्षित भाव के अनुसार इनकी अन्य गति भी होती है ॥ १०१३ ॥

विशेषार्थ—अवधिज्ञान का दूसरा नाम मर्यादा ज्ञान है। यह इन्द्रियों की सहायता के बिना मर्यादित रूप से पदार्थों को जानता है इस लिये इसे मर्यादा ज्ञान कहते हैं। मनःपर्ययज्ञान दूसरे के

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सनातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथाहेतूपलब्धिसात् ॥१०१४॥

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥१०१५॥

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥१०१६॥

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद् द्विधा ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०१७॥

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः ।
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्न स्यादौदयिकं क्वचित् ॥१०१८॥

मन को विषय करता है। इनके अनेक भेद हैं और ये क्रम से अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। जीव के जैसे परिणाम होते हैं तदनुसार इनका सद्भाव और असद्भाव पाया जाता है। किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। मनःपर्ययज्ञान केवल संयतों के ही होता है। उसमें भी सब संयतों के नहीं होता। अवधिज्ञान यथासम्भव चौथे गुणस्थान से पाया जाता है। यह भी सबके नहीं होता। केवलज्ञान होने पर दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते। तब एक केवलज्ञान होता है। अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम तो मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में भी पाया जाता है पर वहां इससे उत्पन्न हुए ज्ञान की विभंगज्ञान संज्ञा होती है। अवधिज्ञान की प्राप्ति चारों गतियों में सम्भव है। सब सम्यग्दृष्टि देव और नारकियों के अवधिज्ञान होता है। शेष देव और नारकियों के विभंगज्ञान होता है। मनुष्य और तिर्यंचों में यह सब के नहीं होता। यथासम्भव होता है। अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद हैं। मनःपर्ययज्ञान के ऋतुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं। परमावधि और सर्वावधि संयतों के ही होता है। ये इन दोनों ज्ञानों की कुछ विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार आगम से अन्य विशेषताएँ जाननी चाहिये ॥ १०१२-१०१३ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों छद्मस्थ अवथा में सदा रहते हैं और जैसी कारण सामग्री मिलती है उसके अनुसार हीनाधिक हुआ करते हैं ॥१०१४॥

मतिज्ञान आदि चारों क्षायोपशमिक हैं—

जो ज्ञान जितने अंश में पदार्थों की ग्राहक शक्ति से युक्त है वह उतने अंश में क्षायोपशमिक है, औदयिक नहीं है ॥१०१५॥

मति, श्रुत और अवधि दो प्रकार के हैं—

किसी कारण से अवधिज्ञान दो प्रकार का है। सम्यक् अवधि को ज्ञान कहते हैं और कुत्सित अवधि अज्ञान कहलाता है ॥१०१६॥ मतिज्ञान दो प्रकार का है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार का है। सम्यक् और मिथ्यारूप विशेषता के कारण ये दोनों ज्ञान और अज्ञान कहे जाते हैं ॥१०१७॥ इन तीनों ज्ञानों में जो अज्ञान है वह वास्तव में क्षायोपशमिक है। वह किसी भी हालत में औदयिक नहीं है ॥१०१८

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥१०१९॥

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोऽप्यौदयिकः स हि ॥१०२०॥

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोऽस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥१०२१॥

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः । १०२२॥

विशेषार्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान समीचीन और मिथ्या के भेद से दो प्रकार के होते हैं। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ये समीचीन होते हैं अन्यथा मिथ्या होते हैं। जब ये मिथ्या होते हैं तब ये अज्ञान कहे जाते हैं और सम्यक्त्व के सद्भाव में ज्ञान कहे जाते हैं। अज्ञान एक औद-यिक भाव भी है पर यहां अज्ञान पद मिथ्याज्ञान का वाची है, इसलिये इन तीनों ज्ञानों को मिथ्यात्व अवस्था में क्षायोपशमिक ही जानना चाहिये ॥१०१६-१०१८॥

अज्ञान भाव का निर्देश

और जो अज्ञान भाव है वह वास्तव में औदयिक जानना चाहिये। वह चेतना से रहित शरीर की तरह शून्यतारूप है ॥१०१९॥

विशेषार्थ—ज्ञानावरण कर्म के उदय में ज्ञान भाव प्रकट नहीं होता। इसी का नाम अज्ञान-भाव है। यहां इसे मृत शरीर की उपमा द्वारा शून्यतारूप बतलाया गया है। इसका यह आशय है कि जैसे मृत शरीर हलन चलन आदि क्रिया से शून्य होता है वैसे ही अज्ञान भाव के रहने पर पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। तब ज्ञान शक्ति लुप्त रहती है। वह प्रकट नहीं होती ॥१०१९॥

अन्य औदयिक भावों का निर्देश—

इससे यह भी सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीय के उदय से और चारित्रमोहनीय के उदय से जो भाव होता है वह सब औदयिक है ॥१०२०॥ इसी न्याय से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मोहनीय से लेकर और दूसरे जितने भी घाति कर्म हैं उनके उदय से जो भाव होता है वह सब औदयिक भाव है ॥१०२१॥

विशेषार्थ—यहां अज्ञान के समान अन्य औदयिक भावों का समर्थन किया गया है। कर्मों के उदय से जितने भी भाव होते हैं वे सब औदयिक हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है। जैसे मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है। चारित्रमोहनीय के उदय से क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य, रति आदि भाव होते हैं। ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान भाव होता है। दर्शनावरण के उदय से अदर्शन भाव होता है। अन्तराय कर्म के उदय से अज्ञान, अलाभ, अभोग, अनुपयोग और अवीर्य भाव होते हैं। ये सब कर्म के उदय से होनेवाले भाव हैं। तात्पर्य यह है कि जो जो कर्म जिस जिस शक्ति का घात करते हैं वह शक्ति उस उस कर्म के उदय में प्रकट नहीं होती ॥१०२०-१०२१॥

वैकृत और लौकिक भाव का निर्देश—

पहले जो कुछ कहा है उसमें भी इतना विवेक कर लेना अच्छा है कि मोह केउदय से जो भाव होता है वह वैकृत भाव है और इसके सिवा शेष सब भाव लौकिक है ॥१०२२॥

स यथानादिसन्तानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया ।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाच्चितः ॥१०२३॥
तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति ।
तत्त्वस्याप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् १०२४॥
अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात् ।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥१०२५॥
तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद् बुद्धिपूर्वकम् ॥१०२६॥
निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता ।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥१०२७॥
सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः ॥१०२८॥

विशेषार्थ—यहां औदयिक भावों के दो भेद किये गये हैं—वैकृत और लौकिक। मोहनीय कर्म के निमित्त से चारित्र और सम्यक्त्व गुण में विकार आता है वे विकृत रूप में अपना कार्य करने लगते हैं किन्तु शेष घाति कर्मों के निमित्त से ज्ञान, दर्शन और दानादि में विकार न आकर वे शक्तियां अपना काम नहीं कर पातीं। इसी से मोहनीय के उदय से होनेवाले भावों को वैकृत भाव कहा है और शेष कर्मों के उदय से होनेवाले भावों को लौकिक भाव कहा है ॥१०२२॥

वैकृत भाव का खुलासा—

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म की सन्तान अनादि काल से अच्छिन्न रूप से आ रही है। उसके उदय से आत्मा के यह वैकृत भाव होता है ॥१०२३॥ शास्त्रानुसार इसके विषय में ऐसा उल्लेख है कि दर्शनमोहनीय का उदय होने पर जीवों को तत्त्वों की सम्यक् प्रतिपत्ति नहीं होती या विपतीत प्रतिपत्ति होती है ॥१०२४॥ अर्थात् सम्यग्दर्शन की विपरीत परिणति हो जाने से आत्मप्रदेशों में कलुषता उत्पन्न हो जाती है जो आत्मा की मिथ्यात्वरूप एक परिणति है ॥१०२५॥

विशेषार्थ—वैकृत भाव का निर्देश करते हुए यहां दर्शनमोहनीय के उदय से होनेवाले वैकृत भाव का प्रमुखता से निर्देश किया है। सम्यक्त्व आत्मा का गुण है। इसके प्रकट रहते हुए स्वभावतः आत्मा का उपयोग समीचीन होता है, तब वह प्रत्येक पदार्थ की जाति, उसकी स्वतंत्रता और उसकी कार्य मर्यादा को भले प्रकार जानता है। इसमें उसे किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता। किन्तु दर्शनमोहनीय के उदय से इस गुण के विकारी हो जाने पर उसे पदार्थ के विषय की ऐसी प्रतीति नहीं होती। वह या तो पदार्थ को विपरीतरूप से श्रद्धान करने लगता है या अतत्त्व का श्रद्धान करने लगता है। यह सब इस विकारी भाव का माहात्म्य है ॥१०२३-१०२५॥

वह मिथ्यात्व सामान्यमात्र है इसलिये उसका कथन करना शक्य नहीं है, अतः संक्षेप में बुद्धिपूर्वक होनेवाले मिथ्यात्वका लक्षण कहते हैं ॥१०२६॥ सामान्य मिथ्यात्व की हेतु से सिद्धि नहीं की जा सकती ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। तथा युक्ति, स्वानुभव और आगम से भी उसकी सिद्धि होती है ॥१०२७॥ सब संसारी जीवों के निरन्तर मिथ्याभाव रहता है।

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः ।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥१०२९॥

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत् ॥१०३०॥

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥१०३१॥

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात् कर्मणो महान् ।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३२॥

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः ।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३३॥

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥१०३४॥

अथ तत्रापि केषाञ्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३५॥

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥१०३६॥

तथापि किन्हीं संज्ञी जीवों का मन इस विषय में विशेष उपयोगी होता है ॥१०२८॥ अथवा उन संज्ञी जीवों का मन नियम से अनवस्थित रहता है अतः वह मिथ्या भावों के विषय में कदाचित् उपयोगी होता है १०२९॥ इसलिये यह बात न्याय से प्राप्त है कि संसारी जीव के मिथ्याभाव स्वभाव से होता है। अथवा दर्शनमोहनीय के उदय से ही उसका प्रवाह चालू है ॥१०३०॥ दर्शनमोहनीय के उदय का कार्य प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अन्यथा आत्माको स्वरूप की अनुपलब्धि कैसे होती है ॥१०३१॥ और स्वरूपकी अनुपलब्धि होने पर कर्म का महान् बन्ध होता है। इसमें ऐसी शक्ति है यह बात सम्यग्दृष्टियों को जान लेना चाहिये ॥१०३२॥ इस विषय में प्रसिद्ध और वस्तु को स्पष्ट करनेवाले करोड़ों दृष्टान्तों के देने से क्या प्रयोजन, क्योंकि मिथ्यात्व का स्वभाव ही ऐसा है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। यह स्पष्ट है कि वस्तु की शक्तियां अलंध्य होती हैं ॥१०३३॥

शंका—सब भाव जीवमय हैं और दृष्टान्त बन्ध का साधक है। फिर यह एक जगह क्यों तो व्यापक है और दूसरी जगह क्यों अव्यापक है ?

समाधान—वहां भी किन्हीं संज्ञी जीवों के बुद्धि पूर्वक गृहीत नाम का मिथ्याभाव होता है जो पदार्थों के मिथ्या आकार को लिये हुए स्थित है ॥१०३४–१०३५॥ वास्तव में वह अपनी जाति को न त्यागते हुए एक प्रकार का है फिर भी आलाप—विशेष की अपेक्षा वह असंख्यात लोक प्रमाण

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा ।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ।१०३७॥
अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥१०३८॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः ।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥१०३९॥
कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्बन्धकार्यं पुनः क्षणात् ।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥१०४०॥

है ॥१०३६॥ उसमें भी जो आलाप एक जाति का है वह भी नानारूप होकर अनेक प्रकार का है। जैसे एकान्त मिथ्यात्व और विपरीत मिथ्यात्व आदि। इसी प्रकार और भाव भी जानने चाहिये ॥ १०३७ ॥ अथवा शक्ति की अपेक्षा मिथ्या भाव स्वभाव से अनन्तरूप है, क्यों कि प्रत्येक आलाप के प्रति अनन्त शक्त्यंश होते हैं ॥ १०३८ ॥ जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से शक्ति भेद से परिणमन करते हुए वे भाव प्रत्येक समय में पृथक् रूप से उदित होते हैं और अपना कार्य होने से बन्ध कार्य करके अस्त हो जाते हैं। फिर उदयानुसार अन्य भाव उदित होते हैं ॥१०३९-१०४० ॥

विशेषार्थ—यहां मिथ्यात्व की सिद्धि और उसके कार्य पर प्रकाश डाला गया है। जीव का स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान का कार्य यथार्थ रूप से पदार्थ को जानना है। किन्तु संसारी जीव की स्थिति इससे विलक्षण हो रही है। वह विवेकभ्रष्ट हो रहा है। कारण का निर्देश करते हुए आचार्यों ने विवेक भ्रष्ट होने का कारण मिथ्यात्व को बतलाया है। यह मिथ्यात्व इसके अनादि काल से लगा चला आ रहा है। यह किसी ने किया नहीं है। दर्शनमोहनीय इसका कारण है अवश्य पर वह प्रति समय की होनेवाली पर्याय में ही निमित्त है। वह है तो सब संसारी जीवों के पर संज्ञियों के मनके निमित्त से इसकी विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। वे मन के द्वारा नाना प्रकार के विकल्प किया करते हैं। उनमें कुछ तो सद्‌भूत पदार्थ के आश्रित होते हैं और कुछ सर्वथा काल्पनिक होते हैं। जो काल्पनिक भाव होते हैं। वे तो मिथ्यारूप हैं ही किन्तु जो सद्‌भूत पदार्थ के आश्रित होते हैं वे भी एकान्तपने को, विपरीतपने को और संशय आदि को लिये हुए होते हैं। इस लिये यह मिथ्या भाव जाति की अपेक्षा एक होकर भी असंख्यात और अनन्त प्रकार का हो जाता है। अपने उत्तर भेदों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है और पर्याय क्रम की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है। यह प्रति समय होता है और एक समय के बाद अस्त हो जाता है। पुनः दूसरे समय में दूसरा भाव होता है। यह पर है, क्यों कि निमित्त से होता है इस लिये बन्ध का प्रयोजक माना गया है। मुख्यतया इसी के कारण जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इसके कारण जीव को अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। स्वरूप की उपलब्धि नहीं होने देना ही इसका सबसे बड़ा कार्य है। भाव तो जीव में और भी होते हैं और वे नैमित्तिक भी माने गये हैं पर वे बन्ध के प्रयोजक नहीं माने गये हैं। बन्ध के प्रयोजक मिथ्याभाव और कषाय ही माने गये हैं। बन्ध की व्याप्ति इन्हीं के साथ है अन्य के साथ नहीं। ज्ञान में समीचीनता और असमीचीनता भी इसी मिथ्यात्व के कारण आती है। यह व्यामोह के कारण हंसते हुए को रुलाता है और रोते हुए को हंसाता है। चतुर्गति में परिभ्रमण करना इसका कार्य है। इसके कारण जीव स्वरूप को भूल कर पर में स्व की कल्पना कर रहा है। घर स्त्री आदि के छूट जाने पर भी जीव यदि विवेकी नहीं हो पाता तो इसका कारण भी एकमात्र यही है। बाह्य प्रवृत्तिवश लोग साधु और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए देखे

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥१०४१॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥१०४२॥

दर्शितेष्वपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम्
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ॥१०४३॥

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात्।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥ १०४४ ॥

स्वतःसिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट्।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥ १०४५ ॥

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत्।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक् ॥ १०४६ ॥

जाते हैं पर इसकी गांठ न खुलने पर उनका वह सब क्रियाधर्म वेकार जाता है। यह भीतर की सबसे बड़ी गांठ है। यह प्राणी भीतर और बाहर विविध प्रकार की गांठों से जकड़ा हुआ है। उनका खुलना बड़ा कठिन हो रहा है। मिथ्यात्वी साधु पद को लेने के बाद भी अहंकार करता है। वह अपने क्रिया को ही बहुत बड़ा मानता है। वह मानता है कि संसार की सब व्यवस्थाएं मुझसे ही लेनी चाहिये। सब आकर मुझे नमस्कार करें। यह सब क्या है ? एक मात्र मिथ्यात्व का ही परिणाम है। जीव तो सोचता है कि मैं बड़ा हूँ, मेरा यह अधिकार है, धर्म को मैं ही पाल सकता हूं। ये विचारे पामर निकृष्ट कर्म करनेवाले हैं। भला ये धर्म को कैसे धारण कर सकते हैं। सो ऐसा सोचना भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व का बहुत बड़ा राज्य है। जिसने इस पर विजय पाली उसने सब पर विजय पाली और जिसमें यह शेष है वह और सब कुछ करके भी कुछ नहीं कर पा रहा है ऐसा यहां समझना चाहिये ॥ १०२६–१०४० ॥

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का दृष्टान्तपूर्वक खुलासा—

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं होना या उनका विपरीत श्रद्धान होना ॥ १०४१ ॥ सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ इसी ग्रन्थ में पहले दिखला आये हैं। उनका ज्ञान जिनदेव के द्वारा कहे गये वचनों से किया जा सकता है अन्य प्रकार से नहीं ॥ १०४२ ॥ यद्यपि स्याद्वादी जैनाचार्यों ने उनको अच्छी तरह स्पष्ट रीति से दिखलाया है तो भी मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय वश उन्हें नहीं स्वीकार करता है १०४३ ॥ इसी प्रकार वह विचार करता है कि शास्त्र में कहा है कि ज्ञान और आनन्द इन्द्रिय और शरीर के बिना भी अन्वय रूप से मुक्तात्मा के पाये जाते हैं सो यह ठीक है कि नहीं है ॥ १०४४ ॥ वह यह भी सोचता है कि जीवादिक छह द्रव्य स्वतःसिद्ध हैं यह जो शास्त्र में कहा गया है वह ठीक है या नहीं है ॥ १०४५ ॥ इसी प्रकार पदार्थ नित्यानित्यात्म है ऐसा जो कहा गया है सो एक पदार्थ में परस्पर विरोधी होने से वे रहते हैं या नहीं रहते ऐसा भी वह संशय करता है ॥ १०४६ ॥ और भी इसके जो

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १०४७ ॥
अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दङ्मोहस्यानुशासनात् ॥ १०४८ ॥
धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः ।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥ १०४९ ॥

अनात्मीय भाव कर्म और नोकर्म में मैं आत्मा हूं ऐसी बुद्धि होती है वह दर्शनमोहनीय की करामात है ॥ १०४७ ॥ इसी प्रकार इसके दर्शनमोहनीय के उदय से अदेव में देव बुद्धि, अगुरु में गुरु बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि होती है ॥ १०४८ ॥ मिथ्यादृष्टि जीव मोहवश धन, धान्य और पुत्रादि की प्राप्ति के लिये मिथ्या देवों की उपासना करता है और नाना प्रकार के कुत्सित कर्म करता है ॥ १०४९ ॥

विशेषार्थ—यहां बुद्धि पूर्वक मिथ्यात्व के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मिथ्यात्वी के इस कारण से कैसी परिणति होती है यह बतलाया गया है। मिथ्यात्व के रहते हुए जो विविध प्रकार की भ्रान्तियां होती हैं वह बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व है। या पूर्व का अर्थ कारण है इस लिये इसका यह भी अभिप्राय है कि जिन असत् विचारों को बुद्धि से हितावह मान कर यह जीव स्वीकार करता है वह बुद्धि पूर्वक मिथ्यात्व है। यह जीव जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को तो नहीं जान सकता किन्तु उनको बुद्धि द्वारा अन्यथा ही मानता रहता है। कभी यह कुछ सोचता है और कभी कुछ। इसकी बुद्धि प्रत्येक पदार्थ के स्वतंत्र अस्तित्व का विश्वास ही नहीं करती। आगम में सूक्ष्मादि पदार्थों का जैसा स्वरूप बतलाया है वह उसे प्रतिभासित ही नहीं होता। पदार्थ द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य है इसमें भी उसे संशय बना रहता है। वह सोचता है कि आलम्बन से तो सुख देखा जाता है। भोजन करने से सुख मिलता है, विषय सेवन करने से सुख मिलता है पर बिना आलम्बन के सुख मिलता होगा यह कैसे सम्भव है। ज्ञान की प्रवृत्ति भी इन्द्रियों के द्वारा देखी जाती है। जिसे आंख है वही देखता है, कानवाला ही सुनता है। पर जिसे आंख और कान नहीं है वह भला क्या देख सुन सकता है? मुक्त जीव के ज्ञान और सुख होता है यह केवल कल्पना है। वह शरीर से आत्मा के पार्थक्य को भी नहीं समझ पाता। शरीर के दुबले होने पर अपने को दुबला मानता है। उसके गोरे होने पर अपने को गोरा मानता है। झूठ सच बोल कर लोभ और मोहवश सम्पत्ति का अर्जन कर लेने पर उसे पुण्य का फल मानता है। ये नीच हैं, ये ऊंच हैं ऐसी लौकिक व्यवस्था को अपनी मानता है और इसके आधार से यह धर्म को धारण कर सकता है यह नहीं कर सकता ऐसा मानता है। देव, और गुरु ये आत्मा की ही विविध अवस्थाएं हैं। धर्म भी वस्तु का स्वभाव है। जीव में रागादि विकार का नाम ही अधर्म है और विकार का त्याग होकर स्वरूप की प्राप्ति ही धर्म है। गुरु और देव संज्ञा इसी के कारण मिलती है। जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन के अभ्यासी का नाम गुरु है और जिसका यह अभ्यास पूरा होकर जीवन में स्वावलम्बन आ गया है उसी की देव संज्ञा है। किन्तु संसारी जीव भौतिक प्रलोभनवश या वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने से अदेव को देव मानता है, अगुरु को गुरु मानता है और अधर्म को धर्म मानता है। लोक में जो विविध प्रकार के देव, विविध प्रकार के गुरु और विविध प्रकार के धर्म सुने जाते हैं वह सब इसी मिथ्यात्व का परिणाम है। राग, द्वेष और मोह आत्मा का स्वभाव नहीं है। फिर भी लोक में रागी, द्वेषी और मोही विविध प्रकार के देव माने जाते हैं। ऐसे ही विश्व के परिग्रह का संचय करनेवाले गुरु माने जाते हैं। धर्म की तो बात ही मत पूछिये। इसने जितना विकृत रूप ले लिया है। शायद ही संसार में दूसरे किसी तत्त्व की मान्यता में इतना विकार आया होगा। जो धर्म और अधर्म के भेद को

सिद्धमेतत्तु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात् ।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात्परम् ॥ १०५० ॥

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः ।
स स्याद् द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥ १०५१ ॥

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०५२ ॥

नहीं जानते वे तो गलत मार्ग पर चल ही रहे हैं किन्तु जिन्हें समीचीन धर्म को समझने के साधन प्राप्त हैं वे भी अज्ञान में डूबे हुए हैं। उन्होंने भी बाह्य क्रियाकाण्ड और नाना प्रकार की दूषित मान्यताओं को धर्म मान लिया है। दूसरों से पुत्रादिक की प्राप्ति होती है ऐसी कल्पना भी लोक में रूढ़ हो गई है। इसके लिये कोई मिथ्या देवों की व गुरुओं की उपासना करते हैं, कोई शासन देवताओं की स्थापना कर उनकी उपासना करते हैं और कोई अरिहन्त की प्रतिमाओं तक की उपासना करते हैं। इसमें पण्डित मूर्ख सब सम्मिलित हैं। इसके विरोध में आवाज उठाना भी कठिन हो रहा है। जो ऐसे पाखण्ड को निर्मूल करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें सताया जाता है, तिरस्कृत किया जाता है। मिथ्यात्व का कितना बड़ा माहात्म्य है यह विवेकी को अनुभव करने की वस्तु है। ऐसा यह मिथ्यात्व का माहात्म्य है जिससे विश्व मोहित हो रहा है ॥ १०४१–१०४९ ॥

गति के साथ अन्य औदयिकभाव औदयिक क्यों हैं इसका खुलासा—

इससे यह सिद्ध होता है कि गति के नाम निर्देश द्वारा जो भाव कहे गये हैं वे औदयिक तो हैं तो भी वे वास्तव में दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय के उदय से ही औदयिक हैं ॥ १०५० ॥ जहां कहीं भी बुद्धिपूर्वक रागांश होता है वह या तो दोनों प्रकार के मोहनीय के उदय से होता है या उनमें से किसी एक के उदय से होता है ॥ १०५१ ॥ इस प्रकार गति के आश्रय से चार औदयिक भाव होते हैं। किन्तु बन्ध के करनेवाले केवल मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले भाव हैं ॥ १०५२ ॥

विशेषार्थ—पहले औदयिक भावों का निर्देश करते हुए चार गतियों का निर्देश कर आये हैं। चार गतियां अघाति कर्म के उदय से होनेवाले भाव हैं। इस लिये पहले यह शंका उठाई थी कि अघाति कर्म तो जीव के गुणों का घात नहीं करते फिर चार गतियों को औदयिक भावों में क्यों गिनाया है। इस शंका का समाधान करते हुए यह बतलाया गया था कि यद्यपि चारों गतियां नामकर्म के उदय से प्राप्त होती हैं पर गतियों में ममता और अहंकार का कारण मोहनीय कर्म का उदय ही है। इसी से जीव भावों में चारों गतियों की परिगणना की गई है। जीव को संसार में नारक आदि विविध पर्यायें मिलती हैं और यह जीव उन्हें अपना मान रहा है। यह स्थिति इसकी बिना मोहोदय के नही बन सकती। मोहोदय से यह चार गति और पांच जाति आदि को या तो अपना स्वरूप मानता है या उनमें राग द्वेष करता है, इस लिये अघाति कर्म के उदय से जितनी भी जीव की अवस्थाएँ होती हैं उनकी परिगणना भी जीव भावों में करनी आवश्यक थी। यही सोच कर चार गतियों का निर्देश किया गया है। इससे ऐसे ही दूसरे भावों का भी ग्रहण हो जाता है। पर इतना स्पष्ट है कि राग, द्वेष और मोह का कारण मोहनीय कर्म का उदय ही है, अतः बन्ध का प्रयोजक एकमात्र वही माना गया है। और भाव उससे मिल कर ही काम करते हैं। उसके अभाव में कार्यकारी नहीं माने गये हैं। उदाहरणार्थ गति नाम कर्म का उदय क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में भी पाया जाता है पर वहां एतन्निमित्तक कर्म का बन्ध नहीं होता। इस लिये जीव भावों की अपेक्षा गतियों में औदयिकता का कारण मोहनीय कर्म ही है यह सिद्ध होता है।

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥ १०५३ ॥

ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०५४ ॥

अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५५॥

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान् ।
वैकृतोऽस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १०५६ ॥

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद् द्विविधो भवेत् ।
पुद्गलो द्रव्यरूपोऽस्ति भावरूपोऽस्ति चिन्मयः ॥ १०५७ ॥

अस्त्येकं मूर्तमद् द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।
वैकृतः सोऽस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०५८ ॥

वैसे तो नामकर्म भी जीव के प्रतिजीवी गुणों का घातक है पर इस दृष्टि से यहां भावों का विचार नहीं किया गया है ॥ १०५०-१०५२ ॥

कषाय भाव

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय भी जीव के औदयिक भाव जानने चाहिये ॥ १०५३ ॥ वे अपने उत्तर भेदों की अपेक्षा नाम से सोलह और पच्चीस हैं। वैसे असंख्यात लोकमात्र हैं ॥ १०५४ ॥ अथवा शक्ति की अपेक्षा कल्मष रूप वे कषाय अनन्त हैं क्यों कि एक एक आलाप के प्रति अनन्त शक्त्यंश होते हैं ॥ १०५५ ॥

विशेषार्थ—यहां औदयिक भाव के दूसरे भेद चार कषायों का विचार किया जा रहा है। चारों कषायों की उत्पत्ति चारित्रमोहनीय के उदय से होती है इस लिये ये औदयिक माने गये हैं। इनके अनन्तानुबन्धी आदि के क्रम से सोलह और इनमें नौ नोकषायों के मिलाने पर पच्चीस भेद होते हैं। ये भेद तो संकेतानुसार कहे गये हैं। तत्त्वतः कषाय परिणामों की अपेक्षा असंख्यात लोकमात्र और पर्यायों की अपेक्षा अनन्त हैं ॥ १०५३-१०५५ ॥

चारित्रमोहनीयका कार्य और उसके भेद—

जीव का एक शुद्ध शक्तिरूप चारित्र नामका गुण है। किन्तु वह संसार दशा में चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से विकृत हो रहा है ॥ १०५६ ॥ इसलिए चरित्रमोह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। द्रव्य चारित्रमोह पुद्गलात्मक है और भाव चारित्रमोह चैतन्यरूप है ॥ १०५७ ॥

विशेषार्थ—अनादि काल से जीव अशुद्ध है। इससे इसका चारित्र गुण भी अशुद्ध हो रहा है। इस अशुद्धता का कारण चारित्रमोहनीय कर्म है। इस तरह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा चारित्र मोह के दो भेद हो जाते हैं—एक द्रव्य चारित्रमोह और दूसरा भावचारित्र मोह। द्रव्यचारित्रमोह कर्म के निमित्त से होनेवाले आत्मा के रागादि परिणाम हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥ १०५६-१०५७ ॥

द्रव्यमोह का निर्देश—

एक मूर्त्तिमान् द्रव्य है जो पुद्गल नाम से प्रसिद्ध है। वह विकृत होकर चारित्र मोहरूप से स्थित

पृथिवीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः ।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १०५९ ॥

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः ।
उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥ १०६० ॥

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत् ।
बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १०६१ ॥

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च ।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥ १०६२ ॥

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः ।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥ १०६३ ॥

है ॥ १०५८ ॥ सब ही पौद्गलिक मोह पृथिवी के पिण्ड के समान है । वह स्वयं पुद्गल है आत्मा नहीं है । किन्तु आत्मा और द्रव्यमोह इन दोनों का बन्ध हो रहा है ॥ १०५६ ॥

विशेषार्थ—आत्मा और पुद्गल का अनादि सम्बन्ध है । जीव के प्रति समय जैसे भाव होते हैं उनका संस्कार पुद्गलों पर पड़ता है जो आत्मा से सम्बद्ध होकर स्थित रहते हैं । उनमें एक भेद द्रव्य-चारित्र मोह भी है । यह पुद्गल कर्म रागादि के होने में निमित्त पड़ता है इसलिए इसको द्रव्यचारित्र मोह यह संज्ञा दी है । जैसे पृथिवी अचेतन और मूर्त होती है वैसे ही इसे समझना चाहिये । इसका और आत्मा का अनादि काल से बन्ध होता आ रहा है और यह बन्ध तब तक होता रहेगा जब तक उपादान में परिवर्तन नहीं हो जायगा ॥ १०५८-१०५९ ॥

भावमोह और उसका कार्य—

दोनों प्रकार के ही पौद्गलिक मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का जो भाव होता है वह भाव-मोह कहा जाता है ॥ १०६० ॥ जल में काई के समान नियम से वह भावमोह मलीन होता है और एक मात्र वही आठों कर्मों के बन्ध का हेतु है ॥१०६१॥ सब अनर्थों का मूल भी वही है, क्योंकि अनर्थों का मूल कारण कर्म है और उनका मुख्य कारण वह भावमोह है ॥ १०६२ ॥ वह अशुचि है, घातक है, रौद्र है, दुःखरूप है और दुःख का फल है । इस विषय में बहुत कहने से क्या प्रयोजन ? इतना कहना पर्याप्त है कि वह सब विपत्तियों का स्थान है ॥ १०६३ ॥

विशेषार्थ—आत्मा में सम्यक्त्व और चारित्र नाम के गुण हैं । इनका मूर्छित होना ही भाव मोह है । इनके मूर्छित होने में निमित्त द्रव्य मोहनीय कर्म है । यह संज्ञा इसी से दी गई है । जीव के जो प्रति समय बन्ध हो रहा है और वह नाना योनियों में भटक रहा है इसका कारण यह भावमोह ही है । यह सब अनर्थों की जड़ है । जब तक जीव के इसका सद्भाव पाया जाता है तभी तक कर्मों का बन्ध होता रहता है । इसके अभाव में जीव संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है । इसके अभाव में कुछ काल तक शरीरादि परिग्रह के लगे रहने पर भी जीव का कुछ बिगाड़ नहीं होता । यह दो प्रकार का है एक मिथ्यात्व और दूसरा राग-द्वेष । इन दोनों में मिथ्यात्व की मुख्यता है. क्योंकि इसके रहते हुए तो इसे जीवन का सन्मार्ग ही सुझाई नहीं देता । इसके अभाव में जीव सन्मार्ग का पारखी तो हो जाता है पर उस पर चलने के लिए राग-द्वेष का छूटना भी जरूरी है । स्वातन्त्र्य का मार्ग बहुत कठिन है । अपने

कायकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः ।
पूर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्रास्रवसंचयात् ॥ १०६४ ॥
यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः ।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥ १०६५ ॥
निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः ।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद्भावोऽस्ति कारणम् ॥ १०६६ ॥
विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः ।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ १०६७ ॥
अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः
निमित्तनैमित्तको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०६८ ॥
अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः ॥ १०६९ ॥
यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायन्मोक्षो न कस्यचित् ॥ १०७० ॥

को स्वतन्त्र अनुभव किये बिना और तदनुकूल आचरण किये बिना कोई भी इस मार्ग का पथिक नहीं बन सकता। बाह्य बाधक कारणों की उतनी प्रधानता नहीं जितनी कि मिथ्यात्व और राग-द्वेष की प्रधानता है। इसके सद्भाव में ही अन्य निमित्त होते हैं। अभाव में वे निमित्त ही नहीं रहते इसलिये आचार्यों ने इनके त्याग का प्रमुखता से उपदेश दिया है ॥ १०६०-१०६३ ॥

भावमोह के कार्यकारण भाव का विचार—

यह भावमोह कार्य भी है और कारण भी है। पूर्व में बाँधे हुए कर्म के उदय से होता है इसलिये तो कार्य है और नवीन आस्रव के बन्ध का हेतु है इसलिए कारण है ॥ १०६४ ॥ जिस समय यह पूर्वबद्ध द्रव्यमोह कर्म के प्रकृष्ट उदय से आत्मलाभ करता है उस समय उस अपेक्षा से वह कार्यरूप है ॥ १०६५ ॥ और इसके निमित्त से ज्ञानावरणादि पुद्गल आते हैं इसलिये भावमोह कारणरूप है ॥ १०६६ ॥ इसके विषय में ऐसी कुछ विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय कर्म का है परन्तु कारणमात्र मोहनीय के बन्ध का और सब कर्मों के बन्धका है ॥ १०६७ ॥ इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिस प्रकार कुम्हार और घट का निमित्तनैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है ॥ १०६८ ॥ अन्तर्दृष्टि से देखने पर कषाय और कर्म का ही परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक भाव है जीव और कर्म का नहीं ॥ १०६९ ॥ क्योंकि कर्मबन्ध में जीवको स्वयं निमित्त मान लेने पर जीव सदा ही उसका कर्ता बना रहेगा फिर कभी भी किसी को मुक्ति नहीं मिलेगी ॥ १०७० ॥

विशेषार्थ—यहाँ भावमोह के कार्यकारण भाव का विचार किया गया है। भावमोह जीव का विकारी परिणाम है। यह अनिमित्तक नहीं होता, इसलिये तो कार्य है और संसार की परंपरा इसके निमित्त से चलती है इसलिये कारण है। उसी समय कार्य है और उसी समय कारण है। पूर्वबद्ध कर्म का कार्य है और नवीन बन्ध का कारण है। यहाँ निष्कर्षरूप में जीव और कर्म का कार्यकारण

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः ।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः ॥ १०७१ ॥

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात् ।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल ॥ १०७२ ॥

चारित्रमोहकर्मैतद् द्विविधं परमागमात् ।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम् ॥ १०७३ ॥

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः ।
हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम् ॥ १०७४ ॥

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद् ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥ १०७५ ॥

भाव बतलाया है पर यह उपचार कथन है। तत्त्वतः कषायका और कर्म का ही परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध घटित होता है जीव और कर्म का नहीं, क्योंकि जीव को कर्म का निमित्त मान लेने पर सदा कर्म बन्ध को प्राप्त होता है। किन्तु किन्हीं के कर्मबन्ध होता है और किन्हीं के नहीं होता। जो संसारी और सकषाय हैं उनके कर्मबन्ध होता है शेष के नहीं होता इसलिये ये रागद्वेष आदिरूप परिणाम ही कर्मबन्ध के कारण हैं यही निष्कर्ष निकलता है ॥ १०६४–१०७० ॥

इस प्रकार वे चारों ही कषाय औदयिक जानना चाहिये। वे आत्मा के चारित्र गुण की विभाव पर्याय हैं ॥ १०७१ ॥

विशेषार्थ—पहले औदयिक भावों में चार कषायों का निर्देश कर आये हैं। यहाँ युक्तिपूर्वक उसी का समर्थन किया गया है। ये द्रव्यकर्म के उदय से तो होते ही हैं पर द्रव्यबन्ध के भी कारण हैं इसलिये इनकी औदयिकता सुतरां सिद्ध है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥१०७१॥

तीन वेदों का निर्देश—

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद के भेद से तीनों लिंग औदयिक ही हैं, क्योंकि वे नोकषायों के अवान्तर भेद स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से होते हैं ॥ १०७२ ॥

चारित्रमोहनीय के भेद—

परमागम के अनुसार यह चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का है—पहला कषाय और दूसरा नोकषाय ॥ १०७३ ॥

नोकषाय के भेद—

उसमें भी नोकषाय अपने भेदों के अनुसार नौ प्रकार का है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और तीन लिंग ॥ १०७४ ॥ इसलिये चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले ये भाव भी चारित्र गुण के वैभाविक भाव हैं ॥ १०७५ ॥

विशेषार्थ—*यहाँ चारित्रमोहनीय के भेद दिखलाकर नोकषाय के नौ भेद बतलाये गये हैं।* स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इसी के अवान्तर भेद हैं। जीव के जो स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेदरूप परिणाम होते हैं वे इसी नोकषाय के अवान्तरभेद वेद नोकषायों के कार्य हैं। ये घाति होकर भी

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०७६ ॥
अस्ति यन्नाम कर्मैकं नानारूपं च चित्रवत्।
पौद्‌गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्‌गलविपाकि यत् ॥ १०७७ ॥
आङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौ स्तोऽप्यभेदवत्।
तद्विपाकात् त्रिलिङ्गनामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०७८ ॥
त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥ १०७९ ॥
भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १०८० ॥

जीवविपाकी कर्म हैं, इसलिये इन्हें औदयिक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इनके सिवा रति आदि भाव और होते हैं पर उनकी परिगणना इन्हीं में हो जाती है इसलिये उनका पृथक् निर्देश नहीं किया है ॥ १०७२-१०७५ ॥

लिंग के दो भेद और द्रव्यलिंग के कारण का निर्देश—

सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार प्रत्येक लिंग स्वभाव से ही द्रव्यवेद और भाववेद के भेद से दो प्रकार के होते हैं ॥ १०७६ ॥ एक नामकर्म है। वह चित्रों के समान नाना प्रकार का है, पौद्‌गलिक है, जड़ है और पुद्‌गलविपाकी है ॥१०७७॥ आंगोपांग और शरीर ये उसी के भेद हैं जो उससे जुदे नहीं हैं। इनके उदय से तीन लिंगों के आकार प्राप्त होते हैं ॥ १०७८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ तीनों वेदों के भेदों की चर्चा करके तीनों द्रव्य वेदों के कारण का निर्देश किया गया है। वेद के दो भेद हैं—भाववेद और द्रव्यवेद। भाववेद जीव का परिणाम है। यह वेद नोकषाय के उदय से होता है। जिसके होने पर जीव स्वयं अपने को दोषों से आच्छादित करे और आजू बाजू की परिस्थिति को भी दोषों से ढक दे वह स्त्रीवेद है। जिसके होने पर प्राणी का झुकाव अच्छे गुणों और अच्छे भोगों की ओर रहता है वह पुरुषवेद है और जिसके होने पर प्राणी का स्वभाव स्त्री और पुरुष दोनों के समान न होकर अत्यन्त कलुषित होता है वह नपुंसक वेद है। आगम में इन तीनों को क्रमशः कण्डे की अग्नि, तृण की अग्नि और अवा की अग्नि की उपमा दी गई है। द्रव्यवेद का निमित्त शरीर नामकर्म और आंगोपांग नामकर्म है। बाह्य चिह्नों की यह संज्ञा है। इसके भी तीन भेद हैं। नाम वही हैं जो भाव वेदों के हैं। इनका व्युत्पत्त्यर्थ है जो गर्भ को धारण करे वह स्त्री, जो बच्चे को पैदा करे वह पुरुष और जो न पुरुष हो और न स्त्री हो वह नपुंसक ॥ १०७६-१०७८ ॥

द्रव्यवेद भाववेद में कार्यकारी नहीं—

तीन लिंगों के आकार का प्राप्त होना नामकर्म का कार्य है। यह भावलिंग में थोड़ा भी कार्यकारी नहीं है ॥ १०७९ ॥ भाववेद में नियम से एक चारित्रमोहनीय का उदय कारण है, किसी दूसरे कर्म का उदय किसी भी हालत में कारण नहीं है ॥ १०८० ॥

विशेषार्थ—कर्मसिद्धान्त के नियमानुसार शरीर नामकर्म और आंगोपांग नामकर्म का उदय शरीरग्रहण के प्रथम समय से होता है और वेदनोकषाय का उदय भव के प्रथम समय से होता है।

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात् किल ।
नारीवेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८१ ॥

नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।
अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भावः क्लीववेदोदयादिव ॥ १०८२ ॥

द्रव्यलिङ्गं यथा नाम भावलिङ्गं तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १०८३ ॥

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोऽस्ति नेतरः ।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८४ ॥

भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो न चेतरः ।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसम्भवः ॥ १०८५ ॥

दूसरे एकेन्द्रिय के एकमात्र भाववेद होता है, द्रव्यवेद नहीं होता इसलिये भाववेद में द्रव्यवेद को कारण मानना उचित नहीं है। इन दोनों की कार्यकारण भाव की व्याप्ति नहीं बनती यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ १०७९-१०८० ॥

वेदों के कार्य—

पुरुषवेद के उदय से स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा होती है। स्त्रीवेद के उदय से पुरुषों के साथ भोग भोगने की अभिलाषा होती है और जो शक्तिरहित होने से न तो स्त्रियों के साथ भोग भोग सकता है और न पुरुषों के साथ भोग भोग सकता है किन्तु भीतर ही भीतर जलता रहता है वह नपुंसकवेद है। वह नपुंसकवेद के उदय से होता है ॥ १०८१-१०८२ ॥

विशेषार्थ—यहाँ तीनों वेदों का कार्य बतलाया गया है। यह उपचारित कथन है। इसे तात्त्विक मानने में अनेक दोष आते हैं। रमण करने की इच्छा रति कर्म का कार्य है वेद का नहीं। वेद के कार्य हम पहले बतला आये हैं। लोक में ऐसे भी मनुष्य मिलते हैं जो स्त्रियों के साथ भी संयोग करते हैं और पुरुषों के साथ भी और ऐसी स्त्रियाँ भी मिलती हैं जो दोनों प्रकार से अपनी लिप्सा शान्त करती हैं। इसके सिवा जड़ पदार्थों से भी इच्छा तृप्ति करनेवाले स्त्री पुरुष देखे जाते हैं। आजकल तो ऐसे साधनों का निर्माण हो गया है जिससे बिना स्त्री पुरुष की सहायता के रमण करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये ऐसे कथन को स्त्रीवेद आदि का कार्य बतलाना उचित नहीं है। जहाँ वेदवैषम्य है वहाँ तो ये लक्षण बिलकुल ही घटित नहीं होते। ये लक्षण थोड़े बहुत द्रव्य के साथ साम्य अवश्य रखते हैं पर इन्हें भाववेद का लक्षण बतलाना उचित नहीं है। भाववेद के लक्षण जीवकाण्ड की वेदमार्गणा में बतलाये गये हैं जिनका हम पहले निर्देश कर आये हैं। वे ही उचित हैं ॥ १०८१-१०८२ ॥

कहां द्रव्यवेद और भाववेद का साम्य है और कहां वैषम्य है इस बात का निर्देश—

कहीं पर जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग होता है। कहीं पर द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है ॥ १०८३ ॥ खुलासा इस प्रकार है—देव स्त्रियों के स्त्रीवेद ही होता है अन्य वेद नहीं होता। इसी प्रकार सभी देवोंके भी पुरुष वेद ही होता है ॥ १०८४ ॥ भोगभूमि में स्त्रियोंके स्त्रीवेद ही होता है अन्य वेद नहीं होता और पुरुषों के पुरुष वेद ही होता है अन्य वेद नहीं

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०८६ ॥
तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात् केवलः किल ॥ १०८७ ॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०८८ ॥
कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च ।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०८९ ॥
केषाञ्चिद् द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः ।
स्त्रीवेदः क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥ १०९० ॥
केषाञ्चित्क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः ।
पुंवेदो क्लीववेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥ १०९१ ॥
कश्चिदापर्ययन्यायात् क्रमादस्ति त्रिवेदवान् ।
कदाचित्क्लीववेदो वा स्त्री वा भावात्कचित्पुमान् ॥ १०९२ ॥

होता ॥ १०८५ ॥ सभी नारकियों के द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से एक नपुंसक वेद ही होता है स्त्रीवेद या पुरुषवेद नहीं होता ॥ १०८६ ॥ तिर्यंच जाति में सभी एकेन्द्रियों के नपुंसक वेद होता है, विकलत्रयों के भी नपुंसक वेद होता है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी नपुंसकवेद होता है इन सब में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से नपुंसक वेद होता है, अन्य वेद नहीं होता ॥ १०८७-१०८८ ॥ कर्मभूमि में मनुष्य, मनुष्यनी, तिर्यंच और तिर्यंचनी इन चारों के उदयानुसार तीनों वेद होते हैं ॥१०८९॥ किन्हीं के द्रव्य से पुंवेद होता है और भाव से स्त्रीवेद, नपुंसकवेद या पुरुषवेद होता है ॥ १०९० ॥ किन्हीं के द्रव्य से नपुंसक वेद होता है और भाव से पुंवेद, नपुंसकवेद या स्त्रीवेद यथायोग्य होता है ॥ १०९१ ॥ कोई एक एक पर्याय तक क्रमानुसार तीन वेदवाला होता है। कदाचित् भाव से नपुंसक वेदी होता है या स्त्रीवेदी होता है और किसी पर्याय में भाव से पुरुषवेदी होता है॥ १०९२ ॥

विशेषार्थ—यहां चारों गतियों में वेदों के साम्य और वैषम्य की चर्चा की गई है। कर्मभूमि में गर्भजों के सिवा अन्यत्र सर्वत्र वेद साम्य पाया जाता है क्योंकि वहां शरीर के उपादान नियत हैं। केवल कर्मभूमि में स्त्री के गर्भ में शरीर के उपादान नियत नहीं होते। एक ही गर्भ से कभी बालक पैदा होता है, कभी बालिका पैदा होती है, कभी जुड़वा पैदा होता है, किसी के गर्भ रहता है और किसी के नहीं रहता। कोई नियमित व्यवस्था नहीं है पर अन्यत्र वह व्यवस्था नियमित देखी जाती है। देवगति में देवियों के उत्पत्तिस्थान अन्यत्र होते हैं और देवों के उत्पत्तिस्थान अन्यत्र होते हैं। स्त्रीवेदवाला जीव देवियों के उत्पत्तिस्थान से ही जन्म लेता है और पुरुष वेदवाला जीव देवों के उत्पत्ति स्थान से ही जन्म लेता है। नरक गति में सब नपुंसक ही होते हैं। एकेन्द्रियादि सम्मूर्छनों की भी यही स्थिति है। एकेन्द्रियों के तो आंगोपांग ही नहीं होता। भोगभूमि में जुड़वा का नियम है वहां भी शरीर के उपादान नियत हैं, इसलिये इन स्थानों में वेद वैषम्य का प्रश्न ही नहीं उठता। वैषम्य केवल कर्मभूमि में ही रह जाता है। यही कारण है कि यहां द्रव्यलिंग और भाववेद में विषमता का

निर्देश किया जाता है। द्रव्य से जो पुरुष है वह भाव से स्त्री, पुरुष या नपुंसक कोई भी हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्य से जो स्त्री, या नपुंसक है वह भी भाव से पुरुष, स्त्री या नपुंसक हो सकता है। यहां ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुकको अमुक ही होना चाहिये, क्योंकि द्रव्यवेद और भाववेद में कोई कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है और इनका नियमन करनेवाला भी कोई नहीं है। जिस प्रकार किसी को किसी संहनन या संस्थानवाला और किसीको किसी संहनन या संस्थानवाला शरीर प्राप्त होता है, इसमें कोई बाधा नहीं आती इसी प्रकार द्रव्यवेद भी किसी को कोई और किसी कोई प्राप्त होता है, इसमें कोई बाधा नहीं आती। यही कारण है कि कर्मभूमि में वेदवैषम्य का निर्देश किया है। द्रव्यलिंग को वेद यह संज्ञा उपचार से दी गई है। उपचार का कारण देवगति में दोनों की साम्यता है। वहां स्त्रीवेदवाले के योनि आदि और पुरुष वेदवाले के मेहन आदि देख कर यहां वे चिह्न उसी रूप में उपचार से स्वीकार कर लिये गये हैं और इसी से भाववेद के अनुसार द्रव्यवेद संज्ञा रखी गई है। यह लौकिक व्यवहार है। आगम में द्रव्य चिह्न के आधार से स्त्री, पुरुष और नपुंसक यह संज्ञा कहीं नहीं दी गई है। पीछे के टीकाकारों ने अवश्य ऐसा निर्देश किया है। गोम्मटसार की टीका में तो पद पद पर इस विषय में बहुत ही स्खलन दिखाई देता है। आगम परम्परा में 'मनुष्यनी' का अर्थ द्रव्य मनुष्यनी और 'तिरिक्खजोणिणी' का अर्थ द्रव्य तिर्यंचनी नहीं देखने को मिलता है। किन्तु गोम्मटसार के संस्कृत टीकाकार पूर्वापर सम्बन्ध को भूलकर ऊटपटांग जो मन में आया सो लिखते गये। कर्मकाण्ड के उदय प्रकरण में इन दोनों शब्दों का स्पष्ट अर्थ किया है। वहां बतलाया है कि मनुष्यगति का होकर जिसके स्त्री वेद का उदय हो वह मनुष्यनी है और तिर्यंचगति का होकर जिसके स्त्रीवेद का उदय हो वह तिरिक्खजोणिणी है फिर भी इनने मनुष्यनी और तिर्यंचयोनिनी शब्द का अपने मन मुताबिक अर्थ कर डाला है। सारे भ्रम की जड़ यही है। इसी से द्रव्यवेद और भाववेद के साम्य के कथन को प्रोत्साहन मिला है। किन्तु इनमें साम्य नहीं है यह स्पष्ट अनुभव में आता है। रमण करने की इच्छा से भाव वेद का साम्य बतलाना किसी भी हालत में उचित नहीं है। जो मनुष्य अतिप्रसंग या अनैसर्गिक प्रयत्नों द्वारा अपने वीर्य का नाश कर हीनबल हो जाते हैं वे स्वयं तो कुछ नहीं कर सकते पर दूसरों की क्रीड़ा देख देख ही प्रसन्नता का अनुभव करने लगते हैं। उनकी तृप्ति का वही एक प्रकार शेष रह जाता है। वे द्रव्य से पुरुष या स्त्री हैं भावसे भी ऐसे ही कुछ हो सकते हैं फिर भी उनकी रति का प्रकार बदल जाता है, इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि वेदवैषम्य अनुभव सिद्ध बात है और भाववेद का अर्थ रमण करने की अभिलाषा रूप नहीं है।

भाववेद जीवन में एक ही रहता है। बदलता नहीं। ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं जिनसे द्रव्य वेद का बदलना सिद्ध होता है। अधिकतर ये उदाहरण पक्षियों में बहुतायत से देखे जाते हैं। एकाद ऐसा भी उदाहरण मिला है जिस से एक ही व्यक्ति के जीवन में स्त्री और पुरुष दोनों के चिह्न पाये गये हैं और उसने दोनों का उपयोग भी किया है। इसलिये द्रव्यवेद जीवन में एक रहता है यह नहीं कहा जा सकता। हां भाववेद का सम्बन्ध स्वभाव से है। उसकी जीवन में एक प्रकार की धारा स्थूल सूक्ष्मरूप से बनी रह सकती है, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं आती। जो लोक में अच्छे कार्य करने की आदत रखता है उसकी वह आदत कभी देखी जा सकती है। जिसकी प्रवृत्ति दोष देखने की होती है उसकी वैसी प्रवृत्ति भी स्थूल सूक्ष्मरूप में सदा बनी रहती है। भाववेद का सम्बन्ध ऐसे ही विचारों की धारा से है, अतः भाववेद जीवन में नहीं बदलता यह कहा है। इस प्रकार वेद का क्या रूप है, उसका क्या कार्य है, वेद वैषम्य कैसे सिद्ध होता है, और किस गति में कौन वेद होता है इत्यादि बातों का संक्षेप में विचार किया ॥ १०८३–१०९२ ॥

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात् किल ।
नित्यं चाबुद्धिपूर्वाः स्युः कचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः ॥ १०९३ ॥
तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः ।
संक्लेशाङ्गैकरूपत्वात् केवलं पापकर्मणाम् ॥ १०९४ ॥
द्रव्यलिङ्गानि सर्वाणि नात्र बन्धस्य हेतवः ।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याकारणात्स्वतः ॥ १०९५ ॥
मिथ्यादर्शनमाख्यातं घातान्मिथ्यात्वकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किल ॥ १०९६ ॥
अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोऽपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥ १०९७ ॥
उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।
यस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥ १०९८ ॥

भाववेदों का कारण, उनकी प्रवृत्ति और कार्य—

ये तीनों ही भाववेद वेदनोकषायों के निरन्तर उदय से होते हैं। ये सदा अबुद्धिपूर्वक होते हैं, कहीं बुद्धिपूर्वक होते हैं ॥ १०९३ ॥ इनका चारित्र मोहमें अन्तर्भाव होता है और संक्लेशरूप होने से केवल पाप कर्मों के बन्ध के कारण हैं ॥ १०९४ ॥

विशेषार्थ—यहां वेदों के बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वकपने की चर्चा की है। इसका इतना ही अभिप्राय है कि इनकी धारा तो निरन्तर चालू रहती है पर कभी कभी ये मानसिक विकल्प के विषय होते हैं। शेष कथन सुगम है ॥ १०९३–१०९४ ॥

द्रव्यलिंग बन्ध के हेतु नहीं हैं—

आगम में सभी द्रव्यलिंग बन्ध के हेतु नहीं माने गये हैं, क्योंकि वे केवल देह से ही सम्बन्ध रखते हैं, इस लिये वे स्वयं बन्ध के कारण नहीं हो सकते ॥ १०९५ ॥

विशेषार्थ—कर्मबन्ध में मिथ्यात्व और राग द्वेष ही निमित्त माने गये हैं, शरीर के चिह्न नहीं, क्योंकि वे जड़ हैं। इसी से यहां बन्ध की कारणतारूप से उनका निषेध किया है। औदयिक भावों में भाववेदों का ही ग्रहण होता है। यहां द्रव्यलिंगों का ग्रन्थकार ने केवल प्रसंग से ही वर्णन किया है इतना यहां विशेष जानना चाहिये ॥ १०९५ ॥

मिथ्यादर्शन—

मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है। यही जीवका मिथ्यात्व भाव कहलाता है। वह नियम से औदयिक है ॥ १०९६ ॥ जीवका एक स्वाभाविक सम्यक्त्वगुण है। वह मिथ्यात्व कर्म के उदय से विकृत हो रहा है ॥ १०९७ ॥ जीवों के जो मिथ्याभाव होता है उसका स्वरूप पहले कह आये हैं इसलिये पुनरुक्त होने के भय से यहां उसका थोड़ा भी स्वरूप नहीं कहा है ॥ १०९८ ॥

विशेषार्थ—इक्कीस औदयिक भावों में एक मिथ्यादर्शन भी है। यह मिथ्यादर्शन मोहनीय के उदय से होता है। इससे जीव का विवेक लुप्त रहता है। यही इसका सबसे बड़ा लक्षण है। इसके कारण

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥१०९९॥

अस्त्यात्मनो गुणः ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥११००॥

अर्थादौदयिकत्वेऽपि भावस्यास्याप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥११०१॥

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥११०२॥

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥११०३॥

ननु कश्चिद् गुणोऽप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥११०४॥

तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।
सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः ॥११०५॥

न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद् गुणः सुखम् ।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥११०६॥

जीव अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर पाता। वह घर स्त्री, पुत्र, शरीर आदि में ही अहंकार किया करता है। उनकी वृद्धि में अपनी वृद्धि मानता है और उनकी हानि में अपनी हानि मानता है। कदाचित् कषायों की मन्दतावश इस की प्रवृति जिनपूजादि में भी होने लगती है और संस्कारवश दान भी देता है तो उसमें अपने बड़प्पन का अनुभव करता है। ऐसा इस मिथ्यात्व का माहात्म्य है। यह संसार की जड़ है। इसके अभाव में ही सब गुणों की सार्थकता है ऐसा यहां समझना चाहिये ॥ १०९६-१०९८ ॥

अज्ञानभाव—

जीव का एक अज्ञानभाव है जो स्पष्टतः औदयिक है, क्योंकि वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है ॥ १०९९ ॥ जीव का अपने स्वरूप का और दूसरे अपूर्व अर्थों का अवभासक एक ज्ञान गुण है। वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से या तो मूर्छित शरीरवाला है या मृत शरीरवाला है ॥ ११०० ॥ यद्यपि यह भाव औदयिक अवश्य है तथापि वह ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध कार्य का हेतु नहीं है ॥ ११०१ ॥ यह संक्लेश रूप भी नहीं है जिससे कि वह बन्ध का कारण हो। किन्तु जो क्लेश दुःख की मूर्ति है उसके सम्बन्ध से यह अवश्य ही क्लेशवाला हो रहा है ॥ ११०२ ॥ यह अज्ञानभाव स्वभाव से दुःख की मूर्ति है, क्योंकि कर्मों का उदय वज्र के आघात के समान माना गया है ॥ ११०३ ॥

शंका—ज्ञानादि गुणों के समान कोई एक सुख गुण भी है और उसका विकार दुःख है जो अपने विपक्षी कर्म के उदय से होता है ॥ ११०४ ॥ फिर यहाँ मूर्च्छित ज्ञान को सर्वथा दुःख कैसे माना गया है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में सभी गुण द्रव्य के आश्रित और निर्गुण कहे हैं, ॥ ११०५ ॥ यदि ज्ञानादि गुणों में कोई सुख गुण नहीं है तो सभी मिथ्याभाव और कषाय आदिक दुःख कैसे हो सकते हैं?

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥११०७॥

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका ।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥११०८॥

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात् ।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः ॥११०९॥

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात् ।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥१११०॥

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च ।
अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥११११॥

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥१११२॥

समाधान—यह बात ठीक है कि जीव का ज्ञानादि गुणों के समान एक सुख गुण भी है और वह विकृत होकर दुःखरूप होता है जो आठों कर्मों के उदय से होता है ॥ ११०६-११०७ ॥ सभी कर्मों की उदयरूप शक्ति दो प्रकार की है एक सामान्यरूप और दूसरी विशेषरूप, क्योंकि कर्मों की फलदान शक्ति दो प्रकार की होती है ॥ ११०८ ॥ सामान्यरूप शक्ति सभी कर्मों की एक लक्षणवाली है। यथा, सम्पूर्ण कर्मों का उदयागत रस जीव की आकुलता का कारण है ॥ ११०९ ॥ यह बात असिद्ध भी नहीं है किन्तु दृष्टान्त से इसका समर्थन होता है। हम देखते हैं कि विष के खाने से दुःख और प्राणों का घात ये दो कार्य होते हैं ॥ १११० ॥ आठों कर्म एक सुख गुण के विपक्षी हैं। इसीलिये पृथक् रूप से कोई एक कर्म उसका विपक्षी नहीं माना गया है ॥ ११११ ॥ यदि कहा जाय कि एक वेदनीय कर्म उसका विपक्षी है सो यह बात नहीं है, क्योंकि परमागम के अनुसार यह अघातिरूप से प्रसिद्ध है। मात्र वह इसका विपक्षी नहीं हो सकता ॥ १११२ ॥

विशेषार्थ—यहाँ इक्कीस औदयिक भावों में परिगणित अज्ञानभाव की चर्चा की गई है। यह भाव ज्ञानावरणकर्म के उदय से होता है। इसका अर्थ है ज्ञान का न होना। संसारी जीव के जो न्यूनाधिक ज्ञान होता है वह तो यथायोग्य क्षयोपशम का फल है पर जितने अंश में सब पदार्थ विषयक अज्ञान है वह ज्ञानावरण के उदय का फल है और यही अज्ञानभाव है। यह कर्मबन्ध का प्रयोजक नहीं है, क्योंकि कर्मबन्ध का कारण राग, द्वेष और मिथ्यात्व है। फिर भी यह दुःख का निमित्त अवश्य है इसलिये इसे शास्त्रकारों ने दुःख रूप कहा है। प्रश्न यह है कि सुख स्वतंत्र गुण है और उसका विकारीपन का नाम ही जब कि दुःख है तब फिर अज्ञान को दुःख कैसे माना जा सकता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि ज्ञान में सुख का वास है, क्योंकि एक गुण में दूसरा गुण नहीं रहता, इसलिये अज्ञान को दुःख कहना उचित नहीं है। इस प्रश्न का जो समाधान किया गया है उसका आशय यह है कि यह ठीक है कि जीव का स्वतन्त्र एक सुख गुण है जो ज्ञानादि गुणों से पृथक् है पर वह आठों कर्मों के उदय से विकारी हो रहा है। जीव में आकुलता का कारण आठों कर्मों का उदय है। उनमें एक ज्ञानावरण भी है जिसका उदय भी दुःख का कारण है। इस प्रकार जहाँ अन्य भावों को दुःख कहा जाता है वहाँ कारण में कार्य

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥१११३॥

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥१११४॥

पञ्चानामिन्द्रियाणाञ्च मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥१११५॥

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद् द्वितीयः प्राणसंयमः ॥१११६॥

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥१११७॥

का उपचार करके ही ऐसा कहा जाता है। कर्मों के दो प्रकार के कार्य होते हैं एक सामान्यरूप और दूसरे विशेषरूप। विशेषरूप कार्य जुदे जुदे हैं। सबका सामान्य कार्य आकुलता पैदा करना है। एक कारण से दो कार्य होना असिद्ध भी नहीं है। लोक में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे इसकी पुष्टि होती है। एक विष भक्षण का ही दृष्टान्त लीजिये। इससे दुःख और मरण ये दो कार्य होते हैं इसलिये आठों कर्मों के उदय से दुःख होता है यह कथन बन जाता है। इस प्रकार यद्यपि सुख के बाधक आठों कर्म सिद्ध हो जाते हैं पर इस कथन को भी उपचार ही मानना चाहिये, क्योंकि तत्त्वतः आकुलता का कारण मोहनीय कर्म है। जब तक मोहनीय कर्म का उदय है तभी तक आकुलता है। अज्ञान को भी आकुलता का कारण माना जा सकता है पर वह मोह की सहायता मिलने पर ही आकुलता उत्पन्न करता है। इसलिये सुख का बाधक या तो मोहनीय कर्म है या चारों घाति कर्म हैं। यही कारण है कि अरिहन्त जिनके चार अघाति कर्मों का अभाव हो जाने से अनन्त सुख का सद्भाव पाया जाता है ॥ १०९९-१०१२ ॥

असंयतत्व भावका निर्देश—

इस जीव के एक असंयत्व भाव होता है। वह औदयिक है, क्योंकि वह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है ॥ १११३ ॥

असंतत्व भाव के भेद—

क्रिया की अपेक्षा संयम दो प्रकार का है और विस्तार से बारह प्रकार का है। किन्तु मूलतः आत्मा क्रिया रहित है इसलिये उसकी अपेक्षा शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही संयम है ॥१११४॥ पांचों इन्द्रियाँ और मन का निरोध करने से इन्द्रियनिरोध नाम का संयम होता है। यह संयम का पहला भेद माना गया है। ॥ १११५ ॥ पांचों स्थावर काय और त्रस जीवों का संरक्षण करने से असुसंरक्षण नाम का संयम होता है। यह संयम का दूसरा भेद है। इसका दूसरा नाम प्राण संयम भी है ॥ १११६ ॥

शंका—इन्द्रियों और मन का रोकना क्या है और स्थावर तथा त्रस जीवों का संरक्षण क्या है ?

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥१११८॥

त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥१११९॥

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः ।
असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥११२०॥

समाधान—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है वह असंयम का कारण नहीं है, किन्तु उसमें जो राग बुद्धि होती है उसका रोकना ही इन्द्रिय संयम है ॥ १११७-१११८ ॥ और त्रस तथा स्थावर जीवों के वध के लिये किसी भी हालत में मन उद्यत न होना, वचन का उद्यत न होना और काय का उद्यत न होना प्राणि संयम है ॥ १११९ ॥

इस तरह पूर्वोक्त लक्षणवाला संयम जहाँ अंशमात्र भी नहीं होता है वह असंतत्व भाव है जो कि औदयिक है ॥ ११२० ॥

विशेषार्थ—यहाँ असंयम भाव का स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया है। विश्व के सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है। जीव भी स्वतन्त्र हैं। न तो कोई किसी को अपने रूप में परिणमा सकता है और न अन्य रूप में परिणम ही सकता है। यदि ऐसा न माना जाय तो विश्व की कोई स्थिति ही न रहे और न जड़ चेतन का ही भेद बने। न्याय का सिद्धान्त है कि असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। यह इसलिये है कि पदार्थ त्रिकाल में अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता। जिसका जो स्वभाव है वह सदाकाल बना रहता है। पुद्गल अपने रूप रसादि स्वभाव का कभी त्याग नहीं करता। आत्मा ज्ञानस्वभाव है। वह इसे नहीं छोड़ता। यद्यपि पुद्गल और जीवका अनादि काल से संयोग बना चला आ रहा है और इस कारण से दोनों को स्वभावच्युत भी कहा जाता है। पर इस स्वभावच्युति का अर्थ गुण धर्म का अन्यथा परिणमन करना नहीं है। इसका इतना ही अभिप्राय है कि इस सम्बन्ध से जीवका स्वभाव भी विकारी हो रहा है, और पुद्गल का स्वभाव भी विकारी हो रहा है। विकार का नाम ही स्वभावच्युति है। यह जीव और पुद्गल दो में ही देखी जाती हैं। संश्लेष सम्बन्ध भी दो का ही होता है। पुद्गल के निमित्त से जीव के परिणामों में विकार जन्म लेता है और जीव या पुद्गल के निमित्त से पुद्गल में विकार जन्म लेता है। प्रकृत में जीव के विकारी भाव का विचार चल रहा है इसलिये यहाँ उसी का विचार करना है। जीव में एक चारित्र गुण है। इसका अर्थ क्रिया नहीं है। इसका अर्थ है स्वरूप में स्थिति। यह जीव का सनातन स्वभाव है। शक्ति रूप से जीव का यह स्वभाव सदाकाल है किन्तु संसार दशा में इसका विपरिणाम हो रहा है जिससे यह स्वरूप को छोड़कर अपने उपयोग द्वारा अन्य पदार्थों में राग, द्वेष और मोह करता है। मोह का नाम ही मिथ्यात्व है और अन्य पदार्थों में राग द्वेष करना ही असंयम है। जीव अन्य पदार्थों को अपने रूप परिणमा तो नहीं सकता किन्तु राग द्वेषवश ऐसा मानता है कि यह मेरा है, यह तेरा है, यह मुझे इष्ट है और यह अनिष्ट है। इसी का नाम असंयम है। जीव को अपने में ही स्थिर रहना था। उपयोग स्वभाव वश अन्य को जानता भले ही पर उनमें ममकार भाव नहीं लाना था। किन्तु वह ऐसे संयम को नहीं पाल सका, वह विकल्प द्वारा अन्य में रममाण हो गया। वह असंयमभाव चारित्र मोहनीय के निमित्त से होता है। जीव में राग द्वेषरूप परिणति है और चारित्र मोहनीय उसका निमित्त है। इसी से यह असंयम भाव जन्म लेता है यह उक्त कथन का तात्पर्य

नतु वाऽसंयतत्वस्य कषायाणां परस्परम् ।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥११२१॥

है। इसके आचार्यों ने दो भेद किये हैं—एक इन्द्रियासंयम और दूसरा प्राणिअसंयम। छद्मस्थ जीव इन्द्रिय और मनके द्वारा विषयों को ग्रहण करता है तभी इसकी उनमें राग द्वेषरूप प्रवृत्ति होती है। यहां पर राग द्वेष का मुख्य कारण पाँच इन्द्रियां और मन हैं इसलिये निमित्त की अपेक्षा पहले असंयम को इन्द्रियासंयम कहा है। असंयम आत्मा की विकारी परिणति है जो रागद्वेष का परिणाम है। किन्तु वह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होती है यह उक्तकथन का तात्पर्य है। इस असंयम की एक प्रवृत्ति और दिखाई देती है। बात यह है कि यह तो प्रत्येक जीव चाहता है कि मैं जीऊं और सुख से रहूं। किन्तु उसे अपनी स्वाश्रयी वृत्ति का भान न होने के कारण वह इसके लिये पर पदार्थों का अवलम्बन लेता फिरता है और इस कार्य में जिन्हें वह बाधक मानता है उनका अस्तित्व मिटा देने का प्रयत्न करता रहता है। विश्व में संघर्ष का मूल यही प्रवृत्ति है। व्यक्ति व्यक्ति में, जाति जाति में और राष्ट्र राष्ट्र में जय पराजय के लिये जो होड़ लगी है वह इसी वृत्ति का परिणाम है। बहुतों ने तो दूसरे प्राणियों के शरीर को ही अपना आहार बना लिया है। वे इसके लिये अगणित प्राणियोंका बध करते रहते हैं। प्राणी तो एकेन्द्रिय भी हैं और गेंहू, चना आदि उनका कलेवर है पर ये स्वयं जन्तु रहित होते हैं। मनसा यह होनी चाहिये कि मुझे अपने जीवन के लिये अन्य वस्तु का रंचमात्र भी अवलम्बन न लेना पड़े। यह जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसके कारण मैं स्वावलम्बन पूर्वक अपना जीवन नहीं बिता पाता। शरीर और शरीर के लिये आहार पानी का अवलम्बन लेना यह स्वावलम्बी जीवन नहीं है। स्वावलम्बन का यही अर्थ नहीं है कि अपने हाथ से कार्य करना। यह तो इसका मोटा अर्थ है। वास्तविक अर्थ तो यह है कि ज्ञात या अज्ञात भाव से किसी भी हालत में अन्य पदार्थ के अवलम्बन के बिना जीवन यापन होना। यही वन्धन-मुक्त दशा है। योगी लोग इसे ही उपादेय मानते हैं। इसलिये अन्य प्राणियों की हस्ती मिटाने का प्रयत्न करना यह दूसरा असंयम है। लोक में प्राणियों के त्रस और स्थावर ये दो भेद किये गये हैं। इससे यह असंयम दो प्रकार का हो जाता है। मूलतः असंयम एक है किन्तु यहां आलम्बन के भेद से उसके इन्द्रिय असंयम और प्राणि असंयम ये दो भेद किये गये हैं। इन दोनों प्रकार के असंयमों पर विजय पाना सरल काम नहीं है। इन पर वे ही विजय पा सकते हैं जिन्हें स्वाश्रयी वृत्ति का भाव हो जाता है। असंयम पर विजय पाने का एक क्रम है। उसी क्रम को जैन शास्त्रों में गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म इन नामों से पुकारा जाता है। गृहस्थ अंशतः असंयम पर विजय पाता है और साधु पूर्णतः उस पर विजय पाने की प्रतिज्ञा करता है। माना कि साधु भी आहार पानी का अवलम्बन लेता है, थकावट आने पर थोड़ा बहुत विश्राम भी करता है, केशों के बढ़ जाने पर उनका उत्पाटन भी करता है, आत्मा में वृत्ति के न रमने पर दूसरों को उपदेश आदि भी देता है। इस तरह यद्यपि वह पूरा स्वावलम्बी नहीं बन पाता पर उसकी दृष्टि पूर्ण स्वावलम्बन को जीवन में उतारने की रहती है और इस काम को साध्य मान कर वह न तो इन्द्रियों और मन के विषयों में ही लिप्त होता है और न ही अन्य जीवों को बाधा पहुँचाने की चेष्टा करता है इसलिये इसके दोनों प्रकार के असंयमों के प्रतिपक्षी इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम ये दोनों प्रकार के संयम पाये जाते हैं। संयम जीवन की साधना है और असंयम जीवन का विकार है। इसीसे असंयम को नैमित्तिक कहा है। निमित्त चरित्रमोहनीय कर्म है, क्योंकि इसी के उदय से जीवन में असंयम भाव जन्म पाता है। इसकी औदयिक भावों में परिगणना करने का यही प्रयोजन है॥ १११३-११२० ॥

कषाय और असंयतत्वभाव में अन्तर का निर्देश—

शंका—असंयतभाव और कषाय इनमें परस्पर क्या भेद है, क्योंकि दोनों ही एकमात्र चारित्र-मोहनीय के कार्य हैं?

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥११२२॥

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥११२३॥

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥११२४।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥११२५॥

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥११२६॥

किन्तु तच्छक्तिभेदाद् वा नासिद्धं भेदसाधनम् ।
एकं स्याद् वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥११२७॥

अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः ।
एकश्चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥११२८॥

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम् ।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम् ॥११२९॥

समाधान—यह ठीक है कि दोनों ही चारित्रमोहनीय के कार्य हैं, क्योंकि एक चारित्रमोहनीय के उदय से असंयमभाव और कषाय होते हैं॥ ११२१-११२२ ॥ चारित्रमोहनीय के उदय से क्रोधादि सोलह कषाय और नौ नोकषाय होते हैं। इससे न न्यून होते हैं और न अधिक होते हैं॥ ११२३ ॥ अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व की हानि होती है, अप्रत्याख्यानावरण के उदय से संयतासंयत भाव की हानि होती है, प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयम की हानि होती है और संज्वलन और नोकषाय के उदय से यथाख्यातसंयम की हानि होती है॥ ११२४-११२५ ॥ यह कषाय और नोकषाय तथा संयतभाव और असंयतभाव इन दोनों के कार्यकारणभाव का पूरा खुलासा है॥ ११२६ ॥ किन्तु चारित्रमोहनीय में शक्ति भेद होने से भेद का सिद्ध करना असिद्ध नहीं है। जिस प्रकार विष सामान्य एक होकर भी वह विष, हालाहल इत्यादि रूप से अनेक प्रकार का होता है उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये॥ ११२७ ॥ चारित्रमोहनीय में दो शक्ति निसर्ग से हैं एक असंयतत्वरूप और दूसरी कषायरूप॥ ११२८ ॥

शंका—यदि ऐसा है तो न्यायानुसार उसकी संख्या भी बढ़नी चाहिये। तब चारित्रमोहनीय के स्पष्टतः छब्बीस भेद होने चाहिये ?

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्मणवर्गणाः ।
आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥११३०॥

नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्मणवर्गणाः ।
किन्तु शक्तिविशेषोऽस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः ॥११३१॥

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥११३२॥

एतद्द्वैतस्य हेतुत्वं स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः ।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥११३३॥

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः ।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥११३४॥

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत् ।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः ॥११३५॥

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥११३६॥

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥११३७॥

समाधान—यह बात ठीक है कि जहाँ पर जिसकी भिन्न जातिवाली कार्मण वर्गणाएँ होती हैं वहीं पर ही आलाप की अपेक्षा उतनी संख्या मानी जाती है और कहीं नहीं ॥ ११३० ॥ पर यहाँ पर उस जाति की पृथक् रूप से वे कार्मण वर्गणाएँ नहीं हैं किन्तु शक्ति विशेष अवश्य है सो वह भी जात्यन्तररूप है ॥ ११३१ ॥ प्रकृत में कलुषता का नाम कषाय है। यह उसका स्वलक्षण है और जीव के व्रत के अभावरूप जो भाव होता है वह असंयम माना गया है ॥ ११३२ ॥ इन दोनों असंयम और कषाय का हेतु दो शक्तियों को धारण करनेवाला एक चारित्रमोहनीय कर्म है अन्य कर्म इसका थोड़ा भी कारण नहीं है ॥ ११३३ ॥ युगपत् दो प्रकार की शक्ति को धारण करनेवाले इस चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से ये दोनों कषाय और असंयमभाव एक साथ होते हैं ॥ ११३४ ॥ इस विषय में अनन्तानुबन्धी कर्म ही दृष्टान्तरूप में उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि यह सम्यक्त्व और चारित्र इन दो को घात करनेवाली दो शक्तियों से युक्त है ॥ ११३५ ॥

शंका—आगम में कहा है कि अप्रत्याख्यानावरण आदि कर्मों के उदय से क्रमशः देशव्रत और सर्वव्रत आदि का घात होता है सो यह कैसे बनेगा ?

समाधान—यह कहना ठीक है किन्तु बन्ध, सत्त्व और उदय इन तीनों में से किन्हीं दो के रहने पर तीसरा अवश्य होता है इनका यहाँ अविनाभाव है, इसलिये इस विवक्षा के मान लेने पर कोई दोष नहीं आता है ॥ ११३६-११३७ ॥

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११३८ ॥
सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक् ।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥ ११३९ ॥

विशेषार्थ—यहाँ असंयमभाव और कषायभाव इनमें क्या अन्तर है इसका निर्देश किया है। ग्रन्थकार ने जीव की कलुषता को कषाय और व्रताभाव को असंयम बतला कर चारित्रमोहनीय की दो शक्तियां मानी हैं। एक शक्ति कषाय को जन्म देती है और दूसरी शक्ति असंयमभाव को जन्म देता है। इस पर यह शंका की गई कि इस तरह तो चारित्रमोहनीय के भेद बढ़ जाने चाहिये। सो इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि संख्या में भेद न होकर मात्र शक्ति में भेद है। उदाहरण के लिये अनन्तानुबन्धी प्रस्तुत की गई है। अनन्तानुबन्धी के दो कार्य हैं चारित्र को न होने देना और सम्यक्त्व को न होने देना। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो कार्य बतलाये गये हैं—एक तो असंयमभाव को जन्म देना और दूसरे कषायभाव को जन्म देना। अब देखना यह है कि क्या ये सर्वथा जुदे दो भाव हैं और क्या चारित्रमोहनीय में ऐसी अलग अलग दो शक्तियां हैं जिनमें से एक असंयमभाव को जन्म देती है और दूसरी कषायभाव को जन्म देती है। सर्वत्र औदयिक भावों का निर्देश करते हुए कषायों से असंयमभाव को जुदा बतलाया है इससे इनका कथंचित् पार्थक्य तो प्रतीत हो जाता है पर वह कितने अंश में है यह जानना फिर भी शेष रह जाता है। धवला में कषाय से क्रोध, मान, माया और लोभ लिये गये हैं। वहाँ पर इन भावों के होने में उस उस कषाय के उदय को कारण बतलाया है और असंयमभाव का निर्देश करते हुए लिखा है कि संयम का घात करनेवाले कर्मों के उदय से असंयमभाव होता है। संयम का घात करनेवाले कर्म तीन हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ। जब तक इनका या इनमें से किसी एक का उदय रहता है तब तक असंयमभाव होता है यह इसका तात्पर्य है। संयम को नहीं पैदा होने देना यह इनका मिलकर या प्रत्येक का सामान्य काम है और क्रोधादि को पैदा करना यह इनका विशेष काम है। मालूम पड़ता है कि इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने दो शक्तियों को मान कर अपने शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार असंयमभाव किसका काम है और कषायभाव किसका काम है यह स्पष्ट हो जाता है और ग्रन्थकार का दो शक्तियों को मानने का क्या अभिप्राय है यह भी स्पष्ट हो जाता है। अब यह देखना है कि अप्रत्याख्यानावरण को केवल देशव्रत का घाती और प्रत्याख्यानावरण को सर्वव्रत का घाती क्यों बतलाया जाता है। बात यह है कि अप्रत्याख्यानावरण का बन्ध और उदय चौथे गुणस्थान तक होता है और प्रत्याख्यानावरण का बन्ध और उदय पांचवें गुणस्थान तक होता है। अप्रत्याख्यानावरण की बन्ध और उदयव्युच्छित्ति होने पर देशव्रत हो जाता है और प्रत्याख्यानावरण की बन्ध व उदयव्युच्छित्ति होने पर महाव्रत हो जाता है। इस विवक्षा को ध्यान में रख कर ही ऐसा कथन किया है कि अप्रत्याख्यानावरण का उदय देशव्रत का घात करता है और प्रत्याख्यानावरण का उदय महाव्रत का घात करता है। यह इनका कार्य विशेष है। तत्त्वतः विचार कर देखा जाय तो अप्रत्याख्यानावरण का उदय देशव्रत और महाव्रत दोनों का घात करता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है॥ ११२१-११३७ ॥

असिद्धभाव—

असिद्धत्व भाव भी नियम से औदयिक है, क्योंकि यह अलग-अलग या मिलकर आठों कर्मों के उदय से होता है ॥ ११३८ ॥ पुरुष की समस्त कर्मों से रहित ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और वीर्यादि आठ

नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः ।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥ ११४० ॥

गुणरूप जो विलक्षण दूसरी अवस्था होती है वह सिद्ध अवस्था है ॥ ११३९ ॥ इस संसार में यह सिद्धभाव नहीं होता है । जब तक महान् अनर्थों का घर केवल संसार ही सब कुछ है तब तक वास्तव में असिद्धभाव होता है ॥ ११४० ॥

विशेषार्थ—यहाँ इक्कीस औदयिक भावों में से असिद्धत्व भाव का निर्देश किया गया है। संसारी जीव आठ कर्मों से बँधा हुआ है । इससे वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है । और पर स्वरूप को अपना मान रहा है । आठ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय हैं। इनके निमित्त से आत्मा के स्वाभाविक भाव प्रकट नहीं होते। ज्ञानावरण के उदय से ज्ञानभाव प्रकट नहीं होता, दर्शनावरण के उदय से दर्शनभाव प्रकट नहीं होता, वेदनीय के उदय से अव्याबाध गुण प्रकट नहीं होता, मोहनीय के उदय से सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता, आयुकर्म के उदय से अवगाहन गुण प्रकट नहीं होता, नामकर्म के उदय से सूक्ष्मत्व गुण प्रकट नहीं होता, गोत्रकर्म के उदय से अगुरुलघु गुण प्रकट नहीं होता और अन्तराय कर्म के उदय से वीर्य गुण प्रकट नहीं होता। ये आठ मुख्य गुण हैं जो इन कर्मों के उदय से प्रकट नहीं होते। यों तो आत्मा के अनन्त गुण हैं और संसार दशा में वे सब कर्मोंसे बाधित हैं। ऐसा एक भी गुण नहीं है जो उसके विरोधी कर्म के उदय में प्रकट रहता हो। इस तरह जीव का अपने स्वाभाविक गुणों से च्युत होना ही असिद्धभाव है और प्रतिपक्षी कर्मों का अभाव होने पर अपनी स्वाभाविक दशा को प्राप्त हो जाना ही सिद्धभाव है । जब तक आठों कर्मों का उदय है तब तक तो असिद्धभाव है ही किन्तु इनमें से कुछ कर्मों का उदय रहने पर भी असिद्धभाव होता है। इसलिए इसे सब कर्मों का और अलग-अलग प्रत्येक कर्म का कार्य बतलाया है ।

सिद्ध शब्द का अर्थ निष्पन्न है। जब तक कोई वस्तु अनिष्पन्न होती है तब तक वह असिद्ध कहलाती है। असिद्धता प्रत्येक संसारी जीव के जीवन में मौजूद है। जो अत्यन्त अविकसित अवस्था में हैं वे तो अनिष्पन्न हैं ही किन्तु जिन्होंने विकारों पर पूरी तरह से विजय नहीं पायी है या जो जीवन में परतन्त्रता का अनुभव नहीं करते हुए भी परतन्त्र हैं, शरीर, वचन और मन के आधीन हैं वे भी अनिष्पन्न हैं। लोक में अरिहन्त अवस्था बड़ी श्रेष्ठ मानी जाती है। आचार्यों ने इस अवस्था का उपादेयरूप से निर्देश किया है। पञ्च नमस्कार मंत्र में अरिहन्तों को सर्व प्रथम नमस्कार किया जाता है। इनके ज्ञानादि अनन्त गुण भी प्रकट हो जाते हैं फिर भी इसे पूर्ण निष्पन्न नहीं माना जाता। इसका यही तो अर्थ है कि अभी यह भी पूर्ण निष्पन्न नहीं है। इस अवस्था में भी कुछ न्यूनता है।

यह कमी जो थोड़ी बहुत अरिहन्त अवस्था में शेष रहती है वह अनादि काल से चली आ रही है। इसका कारण कर्म माना जाता है अवश्य पर यह मूलतः जीव की अपनी परिणति का ही परिणाम है। इसे ही संसार दशा कहते हैं। संसार का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। दृष्टि का मिथ्या होना ही मिथ्यादर्शन है। जगत् क्या है, उसमें कितने तत्त्व हैं, कार्यकारण भाव का क्या रहस्य है, जीव का उसमें क्या स्थान है इत्यादि प्रश्नों का समीचीन ज्ञान न होने देना ही मिथ्याज्ञान है। इसका निमित्त कारण दर्शनमोहनीय कर्म माना गया है। यह संसार की जड़ है। है तो यह जीव की परिणति विशेष ही फिर भी यह बन्धन की प्रयोजक मानी गयी है, क्योंकि वह पर के अवलम्बन से उत्पन्न होती है। मेरा भोजन के बिना नहीं चल सकता, उसके बिना भला मैं कैसे जी सकता हूं। वस्त्र भी मुझे

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः ।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११४१ ॥

चाहिये और दूसरे पदार्थ भी यह सब भाव इसी मिथ्यात्व के कारण होते हैं। इसके कारण प्राणी मात्र की दृष्टि परावलम्बनी बनी रहती है। वह स्वावलम्बन के महत्त्व को ही नहीं समझ पाता। अपने हाथ से कार्य कर लेना यह स्वावलम्बन नहीं है। हाथ ही इसका कहाँ है। स्वावलम्बन का ठीक अर्थ तो यह है कि जीवन में स्व से भिन्न अन्य वस्तु का कथमपि अवलम्बन न लेना पड़े। मिथ्यादर्शनरूप परिणति के अभाव बिना ऐसा विश्वास ही नहीं होता कि किसी का अन्य वस्तु का सहारा लिए बिना चल सकता है। जब इस परिणति से जीव का मोचन हो जाता है तब वह यह अनुभव करने लगता है कि जिसे मैं अब तक अपना कार्य समझता रहा वह वास्तव में मेरा कार्य नहीं है मैं तो पर पद में स्थित हूं। स्वपद की प्राप्ति की ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया है। स्वपद की प्राप्ति का अर्थ है स्व में स्व का रम जाना और उसे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा न रहना। इसे तो अभी मुझे प्राप्त करना है। अभी तो मुझे मात्र यही विवेक हुआ है कि यह स्वपद है और यह पर पद है। इस तरह जब यह विचार दृढ़ होता है तभी इस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसके होने पर जीव स्वपद की प्राप्तिके लिये उद्यत होता है। जो जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन को उतारने में समर्थ होता है वह मुनिव्रत स्वीकार करता है और जो इसमें अक्षम होता है किन्तु अंशतः स्वावलम्बन का अभ्यास करने लगता है वह गृहस्थ धर्म स्वीकार करता है। स्वपद की प्राप्ति का यही मार्ग है। इसके बिना जीव अन्य पदार्थों के बोझ से हलका नहीं हो सकता और जब तक यह जीव अन्य पदार्थों के बोझ से सर्वथा मुक्त नहीं होता तब तक इसे सिद्ध पद की प्राप्ति होना दुर्लभ है। इससे सिद्ध होता है कि असिद्धभाव की प्राप्ति कर्मोदय जन्य है। जब तक इस जीव के कर्मों का सम्बन्ध लगा हुआ है और वे आत्मपरिणति के होने में निमित्त हो रहे हैं तब तक इस भाव का अभाव नहीं हो सकता॥ ११३८-११४० ॥

छह लेश्याएँ—

आगम में छह लेश्याएँ प्रसिद्ध हैं। वे सब औदयिक मानी गयीं हैं क्योंकि योग और कषाय इन दोनों के उदय से वे उत्पन्न होती हैं॥ ११४१ ॥

विशेषार्थ—इक्कीस औदयिक भावों में छह लेश्याएँ भी परगणित की जाती हैं। इनकी उत्पत्ति योग और कषाय से होती है। इनके नाम कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल हैं। इनके जैसे नाम हैं वैसी इनकी परिणति है॥ ११४१ ॥

इस प्रकार जीव के इक्कीस औदयिक भाव जानने चाहिये।